भा० दिगम्बर जैन संघ ग्रन्थमालाका तृतीय पु॰

आचार्य श्री जटासिंहनन्दि विरचित—

वरांग-चरित

अनुवादक
प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला,
एम० ए०, साहित्याचार्यादि

प्रकाशक
मंत्री साहित्य विभाग
भा० दिगम्बर जैन संघ
चौरासी, मथुरा

वी० नि० सम्वत् २४८०

मूल्य सात रुपया

भा० दिगम्बर जैन संघ-ग्रन्थमाला

उद्देश्य—

प्राकृत, संस्कृत, आदिमें निबद्ध दि० जैनागम, दर्शन-साहित्य, पुराण, आदिका यथासम्भव हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादन, प्रकाशन।

●

सञ्चालक—

भा० दिगम्बर जैन संघ

ग्रन्थाङ्क २

प्राप्तिस्थान—

व्यवस्थापक,

भारतीय दिगम्बर जैन संघ,

चौरासी—मथुरा (उ० प्र०)

मुद्रक—

श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस—श्री नया संसार प्रेस

जतनवर, काशी। भदैनी, काशी।

स्थापनाब्द] प्रति १००० [वी० नि० सं० २४६८

पूज्य भाई

(पं० कैलाशचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री)

के

कर कमलों में

यह अनुवाद सादर समर्पित

खुशाल

भा० दि० जैन संघके साहित्य विभागके सदस्य

—❀—
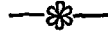
संरक्षक सदस्य

८१२५) श्री साहू शान्तिप्रसाद जी, डालमियानगर।
५०००) " श्रीमन्त सर सेठ हुकुमचन्द जी, इन्दौर।
५०००) " सेठ छदामीलाल जी, फिरोजाबाद।
३००१) " सेठ नानचन्दजी हीराचन्दजी गांधी, उस्मानाबाद।

सहायक सदस्य

१२५०) श्री सेठ भगवानदास जी, मथुरा।
१०००) " बा० कैलाशचन्द जी, S. D. O. बम्बई।
१००१) " सकल दि० जैन परवार पंचान, नागपुर।
१००१) " सेठ श्यामलाल जी, फर्रूखाबाद।
१००१) " सेठ घनश्यामदास जी सरावगी, लालगढ़—
[रा० ब० सेठ चुन्नीलालजीके सुपुत्र स्व० निहालचन्द जीकी स्मृतिमें]
१०००) " लाला रघुवीरसिंह जी, जैन वाच कम्पनी देहली।
१०००) " लाला उल्फतराय जी, देहली।
१०००) " " महावीर प्रसाद जी, देहली [फर्म महावीर प्रसाद एण्ड सन्स]।
१०००) " " रतनलाल जी मादीपुरिया, देहली।
१०००) " " धूमीमल धर्मदास जी, देहली।
१००१) श्रीमती मनोहरीदेवी, मातेश्वरी लाला बसन्तलाल फिरोजीलाल जी, देहली।
१०००) श्री बाबू प्रकाशचन्द जी जैन, खण्डेलवाल ग्लास वर्क्स सासनी।
१०००) " लाला छीतरमल शंकरलाल जी, मथुरा।
१००१) " सेठ गणेशीलाल आनन्दीलाल जी, आगरा।
१०००) " सकल दि० जैन पंचान, गया।
१०००) " सेठ सुखानन्द शंकरलाल जी मुल्तानवाले, देहली।
१००१) " सेठ मगनमलजी हीरालालजी पाटनी, आगरा।
१०००) श्रीमती चन्द्रावतीजी, धर्मपत्नी साहू रामस्वरूपजी, नजीबाबाद।
१००१) श्री लाला सुदर्शनलालजी, जसवन्तनगर।

—:०:—

प्रकाशकीय

संघ ग्रन्थमालाके तृतीय पुष्पके रूपमें वरांगचरित नामक पौराणिक महाकाव्यका हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत करते हुए हमें विशेष हर्ष है। दिगम्बर जैन सम्प्रदायके उपलब्ध कथा ग्रन्थोंमें समयकी दृष्टिसे इसका स्थान दूसरा है। इसके पहलेका एक पद्मचरित है जिसके कर्ता रविषेणाचार्य हैं। और दूसरा यह वरांगचरित है, जिसके कर्ता आ०जटासिंहनन्दि हैं। इन दोनोंका स्पष्ट उल्लेख हरिवंश पुराणके प्रारम्भमें किया गया है। उसी परसे सर्व प्रथम इस ग्रन्थके अस्तित्वका पता चला था। किन्तु यह प्राप्त नहीं हो सका। बाद को डा० ए० एन० उपाध्येको इस ग्रन्थकी एक प्रति प्राप्त हुई और उन्हींने उसका सम्पादन किया तथा माणिकचन्द ग्रन्थमाला बम्बईसे उसका प्रकाशन हुआ। उसी परसे प्रोफेसर खुशालचन्दजी ने यह हिन्दी अनुवाद किया है।

अभी तक हिन्दी-पाठक संस्कृतके इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थके स्वाध्याय से वंचित थे। आशा है इसे प्राप्त करके उन्हें विशेष आनन्द होगा। कथा ग्रन्थ होते हुए भी इस महान् ग्रन्थमें जैन धर्मके सिद्धान्तोंका बड़ा विस्तृत कथन है जो कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। इसीसे अनुवादकको इस ग्रन्थके अनुवादमें काफी श्रम करना पड़ा है दूसरे जिस मुद्रित प्रतिके ऊपर से यह अनुवाद किया है, वह भी काफी अशुद्ध है और उसका कारण यह है कि सम्पादकने उसका सम्पादन प्राप्त एक प्रतिके ही ऊपरसे किया है। इससे भी अनुवादमें कठिनाई हुई है। फिर भी अनुवादकने इस बातका भर सक प्रयत्न किया है कि पाठकोंको इसके स्वाध्यायमें कठिनाई न हो। इसके लिए उन्होंने ग्रन्थ में आये हुए परिभाषिक शब्दों का अर्थ ग्रन्थके अन्तमें दे दिया है। इस तरहसे ग्रन्थके पूरे परिशिष्ट भागको जैन परिभाषिक शब्दकोश कहा जा सकता है। इस कोश की वजहसे भी इस ग्रन्थके प्रकाशनमें कई वर्षोंका समय लग गया। बात यह हुई कि जिस लक्ष्मीनारायण प्रेसमे ग्रन्थ छपनेको दिया गया था, स्वामियोंके परिवर्तन तथा बीच बीचमें उसके बन्द हो जाने से छपाई का काम बड़े व्यवधान से चला। शब्दकोश तैयार करके छापनेको दिया गया और प्रेस बन्द हो गया तथा कोशकी पाण्डुलिपि भी खो दी गयी। पुनः श्रम किया गया, तब कहीं नयासंसार प्रेसके मालिक हमारे मित्र पं० शिवनारायणजी उपाध्याय के सौजन्यसे वह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। इसके लिए हम उपाध्यायजीके आभारी हैं। प्रोफेसर खुशालचन्दजीने इसके सम्पादनमें ही नहीं, किन्तु मुद्रण और प्रकाशनमे जो श्रम किया है, केवल धन्यवाद देकर उसके भारसे मैं हल्का होना नहीं चाहता। यदि पाठकोंको इस ग्रन्थके स्वाध्यायसे सन्तोष हुआ तो वही उसका यथोचित पुरस्कार होगा।

काशीके गंगा तट पर स्थित स्व० बाबू छेदीलालजीके जिनमन्दिरके नीचेके भागमें संघ का जयधवला कार्यालय है, जहांसे संघ ग्रन्थमालाका प्रकाशनादि कार्य होता है। और यह सब स्व० बाबू सा० के सुपुत्र धर्मप्रेमी बा० गणेसदासजी तथा उनके दोनों पुत्र बा० सालिगरामजी और बा० ऋषभदासजीके सौजन्य और धर्मप्रेम का उदाहरण हैं। अतः हम आप सबके आभारी हैं।

जयधवला कार्यालय
भदैनी, काशी
पौष, वीर नि० सं० २४८०

अनुवाद-गत

सन् १९४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रहका संचालन करते हुए जब जुलाईके महिने में नजर बन्द होने पर जेलमे विराम मिला तो पुनः अपने जीवन व्यापी व्यवसायकी स्मृति आयी फलतः जेलके अधिकारियोसे चर्चा करके मैंने पूज्य भाई पं० कैलाशचन्द्र जी को लिखा कि वे कतिपय पुस्तकों के साथ मेरे महानिबन्ध "प्राचीन भारतमें भूस्वामित्व" के लिए शोध की गयी सामग्री तथा वरांग-चरितके प्रारब्ध अनुवादको भी जमा करा देवें। क्योकि जब भाईने इसकी भूमिकाके अनुवादके विषयमें मुझसे कुछ पूंछा था तभीसे मेरे मनमे इसका [१]भारतीमे रूपान्तर करनेकी भावना हो गयी थी तथा सन् '४० की गर्मियोंमे सद्यः समागत संघके प्रधान कार्यालय चौरासी, मथुरामे इसका मंगलाचरण भी किया था किन्तु इसके बाद ही राष्ट्रपिता गांधीजीने व्यक्तिगत सत्याग्रह की चर्चा जोरसे प्रारम्भ कर दी थी और वर्षा समाप्त होते होते ही वह आरम्भ भी हो गया था। फलतः विद्यापीठकी नीतिके अनुसार हम पीठके अध्यापक तथा छात्र इसके संगठनमे लग गये और मूल-वरांगचरितके समान उसकी अनुवाद कल्पनाको भी तिरोहित होना पड़ा। जब उक्त पुस्तक-पत्रादि जेल द्वार पर पहुंचे तो अधिकारियोंने उन सबको महिनों रोक रखा और बार बार कहने पर अन्तमें मुझे प्रथमगुच्छक और वरांगचरित पूजा पाठ की संस्कृत पुस्तकें समझ कर दे दिये, क्योंकि उन्हें आशा थी कि इनको पढ़कर मेरी राजद्रोह की प्रवृत्ति बढ़ेगी नहीं।

यतः कागज सुलभ नहीं था अतः एक बार पूरा ग्रन्थ पढ़ गया। पढ़ जानेके बाद फिर समय काटनेका प्रश्न हुआ और काफी प्रयत्न करने पर अपने लिए जमा हुई कोरी कापियोंमे से दो-तीन पा सका तीन-चार सर्ग लिख पाया था कि मेरे ऊपर राज-द्रोह उभाड़नेके लिए मुकदमा चलने लगा और दूसरे चौथे रोज होनेवाली पेशियोके कारण अनुवाद का कार्य स्थगित हो गया। बादमें मुझे सजा भी हो गयी और केन्द्रीय जेलमें भेज दिया गया। फलतः इस जेल द्वार पर वरांगचरित और गुच्छक भी मुझसे बिछुड़ गये। यहां पर भी काफी संघर्षके बाद '४२ की जनवरीके अन्तमें मुझे वरांगचरित और कापियां मिलीं। फिर कार्य प्रारम्भ किया और चार-पांच सर्ग लिखनेके बाद जेल मुक्त हो गया। बाहर आने पर इसकी जेलसे भी बुरी हालत हुई। क्योकि यह महान् राज-नैतिक तनाव का समय था। प्रयागकी अखिल भा० का० कमेटी का अधिवेशन, उसके बाद आगामी आन्दोलनकी तयारी, आदि ऐसे कार्य थे कि मै वरागचरितको छू भी न सका। वरांगचरित की शुभ घड़ी तब आयी जब '४२ मे पुनः नजरबन्द हुआ और सन '४३ के अन्तमें जब नजरबन्दोंको कुटुम्बियोंसे मिलने तथा पत्र-व्यवहारकी सुविधा मिली। अबकी बार ज्यों ही पुस्तक और कागज हाथ लगे त्यों ही इसमे लग गया और लगभग १ मासमे अनुवाद को समाप्त कर डाला।

१—उत्तर भारतकी भाषाका 'हिन्दी' नाम भ्रामक है। इस नामका प्रयोग उन्होंने [विदेशी यात्री—मुस्लिम विजेता] किया है जो इस देश तथा इसकी संस्कृति और भाषासे अपरिचित थे। उन्होंने अज्ञानमे एक प्रान्त सिन्ध [हिन्द] का नाम देश पर लाद दिया तो विश्वमान्य प्रथाके अनुसार यहांके वासियोको हिन्दू तथा उनकी भाषाको हिन्दी कह दिया। लगभग १३॥ सौ वर्षसे यह भूल चली आ रही है। जब राष्ट्र 'भारत' है तो राष्ट्रभाषा भी 'भारती' ही होनी चाहिये क्योंकि जर्मनीकी जर्मन, फ्रान्सकी फ्रेञ्च, इङ्गलैंडकी इगलिश, रूसकी रसियन आदि भाषाएं है। सांगोपांग-निवेचन के लिए द्रष्टव्य लेखकका लेख (जनवाणी '४९)।

सन '४५ में बाहर आने पर इस बातका प्रयत्न किया कि कारञ्जा आदिकी प्रतियां प्राप्त करके इसके त्रुटित और संदिग्ध स्थलोंको पूर्ण करनेका प्रयत्न करूं। किन्तु इस दिशामें मुझे सफलता कैसे मिलती जब डा० उपाध्ये और मान्यवर प्रेमीजी ऐसे महारथी ही इन प्रतियोंको न पा सके थे। विवश होकर मैंने अपने जेलके साथी विद्वानोंके उस सुझाव को छोड़ना ही उचित समझा जिसके अनुसार ऊपर मूल तथा नीचे अनुवाद देनेका विचार हुआ था। इसके सिवा यह भी ख्याल हुआ कि ग्रन्थमालाका संस्कृत वरांगचरित फिर पड़ा ही रह जायगा। लम्बी द्विविधाके बाद '४८ में इसे प्रेसमें दे दिया था किन्तु ग्रन्थका तथा मेरा भाग्य साथ था। १६ फोर्म छपते-छपते लक्ष्मीनरायण प्रेस बन्द हो गया। लगभग एक वर्ष बाद मालिकों झगड़ा निवटा तो प्रेसेके साथ इसका मुद्रण भी चला और २८ फोर्म छपते छपते फिस प्रेस पर ताला पड़ गया। काफी समय बाद फिर प्रेस खुला और ४२ फोर्म छापते छापते प्रेसने सांस तोड़ दी। अबकी बार बड़ी कठिनाई यह हुई कि प्रेस गया सो गया साथमें शेष पाण्डुलिपि भी ले गया। पूरा एक वर्ष दौड़नेके बाद भी कम्पोज हुए ५ पृष्ठ ही मिले और शेष पाण्डुलिपिका पता ही न चला।

पुनः शेष भाग तथा भूमिकादि लिखे और अपने (का० वि० पीठ) प्रेसको छापनेके लिए दिये। मुझे यह मालूम न था कि इस प्रेसका भी क्षयरोग तीसरी अवस्था तक पहुंच चुका है। इसका पता तब लगा जब तीन चार महिना वीत जाने पर भी प्रूफ वगैरह न आया। बड़ी कठिनाईसे इस प्रेसके कूड़ेमे से अपनी पाण्डुलिपि निकाली और आर्थिक कठिनाई कम होते ही अब इसे 'नया संसार प्रेस' को दिया है। इसके संचालक-स्वामीने वरांगचरित की भाग्य रेखा को बदल दिया है और बहुत ही जल्दी इसे पूर्ण कर दिया है।

अनुवादके निर्णायक तो विज्ञ पाठक ही होंगे। मेरा तो इतना ही प्रयत्न रहा है कि मूलके एक भी शब्द का भाव विना छोड़े ऐसा भाषान्तर करना कि पाठकको बांचते समय यह भावना न हो कि वे अनुवाद पढ़ रहे हैं। अपने जेलके मित्रोंका समूल प्रकाशित करनेका सुझाव तो नहीं निभा सका हां पारिभाषिक शब्द कोश दे कर उनकी दूसरी आज्ञाका निर्वाह अवश्य कर दिया है। साथ ही साथ पार्श्वमें श्लोक संख्या दे दी है। जिससे मूलको खोजनेमें कठिनाई न हो तथा इस अनुवाद द्वारा मूलका विमर्ष किया जा सके।

मैं नहीं जानता कि अनुवाद का समर्पण होना चाहिये अथवा नहीं। किन्तु मेरे अनुवादक बननेकी भी एक छोटी सी कथा है—मैं कालेजके प्रथम वर्षमें था। भा० दि० जैन संघका मुखपत्र 'जैन दर्शन' सामग्रीके लिए परेशान था। पू० भाई पं० कैलाशचन्द्र शास्त्रीने डा० चक्रवर्ती की पंचास्तिकायकी भूमिका का अनुवाद करने को कहा। मुझे अपनी "फर्स्ट इयर फूलता" का पूरा ध्यान था। पर क्या करता भाईसे भी बचना मुशकिल था। मैंने अनुवाद किया और प्रकाशित होने पर मुझे पता लगा कि मेरी 'प्रथम वर्षीय मूर्खता' छूट गयी है। अतएव जिनके स्नेह बन्धनसे मैं अनुवादक बना तथा जिनकी सतत प्रेरणाके कारण इस अनुवादके प्रकाशनको पूर्ण कर सका उनके कर कमलोंमें इसे देना 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये' मात्र है।

भा० दि० जैन संघका भी आभारी हूं जिन्होंने इसके प्रकाशनको हाथमें लिया तथा इसके मुद्रकों को धन्यवाद न देना भी वरांगचरितके प्रतिकूल होगा। अन्तमें पाठकोंसे विलम्बके लिए क्षमा प्रार्थना सहित,

काशी विद्यापीठ—
अगहन शुक्ला १०-२४८० वी० वि०

विनीत—
खुशालचन्द्र गोरावाला

———

आचार्य श्री जटासिंहनन्दि
विरचित

वराङ्ग-चरित

विषयानुक्रमणिका

पंञ्चदशम सर्ग १२३-१३५

षोडस सर्ग— १३६-१४८

सप्तदश सर्ग १४९–१५७

अष्टादश सर्ग— १५८–१७०

एकोनविंश सर्ग १७१-१७९

षड्विंश सर्ग **२४६--२५६**

सप्तविंश सर्ग **२५७--२६८**

अष्टाविंश सर्ग **२६९-२८१**

भूमिका

वराङ्गनेव सर्वाङ्गै र्वराङ्ग चरितार्थवाक् ।
कस्य नोत्पादयेद्गाढ मनुरागं स्वगोचरम्[1] ॥

वी० नि० २४६० (१६३३ ई०) के पहिले वरांगचरितकी स्मृति आचार्य श्री जिनसेनकृत हरिवंश पुराणके प्रथम सर्गका उक्त ३५ वां श्लोक ही दिलाता था । असंख्य लुप्त ग्रन्थोंमें इस महान् ग्रन्थकी भी गणना होती थी । यह भी पता न था कि किस आचार्यने इसे रचा था । पद्मचरितके प्रणेता श्री रविषेणाचार्य इसके भी कर्त्ता रहे होंगे ऐसा अनुमान किया जाता था । किन्तु भण्डारकर रिसर्च इंष्टीच्यूट पूनाकी पत्रिकाकी १४ वीं प्रतिके प्रथम तथा द्वितीय भागमें डा० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्येका एक शोधपूर्ण लेख उक्त वर्ष ही प्रकाशित हुआ, जिसने जिज्ञासुओं को वरांगचरितके सद्भावकी ही सूचना न दी थी; अपितु उसके कर्त्ता श्री जटिलमुनि, जटाचार्य अथवा जटासिंहनन्दिका भी पर्याप्त परिचय दिया था । इस लेखके प्रकाशनके बाद वरांगचरितको प्रकाशमें लानेके लिए विद्वान् लेखकसे सब तरफसे आग्रह किया गया और समाजके सौभाग्यसे २४६५ (वी० नि०) (दिसम्बर १६३८) में यह ग्रन्थ पाठकोंके सामने आसका । उक्त लेखके विद्वान् लेखक डा० आ० ने० उपाध्येने लक्ष्मीसेन मठ कोल्हापुर तथा जैन मठ श्रवणवेलगोलकी ताड़ प्रतियोंके आधारपर इसका सम्पादन किया है तथा साहित्य मनीषी मूक सवेक पं० नाथूराम प्रेमी ने इसे श्री माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला के ४० वें ग्रन्थके रूपमें प्रकाशित किया है ।

ग्रन्थ परिचय—यद्यपि सर्गोंके अन्तमें आया वाक्य "चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथा"[2] इस ग्रन्थका चतुर्वर्ग समन्वित धर्मकथा नामसे परिचय देता है, तथापि इसके आकार, छन्द तथा अन्य प्रकारों के आधारपर इसे संस्कृत महाकाव्य कहा जा सकता है, क्योंकि मंगलाचरण पूर्वक प्रारब्ध यह पूरी रचना इकतीस सर्गोंमें विभाजित है । बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ तथा श्री कृष्णचन्द्रजीके समकालीन वरांग इसके नायक हैं । इनमें धीरोदात्त नायक के सब गुण हैं । महाकाव्यमें आवश्यक नगर, ऋतु, उत्सव, क्रीड़ा, रति, विप्रलम्भ, विवाह, कुमार-जन्म तथा वृद्धि, राजसभा-मंत्रणा, दूतप्रेषण, अभियान, युद्ध, विजय, राज्यसंस्थापन, धार्मिक आयोजन, आदि के वर्णनों से यह व्याप्त है । वसन्त तिलका, पुष्पिताग्रा उपजाति, प्रहर्षणी, मलिनी, अनुष्टुभ, भुजंगप्रयाता, मालभारिणी, वंशस्थ तथा द्रुतविलम्बित छन्दोंका मुख्य रूपसे उपयोग हुआ है । सर्ग समाप्ति बहुधा विसदृश छन्दसे की गयी है । वरांगकी धर्मनिष्ठा, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता, शारीरिक तथा मानसिक विपत्तियोंमें सहिष्णुता, विवेक, साहस, लौकिक तथा आध्यात्मिक शत्रुओं पर पूर्ण विजय, आदि उसे सहज ही उत्कृष्ट धर्मवीर धीरोदात्त[3] नायक बना देते हैं । परम्पराके अनुसार महाकाव्यमें तीससे अधिक सर्ग नही होने चाहिये किन्तु इसमें एकतीस हैं ।

१—सेठ माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला का ३२ वां ग्रन्थ, पृ० ४ ।

२—"इति धर्मकथोद्देशे चतुर्वर्ग समन्विते स्फुट शब्दार्थ सन्दर्भे वरांगचरिताश्रिते····।"

३—"अविकत्थनः क्षमावानति गम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढ़मानो धीरोदात्तो दृढ़व्रतः कथितः ॥ साहित्यदर्पण, सर्ग ३ श्लोक ३२ ।

कथावस्तु—भगवान् अर्हन्त उनका धर्म तथा सर्वदर्शी ज्ञान रूप रत्नत्रयके नमस्कार पूर्वक ग्रन्थका प्रारम्भ होता है। महापुराणके समान कथा प्रबन्ध, उपदेष्टा तथा श्रोताके लक्षण तथा भेदों का विवेचन है। फिर कथा प्रारम्भ होती है विनीत देशकी रम्या नदीके तटपर स्थित उत्तमपुरमे भोजवंशी महराज धर्मसेन राज करते थे। इनकी तीन सौ रानियोंमे गुणवती पट्टरानी थीं इसी देवी की कुक्षिसे कुमार वराङ्ग उत्पन्न हुए थे। मंत्रियोंसे विमर्ष करके धर्मसेनने वयस्क वरांगका दश कुलीन पुत्रियों के साथ व्याह कर दिया था। कुछ समय वाद भगवान् अरिष्टनेमिके प्रधान शिष्य वरदत्त कवेली उत्तमपुर पधारे धर्मसेन सकुटुम्ब वन्दनार्थ गये, तथा राजा द्वारा प्रश्न किये जाने पर कवेली ने धर्म और त्तत्वो का उपदेश दिया। संसारके कारण कर्मों, लोकों, तिर्यञ्च गति, मनुष्य-गति तथा लोक, स्वर्ग तथा मोक्षका विशेष विवेचन किया था। वरांगके पूंछने पर मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व का विवेचन किया था। जिससे प्रभावित हो कर कुमारने अणुव्रतोको धारण किया था। वरांगको युवराज पद देने पर इनकी सौतेली माता तथा भाई सुषेण को ईर्ष्या होती है। ये सुबुद्धि मंत्री से मिल कर षड्यन्त्र करते हैं। मंत्रिके द्वारा शिक्षित दुष्ट घोड़ा वरागको जंगलकी ओर ले भागता है तथा कुमार सहित कुएंमे जा पड़ता है। किसी प्रकार कुएंसे निकल कर वरांग जब दुर्गम वनमें आगे बढ़ते हैं तो व्याघ्र पीछा करता है तथा किसी हाथीकी सहायता से ये उससे छुटकारा पाते हैं। इसी प्रकार एक यक्षी इन्हे अजगरसे बचाती है तथा इनके स्वदार-संतोष-व्रतकी परीक्षा लेकर इनकी भक्त हो जाती हैं वनमे भटकते युवराजको वलिके लिए भील पकड़ ले जाते हैं किन्तु सांपके द्वारा डंसे भिल्लराजके पुत्रका विष उतार देनेके कारण इन्हे मुक्ति मिल जाती है और यह सेठ सागरबुद्धि के बंजारेसे मिल कर उसे जंगली डाकुओंसे बचा लेकर कश्चिद्भट नामसे अज्ञात वास करते हैं। सेठ सागरबुद्धिके धर्मपुत्रकी भांति ललितपुरमें रहते हुए वे सेठोंके प्रधान हो जाते हैं। इधर उत्तमपुरमे इनके माता पितादि धार्मिक जीवन विताकर वियोगके दुखको भर रहे थे। हाथीके लोभसे मथुराधिपने ललितपुर पर आक्रमण किया तो कश्चिद्भटने उसको परास्त करके फिर अपने पराक्रमकी पताका फहरा दी। कृतज्ञ ललितपुराधिपने अपना आधा राज्य तथा लड़की वरांगको दी।

वरांगके लुप्त हो जाने पर सुषेण उत्तमपुरके राज्यभारको सम्हालता है और अपनी अयोग्य-ताओंके कारण शासनमे असफल रहता है। उसकी इस दुर्बलता तथा धर्मसेनके बुढापेका अनुचित लाभ उठानेकी इच्छासे वकुलाधिप उत्तमपुर पर आक्रमण करता है तथा धर्मसेन ललितपुराधिपसे सहायता मागते हैं। इस अवसर पर वरांग जाते हैं और वकुलाधिपके दांत खट्टे कर देते हैं। तथा जनताके स्वागत और आनन्दके बीच अपनी नगरीमे प्रवेश करते हैं। अपने विरोधियोंको क्षमा करके वरांग पितासे दिग्विजयकी अनुमति मांगते हैं। वे नये राज्यकी स्थापना करते हैं जिसकी राजधानीका निर्माण सरस्वती नदीके किनारेपर आनर्तपुर नामसे हुआ था। यहां पर वे विविध ऋतुओंका आनन्द लेते हैं। अपनी पट्टरानीको श्रवकाचारका उपदेश देते हैं तथा महान् जिनमन्दिर का निर्माण कराके विशाल जिन विम्वकी प्रतिष्ठा पूरे धार्मिक आयोजनके साथ कराते हैं। नास्तिकमतोंका निरूपण करके वे अपने मंत्रियो का सन्देह निवारण करते हैं तथा उन्हें जिनधर्मज्ञ परम श्रद्धानी बना देते हैं। अपनी प्रजाका ज्ञान तथा सुख बढ़ानेके लिए ये तत्त्वार्थ तथा पुराणोका उपदेश देते हैं। अनु-पमा महारानीकी कुक्षिसे पुत्रका जन्म होता है, जिसका नाम सुगात्र रखा जाता है।

एकदिन वरांगराज आकाशसे टूटते तारेको देखते हैं और उन्हें संसारकी अनित्यताका तीव्र भान होता है। वे दीक्षा लेनेका निर्णय करते हैं। कुटुम्बी जन उन्हें रोकते हैं, किन्तु वे अपने धर्मपिता सेठ सागरबुद्धि तथा अन्य स्वजनोको समझा लेते हैं। कुमार सुगात्रको राजसिंहासन पर बैठा कर अन्तिम उपदेश देते है और श्री वरदत्त कवेलीसे दैगम्बरी दीक्षा ले लेते हैं। रानियां भी धार्मिक दीक्षा लेती हैं। वरदत्त कवेली मुनिधर्मका उपदेश देते हैं। इसके वाद राजा तथा रानियां

घोर तप करके अपने अन्तरंग और बहिरंग शत्रुओंको जीतते हैं। अन्तमें वरांगराज शुक्लध्यान करके सद्गति को प्राप्त करते हैं।

इस कथा वास्तुसे भी स्पष्ट है—रस, पात्र तथा चतुर्वर्ग साधक होनेके कारण यह धर्म कथा उच्च कोटिका संस्कृत महा काव्य हो जाती है।

ग्रन्थकार—अब तक प्रकाशमें आयी दोंनो हस्त लिखित प्रतियोंमें कहीं भी ग्रन्थकारका किसी प्रकारसे निर्देश नहीं मिलता है। अर्थात् ग्रन्थकारके विषयमें अन्तरंग साक्षीका सर्वथा अभाव है। इस महाकाव्यको हमारे सामने लाने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० उपाध्येने भी सर्गान्तमें आये विशाल कीर्ति, तथा राजसिंह शब्दोंके ऊपरसे लेखकका अनुमान लगानेके प्रलोभनको ग्राह्य नहीं समझा है[1]। आपाततः अन्तरंग साक्षियोंके अभावमें बाह्य साक्षियोंकी ही शोध एकमात्र गति रह जाती है। बाह्य साक्षी भी प्रधानतया दो प्रकार के हैं प्रथम साहित्यिक निर्देश, द्वितीय शिलालेख। साहित्यिक निर्देश संक्षेपमें निम्न प्रकार हैं—

१—आचार्य जिनसेनने (ल० ७८३ ई०) अपने हरिवंश पुराणके प्रारम्भमें पूर्ववर्ती कवियों तथा काव्यों का स्मरण करते हुए वरांगचरितके लिए लिखा है "सर्वगुण सम्पन्न नायिकाके समान अर्थ गम्भीर वरांगचरित अपने समस्त लक्षणों (अंगोपांगों) के द्वारा अपने प्रति किसके मनमें गाढ़ अनुरागको उत्पन्न नहीं करेगा[2] अर्थात् वरांगचरित सबके लिए मनोहारी है। किन्तु इतना सम्मान पूर्ण होकर भी यह निर्देश केवल ग्रन्थका परिचय देता है। उसके निर्माताके विषयमें मौन है।

२—आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन द्वितीयने (८३८ ई०) "काव्यकी कल्पनामें तल्लीन जिस आचार्यके जटा हमे अर्थ समझाते हुए से लहराते हैं वह जटाचार्य हमारी रक्षा करें"[3] कहकर किन्हीं जटाचार्यको नमस्कार किया है। इतना ही नहीं कितनी ही बातोंमें वरांगचरितके मन्तव्योंको अपने पद्योंमें दिया है। किन्तु आदिपुराण जटाचार्यकी कृतिके विषयमें मौन है।

३—हरिवंश पुराणके वरांगचरित और आदि पुराणके जटाचार्यमें क्या सम्बन्ध था इस समस्याका-निकार श्री उद्योतनसूरि (७७८ ई०) की कुवलयमाला[4] की

"जेहिं कए रमणिज्जे वरंग-पउमाण चरिय वित्थारे।
कह व ण सलाहणिज्जे ते कइणो जडिय—रविषेणो॥"

गाथासे मिलता है। यद्यपि मा० प्रेमी जी[5] को 'रविषेणो' पदने द्विविधा में डाला था तथापि डा० उपाध्ये ने 'जेहिं' 'ते' 'कइणो'[6] पदोंके आधार पर यह निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि उद्योतन सूरिने वरांगचरित तथा पद्मचरितके निर्माताओं जड़िय-रविषेणका निर्देश किया है।

४—जडिय जटिलका भ्रान्त पाठ है यह धवलकृत हरिवंश[7] (ल० ११ वीं शती) के

१—वरांगचरित की अंग्रेजी भूमिका, पृ० ८ (मा० ग्र० मा० मुम्बई, ग्र० ४०)।
२—हरिवंश पुराण, प्र० अ०, श्लोक ३५।
३—"काव्यानुचिन्तने यस्य जटाः प्रचलवृत्तयः।
अर्थान्स्मानुवदन्तीव जटाचार्यः स नोऽवतात्। आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ५०।
४—कैटलोग ओफ मैनुस्क्रिप्ट जैसलमेर भण्डार, गायकवाड़ सीरीज वो० १३, पृ० ४२।
५—पद्मचरितकी भूमिका, पृ० ३।
६—वरांगचरितकी अंग्रेजी भूमिका, पृ० १० (मा० च० ग्र०, ग्र० ४०)।
७—सी० पी० तथा वरारके संस्कृत प्राकृत मैनुस्क्रिप्टका कैटलोग, पृ० ७६४।

मुणि महसेणु सुलोयणु जेण पउमचरिउ मुणि रविसेणेण।
जिणसेणेण हरिवंसु पवित्तु जडिलमुणिणा वरंगचरित्तु॥

उद्धारणसे स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् स्पष्टरूपसे धवलाचार्य सुलोचनाचरितके निर्माता मुनि महासेन, पद्मचरितके रचयिता आ० रविषेण, हरिवंशकार आचार्य जिनसेन तथा वरांगचरित-कार श्री जटिलमुनिको स्मरण करते हैं।

इनके अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थोमें वरांगचरितके उद्धरण भी मिलते हैं। गोम्मटेश प्रतिष्ठापक मंत्रिवर चामुण्डरायने अपने त्रिषष्ठि-शलाका-पुरुष-चरित[1] मे (९७८ ई०) कथा अंगोका विवेचन करते हुए श्रोताके भेदोंको बतानेके लिए वरांगचरितके प्रथम अध्यायका १५ वां श्लोक ज्योंका त्यों उद्धृत किया है। इस निर्देशकी महत्ता तो इसमें है कि उक्त श्लोकके पहिले चमुण्डरायने "जटासिंह-नद्याचार्यर वृत्तं"[2] भी लिखा है। दशमी शतीका यह निर्देश कुवलयमाला तथा हरिवंश पुराणके निर्देशों का पुष्ट पोषक है। सोमदेवोचार्य द्वारा भी वरांगचरितके

"क्षुद्रमत्स्यः किलैकस्तु स्वयंभुरमणोदधौ।
महामत्स्यस्य कर्णस्थः स्मृतिदोषादधो गतः॥"

को उद्धृत करना भी प्रमाणित करता है कि वरांगचरित दशमी शतीमे ही पर्याप्त ख्याति तथा प्रतिष्ठा पा सका था।

मर्यादा-मंत्री चामुण्डराय द्वारा 'जटासिंहनन्दि' नामसे वरांगचरितकारका निर्देश हमारा ध्यान आदिपुराण के उस पार्श्वलेखकी ओर ले जाता है जिसमे जटाचार्यका नाम 'सिहनन्दिन' लिखा है। इन उद्धारणोके सहारे ऐसी कल्पना आती है कि वरांगचरितके प्रथम सर्गमें आया 'राजसिंह' शब्द संभवतः आचार्यके नामका आंशिक संकेत करता है क्योंकि प्रादेशिक भाषाके ग्रन्थकारों में भी 'जटासिंहनन्दि' नामसे वरांगचरितके रचयिताका स्मरण करनेवालोंका बहुमत है—

१—कन्नड़ भाषाके धुरन्धर कवि पम्पने भी अपने आदिपुराण (९४१ ई०) के आरम्भमें बड़े सम्मान और श्रद्धाके साथ 'जटाचार्य' नामसे वरांगचरितकारका स्मरण दिया है[3]।

२—धर्मामृतके रचयिता श्रीनयसेन (१११२ ई०) जटासिहनन्दिको "चरित्र रत्नाकर रधिक-गुणसंज्" रूपसे स्मरण करते हैं[4]।

३—पार्श्व पंडित अपने पार्श्वनाथ पुराणमें (१२०५) जटाचार्य नामसे वरांगचरितकारकी प्रशंसा करते हैं[5]।

४—अनन्तनाथ पुराणके कर्त्ता जन्नाचार्य (१२०९) "नृपभृत्य वर्धित सुधर्मर श्री जटासिह-नद्याचार्य" रूपसे जटाचार्यका स्मरण करते हैं[6]।

१—कर्नाटक सहित्य परिषद् द्वारा १९२८ मे प्रकाशित।

२—यह वाक्य त्रिषष्ठि-शालाकाचरितकी समस्त हस्तलिखित प्रतियोमें नही मिलता है तथापि इसकी स्थिति निर्विवाद है क्योंकि १४२७ (शक) मे की गयी इसकी ताड़पत्रीय प्रतिमे भी यह वाक्य है।

३—प्रथम सर्ग, श्लोक १२ (मैसूर संस्करण १९००)।

४—सर्ग १, श्लोक १३ (मैसूर संस्करण १९२४–६)।

५—सर्ग १, श्लोक १४।

६—सर्ग १, श्लोक १३ (मैसूर संस्करण १९३०)।

५—पुष्पदन्तपुराणके निर्माता गुणवर्म द्वितीय (१२३० ई०) भी जटाचार्यको "मुनिपुंगव जटासिंहनन्दि" नामसे प्रणाम करते हैं[१]।

६—श्री कमलभव अपने शान्तीश्वर पुराणमें (१२३५ ई०) जटासिंहनन्दि नामसे ही वरांग चरितकारका उल्लेख करते हैं[२]।

७—नेमिनाथ पुराणके प्रारम्भमें महाबल कविने (१२४५) भी 'जगती ख्याताचार्य' रूपसे जटासिंहनन्दिका उल्लेख किया है[३]।

जटाचार्यका निर्देश करनेवाला एक मात्र शिलालेख निजाम राज्यके कोप्पल[४] (कोप्पन) नाम के स्थान पर पाल्कीगुण्डु पहाड़ी पर मिला है। प्राचीन कालमें यह स्थान सुप्रसिद्ध धार्मिक स्थान रहा होगा जैसा कि यहांसे प्राप्त विविध शिलालेखोंसे स्पष्ट है। यहां पर मिले शिलालेखोंमें सम्राट अशोकके भी लेख हैं। प्रादेशिक परम्पराके आधार पर कहा जा सकता है कि मध्ययुगमें भी यह स्थान जैनियोंके लिए पूज्य रहा है। जटाचार्यका निर्देशक लेख अशोकके शिलालेखके ही पास है। पत्थर पर दो चरण खुदे हैं और उनके नीचे कन्नड़ भाषामें—

"जटासिंहनन्दि आचार्यर पदव
चावय्यं माडिसिदों[५]"

दो पंक्तिका लेख भी अंकित है। जैन परम्परामें यह प्रथा प्रचलित थी कि किसी भी पूज्य पुरुषके देहत्याग स्थान अथवा स्मशान पर कोई स्मारक बनवा देते थे और उसपर चरण चिन्ह खुदवा देते थे। ऐसे स्थानोंको 'निषिदि' नामसे कहा जाता था। 'नसियां' इसीका अपभ्रंश प्रतीत होता है। यतः अनेक जैन साधु समाधिमरणके लिए कोप्पन जाते थे अतः यही सम्भव प्रतीत होता है कि जटाचार्यने कोप्पनमें समाधिमरण किया होगा जिसकी स्मृतिमें उनके परमभक्त 'चावय्यं' ने चरणपादुका बनवायी होंगी। यद्यपि इस लेखमें केवल 'जटासिंहनन्दि' का उल्लेख है तथापि नामसे उल्लेख किये जानेके कारण कहा जा सकता है कि यह लेख कन्नड़ कवियों द्वारा नमस्कृत इन्हीं वरांगचरितकार जटाचार्यका ही निर्देश करता है। इसके अतिरिक्त लेखका काल भी उक्त निष्कर्षका समर्थन करता है। लेखके अक्षरोंके आकार तथा अंकनके प्रकारके आधारपर विद्वान् सम्पादक ने[६] इसे १० वीं शतीका लेख बताया है। इन्हीं बातों पर विचार करके डा० उपाध्येका अनुमान है कि यह लेख आसानीसे ८८१ ई० के आस पासका खुदा होना चाहिये, क्यों कि इसके अक्षरादि वहीं मिले उस शिलालेख[७] के समान हैं जिसमें उक्त सम्वत्का निर्देश है। डा० उपाध्येके मतसे यह लेख ईसाकी ८ वीं शतीका भी हो सकता है।

१—सर्ग १, श्लोक १६ (मद्रास संस्करण १६३३)।

२—सर्ग १, श्लोक १६ (मैसूर संस्करण १६१२)।

३—सर्ग १, श्लोक १४।

४—कर्नाटक साहित्य परिषद् पत्रिका, जिल्द ३२, सं० ३, पृ० १३८-५४ पर श्री एन० बी० शास्त्री का 'कोपन-कोप्पण' शीर्षक निबन्ध।

५—हैदराबाद आरकेयोलोजीकल सीरीज, स० १२ (१६३५) में सी० आर०कृष्णम् चारलू लिखित 'कोपबलके कन्नण शिलालेख"।

६—है० आ० सी, सं० १२ (१६३५) मे केवल प्राचीन लिपि अध्ययनके आधारपर।

७—इस शिलालेखके च, चा, व, प, आदि वर्ण कन्नड़के उन शिलालेखोके इन वर्णोंसे बिल्कुल मिलते है जिनपर ८८१ ई सम्वत् खुदा है। यदि विसदृशता है तो केवल ज वर्णकी खुदाई में है। इन्हीं हेतुओके आधारपर डा० उपाध्ये शिलालेखका समय ८ वीं शतीमें ले जाते हैं।

यद्यपि शिलालेख आचार्य जटासिंहनन्दिकी रचनाओं आदिके विषयमें पूर्ण मौन है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह शिलालेख वरांगचरितकार जटाचार्यके ही समाधिमरणका स्मारक है, क्योंकि इसमें खुदा 'जटा' विशेषण इन्हें अन्य सिंहनन्दियोंसे अलग कर देता है। कन्नड़ साहित्यमें सुलभ विविध निर्देश यह बताते हैं कि जटाचार्य संभवतः कर्णाटक वासी रहें होंगे। उस समयका कर्णाटक कावेरीसे गोदावरी तक फैला था जिसमें कोप्पल पड़ता है। इतना ही नहीं उस समयका कोप्पल विद्वानोंका मरण स्थान भी था जैसा कि कुमारसेन आदिके मरणस्थल होनेसे स्पष्ट है। इन सब साक्षियोंके आधारपर कहा जा सकता है कि जन्मजात महाकवि, उग्र तपस्वी, निरतिचार परिपूर्ण संयमी, परम प्रतापी, रंक तथा राजाके हितोपदेशी, सर्व सम्मत आचार्य तथा सुप्रसिद्ध जैन मुनि श्री जटाचार्य ही वरांगचरितके निर्माता थे।

जटासिंहनन्दिका समय—वरांगचरित अपने कर्त्ताके समान अपने निर्माणके समयके विषयमें भी मौन है। अर्थात् समयके विषयमें भी अब तक कोई अन्तरंग साक्षी हस्तगत नहीं हुआ है। फलतः केवल उत्तरवर्ती लेखकोंके समयके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि आचार्य जटासिंहनन्दि इस वर्षके पहिले हुए होंगे। सबसे प्राचीन तथा स्पष्ट निर्देश कुवलयमालाका है। कुवलयमालाकार श्री उद्योतनसूरि के बाद श्री जिनसेनाचार्य प्रथमने अपने हरिवंशपुराणमें वरांगचरितका उल्लेख किया है। इनके बाद जिनसेन द्वितीयने आदिपुराणमें इस ग्रन्थका निर्देश किया है। जहां पम्पने जटाचार्यका स्मरण किया है वहीं आदर्श-मंत्री चामुण्डरायने वरांगचरितके उद्धरण दिये हैं। इनके बाद धवल, नयसेन, पार्श्वपंडित, जन्न, गुणवर्म, कमलभव तथा महाबल कविने वरांगचरित या जटाचार्य या दोनोको स्मरण किया है। अर्थात् जटाचार्य और उनका वरांगचरित ८ वीं शतीके चतुर्थ चरण में ही पर्याप्त प्रसिद्ध हो गया था क्योंकि उद्योतनसूरिका समय ७७८ ई० निश्चित सा ही है। हरिवंश पुराणके प्रारम्भमें आया वरांगचरितका उल्लेख भी इसी बातकी पुष्टि करता है क्योंकि यह ७८३ ई० में समाप्त हुआ था। फलतः यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि ८३८ ई० के लगभग अपना आदिपुराण प्रारम्भ करते हुए आचार्य जिनसेन द्वितीयको जटाचार्यके लहराते जटा अर्थ समझाते से लगे। आदिपुराणके इस निर्देशसे प्रतीत तो ऐसा होता है कि संभवतः; यदि आचार्य जिनसेनने जटासिंहनन्दिके दर्शन नहीं किये थे तो उनकी किसी मूर्ति या चित्रको अवश्य देखा था यही कारण है कि उनके मानस्तल पर लहराते जटा चित्रित ही रह गये।

ज्यों ज्यों समय वीतता गया जटाचार्य और वरांगचरितकी ख्याति बढ़ती ही गयी। इसी लिए १० वीं शतीमें महाकवि पम्पने इन्हें सविनय स्मरण किया और चामुण्यरायने तो इनके उद्धरण ही दे डाले। यही अवस्था ११ वीं १२ वीं शतीमें हुए महाकवि धवल तथा नयसेनकी है। १३ वीं शतीमें तो वरांगचरित और जटाचार्य कवियोके आदर्श बन गये थे क्योंकि पार्श्वपंडित (१२०५) जन्न (१२०६) गुणवर्म (१२३०) कमलभव (ल०-१२३५) तथा महाबलकवि (१२५४) ने इसी शतीको गौरवान्वित किया था। महत्त्वकी बात तो यह है कि वरांगचरित और उसके रचयिताको ८ वीं शतीके उत्तरार्द्धमें ही समस्त भारत तथा सम्प्रदायोंमें मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। क्या इस ख्याति और लोकप्रियता को पानेमें कुछ भी समय न लगा होगा? स्वाभाविक तो यही है कि उस प्रकाशन तथा गमनागमन के साधन विरल युगमें इस ख्यातिने पर्याप्त समय लिया हो। ऐसा प्रतीत होता है कि वरांगचरित अपने ढंगकी सर्व प्रथम चतुर्वर्ग समन्वित धर्मकथा थी। फलतः इसे विश्रुत होनेमें उतना अधिक समय न लगा होगा जितना कि उस युगमें लगना चहिए था तथापि उद्योतनसूरि तक पहुंचनेमें इसे कुछ समय अवश्य लगा होगा। उद्योतनसूरिका निर्देश तो यह भी सूचित करता है कि आचार्य

रविषेणके सामने भी वरांगचरित था। आचार्य जटिल द्वारा किसी पूर्ववर्त्तीका निर्देश न किया जाना भी इसका पोषक है।

वरांगचरितकी आदि-काव्यता जहां उसकी प्रतिष्ठाका प्रसार करती है वहीं यह भी कठिन कर देती है कि वे किसके वाद हुए होंगे। अर्थात् उनके समयकी पूर्वसीमा दूरूह ही रह जाती है। ग्रन्थमें आगत व्यक्ति तथा पुरुषोंके नामादि भी इस दिशामें विशेष सहायक नही हैं क्योंकि जैन पुराणोंको इतिहास करने वाला 'पार्जीटर' आज भी समयके गर्भमें है। वर्ण्य विषय; विशेषकर तत्त्व चर्चाओंके आधार पर भी वल पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि जटाचार्यने इस आचार्यके इस तत्त्वशास्त्रका विशेष रूपसे अनुसरण किया है। क्योकि समस्त तत्त्वशास्त्र उपलब्ध भी नही हैं और जो हैं वे प्रवाहपतित है। इनमें आये सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक विवेचन इतने सदृश हैं कि उनके आधार पर पूर्वा-परताका निर्णय करना विज्ञान विरुद्ध है उदाहरणार्थ; वरांगचरितका नय आदिका वर्णन यदि सिद्धसेनसे मिलता जुलता है तो सामायिकादिका वर्णन दशभक्तिसे अर्थात् औरकुन्दकुन्दाचार्य पूज्यपादसे मिलता है। इसी प्रकार अनेकान्तका स्वरूप समन्तभद्र सदृश है, तो तत्त्वो का समस्त विवेचन उमास्वामिसे मिलता है। फलतः इनके आधार पर यदि जटाचार्यके समयकी पूर्व सीमा निश्चितकी जाय तो प्रथम शती (ईसापूर्व) से लेकर ई०७ वीं शती तक आवेगा। यह निष्कर्ष किसी निश्चित समयकी ओर न ले जा कर संशयको ही वढ़ाय गा। नय विवेचन, अथवा अनकोन्त निरूपण अथवा व्रतादिके लक्षण अथवा ज्ञानचरित्रकी सफल सहगामिता आदिके निदर्शन; इन सवका मूलाधार केवलीका वह ज्ञान था जो आचार्य परम्परासे चला आ रहा था। तथा जिसके आधार पर आचार्योने उस समय अपनी अपनी रचनाएं की थी, जव लोगोंके क्षयोपशम क्षीण होने लगे थे। फलतः इसके आधारसे, यदि तत्तत् लेखकोंके समयके अन्य साक्षी उपलब्ध हो तो यह निष्कर्ष तो निकाला जा सकता है कि किस परिस्थितिसे प्रेरित होकर किस आचार्यने किस मान्यताकी व्याख्यामें क्या परिवर्तन, परिवर्द्धन अथवा वर्गीकरण किया था, किन्तु अन्य साक्षियोके अभावमें उनके ही वलपर कोई निश्चय नही किया जा सकता है।

यतः १—उद्योतनसूरिने वरांगचरितको पद्मचरितसे पहिले तथा जटाचार्यको रविषेणसे पहिले रखा है; २—वरांगचरित आचार्यकी प्रारम्भिक कृति है जैसा कि उसकी अलंकृत कविता, विद्वत्तापूर्ण विवेचन तथा सिद्धान्त-तत्त्व चर्चा और पौराणिक वर्णनोंसे स्पष्ट हैं अतएव जटाचार्य अपनी कृतिकी सर्व विश्रुतिको स्वयं भी देख सके होंगे अर्थात् उन्होने वहुत लम्वी आयु पायी होगी। ३—आचार्य जिनसेन द्वितीयने अपने आदि पुराणको ८ वीं शतीके अन्त अथवा ९ वीं शतीके प्रथम चरणमें प्रारम्भ किया था। ये इसे अपूर्ण छोड़कर ही स्वर्ग सिधार गये और इनके प्रधान शिष्य श्री गुणभद्राचार्यको उसे समाप्त करना पड़ा। अर्थात् आदिपुराण आचार्य जिनसेन (द्वि०) की बुढ़ापेकी कृति थी। तथा इन्होंने जटाचार्य को ऐसे स्मरण किया है मानो उन्हें इन्होंने देखा ही था। ४—इतना ही नही इन्होंने सिद्धसेन, समन्तभद्र, यशोभद्र, प्रभाचन्द्र और शिवकोटि के वाद जटाचार्यका स्मरण किया है अतएव कहा जा सकता है कि श्री जटाचार्यका समय ७ वीं शतीके आगे नहीं लाया जा सकता। कोप्पलका शिलालेख भी इसी वातकी पुष्टि करता है। इसके विषयमे डा० उपाध्ये[१] ने ठीक ही लिखा है कि आचार्य श्री के समाधिमरणके वहुत समय वाद श्री चावय्यं यात्रार्थ कोप्पन पहुंचे तो उन्होने देखा कि कालान्तरमे लोग यह भूल ही जांयगे कि जटाचार्यका भी यहां समाधिमरण हुआ था। एक ऐसे आचार्यके मृत्यु स्थानको लोग भूल जांय जिसने अपने उपदेशों द्वारा देशके कोने कोनेको प्रवुद्ध किया था तथा धर्मकथा लिखनेके तीर्थंका

१—संस्कृत वरांगचरितकी भूमिका, पृ० २३ (मा० ग्र० मा०, पु० ४०)

प्रवर्तन किया था; यह बात उन्हे बहुत खटकी और उन्होने लोकश्रुतिके आधार पर उस स्थान पर आचार्यश्री के चरण सैकड़ो वर्ष बाद खुदवा दिये। फलतः उपलब्ध साक्षियोंके आधारपर जटाचार्यका समय ई० की सातवी शतीके आगे ले जाना समचित न होगा।

जटाचार्यका कवित्व—यथार्थ तो यही है कि जटाचार्यको स्वंय यह अभीष्ट न था कि वे कवियोंकी कोटिमे रखे जांय। यदि ऐसा न होता वे अपनी इस कृतिको 'चारों वर्ग समन्वित धर्मकथा' स्वयं क्यों कहते ? तथा इसके बहुभागको सिद्धान्त और तत्त्व चर्चा से क्यों भरते। चतुर्थ सर्गका कर्म प्रकरण, पाचवेंका लोक-नरक वर्णन, छठेमे तिर्यञ्च योनिका विवेचन, सातवेंमे भोगभूमि, अठवेंमे कर्मभूमि, नवेमे स्वर्गलोक, दशवेमे मोक्षका दिग्दर्शन, ग्यारहवेंके प्रारम्भमें मिथ्यात्वोका प्ररूपण, पन्द्रवेंके उत्तरार्द्धमे बारह व्रतोका उपदेश, बाइसवेंमे गृहस्थाचारका निरूपण, तेइसवेंकी जिनेन्द्र प्रतिष्ठा तथा पूजा, चौबीसवेंका परमत निरसन, पचीसवेमे जगत् कर्तृत्व, वेद-ब्राह्मण-विविध तीर्थोंकी व्यर्थता, छब्बीसवें का द्रव्यगुण प्रकरण, प्रमाणनय विवेचन सत्ताइसवे का त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित चित्रण, अट्ठाइसवेंमे बारह भावना, तथा इकत्तीसवें का महाव्रत-समिति-गुप्ति ध्यान आदिका विवेचन स्पष्ट ही बताता है कि यह ग्रन्थ धर्मकथा ही नहीं है, अपितु इसका बहुभाग धर्मशास्त्र ही है। ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्धांत और न्यायशास्त्रसे भागनेवाले सुकुमार मति पाठकोंके लिए ही आचार्यने अपना अध्ययन समाप्त होते ही यह रचना की थी। यही कारण है कि प्रारम्भिक सर्गोंमे स्पष्ट, कवित्वके आगे दर्शन नहीं होते। इसका यह तात्पर्य नही कि आगेकी रचना माधुर्य, सुकुमार कल्पना, सजीव सांगोपांग उपमा, अलंकार बहुलता तथा भाषाके प्रवाह तथा ओजसे हीन हैं, क्योकि, तत्त्व विवेचन ऐसे नीरस प्रकरणमे भी कविकी प्रतिभा[1] तथा पांडित्यके दर्शन होते ही है। घटनाओके[2] ऐसे सजीव चित्रण हैं कि उन्हे पढ़ते पढ़ते मानस क्षितिज पर उनकी झांकी घूम जाती है। सदुपदेश[3] तो जटाचार्यकी सहज प्रकृति है। जहां कतिपय दृश्य अस्वाभाविकसे लगते है वही युद्ध, अटवी, आदिके वर्णन इतने मौलिक तथा सजीव हैं कि वे वाल्मीकि और व्यासका स्मरण दिलाते हैं। प्रत्येक वस्तुकी सूक्ष्मसे सूक्ष्म विगत देना और दृश्योका तांता बांध देना भी वरांगचरितकारकी अपनी विशेषता है। जब वे चरित्र चित्रण करते हैं तो आवृत्ति, अनुप्रास, आदिका भी प्रयोग करते हैं। वरांगचरित जो मूलरूप हमे प्राप्त हुआ है वह इतना विरूपित है कि उसके आधार पर कविके कवित्वकी परख करना उचित न होगा। तथापि यह कविकी असाधारणता है कि उनकी पूरी कृतिमे प्रसाद और पाण्डित्यकी पुट पर्याप्त है। इन आधारो पर उन्हे पुराणकार महाकवि कहना अनुचित न होगा।

निरंकुशाः कवयः—संस्कृतके युगनिर्माता महाकवियोके समान जटाचार्यने अपनी रचनामें जहां सर्वत्र व्याकरणके पण्डित्यका परिचय दिया है वही, कहीं कही उनकी अवहेला भी की है। वरागचरितमे आये संधि-स्थलों की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि जटाचार्यने प्रचलित संधि-नियमोका निर्वाह किया है। तथापि ऐसे स्थल भी हैं जिन्हे देख कर यह समझना कठिन हो जाता है कि आचार्यने किस व्याकरणका पालन किया है। श्रोत्रात्मनोके स्थानपर श्रोतात्मनो (१-११), आदि सदृश अनेक स्थल हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि छन्दके प्रथम एवं द्वितीय तथा तृतीय एव चतुर्थ चरणोके बीचमें भी आचार्यने संधि करनेको आवश्यक नहीं समझा है। ऐसे स्थलोके विषयमे कहा जा सकता है

१—सर्ग ११-६६, १८-१४, ६५ तथा ११६, २८-६, आदि।

२—सर्ग २ मे वर्णन, १२ मे अश्व-प्रतियोगिता, व्याघ्र, गजप्रतियोगिता, आदि १३ मे नक्रग्रसन, यक्षी-परीक्षा, आदि।

३—१५ मे राजवधुओका उपदेश, २२ में रानियोको उपदेश, २८ मे सागरबुद्धि पिता, आदिको उपदेश।

कि यतः हस्तलिखित प्रतियां भ्रष्ट हैं अतः यह भूल लिपिकने की है किन्तु 'नै च इष्ट सप्तत्' (८-३६), स्याद्वादः खलु (१६-८१), आदि विसंधि- स्थलों के विषयमें क्या कहा जाय। '....सुत्तेत्र यज्ञो' (२८-४२), आदि तों ऐसे स्थल हैं जिन्हें 'कुसंधिके सिवा दूसरे शब्दोंसे कहना भी शक्य नहीं है।

शब्दरूपोंकी दृष्टिसे भी वरांगचरित वैचित्र्य पूर्ण है....'धूपवहाश्चगेहाः' (१-२५),'जिनेन्द्रे गेहो (२१-३०) आदि स्थल यही बताते हैं कि आचार्य गृह, चूर्ण, चक्र, आदि, शब्दोंको पुंलिङ्ग ही मानते थे। प्राण शब्द नित्य वहु बचनान्त है किन्तु आचार्यने इसकी भी अवहेला (२६-३-४ चरण) की है। 'ननाम स्वसारः' 'तासु गतीषु' आदि ऐसे प्रयोग हैं जिन्हें कवियों की निरंकुशताके सिवा और क्या कहा जाय।

धातुरूपोंने तो शब्द रूपोके वैचित्र्यको भी मात कर दिया है। भर्त्स्यन्ति-असुरा' 'विटाश्च-दधुः' कुमारं मृगयामि, मनुजास्तु प्रसवन्ति 'क्षीरमथाददाति' आदि रूपोंको देख कर यही लगता है कि आचार्यने संस्कृत धातुओंके परस्मै तथा आत्मने पद विभागसे भी मुक्ति ली है। ऐसी स्थितिमें सहायक पद तथा धातुरूपके अन्तरालमें शब्द प्रक्षेपण ऐसी सुप्रचलित कवि मान्यताकी यहां समीक्षा करना पिष्टपेषण ही होगा। 'दूतवरान्ससर्ज' मतिं संनिदध्युः' 'स्वबन्धु मित्रान्'.... जुहुः,' आदि प्रयोग पद व्यपलोपसे भी अधिक वैचित्र्य पूर्ण हैं। 'यथेष्टमुपभोग परीप्सयिन्यः' 'विधातयन्ति सम्यक्त्वं' 'तोदयन्ति' 'चूषयन्ति' आदि प्रयोग भी अपने स्थानपर कम वैचित्र्य पूर्ण नहीं हैं। उपसर्ग संयोगसे पद परिवर्तन संस्कृति व्याकरणकी सुप्रसिद्ध पद्धति है किन्तु आचर्य ने उसे भी कालिदासादिके समान पद-दलित किया है।

संज्ञा और विशेषणोंको भाव वाचक बना देना आचार्यश्री की अपनी विशेषता है अदृश्य रूप (१४-२०) गाध (२०-२४) उत्सुक (२२-७६) निराश्रय (२१-६३) निरमल (२५-४५), आदि दृष्टान्तोंकी वरांगचरितमें भरमार है।

इसी प्रकार कारकोंके प्रयोग, कृदन्त रूपों तथा तद्धितान्त शब्दोंके रूप भी विचित्र हैं। सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि जटाचार्यने कुछ ऐसे शब्दोंका प्रयोग किया है जिन्हें कठोर-संस्कृत-सम्प्रदायवादी सहज ही सहन नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ विकसितके लिए फुल्ल (२-७३) वृषभके अर्थमें गोण (६-१५), आदि शब्द। मैथुन, बर्करा, अद्धा (काल), आवहिता, सम्पदा, सादन आदि प्रयोग स्पष्ट ही अपनी प्राकृत अथवा प्रान्तीय भाषासे उत्पत्तिका स्मरण दिलाते हैं। कठोर संस्कृतवादी इन सब प्रयोगोंको कविकी निरंकुशता ही कहें गे। पर मेरी दृष्टिसे ये प्रयोग संस्कृतके इतिहासके 'माइल स्टोन' हैं। ये बताते हैं कि 'प्रकृतिस्तु संस्कृतम्' मान्यता वेद-ब्राह्मणकी सर्वोपरिताके समान भाषा जगतमें संस्कृतकी सर्वोपरिताकी स्थापनाके लिए गढ़ा गया था। वास्तवमें प्रकृति; प्राकृत ही है उसका मनुष्यकृत अतिबद्ध रूप संस्कृत है। इसीलिए काव्य युगके महापुरुष जटाचार्यने संभवतः इसके जीवित रूपको ही अपनाया है। यदि ऐसा उन्हें अभीष्ट न होता तो वे तत्तत् भाषाओंके शब्द तथा सरल शब्द-धातु रूपादिको इतना न अपनाते। केवल छन्दोंकी मात्रा संख्या ठीक रखनेके लिए ही इतना बड़ा कवि व्यापक रूपसे व्याकरण नियमोंको इच्छानुसार ढाले यह संभव नहीं प्रतीत होता।

जटाचार्यकी कृतियां—

वरांग-चरितके सिवा अब तक आचार्य जटासिंहनन्दिकी दूसरी कृति सुननेमें नहीं आयी है। यदि यह सत्य है कि वरांग-चरित आचार्यकी अप्रौढावस्थाकी कृति है तो उन्होंने अन्य ग्रन्थ अवश्य रचे होंगे, जैसा कि उत्तरकालीन कवियोंके ससम्मान स्मरण और सम्बोधनोंसे स्पष्ट है। इसकी पुष्टि योगीन्द्र-रचित अमृताशीतिमें आये निम्न श्लोकसे भी होती है—

"जटासिंहनद्याचार्य वृत्तम्—

तावत् क्रियाः प्रवर्तन्ते यावद् द्वैतस्य गोचरम् ।
अद्वये निष्कले प्राप्ते निष्क्रियस्य कुतः क्रिया ॥"

यतः इस श्लोककी शैली (सापेक्ष पदोंका प्रयोग) जटाचार्यकी ही प्रतीत होती है तथा यह वरांग-चरितमे नहीं आया है अतः स्पष्ट है कि यह पद्य योगीन्द्राचार्यने आचार्य जटासिंहनन्दि के उस ग्रन्थसे लिया होगा जो आज लुप्त है ।

जटाचार्यका जैनसिद्धान्त पाण्डित्य—

अमृताशीतिमे उद्धृत उक्त पद्यसे भासित होता है तथा वरांगचरितके धर्मशास्त्रमय वर्णनो से स्पष्ट हो जाता है कि जटाचार्य जैनसिद्धान्तके अगाढ़ पंडित थे । जब वरागचरितके चौथे सर्गमे पहुँचते हैं तो यह ध्यान ही नहीं रहता कि किसी काव्यको देख रहे हैं अपितु ऐसा प्रतीत होता है कि धर्मशास्त्रका अध्ययन चल रहा है । डा० उपाध्येने[1] ठीक ही अनुमान किया है कि आचाय गृद्धपिच्छके तत्वार्थसूत्रको ही सुकुमारमति पाठकोके सामने रखनेके लिए आचार्यने वरांगचरितकी सृष्टि की होगी । जैन सिद्धान्तका कोई भी ऐसा सिद्धान्त नहीं है जिसका आचार्यने वरांगचरितमें प्रतिपादन न किया हो । गृहस्थाचारसे लेकर ध्यान पर्यन्त सभी वातोंका सांगोपांग वर्णन इस ग्रन्थमे उपलब्ध है । जटाचार्यकी दृष्टिमें काव्य 'अकल्याणके विनाश' तथा 'तुरन्त वैराग्य और निर्वाणके लिए'[2] ही था । आचार्यने देखा होगा कि लोगोकी प्रवृत्ति धर्मशास्त्रोके स्वाध्यायसे हटती जाती है । वाल्मीकिकी रामायणादि ऐसे काव्य ग्रन्थोंकी ओर वढ़ रही है । उन्हें तो लोक-कल्याण ही अभीष्ट था फलतः उन्होने रत्नत्रय स्वरूप अर्हद्धर्मके ज्ञान तथा आचरणके लिए यह धर्मकथा (महाकाव्य) रच डाली । यही कारण है कि वर्ण्य विपयोंका क्रम तथा कहीं-कहीं पद्योका भाव सहज ही सूत्रकार तथा उनके सूत्रोंकी स्पष्ट समतामय दिखता है । आचार्यने इस वातका पूरा ध्यान रखा है कि कोई मौलिक चर्चा छूट न जाय यही कारण है कि चौथेसे दशवें सर्ग तक गतियोका वर्णन कर चुकने पर उन्होने देखा कि इस सबके मूल हेतु सम्यक्त्व-मिथ्यात्व-का स्वरूप तो रह गया । फिर क्या था ग्यारहवें सर्गके प्रारम्भमें युवराजके द्वारा प्रश्न किया जाता है और संसार तथा मोक्षके महाकारण रूपसे इन दोनोका निरूपण हो जाता है । तथ्य तो यह है कि सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक चर्चाओके कारण ही इस आदि महाकाव्यमे भापा-प्रवाह, सुकुमार-कल्पना, अलंकार वहुलता आदिको उस मात्रामे नहीं पाते जिस मात्रामें उनका प्रारम्भ हुआ था, अथवा कालिदासादिके महाकाव्योमे पायी जाती हैं । यह तो जटाचार्यकी लोकोत्तर प्रतिभा थी जिसके वल पर वे तत्त्वचर्चा ऐसे नीरस विपयको लेकर भी अपनी कृतिकी काव्यरूपताको भी अक्षुण्ण रख सके ।

सिद्धान्तके समान आचार्यका न्यायशास्त्रका ज्ञान भी विशाल था । आचार्यके इस ज्ञानका उपयोग जैन-सिद्धान्तकी मूल मान्यता कर्मवादकी प्रतिष्ठामे हुआ है । अन्तरंग तथा वहिरंग पराधीनताके कारण कर्तृत्ववाद पर उनका मुख्य आक्रमण है । उन्होंने कालवाद, दैववाद, ग्रहवाद, नियोगवाद, नियतिवाद, पुरुपवाद, ईश्वरवाद, आदि समस्त विकल्पोंको उठाकर इनका वड़े

१—वरागचरितकी भूमिका, पृ० २० ।
२—"काव्यं ······ शिवेतर क्षतये ।
सद्यः परिनिर्वृतये ······ ······ ॥" (काव्यपकाश) ।

सौन्दर्यके साथ अकाट्य युक्तियों द्वारा परिहार किया है। इनके एकान्त स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए इनको प्रत्यक्षबाधित सिद्ध किया है। बलिवादका निरूपण करते हुए जटाचार्य कहते हैं कि वह बलि क्या फल देगी जो आराध्य देवोंके पास जानेके पहिले ही काकादि पक्षियों द्वारा खा ली जाती है। और पहुँचती भी हो तो वह देव क्या करेगा जो भेंटके लिए लालायित रहता है। 'समय ही प्रत्येक वस्तुका बलाबल' करता है तो संसारके कार्योंमें इतनी अधिक अव्यवस्था तथा आकस्मिकता क्यों है? यदि अनुकूल प्रतिकूल ग्रह ही लोगोंके शुभ तथा अशुभको करते हैं तो यह सबसे बड़ी वञ्चना है क्योंकि भले-बुरेके अन्य प्रत्यक्ष हेतु देखनेमें आते ही हैं। इतना ही नहीं स्वयं सूर्य तथा चन्द्रमा अपने सजातीय राहु तथा केतुके द्वारा क्यों ग्रसे जाते हैं और विपत्तिमें पड़ते है? स्वभाव ही सबका कर्त्ता-धर्ता है यह मान्यता भी नहीं टिकती क्योंकि साक्षात् दृष्ट सांसारिक घटनाएं इसके विरुद्ध हैं। नियतिकी जगत-कारणता भी प्रत्यक्ष तथा तर्कसे बाधित है। यदि निर्लेप पुरुष संसारका कारण है तो पुण्य कार्य किस लिए करणीय हैं? ईश्वर संसारका कारण है यह मान्यता तर्ककी कसौटी पर नहीं टिकती। शून्यवादका परिहास करते हुए आचार्य कहते हैं कि "जब विज्ञप्तिका ही शून्य (निषेध) हो जायगी तब किसके द्वारा, क्या और कौन जानेगा।" इसके सिवा शून्यवाद आत्मबाधित ही है। प्रतीत्यसिद्धि भी ऐसी अवस्थामें कोई सहायता नहीं कर सकती है। इस प्रकारसे समस्त एकान्तों (नय दृष्टियों) का निरसन करके अन्तमें आचार्य कहते हैं कि अनेकान्तवाद द्वारा ही तत्त्व व्यवस्था होती है क्योंकि वह सापेक्षवाद पर आश्रित है। तथा इस संसारका न कोई करता है और न कोई धरता है षड्‌द्रव्यमय यह अपने कर्मोंसे प्रेरित स्वयमेव चलता है।

जन्मना वर्ण तथा गोत्र व्यवस्था पर भी जटाचार्यने घोर प्रहार किया है। जन्मना ब्राह्मण होनेके ही कारण पूज्य पुरोहितोंकी चर्चा करते हुए उन्होने एक बाणसे दो लक्ष्यों (जन्मना वर्ण-व्यवस्था तथा यज्ञ यागादिकों) का भेदन किया है। हिंसाकी निन्दा करते हुए वे कहते हैं कि यदि यज्ञमें बलि किया गया पशु स्वर्ग जाता है यह सत्य है तो स्वर्गादिके लिए लालायित पुरोहित अपने स्वजनोंकी बलि क्यों नहीं करते? यदि हिंसामय यज्ञोंके कर्ता स्वर्ग जाते हैं तो नरक कौन जायगा? इसके बाद वे पुरुदेव प्रोक्त हव्यादिका निरूपण करते हैं। वैदिक निदर्शन देकर ही वे पूछते हैं—यदि एक ब्राह्मणकी विराधनाके कारण कुरुराजाको नरक जाना पड़ा तो अनेक पशुओंका व्याघात करनेवाला याज्ञिक क्यों नरक न जायगा? इसी प्रसंगवश वे ब्राह्मणत्वकी भी खबर लेते हैं। कहते हैं यदि ब्राह्म तेज सर्वोपरि है तो ब्राह्मण राजद्वारके चक्कर क्यों काटते हैं? राजाश्रयमें ही अपने आपको कृत-कृत्य क्यों मानते हैं? यदि ज्ञान, चारित्र तथा अन्य गुणोंका अभाव ब्राह्मणकी अवज्ञाका कारण है तो जन्म ब्राह्मणत्वका प्रतिष्ठापक कैसे हुआ। इसके बाद वे व्यास, आदि अनेक ऋषियोंको गिनाते हैं जिन्होंने अपनी साधनाके बलपर ब्राह्म तेजको प्राप्त किया था। गंगा तथा भीष्मकी चर्चा करके उन्होने लोक-मूढ़ताओंका भी निराकरण कर दिया है। तीर्थोंकी तीर्थता महापुरुषोकी साधनाके कारण है, स्थानमें गुण नही है यह सिद्ध करते हुए उन्होंने जिनेन्द्रदेवको आप्त सिद्ध किया है। असंभव नहीं कि आचार्यने किसी न्याय-ग्रन्थका भी निर्माण किया हो।

जटाचार्यके पूर्वगामी—

यद्यपि आज तक यही प्रचलन है कि आचार्य रविषेणने पद्मचरितकी रचना वरांगचरित से पहिले की होगी तथापि ऐसे कोई भी प्रमाण सामने नही आये हैं जिनके आधारपर निश्चित रूपसे इस कल्पनाको सिद्ध किया जा सके। वरांगचरितके प्रारम्भिक भागको देखने पर तो

इसके विपरीत दिशामे कल्पना दौड़ने लगती है। जब कि अपने पूर्ववर्ती लेखकों तथा ग्रन्थोंके स्मरणकी काव्य परम्परा थी तब जटाचार्यने ही क्यों एक भी पूर्ववर्तीका स्मरण नहीं किया है? यह शंका उन्मस्तक होकर खड़ी हो जाती है। सांगोपांग आद्य-मंगल करनेवाले जटाचार्य क्या ऐसी भूल कर सकते थे कि उनके पहिले कोई ख्यात ग्रन्थकार हो चुके हों और वे उनका स्मरण भी न करें। कुवलयमालाका निर्देश तो यही सिद्ध करता है कि जटाचार्य आद्य महाकवि थे और वरांगचरित आद्य-महाकाव्य था। हरिवंश पुराणका निर्देश यद्यपि रविषेणाचार्यकी काव्यमयी मूर्तिको वरांग-चरितसे पहिले रखता है तथापि इसके ही आधारपर पूर्वापरताका निर्णय दे देना शीघ्रकारिता होगी, क्यों उद्योतनसूरि ही नहीं, आचार्य जिनसेन (द्वितीय) की दृष्टिमे भी जटाचार्य प्रथम महाकवि थे। पद्मचरित तथा वरांगचरितके नामोंकी सदृशता, उद्योतनसूरि द्वारा पहिले 'जडिल' का स्मरण फिर रविषेणका निर्देश आचार्य जिनसेन प्रथम द्वारा एक ही साथ सा पद्मचरित तथा वरांगचरितका महिमागान तथा जिनसेन द्वितीय द्वारा केवल जटाचार्यका संस्तवन यही संकेत करता है कि वरांगचरित प्रथम महाकाव्य था। मंत्रिवर चामुण्डराय आदिके निर्देश भी इसी निष्कर्षका संकेत करते हैं। अपभ्रंश हरिवंश पुराणका निर्देश यद्यपि इस क्रमसे नहीं है तथापि इसमे कालक्रमका ख्याल करके ग्रन्थ तथा ग्रन्थकारो के नाम दिये हों ऐसी बात भी नहीं है। क्योकि यह रविषेणके पद्मचरितके साथ-साथ जिनसेन प्रथमके हरिवंशका भी वरांगचरित और जटिलमुनिसे पहिले उल्लेख करता है। देशी भाषा के कवियोंके निर्देशोके द्वारा भी इसी मान्यताका समर्थन होता है क्योंकि उनमे केवल जटासिहनन्दिके स्तोताओंका ही बहुमत है। पद्मचरित जहां विस्तृत मंगलाचरण करता है वहीं वह भी अपने पूर्ववर्तियोके विषयमें सर्वथा मौन है। सौभाग्य से रविषेणाचार्यने अपनी कृतिके अन्तमें समय दे दिया है अतएव उनका समय निश्चित है किन्तु वरांगचरित समयके विषयमे कोई भी सबल संकेत नही देता है फलतः इन दोनों पुराण ग्रन्थोंके आदिमें पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोंका अनिर्देश तथा उत्तरवर्ती उद्योतनसूरि, जिनसेनाचार्य प्रथम तथा द्वितीय आदिके निर्देशोंके आधारपर यही कल्पना होती है कि जैन-कवि परम्परामें जटाचार्य आदि पुरुष रहे होंगे।

जटाचार्यके सहगामी—

वरांग-चरितके वस्तु तथा वर्णन आदिको देखने पर पता चलता है कि जटाचार्यने सुसंयत जीवनका उपदेश दिया है। इस संयत जीवनकी प्राण प्रतिष्ठा करते हुए जटाचार्यने जैनाचार-विचार-का उपदेश दिया है। इसलिए जैन पारिभाषिक शब्दोका बहुलतासे प्रयोग करके अपने काव्यको संस्कृतज्ञोके लिए भी श्रमसाध्य बना दिया है। संसारकी अनित्यता, धर्मकी श्रेष्ठता, मनुष्य जन्मकी दुर्लभता धर्म-अर्थ-कामादिका 'परस्पराविरोधेन' सेवन आचार्यके मुख्य विषय हैं। इन सब बातोको दृष्टिमे रखते हुए जब हम अश्वघोषकी कृतियोंको देखते हैं तो दोनोकी समता 'हाथका आँवला' हो जाती है। अश्वघोषने भी त्याग मय जीवनका उपदेश दिया है इसके लिए उन्होने बौद्ध आचार-विचारका प्रतिपादन किया है। इनकी कृतियोमें भी बौद्ध पारिभाषिक पदोकी भरमार है और वे विद्वजन संवेद्य हैं। 'चतुरार्य सत्यो'का प्रतिपादन इनका भी मुख्य विषय है। इसके सिवा अश्वघोपकी कृतिका नाम बुद्धचरित तो जटाचार्यको इनके अति निकट ला देता है क्योंकि इनकी कृतिका नाम भी वरांग-चरित है। वेद-ब्राह्मणकी सर्वोपरिताके समान संस्कृतकी श्रेष्ठताको अश्वघोषने भी नहीं माना है। इनके सौन्दरनन्द तथा बुद्धचरितमे व्याकरण विषयक वैचित्र्य जटाचार्यके ही समान हैं। चीनी यात्री ह्वेनत्सांग द्वारा उस युगमे दक्षिण-भारतमें बौद्ध-धर्मको फलता फूलता लिखना यह निष्कर्ष निकालनेके लिए वाध्य करता कि जटाचार्यने शायद अश्वघोषकी कृतियां देखी होगी। यदि ह्वेनत्सांगके विचरणमे वह दृष्टि न होती जो एक अति श्रद्धालु

धार्मिक यात्रीकी होती है। तथा अश्वघोषकी कृतियोंकी प्रतिया दक्षिण-भारतमें भी मिलीं होती तो यह कल्पना कुछ साधार हो सकती थी। संयोगकी बात है कि अब तक जितनी भी प्रतियां अश्वघोष-के ग्रन्थोंकी मिली हैं वे सबकी सब उत्तर भारतमें ही मिली हैं। इसके सिवा जटाचार्य द्वारा पाली गयीं काव्य-परम्पराएं जैन कवि-मार्गमें बहुत पहिलेसे चली आ रहीं थी। इसलिए यह कहना कठिन है कि जटाचार्यने इनके लिए अश्वघोषसे प्रेरणा पायी होगी। इतना निर्विवाद है कि उस युगमे धार्मिक कट्टरता ऐसी नहीं थी जैसी कि मध्ययुगमे थी। यही कारण है कि जटाचार्य ने पर्याप्त दृष्टान्त वैदिक पुरुषोंके ही दिये हैं। उस युगमें जड़ता नहीं आयी थी फलतः पारस्परिक आदान-प्रदान उन्मुक्त रूपसे चलता था। यह प्रथा विविधतामें एकता और एकतामें विविधताका सर्वोत्तम निदर्शन है।

जटाचार्यके अनुगामी—

जटाचार्यके समयकी चर्चाके प्रसंगसे देखा है कि समयकी दृष्टिसे आचार्य रविषेणका पद्म-चरित ही वरांग-चरितसे पहिले का माना जाता है। इसके सिवा जैन-साहित्यमें अब तक कोई अन्य रचना सुनने देखनेमें नहीं आयी है जिसे इससे अधिक प्राचीन कहा जा सके। यतः पद्मचरित ६७७ई०में पूर्ण हुआ था अतः इसके बादके समस्त ग्रन्थों को इस प्रचलनके अनुसार भी वरांग चरिका अनुज कहा जा सकता है। जिनसेन द्वितीय (ल० ८३८ ई०) प्रथम महाकवि हैं जिनपर जटाचार्य की स्पष्ट छाप है। आदिपुराणमें दत्त कथाके सात अंग अनायास ही वरांगचरितके प्रथम सर्गके श्लोकोंकी स्मृति दिलाते है। आचार्य जिनसेन द्वारा प्ररूपित वक्ताका स्वरूप सहज ही वरांगचरित की पूर्व-कल्पना कराता है। तथा श्रोता अथवा श्रावकोंके भेद दोनोंमें सर्वथा सदृश हैं। सोमदेवा-चार्य (९५९ ई०) दूसरे कवि हैं जिनकी कृति[1] स्पष्ट रूपसे वरांगचरितकी पूर्व-वर्तिताको पुष्ट करती है, यद्यपि उन्होंने 'भवति चात्र श्लोकः' रूपसे वरांगचरितके पंचम सर्गके १७३ वें श्लोकको उद्धृत किया है। मर्यादा-मन्त्री चरमुण्डरायने भी वरांगचरितको अपना आदर्श माना था। यही कारण है कि वे कथाके अंगोंको जटाचर्यके ही अनुसार देते हैं। अन्तर केवल इतना है कि इन्होंने गद्यमें दिये हैं। और सोमदेवाचार्यके समान श्रोताके भेदोंको बतानेके लिए "जटा सिंह नद्याचार्यैर वृत्तं"—लिखकर वरांगचरितका[2] श्लोक ही उद्धृत कर दिया है। किन्तु इन कतिपय उद्धरणोंके बल-पर सरलतासे यह नहीं कहा जा सकता है कि जटाचार्यने अपने परवर्तियों पर पर्याप्त प्रभाव डाला है। क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थाकारोंने बड़े सम्मान पूर्वक जटाचार्य अथवा उनकी कृतिको स्मरण करके भी उसमेसे कुछ नहीं लिया है इस० तर्कको महत्त्व देनेके पहिले यह भी विचारणीय है कि संस्कृत कवि-मार्गमें मौलिकता प्रधान गुण था। लक्षण शास्त्रों तकमें यह प्रशंसनीय माना जाता था कि अधिकांश निदर्शन भी निजनिर्मित हों। यहीं कारण है कि संस्कृत महाकवियोंने पूर्ववर्ती कवियोंकी कल्पना, अलंकार, पदविन्यासादिको कमसे कम अपनी कृकियोमें लिया है। इसके सिवा वरांगचरित ऐसा धर्मशास्त्र मय महाकाव्य अन्य किसी उत्तर कालवर्ती कविने रचा भी नहीं है। यही कारण है कि उत्तरकालवर्ती जैन पुराणो तथा महाकाव्योंमे वरांगचरितका साक्षात् प्रभाव बहुलतासे दृष्टिगोचर नहीं होता है।

१—यशस्तिलक चम्पू, सप्तम आश्वास, पृ० ३३२।

२—"मृत्सारिणी महिष हंस शुकस्वभावा मार्जारकंक मशकाज जलूक साम्याः।
सच्छिद्र कुम्भ पशु सर्प शिलोपमानास्ते श्रावका भुवि चतुर्दशधा भवन्ति ॥"
[वरांगचरित, सर्ग १, श्लो० १५]

जटाचार्यके समयकी धार्मिक-सामाजिक अवस्था—

वरांगचरितके १५, १६ आदि सर्गोंमें विशाल जिन मन्दिरों का वर्णन है। वे कितने श्री सम्पन्न थे इसका भी विशेष चित्रण आचार्यने किया है। उनमें हीरा, माणिक, नीलम आदिकी मूर्तियां थीं। आचार्यने उनकी भित्तियों पर बने पौराणिक चित्रोंका उल्लेख किया है। पर्वोंके समय किस सज-धजके साथ महामह आदि वहां होते थे यह वर्णन पाठकको रोमाञ्चित कर देता है। क्या स्त्री क्या पुरुष दोनों ही अधिक से अधिक पूजा, स्वाध्याय, दानादि करते थे। इतना ही नहीं मंदिरोंको ग्राम तक लगाये जाते थे। तात्पर्य यह कि इस वर्णनसे ऐसा लगता है कि आचार्य उस समयका वर्णन कर रहे हैं जब दक्षिणमें जैन धर्म उत्कर्षकी चरम सीमा पर था। इतना ही नहीं अन्य धर्मोंकी संभवत. वैसी स्थिति नहीं थी अन्यथा २४वें तथा २५वें सर्गमें आचार्य वैनयिक मतों पर इस प्रकार आक्रमण न करते। जैनेतर देवताओंका निराकरण-वैदिक यागादि तथा पुरोहितोंके विधि विधानोंका खण्डन तथा ब्राह्मण प्रधान समाजका विरोध स्पष्ट बताता है कि शैवादि मतोंकी इस समय उतनी अच्छी अवस्था नहीं थी जितनी जैन धर्म तथा जैनाचार्योंकी थी। यही कारण है कि उन्होंने ब्राह्मण पर बड़े-बड़े व्यङ्ग्य किये हैं वे कहते हैं कि ब्राह्मण राजसभासे निकाल दिये जाते हैं तो क्रुद्ध होते हैं किन्तु उनका क्रोध या शाप व्यर्थ ही जाता है। इस कथनसे स्पष्ट है कि उस समय ब्राह्मणोंको राजाश्रय प्राप्त नहीं था। और असंभव नहीं कि जटाचार्यके देशमें सर्वत्र जैनधर्मकी जय थी। आपाततः हमारा ध्यान ७वीं ८वीं शतीके कर्णाटकके इतिहासकी ओर जाता है।

प्राचीन भारतीय इतिहासके प्रवाह परिवर्तनका प्रबल साक्षी पुलिकेशी द्वितीयका "ऐहोल शिलालेख" ऐसे ही समयमें अंकित किया गया था जब दक्षिण भारत "जयति भगवाज्जिनेन्द्रो[1]" से गूंज रहा था। यह लेख गत शक संवत् ५५६ (६३४–५ ई०) में अंकित किया गया था जैसाकि वहां दत्त भारतवारसे ३७३५ वर्ष बीतने पर[2] निर्देशसे स्पष्ट है। इस शिलालेखके विद्वान् सम्पादक कीलहोर्न इसे साहित्यिक दृष्टिसे भी अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं वे लिखते हैं–"सैंतीसवीं पंक्तिका वर्णन शिलालेखके कविको कालिदास और भवभूतिकी श्रेणीमें बैठाता है, निश्चित ही यह अतिशयोक्ति है। किन्तु मेरी दृष्टिसे यह शिलालेख कविको सभा-पण्डितों तथा प्रशस्तिकारोंकी प्रथम पंक्तिमें बैठा देता है। रविकीर्ति अलंकार शास्त्रके नियमोंके पण्डित हैं और सच्चे दाक्षिणात्यके समान कतिपय उत्प्रेक्षाओंमें सर्वोपरि हैं।[3]" पद्मचरितके अन्तमें दत्त समयका निर्देश भी इसीके आस पास है।[4] फलतः अनायास ही आधे नामका साम्य यह कल्पना उत्पन्न करता है कि ऐहोल लेखके कवि रविकीर्ति और पद्मचरितके यशस्वी रचयिता रविषेणमें कोई सम्बन्ध तो न था? क्योंकि पद्म (राम) चरित ऐसा महापुराण सहज ही इन्हें कालिदास और भवभूतिकी श्रेणीमें बैठा दे सकता है। जो भी हो इतना निर्विवाद है कि सातवीं शतीके मध्यमें जैनधर्मको दक्षिण भारतके कनारीमण्डलमें प्रमुखता प्राप्त थी। पल्लव सिंहवर्मन (४३६ ई०) के राज्यारोहणसे लेकर कल्याणी चालुक्य तैल द्वितीय द्वारा राष्ट्रकूटोंके पातन (९७३ ई०) पर्यन्तका ऐसा युग है जब अन्तरा अन्तरा जैनधर्मको भी राजधर्म होनेका सौभाग्य प्राप्त रहा है।

१—चालुक्य (वातापी) पुलकेशी द्वितीयका ऐहोल शिलालेख, प्रथम पंक्ति। (एपीग्राफिया इण्डिका, भा० ८, पृ० ४)

२—"त्रिंशत्सु त्रिसहस्रेषु भारतादाहवादितः। सप्ताब्द शत युक्तेषु शगतेष्वब्देषु पञ्चसु।"
[E. I. vol. viii, p 7.]

३—एपीग्राफिया इण्डिका, भा० ८, पृ० ३।

४—पद्मचरित, खण्ड ३, पर्व १२३, श्लो० १८१, पृ० ४४५।

पल्लववंशके संस्थापक यद्यपि सिंहवर्मन थे तथापि इसके वास्तविक प्रतिष्ठापक सिंहविष्णु थे। ये ईसाकी छठी शतीके उत्तरार्द्धमें हुए हैं। इनके पुत्र महेन्द्रवर्मन प्रथम जब सिंहासन पर बैठे तो इनका चालुक्योंके साथ वह संघर्ष चला जो कि इनके उत्तराधिकारियोंके लिए पैतृक देन हो गया था। ऐहोल शिलालेख कहता है कि 'पल्लवपति (महेन्द्रवर्मन प्र०) के प्रतापको पुलकेशी द्वितीयने अपनी सैनाकी धूलसे आछन्न करके प्राकारान्तरित कर दिया था।[1]' पुष्पभूति वंशमें जात उत्तर भारत चक्रवर्ती हर्षको 'विगलित हर्ष[2]' करनेवाले पुलकेशीके लिए यह साधारण सी ही बात रही होगी। किन्तु इसने पल्लव-चालुक्य वैरको बद्धमूल कर दिया था। पल्लव लेख बताते हैं कि नरसिंहवर्मन प्रथमने अनेक युद्धोमें पुलकेशी द्वितीयको हराकर अपने पिताकी पराजयका प्रतिशोध किया था। फलतः चालुक्य विक्रमादित्य प्रथमको नृसिंहके वंशका विनाश करके काञ्चीपर अधिकार करना पड़ा था। इस आक्रमणसे भी पल्लव हतोत्साह नहीं हुए थे और ८वीं शती के पूर्वार्द्धमें विक्रमादित्य द्वितीयके घोर प्रहार पल्लवशक्तिको जर्जरित कर सके थे। परिणाम यह हुआ दक्षिणसे चोलोंके भी प्रहार होने पर पल्लव शक्ति ९वीं शतीके साथ समाप्त हो गयी थी। किन्तु पल्लवकालमें काञ्ची जैनोंका प्रमुख केन्द्र थी। आचार्य समन्तभद्र, भट्टाकलंक आदि प्रमुख जैन नैयायिकोंने काञ्चीके गौरवकी श्रीवृद्धि की थी। काञ्चीके भग्नावशेषोंमें विष्णुकांची और शिवकांचीके समान जिनकाञ्ची (तिरुपरुत्तिकुन्रम्) भी उपलब्ध है। यह शैव और वैष्णव भग्नावशेषोंसे दूर ही नहीं है अपितु अधिकतर जीर्ण शीर्ण भी है। इसकी अवस्था इस बातका संकेत करती है कि वैष्णवों और शैवोंके पहिले इस प्रदेशने जैनोंको प्रमुखता देखी होगी। इतिहास बताता है कि पांड्योंद्वारा प्रारब्ध शैव-बलात्कार चोलों के समयमें भी चलता रहा था। फलतः आदित्यचोल द्वारा अपराजित पल्लवका मूलोच्छेद हो जानेके बाद जैन संस्कृतिके प्रतीक असंख्य जैन मन्दिरादि चोलोंके धार्मिक उन्मादके शिकार न बने हों यह असंभव है। अगणित भग्नावशेष यही कह रहे हैं कि हमें चीनी यात्री ह्वेनत्सांगने इस द्रविड और मालकूट[3] भूमिमें खड़ा देखा था।

चालुक्य कालमें आचार्य रविकीर्ति द्वारा मेगुतिमें जिनेन्द्र[4] भवनका निर्माण स्पष्ट बताता है कि पल्लवोंके समान वातापीके चालुक्योंके राज्यकालमें भी जैनधर्मको राजाश्रय प्राप्त था। इसीलिए मूलवल्लि, आदि अनेक ग्राम इस मन्दिरको भुक्ति रूपसे लगाये गये थे। इतना ही नहीं इस वंशके उत्तरकालीन राजाओंने जैनसंघोंको भी भूदान किया था।[5]

अन्तरीप क्षेत्रमें भी इस युगमें जैन धर्मको केवल राजाश्रय ही प्राप्त न था अपितु वह कतिपय राज्योंका आश्रय भी था। बनवासीके कदम्बकुल और गंगवाडीका गंगवंश इस तथ्यके ज्वलन्त साक्षी हैं। ऐहोल शिलालेख बताता है "युद्ध पराक्रमके द्वारा जयश्रीके ग्राहीता महा तेजस्वी राजाओंके लिए मत्तगज समान जिसने (पुलकेशीने) सहसा ही कदम्बों रूपी कदम्ब वृक्षोंके समूहको अशेष रूपसे नष्ट कर दिया था[6]।" अर्थात् चालुक्यों द्वारा पददलित बनवासीकी राज्यलक्ष्मी कदम्बों को छोड़ कर चली गयी थी। तथापि "जैन मन्दिरोंकी समुन्नत अवस्था उनमें होने वाले पूजन-

---

१—ऐहोल शिलालेख, श्लोक २६ } (ए० इं०, भा० ८, पृ० ६)
२—ऐहोल शिलालेख, श्लोक २३ }

३—वाटरकृत ह्वैनत्सागकी यात्रा, (खं० २, पृ० २२६-६)

४—तस्याम्बुधित्रय निवारितशासनस्य सत्याश्रयस्य परमाप्तवता प्रसादम्।
शैलञ्जिनेन्द्रभवन भवनंमहिम्नान्निरमापितं मतिमता रविकीर्तिनेदम्॥ [३५]—

५—स्टडीज़ इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, पृ० १११।—(ए० इं०, भा ८, पृ० ७)

६—ऐहोल शिलालेख, श्लो० १७, ए० इं०, (भा० ८, पृ० ५)।

विधान, इनके व्ययको चलानेके लिए दिये गये राजाओंके उदार दान, यह सिद्ध करते हैं कि कदम्ब साम्राज्यमे जैनधर्म लोकप्रिय धर्म था तथा ऐसे नागरिक पर्याप्त संख्यामे थे जो श्री १००८ जिनेन्द्रदेव की पूजा करते थे। इस युगमे जैनधर्म शैवसम्प्रदायका सबल प्रतिद्वन्दी हो गया था। तथा कदम्ब कालमे निर्बाध गतिसे फैलता जा रहा था।"[1] ये उद्गार वरांगचरितके २२-२३ वें सर्गोंके जिनमह वर्णनकी प्रतिध्वनिसे प्रतीत होते हैं। जैनाचार्य सिंहनन्दिकी सहायतासे प्रतिष्ठापित गंगवाड़ीके गंगवंशका तो कहना ही क्या है। इस वंशके वर्तमान कुलधरों पर आज भी मर्यादा-मंत्री चामुण्ड-रायकी महत्त्वाकांक्षा हीन स्वामि परायणता तथा धार्मिकताकी छाप है। यहां अनेक भट्टारकोंकी गद्दियां तो हैं ही; श्री १००८ गोम्मटेशके महा मस्तकाभिषेकमे प्रथम कलश भी राज्यका ही होता है।

आठवीं सदीके मध्य (ई० ७५३ के लगभग) वातापीके चालुक्य विक्रमादित्य (द्वि०) के पुत्र तथा उत्तराधिकारीको पराजित करके दन्तिदुर्गने नये करनाट-महाराष्ट्र राज्यका निर्माण किया था जो राष्ट्रकूट नामसे इतिहासमे अमर है। इस वंशके राज्य कालमे जैनधर्मको राजधर्म होनेका सौभाग्य प्राप्त था।[2] समस्त दक्षिण भारतमे फैले जैन मन्दिरोंके खण्डहर अथवा इतर धर्मायतनोमे परिवर्तित जैनायतन ये बतलाते हैं कि जटाचार्यने जिन विशाल जिन भवनादि का वर्णन किया है वे केवल कविकी कल्पना ही न थे। जटाचार्य द्वारा दिया गया हीरा, माणिक, नीलम आदिकी जिनमूर्तियां बनवानेका उपदेश भी दक्षिणमे बहुलतासे कार्यान्वित हुआ था। इसकी साक्षी मूड-बिद्रेके जिनमन्दिर आजभी दे रहे हैं। पौराणिक घटनाओको दीवालो तथा छतों पर चित्रित करना अथवा अंकित करनेके जटाचार्यके वर्णनकी परछांयी हलीबीड, मूड़बिदुरे आदिके मन्दिरोमे आज भी स्पष्ट झलकती है।

अन्य वरांगचरित—

वर्द्धमान कविका वरांगचरित[3]—जटाचार्यके समयका विचार करते समय देखा है कि १३वी शती तकके ग्रन्थकारोंने विविध रूपसे जटासिंहनन्दिका स्मरण किया है। इसके बादके ग्रन्थ-कारोका उनके विषयमे मौन खटकता है आचार्यके अनुगामियोका शोधक जब कारणकी खोज करता है तो उसे एक ऐसा संस्कृत वरांगचरित मिलता है जिसे रचयिता स्वयं 'संक्षिप्य सैव वर्ण्यते' कह कर प्रस्तुत करते हैं। इसमे कथा-वस्तु ज्यों की त्यो है। केवल धार्मिक विवेचनोंमे लाघव किया गया है। इसके निर्माता 'मूलसंघ, बलात्करगण, भारतीगच्छमे उत्पन्न परवादि-दन्तिपञ्चानन वर्द्ध-मान' हैं। डा० उपाध्येके मतसे अब तक दो वर्द्धमान प्रकाशमे आये हैं प्रथम हैं न्यायदीपिकाकार धर्मभूषणके गुरु तथा दूसरे हुमच शिलालेखके रचयिता वर्द्धमान हैं। इन दोनोका समय तेरहवीं शतीसे पहिले ले जाना अशक्य है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि वर्द्धमानका वरांगचरित सरलतर होनेके कारण प्रचारमे आ गया होगा और स्वाध्यायी जटाचार्यके मूल वरागचरितसे दूर हो गये होगे।

कन्नड वरांगचरित[4]—संस्कृत कवियोंके समान दक्षिणी भाषाओंके कवियोंका मौन भी धरणि पंडितके वरांगचरितके कारण हुआ होगा। इसके लेखक विष्णुवर्द्धनपुरके निवासी थे तथा ई० १६५० के लग-भग हुए थे। इन्होने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थकारोका स्मरण करते हुए एक वर्द्धमान

१—मोरे कृत कदम्बकुल, पृ० ३५ तथा २५२।

२—डा० आल्तेकर कृत राष्ट्रकूटस्, पृ० ।

३—मराठी अनुवाद सहित सन् १९२७मे पं० जिनदास, शोलापुर द्वारा संपादित।

४—कर्णाटक कविचरित, भा० २, पृ० ४१७। इसकी हस्तलिखित प्रति अपूर्ण है।

यतिका भी उल्लेख किया है। अतः डा० उपाध्येका अनुमान ठीक ही है कि कन्नड़ वरांगचरितका आधार वर्द्धमानका संक्षिप्त वरांगचरित रहा होगा।

लालचन्द्रकृत भाषा वरांगचरित[1]—जटाचार्यकी धर्मकथाकी लोकप्रियता इसीसे सिद्ध हो जाती है कि जब जैन शास्त्रोंके भाषा रूपान्तरका समय आया तो भाषाके विद्वान् वरांगचरितको न भूल सके। इसके अन्तमें लिखा है श्री वर्द्धमानकी रचना संस्कृतमें होनेके कारण सबकी समझमें नहीं आ सकती अतएव उसकी भाषा करना आवश्यक था। इस कार्यको पाण्डेलालचन्द्रने आगरा निवासी, बिलालगोत्रीय शोभाचन्द्रकी सहायतासे माघशुक्ला ५ शनिवार १८२७ में पूर्ण किया था।

कमलनयनकृत भाषा वरांगचरित[2]—ग्रन्थकी प्रशस्तिके अनुसार यह कृति भी वर्द्धमानके संस्कृत काव्यका भाषान्तर मात्र है। इसे मैनपुरी निवासी श्री कमलनयन नागरवारने सम्वत् १८७२ में समाप्त किया था। लेखकके पितामह श्री साहो नन्दूरामजी थे तथा पिता हरचन्ददास वैद्य थे। ये यदुवंशी बढेला थे, इनका गोत्र काश्यप था। लेखकने अपने बड़े भाई क्षितिपतिका भी उल्लेख किया है।

१—हरसुखलाल जैन पुस्तकालयकी सं० १६०५ मे लिखी गयी हस्तलिखित प्रति।

२—श्री कामताप्रसाद, अलीगंज (एटा, उत्तरप्रदेश) की हस्तलिखित प्रति।

卐
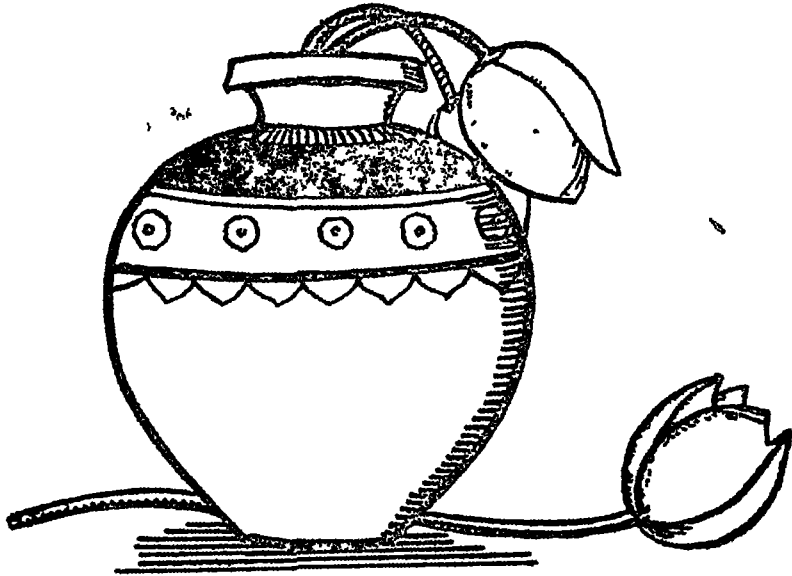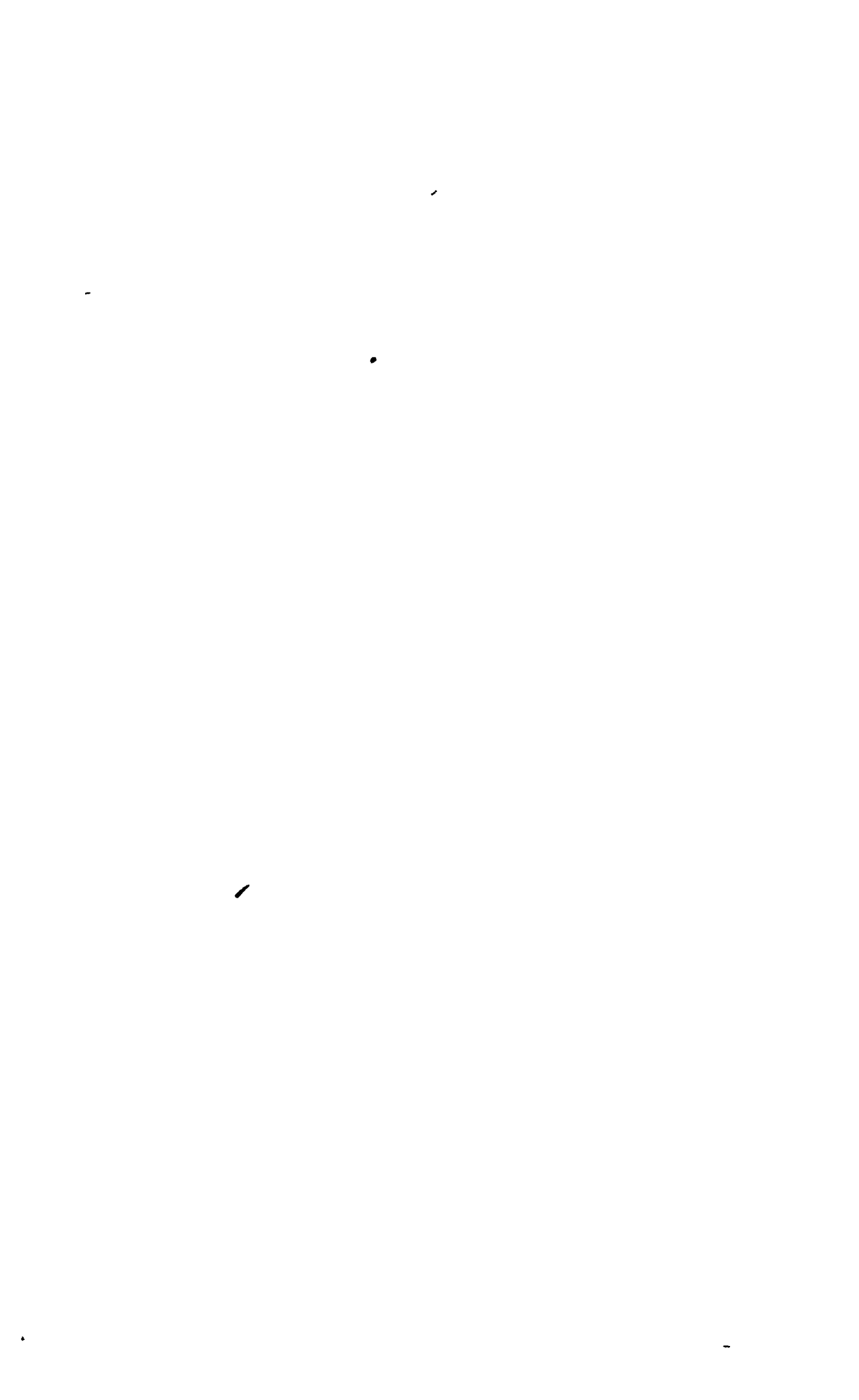
वराङ्ग-चरित

प्रथम सर्ग

१ प्राणिमात्रके कल्याणकर्ता, अतएव तीनों लोकोंमें परम पूज्य श्रीअर्हन्त परमेष्ठी, तीनों लोकोंके प्राणियोंको ऐहिक और पारलौकिक उन्नतिका एकमात्र सहारा आर्हत-(जैन) धर्म तथा त्रिकालवर्ती चल और अचल समस्त पदार्थोंका साक्षात्‌द्रष्टा श्रीअर्हन्त परमेष्ठीका (केवल) ज्ञान, इन तीनोंकी इस अनुपम रत्नत्रयीको मैं मन,

मंगलाचरण

२ वचन और कायसे नमस्कार करता हूं। निरुपम मोक्ष महासुखके सत्य उपदेष्टा श्रीअर्हन्त केवलीकी जय हो; जिन्होंने इस संसारमें अनादिकालसे जमी हुई मोह महातरुकी उन जड़ोंको बिल्कुल उखाड़कर फेंक दिया था, जिन्हें अन्य, अन्य मतोंके प्रवर्तक हिला-डुला भी न सके थे। तथा जिन अर्हन्त प्रभुकी तीन प्रकारकी क्षायिक ऋद्धियोंको गणधरादि ऐसे महाज्ञानी

३ मुनियोंने भी तीनों लोकोंकी महाविभूतियोंसे भी बढ़कर कहा है। श्रीजिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सत्यधर्म (जैनधर्म) की जय हो। जिसके द्वारा जीवको नर, असुर और देवगतिके सब ही भोगोंकी प्राप्ति होती है, जिसके प्रतापसे नाना प्रकारके तपों, गुणों और बड़ीसे बड़ी लब्धियोंकी सिद्धि होती है, इतना ही नहीं, अपितु सांसारिक अभ्युदयके बाद अतीन्द्रिय तथा अनन्त सुखमय उस मोक्षपदकी प्राप्ति भी होती है; जहांके सुखको किसी भी मापसे नापना

४ असंभव है। इस रत्नत्रयीके अन्तिम रत्न सम्यक्‌ज्ञानकी भी जय हो। जिसकी तुलना किसी भी ज्ञानसे नहीं की जा सकती है, जो अर्हन्त केवलीके मुखसे झरी दिव्यध्वनिसे निकला है और जिन धर्ममय है। तथा जिसके द्वारा तीनों लोकोंके समस्त द्रव्य, गुण, पर्याय तथा पदार्थोंका अपने त्रिकालवर्ती भेद-प्रभेदोंके साथ; एक साथ ही ज्ञान हो जाता है।

५ श्रीअर्हन्त केवलीके मुखारविन्दसे निकले तथा श्रीगणधर भगवान द्वारा विस्तृत शास्त्रोंके रूपमें रचे गये, परम पवित्र जिनधर्मके सम्यक् चारित्रके अनुसार व्यतीत किये गये जीवन चरितको जो व्यक्ति परमशुद्धि और श्रद्धाके साथ सुनता है, कहता है

आदर्श कथा

६ मनन करता है उसे निसन्देह पूर्ण पुण्यका लाभ होता है। प्रत्येक कथा प्रबन्धके जीवादि द्रव्य, भरतादि क्षेत्र, सुषमादि काल, क्षायिक, क्षायोपशामिक-आदि भाव, आधिकारिक[1]-प्रासंगिक[2] भेद और उपभेदसहित प्रकृत (कथानक), श्रीऋषभादि तीर्थंकरों-का तीर्थकाल और पुण्य पापका फल ये सात अंग होते हैं[3]। इन सातों अंगोंसे युक्त होनेपर ही

७ कोई कथा आदर्श और युक्तिसंगत रचना हो सकती है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और जीवके भेदसे द्रव्योंको श्रीजिनेन्द्रदेवने छह प्रकारका कहा है। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोककी अपेक्षासे प्रधानतया क्षेत्र तीन प्रकारका है। सामान्यरूपसे भूत, वर्तमान

---

१. फलके स्वामीका नाम अधिकारी है, उसकी कथा आधिकारिक-कथा होती है। २. आधिकारिक कथाकी पूरक कथाको प्रासंगिक-कथा कहते हैं। ३. महापुराण प्रथम सर्ग श्लो० १२१-१२५।

और भविष्यत्कालकी अपेक्षासे काल भी तीन प्रकारका है। श्री १००८ जिनेन्द्र भगवानके जीवन और एक तीर्थंकरके जन्मकालसे लेकर अगले तीर्थंकरके जन्मतकके अन्तरालको तीर्थ कहते हैं। कथावस्तु या कहानीको प्रकृत कहते हैं। कर्मोंके उपशम, क्षय तथा क्षयोपशमसे होनेवाले भाव हैं और तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिका ही नाम महाफल है।

सुवर्णमिश्रित मूलधातु ठीक प्रकारसे शुद्ध न किये जानेके ही कारण बहुत समय बीत जानेपर भी स्वर्ण-पाषाण ही रह जाती है, सोना नहीं हो पाती है। इसी प्रकार इस संसारमें अनेकानेक भव्य (मुक्त होने योग्य) जीव सद्गुरुका उपदेश न मिलनेके कारण ही चिरकाल तक संसार समुद्रमें ही ठोकरें खाते हैं मोक्ष नहीं जा पाते हैं। पदार्थोंको देखनेके लिये उत्सुक पुरुष, आंखोंकी दृष्टि हर तरह ठीक होनेपर भी जैसे केवल दीपक न होनेके कारण ही अंधेरेमें घट, पट, आदि वस्तुओंको नहीं देख पाता है, उसी प्रकार परम बुद्धिमान, सद्गुणी और कल्याणमार्ग जाननेके लिये लालायित पुरुष भी एक सच्चे उपदेष्टाके न मिलनेसे ही संसारसे उद्धारके हितमार्गको पूर्णरूपसे नहीं समझ पाता है। ८ ९

उपदेष्टा

वही प्रतिभाशाली व्यक्ति कथा कहनेका अधिकारी है, जिसकी बुद्धि सर्वज्ञप्रभुके मुखारबिन्दसे निकले शास्त्ररूपी महानदमें गोते लगाकर निर्मल हो गयी हो, जिसकी चक्षु, आदि इन्द्रियां अपने-अपने विषयोंको पूर्ण तथा विशदरूपसे जानती हों, जिसकी मति स्थिर हो, जिसकी बोली हितकारी और मनमोहक हो, जिसके अक्षरों, शब्दों और वाक्योंमें प्रवाह हो, जो सभाको मन्त्रमुग्ध-सा कर देता हो तथा जिसकी भाषाको श्रोता सहज ही समझ लेते हों; अर्थात् जिसकी भाषा-भावोंके पीछे पीछे चलती हो। जो उदाराशय उपदेशक निजी आदर-सत्कार, परिचय-मित्रता, भरण-पोषण, विरोधियोंसे रक्षा, रोगोंकी चिकित्सा, सहारा, आदि स्वार्थोंकी तनिक भी अपेक्षा न करके, संसारका एक-मात्र पूर्ण उपकार करनेकी इच्छासे ही सर्वज्ञप्रभुके मुखारविन्दसे आगत सद्धर्मका ही शुद्ध उपदेश देता है वह अपने श्रोताओंके ही पुण्यको नहीं बढ़ाता है; अपितु स्वयं भी विशाल पुण्यबन्ध करता है। इस संसारमें जो परमकृपालु और अतुल बुद्धिशाली उपदेशक अपने मनमें सर्वदा यही सोचता है कि 'यह विचारे श्रोता लोग कैसे संसार समुद्रसे पार होंगे?' उसके अनादिकालसे बंधे भयंकर संसारिक अज्ञानादि दुख और जन्म, रोग, जरा, मरणादि भय समूल नष्ट हो जाते हैं, ऐसा श्रीगणधरादि महाज्ञानियोंने कहा है। अपने तथा दूसरोंके कल्याणके इच्छुक सच्चे जिनधर्म प्रेमीको नियमपूर्वक जिन शासनका उपदेश करना चाहिये तथा मोक्ष लक्ष्मीको वरण करनेके लिए व्याकुल उस बुद्धिमान् उपदेशकका यह भी कर्त्तव्य है कि वह हर समय प्रमादको छोड़कर सब ही संसारी प्राणियोंको शास्त्र श्रवण, तत्त्वोंके मनन, सम्यक् चारित्रके पालन, आदि उत्तम कार्योंमें लगावे[1]। १० ११ १२ १३

श्रोता

इस भव और परभवमें सुखोंके इच्छुक धर्मशास्त्रके श्रोताओंमें गुरु, आदिकी सेवा परायणता, मन लगाकर सुनना, आगे पीछे पढ़े या सुनेको याद रखना, पठित या श्रुतविषयोंका मनन करना, प्रत्येक तत्त्वका गहन अध्ययन करना, प्रत्येक विषयको तार्किक दृष्टिसे समझना, हेयको छोड़ देना और उपयोगीको तुरन्त ग्रहण करना ये आठ गुण निश्चयसे होना चाहिये; ऐसा गणधरादि लोकोत्तर ऋषियोंने कहा है। कुछ श्रोताओं- १४ १५

१. महापुराण, प्रथम अध्याय, श्लो० १२६-१३७।

का स्वभाव मिट्टी (सुनते समय ही प्रभावित होनेवाले, बादमें जो सुनें उसे समझकर उसपर आचरण नहीं करनेवाले), झाडू[1] (सार ग्राहक असार छोड़नेवाला), भैंसा (सुना ना सुना दोनों बराबर), हंस (विवेकशाली), शुक (जितना सुना उतना ही बिना समझे याद रखा), के समान होता है। दूसरे श्रोताओंकी तुलना बिल्ली (चालाक पाखंडी), बगुला (अर्थात् सुननेका ढोंग करनेवाले), मशक (वक्ता तथा सभाको परेशान करनेमें प्रवीण), बकरा (देरमें समझनेवाले तथा कामी) और जौंक (दोष ग्राही) के साथ की जा सकती है। अन्य कुछ श्रोताओंके उदाहरण सैकड़ों छेदयुक्त घड़े (इस कान सुना उस कान निकाल दिया), पशु (किसीका जोर पड़ा तो कुछ सुन समझ लिया), सर्प (कुटिल) और शिला (प्रभावहीन)

१६ से दिये जा सकते हैं। इस प्रकार संसारके सब ही श्रावक चौदह प्रकारके होते हैं। जो विवेकी श्रोता सांसारिक भोग विलासरूपी फलोंकी स्वप्नमें भी इच्छा नहीं करता है तथा मोक्षलक्ष्मीकी प्राप्ति करनेका अडिग तथा अकम्प निर्णय करके प्राणिमात्रके लिये कल्याणकारिणी जिनधर्मकी विशाल कथाको सुनता है, उस मनुष्यके सब ही पापोंका निसन्देह समूल नाश हो जाता है[2]।

१७ बुद्धिमान् और कुशल कथाकारको श्रोताकी योग्यताके अनुसार उपदेश देना चाहिये। जैसे-विशेषज्ञानी श्रोताके सामने प्रमाण, नय, आदिके भेद प्रभेद ऐसे सूक्ष्मसे सूक्ष्म विषयोंकी चर्चा करे। मूर्ख या अज्ञ पुरुषको साधारण ज्ञान, शिष्टाचार और व्रत नियमादिके लाभोंको समझाये। यदि श्रोताका हृदय इष्ट वियोगसे विह्वल हो रहा हो तो उसे उन कर्मोंका मधुर उपदेश दे जिनके कारण स्वजन और बन्धु बान्धवोंका वियोग होता है। जिसकी बुद्धि डांवाडोल रहती हो उसे संसार और शरीरकी अपवित्रताका

उपदेष्टा का कर्तव्य

१८ दिग्दर्शन कराये, जो कि वैराग्यके कारण हैं। सांसारिक सम्पत्ति और भोगोंके लोभीको संयमका उपदेश दे, निर्धनको व्रतादि पालन करनेकी प्रतिज्ञा कराये जिसके फलस्वरूप धनादि-की प्राप्ति स्वतः ही हो जाती है। सांसारिक भोगविलासोंमें मस्त धनी पुरुषको दान और और क्षमाका माहात्म्य समझाये। इसी प्रकार चोरी, व्यभिचार, आदि व्यसनों या दुखोंमें फंसे व्यक्तिको तत्त्वोंके सच्चे श्रद्धान और जिन पूजनादिकी ओर प्रेरित करे।

१९ जो सद्गुरु तत्त्व और अर्थको भलीभांति जानते हैं वे संसार समुद्रके मोहरूपी तूफानकी थपेड़े खाकर लहरोंके डूबते हुए प्राणियोंको सरलतासे उभार लेते हैं और सम्यक् ज्ञानरूपी नावपर

२० चढ़ाकर अनन्त सुखोंके भण्डार जिनधर्मरूपी नगरमें पहुंचा देते हैं। भाई बन्धु और हितैषियोंका लेखा करनेपर इस संसारमें उनसे बढ़कर हितैषी और प्रेमी बन्धु दूसरा और कौन हो सकता है, जो जन्म मरणरूपी घने जंगलोंकी टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियोंमें रस्ता भूले हुए संसारी प्राणियोंको पूर्णवैराग्य और शान्तिरूपी कल्याणकारी मार्गोंको पूर्णरूपसे दिखा देते हैं।

२१ मनुष्य सद्गुरुका सहारा पा जानेपर आधे राज्य, पूर्णराज्य और विशाल राज्योंके अधिपति पदको, चक्रवर्तीके विशाल भोगोपभोगोंको अथवा चक्रवर्तियोंके भी पूज्य भौमेन्द्रपद, देवताओंके अधिपति इन्द्र और अहमिन्द्रोंके दुःखके संयोगसे हीन सुखोंको ही प्राप्त नहीं

---

१. महापुराणमे 'चालिनी' शब्द 'सारिणी' के स्थानपर है। अर्थात् बिना विवेकके छोड़ने या बहुत थोड़ा माननेवाले व्यक्ति। २. महापुराण, प्रथम अध्याय, श्लो० १३८–१४६।

करता, अपितु ज्ञानावरणादि क्लेशोंके समूल नाशसे उत्पन्न एकमात्र फल अनन्त सुख, वीर्य, दर्शनादिमय मोक्ष महापदको भी वरण करता है।

तीनों लोकोंकी सम्पत्ति और सुखप्राप्तिके मार्गके उपदेष्टा वीतराग सद्गुरुओंको विनीत मन, वचन और कायसे साष्टांग नमस्कार करके उस कथाको कहूंगा जो इस संसारमें धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके परस्पर अविरोधी आचरणसे सुशोभित हुई थी। और जिसका अन्त मोक्ष लक्ष्मीकी प्राप्तिमें हुआ था। आप लोग सावधान होकर सुनें। २२

ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा

इस पृथ्वीपर ककुदके समान सर्वथा समुन्नत विनीत नामका देश था। उसकी सुख समृद्धि आदि विशेषताओंके सामने स्वर्ग भी लजाता था। वह अपनी भोग-उपभोगोंकी प्रचुर सम्पत्तिके कारण देवकुरु, उत्तरकुरु भोगभूमियोंका प्रतिबिम्ब-सा लगता था और उसमें बड़े-बड़े ज्ञानी तथा उदारपुरुष निवास करते थे। सज्जनोंके सुखपूर्वक निवास करने योग्य एक अलग ही लोक बनानेकी इच्छुक प्रकृतिने संसारके सारभूत सब ही पदार्थोंको कुशलतासे इकट्ठा करके, धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थोंकी मर्यादाओंको दृष्टिमें रखते हुए इस विनीत देशको ऐसे ढंगसे बनाया था कि इसे देखते ही संसारके सब रत्नों (श्रेष्ठ वस्तुओं) के नमूने आंखोंके आगे आ जाते थे। वहांपर दिशाओंका रंग हरितालके समान हल्का पीला और सफेदसा रहता था। दोनों ओर लहलहाते ईखके खेतोंकी सघन पंक्तियोंके मारे रास्तोंपर चलना भी अति कठिन था। रास्ते-रास्ते और गली-गलीमें पूजाके समय बलि चढ़ाई गयीं लाल कमलोंकी पंखुड़ियां बिखरी रहती थीं, मकानोंकी खिड़कियोंसे हर समय कालागरु धूप, आदि सुगन्धित पदार्थोंका धुंआ निकलता रहता था। २३ २४ २५

विनीत देश

इस देशके जंगलोंमें ऐसे ही वृक्षोंकी भरमार थी जो फूल और फलोंके भारसे पृथ्वीको चूमते थे। ये वृक्ष जब तीव्र वायुके झोकोंसे झूमते थे तब वनका दृश्य बड़ा ही हृदयहारी होता था। इन वनोंमें सुकुमार छोटी-छोटी हरी दूबका फर्श बिछा था और मधुर जलपूर्ण तालाबोंकी भरमार थी। इसीलिए दया, उदारता, आदि गुणोंके धनी पुरुषोंसे परिपूर्ण ग्वालोंकी बस्तियोंसे दिन रात गाने-बजाने की मधुर और गम्भीर प्रतिध्वनि आती रहती थी। इस देशके पुरुष भले नागरिक थे। युवतियोंका वेशभूषा व आचरण शिष्ट था। शिक्षा, स्वास्थ्य, संगीत, चित्रकला, प्रेमप्रसंग, आदि कोई भी ऐसी कला न थी जिससे वहांके युवक और युवतियां अनभिज्ञ हों। वे प्रतिदिन कोई न कोई उत्सव मनाते थे तथा एक दूसरेको लुभाने और प्रसन्न करनेके लिए पृथ्वी-आकाश एक कर देते थे। अपने इन सुखभोगोंके द्वारा वे किन्नर देवताओंकी जोड़ियोंको भी मात करते थे। बड़े से बड़े प्रसिद्ध कलाकार, वर्षोंके अनुभवके कारण निर्दोष और तीक्ष्ण बुद्धि शिल्पी, नट, विट तथा अभिनय और संगीतके द्वारा ही आजीविका करनेवाले कुशल स्त्री और पुरुष अपने निवासके प्राचीन देशोंको छोड़कर इस (विनीत) देशमें आ बसे थे क्योंकि यहां आकर बसनेसे उनके गुण केवल उत्तरोत्तर बढ़ते ही न थे अपि तु वे नयी-नयी विद्याएं सीखकर बहुज्ञ भी हो जाते थे। २६ २७ २८

इस विनीत देशमें सौम्याचल नामका पर्वत था। जिसके ऊंचे-ऊंचे शिखर हिमालय पर्वतकी बराबरी करते थे। रत्नशिलाओंसे परिपूर्ण ये शिखर मेघमालाको चूमते थे। इस पर्वतकी कितनी ही गुफाओंसे कल-कल निनाद करते झरने २९

सौम्याचल

बहते थे। इसमें ऐसे-ऐसे विचित्र और भीषण साँप रहते थे जिनके फणके मणियोंकी चमकसे
३० अंधेरी रातमें पूर्ण प्रकाश हो जाता था। इसके सुन्दर उद्यान, वन, गुफा और सघन जंगलोंमें नागकुमार, किन्नरादि व्यन्तर, पन्नग, गन्धर्व, सिद्ध, तुषित, अमर और चारण जातिके देव सदा ही सब प्रकारकी क्रीड़ाएं किया करते थे। यह क्रीड़ाएं बड़ी ही रमणीय और मनमोहक
३१ होती थीं। दन्तकेलिके समय मदोन्मत्त हाथी झपटकर विशाल शिलाओंपर दन्तप्रहार करते थे, फलतः शिलामें फटकर बड़ी-बड़ी दरारें बन जाती थी, जिनमें विकराल सांप निवास करते थे।

ऐसे इस सौम्याचल पर्वतसे पृथ्वीभरमें प्रसिद्ध रम्या नामकी नदी निकलती थी, जिसमें
३२ हंस, सारस, आदि जलचर पक्षियोंके झुण्डके झुण्ड रहते थे। इसी रम्या नदीके दक्षिणी किनारे-पर एक विशाल समतल भूमिखण्ड था। हवाके झोकोंसे झूमते हुए वृक्ष इसपर स्वयं गिरते हुये फूलोंकी भेंट चढ़ाते थे। फूलोंके परागसे मस्त होकर भौंरे यहां घूमते-फिरते थे जिनके गीतकी ध्वनिसे यह समतल सदा गूंजता रहता था।

३३ इसी समतलपर संसारभरमें विख्यात रम्यातट नामका नगर बसा था। रम्यानदीके किनारेपर बसनेके कारण ही सारे संसारमें उसका 'रम्यातट' यह सुन्दर नाम चल पड़ा था

उत्तमपुर

यद्यपि इस नगरकी समृद्धि और विशेषताओंको देखकर कुशल पुरुषोंने इसका
३४ दूसरा नाम उत्तमपुर रखा था जो कि सर्वथा सार्थक था। इसे कान्तपुर भी कहते थे क्योंकि इस नगरके भीतरके और बाहरके प्रदेश एकसे सुन्दर और स्वच्छ थे। कमलालया लक्ष्मी भी इस नगरमें अपने अनेक रूपोंमें सदा निवास करती थी इसीलिए विद्वान
३५ पुरुष इसे लक्ष्मीपुर नामसे भी पुकारते थे। इस नगरके बाहिरी भागकी शोभा भी अन्य नगरोंकी शोभा और विभवसे बढ़कर थी; क्योंकि इसके बाहरके भाग उद्यान, कृत्रिम पर्वत, वन और उपवनोंसे भरे पड़े थे। प्रत्येक भागमें बावड़ी, झील, बढ़िया पुष्करिणी (पोखरे) और तालाबोंकी छटा दृष्टिगोचर होती थी। जिधर निकलिये उधर ही दिक्पालों और
३६ देवताओंके मन्दिर, रमणीय सभा-मण्डप और पियाउओंके पुण्य-दर्शन होते थे। क्षार जलपूर्ण लवण समुद्रने जिस प्रकार जम्बूद्वीपको घेर रखा है उसी प्रकार इस श्रेष्ठ नगरको एक विशाल खाई चारों तरफसे घेरे हुई थी। गगनचुंबी पर्वतके समान उन्नत पार्थिव परकोटा इस नगरके चारों ओर इतना अधिक अच्छा लगता था मानो उद्भिजोंके समान वह
३७ पृथ्वीको फोड़कर ही ऊपर निकल आया है। इस नगरपर पड़नेवाली सूर्यकी धूप बाहरकी बाहर ही रह जाती थी; क्योंकि यह अपने विशाल महलों तथा उनके शिखरों, छज्जोंके कंगारों, प्रवेशद्वारों, अत्यन्त ऊंचे ध्वजदण्डों और उनपर लहराती हुई रंग-विरंगी पताकाओं, बगीचों, विशेषकर उनमें लगे ऊंचे-ऊंचे कल्पवृक्ष, झाड़ियों, कुंजों और पर्वतरूपी भित्तियोंके द्वारा ही
३८ उसे (धूपको) रोक देता था। इस नगरकी शोभाको ऐसे भवन दिन-दूना और रात चौगुना करते थे जिनमेंसे सदा ही संगीतके समय बजते हुये करताल, वीणा, मृदङ्ग, तबला, आदि बाजों तथा आलाप और गानेकी मधुर तथा गम्भीर ध्वनि सुनायी पड़ती थी। इन मकानोंके सामनेके दूर्वायुक्त प्रदेश बहुत दूरतक फैले थे तथा इनपर भी बलिमें चढ़ायी गयी रंगविरंगी सामग्रियां और फूल फैले रहते थे।

३९ पृथ्वी, पहाड़, समुद्र तथा नाना प्रकारकी खनिज क्रय-विक्रयकी वस्तुएं अर्थात् प्रकार-प्रकारके मूंगा, मोती, हीरा, सब जातिका सोना आदि पण्य, जो कि दूसरे देशोंकी

राजधानियोंके बाजारोंमें प्रयत्न करनेपर भी न मिलते थे, वे ही सब वस्तुएं उत्तमपुरके बाजारोंमें मारी-मारी फिरती थीं। इस नगरके निवासी ग्राहकोंसे ठसाठस भरे तथा आठों पहरके लिये खुले हुए बाजारोंमें दिनरात क्रय और विक्रयमें तल्लीन रहते थे। लेकिन सब ही नागरिकोंकी सम्पत्ति न्यायोपार्जित थी। किसीके भी घरमें अलगाव न होता था और सबके कुटुम्बमें बड़े-बूढ़ोंसे लेकर छोटेतक जीवित थे। हर ऋतुमें सबको सब ऋतुओंके सुख आसानीसे प्राप्त थे और सम्पत्ति और विभव तो मानों उनके अनुचर ही थे। ४०

इस नगरमें प्रतिदिन ही सर्वसाधारणके लिए लाभदायक विविध प्रकारके विशेष-कार्य, इन्द्रध्वज आदि जिन-पूजा, विपुल दान-कर्म, जिनेन्द्रदेवका पञ्चामृत महाभिषेक, धर्म-विवाह, उत्सव, आदि कार्य आगमके अनुकूल विधिसे होते रहते थे। इन प्रसंगोंपर नागरिक एक दूसरेके घर आया-जाया करते थे तथा आल्हाद और प्रसन्नतामें दिन दूने और रात चौगुने बढ़ते जाते थे। यह उत्तमपुरका ही सौभाग्य था कि वहांपर व्याकरण, काव्य, न्याय, गणित, अर्थशास्त्र, आदि विषयोंके ऐसे प्रकाण्ड पण्डित मौजूद थे जो अपने विमल ज्ञानके प्रकाशसे वहांके निवासियोंका बौद्धिक और मानसिक अन्धकार (अज्ञान) नष्ट कर देते थे। सच्चे धर्मशास्त्रके मर्मज्ञ पुरुष तो उस नगरमे अत्यन्त सुलभ थे। सदा प्रमुदित रहनेवाली यह विद्वान मण्डली वहां अलग ही चमकती थी। उस नगरके वृद्ध पुरुष अपनी बराबरीके लोगोंके साथ उठते-बैठते थे। किशोर और तरुण पुरुष गुरुजनों तथा बड़ोंकी शिक्षाओंपर श्रद्धा करते थे। मदोन्मत्त सुन्दर युवक ही वेश्याओंके प्रेम-प्रपंचमें फसते थे। जिन लोगोंने प्रचुर सम्पत्ति कमा ली थी वे दान देनेमें मस्त रहते थे। कामोन्मत्त कुलीन युवतियां अपने प्रेमियोंकी उपासनामे भूली रहती थीं। इस प्रकार उस नगरका व्यक्ति अपने अनुरूप वस्तुके पीछे पागल था। इस नगरमें सब धर्मोंके विद्वान्, सब कोटिके कलाकार और सब ही वर्णोंके लोग निवास करते थे। हर प्रकारकी श्रेष्ठ वस्तुओं, नदियों और पानीकी बहुलतासे यह नगर स्वर्गके ही समान था। प्रकाण्ड पण्डितों और अतिशय मूर्खोंको, कोट्याधीशों और निर्धनोंको, साधु और सन्तजनोंको यह नगरी एक-सी प्रिय थी। यहांपर चोरी, शत्रुका आक्रमण या षड्यन्त्र, महामारी, आदि रोगोंका नाम भी न सुना जाता था। इस नगरके लोग न तो रोगी होते थे, न शोककी मर्म-भेदिनी यातनाओंसे ही छटपटाते थे। किसी भी प्रकारके आकस्मिक उपद्रव भी वहां न थे और भयसे त्रस्त होकर कांपना तो वहांके लोग जानते ही न थे। इन्हीं सब कारणोंसे वहांके नागरिक स्वर्गलोकके सुखोंकी सच्चे हृदयसे उपेक्षा करते थे। इस प्रकार सब इन्द्रियोंको इष्ट-सुख और भोगोपभोग-की आवश्यक सामग्रियोंसे परिपूर्ण उस नगरका अधिक वर्णन करनेसे क्या लाभ? ४१ ४२ ४३ ४४ ४५

इस नगरके महाराज धर्मसेन नामसे विश्वमें विख्यात थे। वह विश्वविख्यात भोज-वंशमें उत्पन्न हुए थे। धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थोंका मर्यादा पूर्वक पालन करने और करानेमें कुशल थे। 'प्रजाका न्यायपूर्वक पालनपोषण हो' यह विचार सदा ही उनके मनमें चक्कर काटा करता था। वह इतने मन्त्रदक्ष थे कि उसकी योजनाओंकी, पूर्ति होनेके पहिले तक किसीको गन्ध भी न मिलती थी। उसके अत्यंन्त सुगठित और सुन्दर शरीरको देखकर ही कामिनी नायिकाएं प्रेमोन्मत्त हो जाती थीं, सामुद्रिक व्यापारियोंने इसकी निर्मल कीर्तिको सात समुद्र पार दूर-दूर देशोंमें भी प्रसिद्ध कर दिया था। अपनी प्रभु, मन्त्र और उत्साह शक्तियों द्वारा वह प्रजाके समस्त दुख दूर करनेका सतत प्रयत्न करता था और भूल- ४६ ४७

महाराज धर्मसेन

४८ कर भी उसका आचार-विचार शास्त्रोक्त सिद्धान्तों तथा नियमोंके प्रतिकूल न जाता था। वह उस सुन्दर और मस्त हाथीके समान झूमके चलता था जिसके मस्तकसे मद-जल बहता है। उसके निर्दोष और विमल हाथ-पैरोंपर लाल कमलकी कान्ति नाचती थी। वह गल्प, उपन्यास, गणित, काव्य, आदि शास्त्रोंके रस (ज्ञान) से अपरिचित न था। उसके सबही गुण ऐसे थे कि उन्हें प्राप्त
४९ करनेके लिये दूसरे राजा हर समय लालायित रहते थे। उसे गुरुजनोंकी सेवा करनेका व्यसन था। मित्रता करके उसे तोड़ता न था। प्रमाद, अहंकार, मोह, दूसरोंकी बढ़ती देखकर कुढ़ना, आदि बुरे भाव उसके पासतक न फटक पाते थे। उसे सज्जनों और भली वस्तुओंके संग्रहका रोग था। उसके मित्र डंवाडोल स्वभावके व्यक्ति न थे। मधुरभाषी होनेके साथ साथ बिल्कुल निर्लोभी भी था। साहसिकता और कार्यकुशलता उसके रोम-रोममें समायी थी, और अपने बन्धु-बान्धवोंका परमहितैषी था।

५० उसने अपने अक्षुण्ण सौन्दर्य द्वारा कामदेवको, न्यायनिपुणता और नीति कुशलतासे शुक्राचार्यको, शारीरिक कान्तिसे चन्द्रमाको, तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध यश द्वारा देवराज इन्द्रको, तेज और प्रताप द्वारा दिननाथ सूर्यको, गम्भीरता और सहनशीलतासे समुद्रको और न्यायानुसार शासन करनेकी शक्ति द्वारा विश्व व्यवस्थापक
५१ यमराजको भी पछाड़ दिया था। यह उसके प्रचण्ड शासनका ही प्रताप था कि लोग राजधानी या राज्यके किसी कोनेमें भी चारों वर्णो और चारों आश्रमोंकी मर्यादाओंको लांघनेका साहस न करते थे। सब ही सम्प्रदायोंके अनुयायी अपने अपने शास्त्रोंके अनुसार आचरण करते थे। इस प्रकार वह बालकों या बूढ़ों, अज्ञ या प्रकाण्ड पण्डितों, आदि सब से ही अपने अपने
५२ कर्त्तव्योंका पालन तत्परतासे कराता था। यदि कोई पुरुष केवल मनमें ही उसका बुरा करनेका विचार लाता था, या कहीं कोई विरुद्ध बात या काम करता था, तो चाहे उससे राजाका बुरा हो या न हो, तो भी वह उसके राज्यमें एक क्षण भी ठहरनेका साहस न करता था। वह इतना भयभीत हो जाता था कि अपनेको जंगलोंमें छिपाता फिरता था जहांपर भूख प्यासकी वेदनासे उसका पेट, गाल और आंखें धंस जाती थी तथा दुर्बलता और श्रान्तिसे उसका पृष्ठ दण्ड झुक जाता था।

५३ इसके युद्धोंमें पैदल सैनिक, रथ और घोड़ोंको टापोंकी मारसे जो धूलके बादल छा जाते थे, वे मदोन्मत्त हाथियोंके उन्नत गण्डस्थलोंसे लगातार बहती हुई मदजलकी धाराओंसे बैठ जाते थे। ऐसे भीषण युद्धोंमें शत्रुकी तरफसे लड़ते हुये अभिमानी योद्धाओंको और शास्त्रार्थोंमें अपनी पण्डिताईके मदमें चकनाचूर प्रतिवादी विद्वानोंको वह
५४ एकदम ही मसल देता था। अपनी स्वाभाविक विनम्रतासे उत्पन्न उदार आचरणों तथा महान गुणोंके द्वारा वह उन लोगोंके भी मन मुग्ध कर लेता था, जिन्होंने उसके विरुद्ध वैरकी दृढ़ गांठ बांध ली थी, या जिनकी रुचि बाह्य संसारसे ऊबकर अन्तर्मुखी हो गयी थी फलतः जो सदा ज्ञान ध्यानमें ही लगे रहते थे और राग-द्वेष आदि मोहजन्य भावोंसे परे थे।
५५ शीतल-शीतल किरणों द्वारा कुमुदकी कलियोंको विकसित करनेमें प्रवीण ताराओंका अधिपति चन्द्रमा जैसा आकाशमें सुशोभित होता है उसी प्रकार अपनी पत्नियोंके मुखरूपी कमल कलियोंको मधुर वचनरूपी किरणोंसे प्रफुल्लित करता हुआ यह राजा पृथ्वीपर उदित दूसरा
५६ चन्द्रमा ही प्रतीत होता था। उसका मुख पूर्ण विकसित सुन्दर और स्वच्छ लाल

कमल के समान लालिमा और लावण्यसे पूर्ण था। उसकी खूब पुष्ट और गठी हुई दोनों भुजाएं घुटनों तक लम्बी थीं। वक्षस्थलमें लक्ष्मीके निवासका चिह्न था और मृगोंके राजा सिंहके समान उसका प्रचण्ड पराक्रम था।

उत्तमपुरके राजा महाराज धर्मसेनके अन्त:पुरमें केवल तीन सौ रानियां थीं। इन सब ही रानियोंके शरीरकी ऊंचाई तथा परिणाह (चौड़ाई या घेरा) आनुपातिक थे अर्थात् समचतुरस्र संस्थान था, बोली हंसोके समान मधुर, स्पष्ट और धीमी थी। स्वभावसे ही उन सबकी गति सुन्दर और मन्थर थी। स्त्रियोचित लज्जाकी तो वे मूर्तियां थीं। विनम्रता और कुलीनता तो उनके रोम-रोममें समायी थी। वेशभूषा सुन्दर और शिष्ट थी और पतिकी प्रेमदृष्टि और अनुग्रहके सबपर एकसे होने कारण उनका पारस्परिक सखीभाव भी गाढ़ था। उन सबके खिले हुये मुख और बड़ी-बड़ी मनोहर आंखें कमलोंके समान आल्हादजनक थीं। उनके श्वास और शरीरकी गन्ध तुरन्त खिले कमलोंसे निकलती सुगन्धित वायुके समान परम पवित्र और उन्मादक थी। उनके दोषरहित शील, आदि श्रेष्ठगुण प्रात:कालके खिले हुये श्वेतकमलके समान निर्मल थे। उनके हाथ पैर भी विकसित लाल कमलोंके समान कोमल और मनमोहक थे। उन सबके ही माताओं और पिताओंके वंश परम शुद्ध व सदाचारी थे। एक भी रानी ऐसी न थी; जिसने ललित कलाओं, श्रेष्ठ गुणों और विशेष विधानोंमें असाधारण पटुता प्राप्त न की हो। सबकी सब यौवनके प्रथम उभारसे मदमाती हो रही थीं फलत: सबकी सब मनभर प्रेमका उपभोग करनेके लिये लालायित थीं। यद्यपि उनकी चतुराई, चाल, हावभाव, आचरण, शृंगार, आदर सत्कार और अत्यन्त कान्तिमान मनमोहक सौन्दर्यमें भेद था, तो भी उन सबकी सब रानियोंने अपनी स्वाभाविक विनम्रता और आज्ञाकारिताके द्वारा राजाके मनपर पूर्ण अधिकार कर लिया था। इन रानियोंने हंसी-हंसीमें या मदिराके नशेमें, या अहंकारके आवेगमें, या किसीकी प्रीतिके कारण अथवा किसीसे कोई मनोमालिन्य करके मनोविनोदके लिए किसी सखीकी गुप्त बात प्रकट की है या किसीसे दिल दुखानेवाली बात की है, ऐसी चर्चा भी कभी लोगोंके मुखसे न सुनी गयी थी। ये सब ही रानियां पतिको प्यारी थीं और स्वयं भी पतिसे गाढ़ प्रेम करती थीं। एकका भी व्यवहार उद्धत न होता था। सबकी सब एकसी सुखी थीं। इनका हृदय शीलव्रतके रंगसे रंगा था और सब ही अत्यन्त विनम्र थीं क्योंकि परम धार्मिक तथा सुरत कला और राजनीतिके पंडित महाराज धर्मसेन विना भेदभावके सबको एक ही दृष्टिसे देखते थे। ये सब ही रानियां स्वभावकी मीठी थीं। शरीरमें कान्ति और लावण्य फटे पड़ते थे और बुद्धि प्रतिभा सम्पन्न थी। ये वही काम करती थीं जिसे राजा मन ही मन चाहता था।

अन्त:पुर

५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३

उक्त प्रकारसे समानता होनेपर भी इन सब रानियोंमें गुणवती रानी वैसी ही चमकती थी जैसे निर्मल ताराओंके बीच चन्द्रलेखा अपनी कान्ति और सरसताके कारण विशेष शोभित होती है। इसका पितृ-मातृकुल परमशुद्ध था, स्वभाव स्नेहमय था और सबका भला चाहती थी। शरीर और मन परम पवित्र थे। परिमित बोलती थी और हरएक कार्य करनेमें अत्यधिक कुशल थी। थोड़ेसे उपयुक्त और सुन्दर भूषण पहिन लेनेपर इसका सौन्दर्य चमक उठता था। कामदेवका सारा भार मानों उसीपर आ पड़ा था इसीलिए उसे अपने पतिसे प्रगाढ़ प्रेम था। उसका रूपभार महाराज धर्मसेनकी आंखोंको

महारानी गुणवती

६४ ६५

अमृत था। बार-बार पूंछनेपर कभी-कभी बोलनेवाली रानीकी हितमित वाणी राजाके कानोंके लिए पथ्यसा मालूम देती थी। उसका वेशभूषा और हावभाव राजके मनको विह्वल और शरीरको कामातुर करनेमें समर्थ होते थे इसीलिए वह सुरतरूपी नाटककी प्रधान अभिनेत्री

६६ बन सकी थी। उसका मुख पूर्णिमाके निष्कलंक चन्द्रमाके समान मनमोहक और रति-उत्तेजक था। पूर्ण विकसित उन्नत स्तनोंपर चन्दन लेप लगानेपर उसका शरीर बड़ा उद्दीपक हो जाता था। कामदेवके इन वाणोंकी मारसे विह्वल होकर राजा उसके शरीरका आलिंगन

६७ करता था और इस तरह प्रीति समुद्रमें डूबता और तैरता था। उसके लाल-लाल ओठ पतिके चुम्बनोंसे क्षत विक्षत हो जाते थे तथा कामके आवेशमें आ जानेके कारण शारीरिक चेष्टाएं मन्थर हो जाती थीं तो भी वह आंखोंको अत्यन्त प्यारा राजाका मुख अपनी तरफ खींचकर

६८ मदिराकी गन्धयुक्त अपने मुख कमलसे बार-बार चूमती थी। उन दोनोंने मनुष्य जीवन और लम्बी आयुका वास्तविक फल प्राप्त कर लिया था; क्योंकि उन्होंने मनभरके कामदेवकी आराधनाकी थी। उनकी प्रत्येक आदर सत्कारमय चेष्टा दोनोंके प्रेम और रिरंसाको बराबरीसे बढ़ाते थे, और दोनोंके दोनों एक दूसरेके मनको संतुष्ट करने और बढ़ानेके लिए सर्वदा

६९ कमर कसे रहते थे। विश्वविख्यात यशस्वी महाराज धर्मसेन अपनी परम कुलीन रानीके साथ उस विशाल राजभवनमें रमण करता था, जिसमें छहों ऋतुओंके सुख मौजूद थे, जगमगाते मणियोंकी किरणोंसे रात्रिका अन्धकार हटाया जाता था और जिसके गोपुर पर बजते हुये मृदंगोंकी गम्भीर ध्वनि कभी बन्द ही न होती थी।

७० इस प्रकार कथाके क्रमके अनुसार सबसे पहिले देश, राजधानी, राजा और पट्टरानीका वर्णन किया है जो कहने सुननेपर कानोंको सुख देता है। इसके उपरान्त आप लोग वास्तविक कथाको सुनें।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथामें जनपद नगर-नृपति-नृपपत्नी वर्णन नामका
प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीय सर्ग

प्रजापालक महाराज धर्मसेनके सब ही मनोरथ धर्मके प्रतापसे अपने ही आप पूरे हो जाते थे इसीलिए उनकी प्राणप्यारी श्रेष्ठ रानी [जिसके नाममें देवी शब्दके पहिले गुण शब्द लगा था अर्थात् गुणदेवी] गुणवतीके वराङ्ग नामका राजपुत्र पैदा हुआ था। कुमार वराङ्गके जन्म लेते ही माता-पिताके आल्हाद समुद्रने अपनी मर्यादाको छोड़ दिया था। कुटुम्बी और सगे सम्बन्धियोंका शोक उन्हें छोड़कर 'नौ दो ग्यारह' हो गया था। सारा राष्ट्र आनन्द विभोर हो उठा था और शत्रुओंको उससे अपनी पराजयका भय भी उसी क्षणसे होने लगा था। कुटुम्बियों और परिचारकोंमें सदा ही एकसे दूसरेकी गोदमें जाता हुआ शिशु राजपुत्र बालचन्द्रके समान दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था। जब वह तुतला, तुतलाकर मधुर अस्पष्ट शब्द बोलता था तब कमलके समान निर्मल, सुन्दर और कोमल मुखको देखते, देखते न राजा ही अघाता था और न प्रजाजन। उसके शरीरपर अनेक शुभ लक्षण स्पष्ट दिखायी देते थे। शैशव अवस्थामें ही उसके शरीरसे प्रताप, कान्ति, लावण्य और बल टपकते थे। उसकी बुद्धि प्रखर थी। शैशवकालसे ही विद्वानोंकी सहायता करता था। उसका अन्तःकरण दयासे ओतप्रोत था और प्रजाके कल्याणके लिए प्रयत्न करता था। किशोर अवस्थासे ही वह सदा ही सच्चे देवोंकी पूजा व गुरुओंकी मन, वचन और कायसे विनय करता था। उसके पराक्रमका प्रदर्शन शत्रुओंपर ही होता था। सज्जनमात्रके साथ मैत्रीपूर्ण व्यवहार करता था। विपद्ग्रस्त उपयुक्त सत्पात्रोंको दान देता था, प्रजामात्रपर कारुण्य-भाव रखता था और विद्याओंपर उसका सच्चा अनुराग था। लेख, व्याकरण, काव्य, संगीत, आदि सब ही कलाओंमें पारंगत था। दिन रात, हाथी घोड़ेकी सवारी और शस्त्र विद्याके अभ्यास करनेमें तल्लीन रहता था। छल कपट, प्रमाद, अहंकार, लोभ, आदि दुर्गुण तो उसके पाससे भी न निकले थे इसके सिवा उसने बुद्धिपूर्वक, जुआ, आखेट, वेश्यागमन, आदि सातों व्यसनोंको भी छोड़ दिया था। किसी एक दिन राजकुमार वराङ्गने गज-अश्व आरोहण और शस्त्रचालनका अभ्यास करके बड़े भारी ठाट बाटके साथ राजधानीमें प्रवेश किया। इसके बाद राजमहलमें पहुंचकर भक्तिभावसे माता पिताके चरणोंमें प्रणाम किया और विनम्रतासे झुककर अपनी मर्यादाके अनुसार उनके सामने बैठ गया। १ २ ३ ४ ५ ६ ७

कुमार वराङ्ग

राजपुत्रके उदार गुणोंका विचार करके तथा उसके सुन्दर शरीर और उसपर भी यौवनके प्रथम उन्मेषको देखकर एकाएक उसी क्षण उन दोनोंके मनमें यही ध्यान हो आया "क्या कोई राजकुमारी इसीके समान रूपवती तथा शरीरसे स्वस्थ होगी?" जिस समय राजा रानी उक्त विचारमें मग्न थे उसी समय नगरका कोई सेठ जिसके आनेकी कल्पना भी न की जा सकती थी, मानो राजकुमारकी भक्तिसे ही प्रेरित होकर राजमहलमें जा पहुंचा। राजकुमारको देखते ही उसका स्नेह उमड़ पड़ा था तो भी उसने अपने आपको सम्हालकर निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था। ८ ९

राजकुमारकी विवाह वार्ता

'हे महाराज समृद्धपुरीके एकछत्र राजा धृतिसेन अपरिमित विभव और सम्पत्तिके १०

अधिपति हैं। इसके अतिरिक्त जहांतक कुलीनता, स्वभाव और संयम, तेज और पराक्रम, विद्या और बुद्धि, धर्म और कर्तव्यपालन, न्याय और नीतिका सम्बन्ध है, वे हर प्रकारसे आपके ही समान हैं। महाराज धृतिसेनकी अतुला नामकी पट्टरानी है जो निर्दोष धर्माचरणकी सजीव मूर्ति है, उनका मातृ-पितृकुल भी एक विशाल और विख्यात राजवंश है। इन दोनोंके अनुपमा नामकी राजपुत्री है जो कान्ति, कीर्ति, दया आदि सद्गुणोंका भण्डार होते हुए भी अत्यन्त विनम्र और शिष्ट है। हे महाराज? उस राजकुमारीके शरीर, सौन्दर्य और सद्गुणोंका अलग अलग विस्तारपूर्वक वर्णन करनेसे क्या लाभ? बस संक्षेपमें यही समझिये कि आभूषणोंके भी उत्तम आभूषण नवयौवनके प्रथम उभारने उसकी गुण-रूप लक्ष्मीको इतना अधिक बढ़ा दिया है कि उसे देखते ही ऐसा लगता है मानों साक्षात् देवकन्या ही इस पृथ्वीपर उतर आयी हैं।' सेठोंके प्रधानके अत्यन्त अर्थपूर्ण, गम्भीर और मनोहर वचन सुनकर राजाने उसकी मर्यादाके अनुकूल सेठका स्वागत सत्कार किया।

कुमारी अनुपमा

११

१२

१३

सेठको प्रेमपूर्वक विदा करके वह अपनी प्रसिद्ध मन्त्रशालामें चला गया। राजनीति, अर्थशास्त्र तथा अन्य शास्त्रोंके प्रकाण्ड पण्डित प्रधान मन्त्री लोग जिनके क्रमशः अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन और देवसेन नाम थे, महाराजके द्वारा बुलाये जाते ही मन्त्रशालामें आ पहुंचे और अपने अपने पदके अनुसार यथास्थान जा बैठे। उनके अभिवादनको स्वीकार करनेके पश्चात् मुस्कराते हुए राजाने उनका यथायोग्य कुशल समाचार आदि पूंछकर स्वागत किया। इसके बाद विचारणीय विषयकी महत्ताके कारण उसने गम्भीर और मधुर वाणीको निम्नप्रकारसे कहना प्रारम्भ किया—

१४

मंत्रशाला प्रयाण

१५

हे मन्त्रिवर! अपने राजकुमारका यौवन (कृष्णके उल्टे पक्ष) शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान पूर्णताको प्राप्त हो रहा है। साथ ही साथ आपके राजकुमारने सब विद्याओं और व्यायामोंको केवल पढ़ा ही नहीं है अपितु उनका आचरण करके प्रायोगिक अनुभव भी प्राप्त किया है, नीति शास्त्रका कोई भी अंग ऐसा नहीं जिसका कुमारको अध्ययन करना हो। समस्त ललित कलाओं और विधि-विधानोंमें पारंगत हैं। गुरुजनों और वृद्धजनोंकी सेवाका बड़ा चाव है। संसार कल्याणकी भावनाका तो उन्हें प्रतिमूर्ति समझिये। वह कितना बुद्धिमान् पुरुषार्थी है यह आप लोग मुझसे ज्यादा जानते हैं। उसका रूप देखते ही बनता है। उसके साहस, वीरता, सेवापरायणता, सहानुभूति, आदि सद्गुण तो ऐसे हैं कि उसे सारी पृथ्वीका एक-छत्र राजा होना चाहिये। भविष्यका ऐसा सटीक आंकता है जैसे कोई फूलोंको देखकर फलोंका अनुमान करता है। अंग अंगसे फूटते हुये सौन्दर्यको विचारनेपर तो वह दूसरा कामदेव ही मालूम देता है। अतएव अब हमें उसके विवाहकी चिन्ता करनी चाहिये।

१६

मंत्रणा

१७

मंत्री लोग राजपुत्रसे स्वयं भी पिताके समान स्नेह और आदरपूर्ण व्यवहार करते थे अतएव राजाके उक्त प्रस्तावको सुनकर उन्होंने प्रेम और भक्तिपूर्वक उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए कहा—'हे महाराज? आपका कथन सब दृष्टियोंसे उचित और सर्वसाधारणका कल्याणकारी है। इसके बाद मंत्रियोंने अलग अलग अपनी सम्मति दी थी। अतः क्रमानुसार सबसे पहिले अनन्तसेन महामात्यने कुमार वराङ्गके विवाहके विषयमें अपने मनोभाव निम्न प्रकारसे प्रकट किये थे—हे महाराज? स्वास्थ्य, सौन्दर्य,

१८

१९

मंत्री सम्मति—
अनन्तसेन

शिक्षा, कुलीनता, आदि गुणोंमें, महाराज अनंतसेनकी राजदुलारी सुनन्दाको छोड़कर कौन दूसरी राजकुमारी हमारे कुमारकी योग्य बधू हो सकती है ? इस प्रकारके सम्बन्ध करना (मामाकी लड़कीसे व्याह करना) हमारे राजवंशकी प्राचीन परम्परा है, साथ ही साथ महाराज देवसेन राजकुमारके मामा हैं फलतः इस वैवाहिक सम्बन्धसे दोनों राजवंशोंकी मित्रता दृढ़तर हो जायगी। इसलिये मैं सुनन्दाके साथ राजकुमारका विवाह शीघ्रसे शीघ्र देखना चाहता हूं क्योंकि वह हर तरहसे योग्य कन्या है। २०

महामात्य अनन्तसेनके अभिमतको सुनकर द्वितीयामात्य अजितसेनने दूसरा ही प्रस्ताव उपस्थित किया, उन्होंने कहा—'हे महाराज ? महामात्यने जो प्रस्ताव उपस्थित किया है वह युक्तिसंगत न होनेके कारण मुझे उतना अधिक नहीं जंचता है जितना कि वे स्वयं उसे समझते हैं। अकृत्रिम स्नेही होनेके कारण सबकी ही माताका भाई अर्थात् मामा उनका स्वाभाविक सहायक और हितैषी होता है क्योंकि इन लोगोंके साथ स्वार्थोंका संघर्ष नहीं रहता है। लेकिन जो कृत्रिम (नया सम्बन्ध या उपकार द्वारा बनाया जाता है) मित्र होता है वह बड़ा लाभदायक होता है इसीलिए नीतिशास्त्र विशाल-हृदय कृत्रिम मित्र बनानेकी शिक्षा देता है। २१

अजितसेन

२२

द्वितीयामात्य अजितसेनके द्वारा उपस्थित किये गये सुझावको सुन लेनेके बाद तृतीय अमात्य चित्रसेनने निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया 'हे महाराज ? मातुलराज महाराज देवसेनके सिवा इस पृथ्वीतलपर कौन ऐसा दूसरा राजा है जिसका सैन्य, शक्ति और सम्पत्ति उनसे अधिक हो या जिसके सहायक, सहगामी और अनुयायी राजाओंकी संख्या उनके पक्षके राजाओंसे अधिक हो ? किसी सैन्य, अर्थ, सहायबल सम्पन्न राजवशके साथ पहिलेसे किसी भी प्रकारको संधि न हुई हो और बादमें यदि वह राजवंश किसी दूसरे महाशक्तिशाली राजवंशके साथ संधि करता है तो तटस्थ या स्वाभाविक मित्र (मातुल, फूफा आदि) राष्ट्रोंको भो उसपर विश्वास नहीं होता है बल्कि उसके ऊपर शंका ही अधिक बढ़ती जाती है। इतना ही नहीं संधि या सम्बन्धके स्वाभाविक प्रयोजनको भी बहुत कुछ विकृतरूप ही दिया जाता है। अतएव यदि हम सुनन्दाके साथ राजकुमारका विवाह न करेंगे तो इसका परिणाम मित्रभेद अर्थात् स्वाभाविक मित्र राजासे सम्बन्ध विच्छेद होगा (कारण हम जिस किसी राजवंशमे भी कुमारका व्याह करेंगे उसका प्रयोजन केवल व्याह न समझकर, महाराज देवसेन हमसे खिचकर अपनी राजकुमारीको किसी दूसरे राजवंशमें व्याह देंगे और उसके ही प्रबल समर्थक हो जायंगे। इस प्रकार एक प्रबल मित्र हाथसे निकल जायेगा) जो कि अचिन्तनीय अनर्थोंका मूलकारण है। अतएव जिसकी सम्मत्तिके अनुसार उल्टा सीधा काम कर डालनेसे मित्र भी शत्रु हो जाय उसे हम कार्यज्ञ नहीं कह सकते ऐसा आप निश्चित समझें। २३

चित्रसेन

२४

२५

तृतीय आमात्य चित्रसेनके द्वारा उपस्थित किये गये विचित्र तर्कोंको सुनकर प्रखरबुद्धि और अनुभवी चतुर्थ आमात्य देवसेनने उक्त सबही तर्क वितर्कोंका समाधान करते हुए, राजनीतिके अनुसार अपनी सम्मति दी, जो कि विचारणीय विषयकी महत्ताके सर्वथा अनुकूल थी। सैन्यबल, अर्थबल और सहायबल सम्पन्न राजा—जिसके साथ पहिलेसे किसी भी प्रकार संधि नहीं हुई है—के अपने ही समान प्रबल शक्ति- २६

देवसेन

२७

शाली किसी दूसरे राजासे मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर लेनेपर, तृतीयामात्य चित्रसेनने जिन, जिन अनर्थोंकी संभावना बतायी है उनपर यदि नीतिशास्त्रके अनुसार गम्भीरतासे विचार किया जाय, तो वे सबके सबही कपोल कल्पित सिद्ध होते हैं।

२८ नीति कहती है कि इस संसारमें किसी भी व्यक्तिको अपनी माता या पितापर, धर्म-पत्नी या औरस पुत्रपर, अत्यन्त घनिष्ठ बन्धु-बान्धव या अनुरक्त आज्ञाकारी सेवकोंपर उतना विश्वास नहीं करना चाहिये जितना कि एक दृढ़ मित्रपर करना चाहिये; यदि वह मित्र विवेकी और विशालहृदय हो तो। वास्तवमें इस संसारमें किसीको भी ऐसा सच्चा मित्र मिलता ही नहीं है, जो सब तरह शक्तिसम्पन्न होते हुए भी उसे हृदयसे स्नेह और आदर करता हो। पूर्व पुण्यके प्रतापसे यदि किसी सौभाग्यशाली प्रबल व्यक्तिको ऐसा (उक्त प्रकारका) मित्र हाथ लग जाय, तो समझिये कि सारी पृथ्वी उसके हाथ लग गयी है। यदि किसी राजाके अनुगामी और सेवक उससे संतुष्ट नहीं फलतः हरएक कामको धीरे, धीरे अन्यमनस्क होकर करते हैं। यदि उसके मित्र राजाओंकी संख्या बहुत थोड़ी है और जो हैं, वे भी इधर उधर बिखरे (बहुत दूर) देशोंमें हैं। और वह राजा स्वयं भी यदि हर समय अपने सम्बन्धियोंके सहारे रहता है तो आपही बताइये उसका राज कितने दिन तक टिकेगा।

मित्रशक्ति

२९

३०

३१ आगे कहे गये आठ राजा ही इस पृथ्वीके राजाओंमें प्रधान हैं क्योंकि वे आगमके अनुकूल नीतिसे अपनी प्रजाओंका पालन करके उनके धर्म और अर्थ पुरुषार्थके षष्ठांशको ग्रहण करते हैं। सब सम्पत्तियोंका भण्डार होनेपर भी यह पृथ्वी इसीलिये सुशोभित है कि इसपर उन राजसिंहोंकी चरण रज पड़ती है, जैसे कि आकाश विश्वविख्यात आठ दिग्गजोंकी उपस्थितिके ही कारण धन्य है। ऊपर निर्दिष्ट आठ प्रसिद्ध राजाओंमें महाराज महेन्द्रदत्तका नाम सबसे पहिले आता है क्योंकि वे इस पृथ्वीपर विराजमान इन्द्र ही हैं, दूसरे महाराज द्विषंतप तो 'यथा नाम तथा गुणः' हैं क्योंकि उन्होंने अपने शत्रुओंको पराजित करके नष्ट ही कर दिया है, इसके बाद महाराज सनत्कुमार, मकरध्वज, समुद्रगुप्त और विनयंधरके नाम आते हैं, इनके बाद महाराज वज्रायुधका स्थान है जो अपने पराक्रम, प्रभुत्व, विभव, स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सदाचार, आदि गुणोंके कारण चक्रवर्तीके समान हैं, अन्तमें महाराज मित्रसह हैं जो अपने बन्धुबान्धवोंके ही उत्कर्षको सह सकते है। हे महाराज ? आप ही बताइये कि ये सब प्रचण्ड पृथ्वीपति क्या महाराज देवसेनसे बढ़कर न होंगे ?

आदर्श नृप

३२

३३

३४ अपनी अपनी तर्कणाशक्तिके अनुसार ऊहापोह करके कहे गये सबही मंत्रियोंके विस्तृत वक्तव्योंको राजाने ध्यानपूर्वक सुना और उन सबकी नीतिज्ञता तथा राज्यभक्तिकी प्रशंसा की क्योंकि वे अपने सबही राजकीय कर्त्तव्यों और दायित्वोंको योग्यतापूर्वक निबाहते थे। और अन्तमें विदेह देशसे लौटे सेठकी बातको भी उन लोगोंसे कहा और अन्तमें विवाह शास्त्रके प्रधान आचार्योंके मतोंको फिरसे मंत्रियोंको समझाया। महाराज धर्मसेनका यह अन्तिम वक्तव्य प्रकृत विषयपर प्रकाश ही नहीं डालता था अपितु उसकी सब ही गुत्थियोंको सुलझा देता था, इसीलिए मंत्रियोंने उसे सावधानीसे सुना और उससे अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की थी। फलतः इसके बाद ही पत्रोंके साथ

नृप अभिमत

३५

अत्यन्त कुशल दूत प्रत्येक दिशामें भेजे गये थे। इन्हें विवाह-सम्बन्ध करने या न करनेके पूर्ण अधिकार प्राप्त थे।

उक्त प्रकारसे भेजे गये दूतोंमेंसे एक अत्यन्त गुणी और नीतिमान् राजदूत समृद्धिपुरीके महाराज धृतिषेणकी राजसभामें जाकर उपस्थित हुआ। पहुंचते ही उसने अपनी विश्वासपात्रता सिद्ध करनेके लिये महाराज धर्मसेनकी नामसुद्रासे अंकित नियुक्तिपत्र दिखाकर अपनी यात्राके प्रधान प्रयोजनको मौखिकरूपसे ही हित-मित भाषामें राजाके सामने उपस्थित किया। ३६

कन्या अन्वेषण

महाराज धृतिषेणने दूतके द्वारा दिये गये पत्रको सावधानीसे देखा और उसके वचनोंको भी ध्यानपूर्वक सुना। इसके बाद प्रसन्नतापूर्वक बोले 'क्या महाराज धर्मसेनका ऐसा विचार है?' किन्तु निपुण राजदूतको उनके बात करनेके ढंग, मुख और आंखोंके आकार तथा रंग, अपना स्वागत, सत्कार तथा भेंट आदिसे यह विश्वास हो गया था कि उसका उद्योग सफल हुए बिना रह ही नहीं सकता है। इसके उपरान्त अनुपम पराक्रमी महाराज धृतिषेणने आदर और प्रीतिसे मधुर तथा शान्त बातें करके उस राजदूतको भलीभांति विदा कर दिया। वह भी अपने कर्त्तव्यको योग्यतापूर्वक पूरा करके उत्तमपुरको उसी मार्गसे लौट गया जिससे आया था। दूसरे दूत लोग जो कि स्वामीके कार्यको करनेका भार अपने ऊपर लेकर बाहर गये थे, वे भी क्रमशः उत्तमपुरको लौटे, और अपने अपने कार्यमें उन्होंने कहांतक सफलता प्राप्त की थी यह राजाको विगतवार सुनाया, जिसे सुनकर पहिले तो परम आनन्द होता था और पीछेसे वरयात्राकी प्रेरणा मिलती थी। ३७ ३८ ३९

महाराज धर्मसेनने सबही लौटकर आये दूतोंके उत्तर लेखोंको पढ़ा और उससे अधिक ध्यानपूर्वक उनके यात्रा विवरणोंको सुना। अन्तमे अपने मंत्रियोंको, जो कि सब परिस्थितियोंको सावधानीसे समझकर प्रत्येक समस्याका उपयुक्त ही निकार करते थे, महाराज धृतिषेणकी राजधानीको जानेकी आज्ञा दी। ४०

जब मंत्रियोंने प्रस्थान किया तो उनके साथ केवल उनके अनेक मित्र और बन्धु-बान्धव ही नहीं गये थे अपितु महाराज धर्मसेनकी सुविशाल चतुरंग (हाथी, घोड़ा, रथ और पदाति) सेनाने भी प्रयाण किया था। राजाके चारों प्रधान मंत्रियोंके साथ प्रस्थान करती हुई वह सेना ऐसी लगती थी मानो यम, वरुण, कुवेरादि चारों दिक्पालोंके नेतृत्वमें देवराज इन्द्रकी विजयवाहिनी ही चली जा रही थी। अनेक देशोंको पार करती हुई वह सेना अपनी यात्राके अन्तमें उस नगरके निकट पहुंची जो अपनी सम्पत्ति, सुव्यवस्था, आदि विशेषताओंके लिए विख्यात थी और जिसमें रत्नभण्डार और कोशोंकी प्रचुरता थी। अपनी सम्पत्ति और सजावटसे जगमगाती हुई उस सेनाने जब समृद्धिपुरीमें प्रवेश किया तब नगरके सबही स्त्री पुरुष टकटकी लगाये उसकी ओर ताक रहे थे। इस प्रकार सेनाके साथ चारों मंत्री उस राजभवनपर पहुंचे, जो अपनी साज-सज्जा और ऋद्धिमें अनुपम था। जिसके विशाल आंगनोंके कोने कोनेमें सामन्त राजाओंकी सेना ठसाठस भरी थी। ऐसे राजभवनके प्रवेश द्वारपर ही उनकी अगवानी हुई और द्वारपालके द्वारा भीतर ले जाये जानेपर उन्होंने सिंहासनपर विराजमान महाराज धृतिषेणके दर्शन किये। महाराज धर्मसेनके अत्यन्त विश्वस्त और अन्तरंग व्यक्ति महामात्योंको, ही अतिथियोंके रूपमें पाकर महाराज ४१ ४२ ४३ ४४

मंत्री प्रस्थान

धृतिषेणने उनकी मर्यादाके अनुकूल स्वयं ही उनकी 'आइये' कहकर अगवानी की तथा कुशल समाचार पूंछनेसे लेकर अन्य सब ही स्वागत सत्कार करके उनका सम्मान किया। यद्यपि उनके इस प्रकार आनेके प्रयोजन (कुमार वरांङ्गका विवाह) पहिलेसे ही जानते थे तो भी कुछ न कुछ पूछनेके ही लिए उनसे आगमनका कारण पूंछा।

४५ समृद्धिपुरीके अधिपति द्वारा उक्त प्रकारसे पूछे जानेपर मंत्रियोंने देखा कि उनका काम साम, दाम, दण्डादि छह उपायोंमेंसे, सामके प्रयोगसे हो अधिक सुन्दरतासे सिद्ध हो सकता है। फलतः उन्होंने महाराज धर्मसेनके उपदेशके अनुसार ही अपनी विवाह वार्ताको सफल करनेके लिये निम्न प्रकारसे महाराज धृतिषेणसे

विवाह प्रस्ताव

४६ निवेदन किया था। 'हे महाराज ? आप जानते ही हैं कि महाराज धर्मसेन राजाओंके मुकुटमणि हैं। उनके शत्रु सदाके लिए शान्त हो गये हैं। उनके आत्मनिग्रहका तो कहना ही क्या है। वे राजाके आचरणको किस खूबीसे पालते हैं इसके अतिरिक्त आपके समान कुलीन होनेपर भी आपसे अवस्थामें बड़े हैं। उन्हींने हम लोगोंके द्वारा आपसे सस्नेह और सादर-

४७ कुशल क्षेम कहा है। महाराज धर्मसेनके पुत्र कुमारवराङ्ग अत्यन्त कान्तिमान् हैं। जनताके सुख दुखमें बड़ी उदारतासे व्यवहार करते हैं, उनकी आचार विचार विषयक पवित्रताका तो कहना ही क्या है ? और नीतिशास्त्रके तो वे परम पण्डित ही हैं। उन्होंने भी हे राजन् आपके चरणोंमें प्रणाम भेजा है क्योंकि वे आपके दामाद होनेकी इच्छा करते हैं।

४८ भाषणशैलीके पंडित उन मंत्रियोंके वचनोंको सुनकर राजा धृतषेणने उसी समय सब वार्तोंपर भली भांति विचार किया, तथा अपनी पुत्रीकी कन्या-अवस्थाकी समाप्ति तथा युवती-अवस्थाका प्रारम्भ विचारकर उन्होंने मंत्रियोंसे कहा कि ऐसा ही हो'।

कन्याके पिताकी स्वीकृति

४९ और अपनी पुत्रीका परिचय देनेके लिए निम्नप्रकारसे बोले। आपकी राजकुमारी भी ललितकला, सद्गुण, रूप, आकार, स्वास्थ्य अवस्था, आदि सबही विशेषताओंमें कुमार वारांङ्गके ही समान हैं। और वह भी यदि सब प्रकारसे उसके (सुनन्दाके) उपयुक्त वर है तो फिर इस मनुष्यलोकमें उनदोनोंके लिए इससे अधिक और चाहिये ही क्या है ?

५० इस प्रकार कमलकी पंखुड़ियोंके समान ललित नेत्रवती पुत्रीके कन्यादान करनेके निश्चयको प्रकट करके राजाने अपने पुरोहित तथा इन्हींके समान अन्य सच्चे हितैषी और विश्वस्त सम्बन्धियोंको बुलाया तथा उन सबको अपनी अपनी सम्मत्ति देनेके लिए ही उक्त अभिलाषा उनके सामने

५१ उपस्थित कर दी थी।। उक्त विश्वस्त सम्बन्धियों तथा मंत्रियोंके साथ बैठकर विचारकर चुकनेपर जब राजाने यही निर्णय किया कि राजकुमारीका विवाह कुमार वाराङ्गके साथ ही करना है, तो उनसे तुरन्त ही सब राजकर्मचारियोंको उनके पद और योग्यताका ध्यान रखते हुए विवाहके कल्याणमय महोत्सवकी तैयारियां करनेकी आज्ञा दी।

५२ समस्त धार्मिक और सामाजिक विधि-विधानोंके विशेषज्ञ तथा अनुयायी राजाने पिताके घरकी सबही रीतियों और संस्कारोंको पूरा करके निर्धन और दीनदुखियोंको मनभर दान दिया। इसके बाद अपार सम्पत्ति और ठाटबाटके साथ राज-

वरनगर-प्रस्थान

५३ कुमारीको लेकर उसने उत्तमपुरको प्रस्थान किया। महाराज धृतषेणने जिस पालकीपर राजकुमारीको बैठाया था उसका धरातल पानीके समान रंगोंके द्वारा बनाया गया था, फलतः देखते ही जलकुण्डका धोखा लगता था, उसकी वन्दनवारमें लगे हुए मूंगे

प्राचीन तथा दूर देशोंसे लाये गये थे, उसके कबूतरों युक्त छज्जेके बनानेमें तो सारे संसारकी कमाई ही खर्च हो गयी थी, उसकी छत वैडूर्यमणियों से ही बनायी गयी थी। उस विशाल पालकीके सब ही खम्भे उत्तम थे क्योंकि वे शुद्ध सोनेसे ढाले गये थे। और उनपर महेन्द्र नील मणिके कलश रखे गये थे, ऊपरका भाग पद्मराग मणियोंसे खचित था, ऊपर रखे गये जगमग कलश सर्वथा निर्दुष्ट चांदीके बनाये गये थे। उसके ऊपरी भागमें मणियोंके पक्षी बने थे, जिनके मुखसे गिरते हुए मुक्ताफल भी उसमें चित्रित थे फलतः पालकीका मध्यभाग ऐसे मुक्ताफलोंसे व्याप्त था। उसके ऊपर लगे पताका धीरे धीरे बहती हुई हवाके झोकोंसे लहरा रहे थे, उसकी कान्ति और जगमगाहटके सामने सूर्यकी कान्ति भी लजा जाती थी। उसे उठानेके दण्डोंमें भी भांति, भांतिके जगमगाते हुए रत्न जड़े गये थे। उसके आसपास युवती सुन्दरियां चमर ढोरतो चलती थीं। इस प्रकारकी महामूल्यवान पालकीपर अपनी पुत्रीको बैठाकर विपुल सम्पत्ति और कान्तिके अधिपति महाराज धृतिषेणने उत्तमपुरमें प्रवेश किया जो कि यथानाम तथा गुणः था। ५४ ५५ ५६

महाराज धर्मसेनने पहिले जिन राजदूतोंको सब तरफ भेजा था उनसे ही कुमार वाराङ्गके व्याहका समाचार जानकर, चन्द्रमाके समान सर्वप्रिय तथा प्रजाके हितैषी बड़े, बड़े

अन्यराजा-आगमन

अन्य राजालोग भी मानो वराङ्गके पुण्यसे प्रेरित होकर ही अपनी अपनी अत्यन्त गुणवती तथा सुन्दरी कन्याओंको लेकर उत्तमपुरके लिए चल दिये थे। उनमेंसे कोई सोनेकी झूल और हौदेसे सजे विशालकाय श्रेष्ठ हथियोंपर सवार थे, तो दूसरे नाना रंगोंकी चित्रकारीसे भूषित अनेक प्रकारके रथोंपर विराजमान थे और अन्य राजा लोग चामर, मुकुट आदिसे सुशोभित उत्तम घोड़ीपर चढकर उत्तमपुरके रास्तेपर चले जा रहे थे। विन्ध्यपुरके महाराज महेन्द्रदत्तकी पुत्रीका नाम वपुष्मती था, जो कि उसके स्वास्थ्य और सौन्दर्यके कारण सार्थक था। सिंहपुरके महाराज जिन्होंने अपने शत्रुओंको नष्ट कर दिया था उनकी चन्द्रमुखी राजपुत्रीका नाम यशोवती था। इष्टपुरके अधिपति सनत्कुमार महाराजकी राजदुलारी वसुन्धरा भी आयीं थीं, इनका रूप और गुण हठात् मनको मोह लेते थे। श्रीमलय देशके एकच्छत्र महाराज मकरध्वजकी पुत्री तो साक्षात् शरीरधारिणी कामदेवकी सेना ही थी इसीलिये उसका नाम अनङ्गसेना पड़ा था। चक्रपुरके प्रभु श्रीसमुद्रदत्त महाराजकी कन्या प्रियव्रताका तो कहना ही क्या था; संसारके अविकल सौन्दर्यकी मानो निदर्शन ही थी। गिरिव्रज (राजगृह) के सम्राट् वज्रायुधकी राजदुलारी सुकेशीका तो वर्णन ही क्या किया जाय। कारण वह महाराजकी प्राणप्यारी पट्टरानीकी ही कुक्षिसे उत्पन्न हुई थी। कोशलदेशकी विपुल राज्य-सम्पत्तिके एकमात्र अधिपति 'यथा नाम तथा गुणः' महाराज मित्रसिंहको राज-कन्याका नाम विश्वसेना था। सामाजिक विनय (नियम, धर्म और व्यवहार) के रक्षक महाराज विनयंधर उस समय अंगदेशके शासक थे। प्राणिमात्रका उपकार करनेके कारण ही उनकी कन्याका नाम प्रियकारिणी पड़ा था। इस प्रकार उक्त राजललनाएँ; जो कि अपने-अपने सदाचार, स्वास्थ्य, सुशिक्षा, आदि गुणोंके द्वारा हर प्रकारसे महाराज धृतिषेणकी राजपुत्री सुनन्दाके ही समान थी। तथा उसीके समान ही उनका चरित्र भी उज्ज्वल और उदार था। यह सब आठों दिक्पालोंकी पुत्रियोंके समान आठों दिशाओंसे उस समय उत्तमपुरमें जा पहुंची थी। ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३

६४ महाराज धर्मसेनने इसी अवसरपर वराङ्गका युवराज पदपर अभिषेक भी करनेका निर्णय किया था। अतएव उनकी आज्ञासे राजभवनके विशाल आंगनमें 'कामकरण्डक' नामका श्रीमंडप अत्यंत कलापूर्वक बनाया गया था। उसे देखते ही आंखे शीतल हो जाती थी और मन मुग्ध हो जाता था। उस 'काम-

यौवराज्य-अभिषेक

६५ करण्डक' मण्डपका धरातल महेन्द्रनील आदि भांति, भांतिके मणियोंको जड़कर बनाया गया था, पूरीकी पूरी भित्तियां सोनेसे बनायीं गयी थीं, कपोतपाली (छज्जा) शुद्ध चांदीसे

६६ बनी थी और भीतरकी पूरीकी पूरी छत शुद्ध सुवर्णसे गढ़ी गयी थी। श्री मण्डपके सबही खम्भोंका भीतरी भाग तपाये गये सोनेसे ढाला गया था और उनका बाहरी भाग बड़े-बड़े रत्नों और मणियोंसे बनाया गया था। गोपुर या प्रधानद्वार संसारके सबही मणि और रत्नोंसे उनके रंग तथा कान्तिका विचार करके अत्यन्त उचित रूपसे बनाया गया था और मध्याह्नके

६७ सूर्यके समान जगमगाता उन्नत शिखर जाम्बूनद सोनेसे बना था। उस मण्डपके चारों ओर अत्यन्त सुन्दर तथा दृढ़ परकोटा बना था, उसपर चारों ओर सोनेकी बन्दनवार लटक रही थी तथा इस बन्दनवारमें भी बीच-बीचमें मूंगा, मोती और मणि पिरोये गये थे फलतः

६८ इनकी कान्ति सोनेकी कान्तिसे मिलकर सम्पूर्ण दृश्यको अद्भुत बना देती थी। इन्हीं विशेषताओंके कारण वह परकोटा श्रीमण्डपकी मोतियोंसे बनो माला समान मालूम देता था। उसके स्वच्छ सुन्दर धरातलपर नाना प्रकारके चित्र-विचित्र मूंगे, मोती और मणियोंके द्वारा अनेक आकारके सुन्दर, सुन्दर चोक पुरे थे। इसके अतिरिक्त सब ओर रखे गये गमलों, लटकती हुई पुष्पमालाओं और चारों ओर लगे पुष्पवृक्षोंपर इधर से उधर उड़ते हुए भौंरे सब ओर पराग उड़ाते थे। पराग ऐसा मालूम देता था मानों फूलोंकी भेंट है और उसके कारण धरातलकी शोभा अनेक गुनी हो गयी थी।

६९ कुमार वराङ्ग स्वभावसे ही इतने अधिक सुन्दर थे कि कोई भी व्यक्ति रूप और कान्तिमें उनकी बराबरी न कर सकता था, तो भी अभिषेक, विवाह आदि मांगलिक कार्योंके कारण उस समय उनको लेप, उपटन आदि लगाये गये थे फलतः पूरा शरीर सौन्दर्य और स्वास्थ्यसे दैदीप्यमान हो उठा था। अतएव जब वे मंगलविधिके लिए सिंहासनपर बैठाये गये

७० तो ऐसे शोभित हुये मानो उदयाचलपर चन्द्रोदय हुआ हो। कुमार वराङ्गके साथ साथ संसारकी परम सुन्दरियां उपरिलिखित महाराज महेन्द्र-दत्त आदिकी वपुष्मती प्रभृति राजकुमारियां, महाराज धृतिषेणकी कुलीन कन्या सुनन्दा तथा नगरसेठ धनदत्तकी ज्येष्ठ पुत्री भी उस विशाल सिंहासनपर विराजमान

अभिषेक तथा पुण्य-पाप फल चर्चा

७१ थी। सिंहासनके आसपास ही सोनेके बड़े बड़े अभिषेक कलश रखे थे। कलशोंके निर्मल जलमें अनेक सुगन्धित पदार्थ घोले गये थे, उनके गलोंपर सुन्दर सुगन्धित मालाएं लपटीं थी, और मुख श्वेत, रक्त और नील कमलोंसे ढके हुए थे।

७२ इन्हीं कलशोंको उठाकर पृथ्वीके प्रधान रक्षक महाराजाओंने सबसे पहिले कुमार वराङ्गका अभिषेक किया, इसके उपरान्त उन सब राजाओंके प्रधान सामन्तों और अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन, देवसेन आदि प्रधान मन्त्रियोंने क्रमशः जाज्वल्यमान रत्नोंसे जटित, शुद्ध, सुगन्धित तीर्थोदकसे पूर्ण विशाल कलशोंको लेकर विधि-

अभिषेक क्रम

७३ पूर्वक युवराजका अभिषेक किया, तदुपरान्त राजभक्तिसे प्रेरित नगरके प्रधान, प्रधान सभ्योंने

अपने मिट्टीके कलश, उठाये—जिनमें नाना प्रकारका सुगन्धित रंग विरंगा जल भरा हुआ था और उसमें विकसित फूल, फल अक्षत आदि मंगल द्रव्यें मिली हुई थी—और सुन्दर राजकुमार-के केवल चरणोंका अभिषेक किया। कुमारके प्रेम और भक्तिसे उद्धत तथा अभिषेक होनेसे ७४ परम प्रसन्न सबही सगे सम्बन्धियों तथा बन्धुबान्धवोंके झुण्डोंने सब तरफसे घेरकर अनेक गंधों और रंगोंसे पूर्ण यन्त्रों (पिचकारियों) द्वारा कुमारपर जल छोड़ना प्रारम्भ कर दिया था। इससे उन्होंने परस्परमें एक दूसरेके शरीरको भी खूब भिगो दिया था। ७५

कोई लोग श्रेष्ठ युवराज वरांगका गुणगान करनेमें ही मस्त थे। दूसरे राजपुत्रियोंकी प्रशंसा करते करते न अघाते थे। कुछ ऐसे लोग भी थे जो यही कहते फिरते थे कि भाई यह कुमार और कुमारियां वास्तवमें एक दूसरेके योग्य हैं और शेष लोग उनको देखकर आश्चर्य समुद्रमें डूबते और उतराते थे। कामदेवके समान सुन्दर, ७६ सुकुमार और सुभग युवराज वरांगको, हृदयमें घर कर लेनेवाली रूपराशिसे युक्त भरतखण्डके प्रधान राजाओंकी पुत्रियोंको, शरीर और मनमें न समानेवाले हर्षसे परिपूर्ण बन्धु-बान्धवोंको तथा अभिषेक मण्डपमें एकत्रित नागरिकोंको देखकर लोगोंके मुखसे अधोलिखित उद्गार निकल पड़े थे।

युवराजभक्ति

यद्यपि इस संसारमें उत्पन्न हम साधारण स्त्री पुरुषों, युवराज वरांग, राजकुमारियों, ७७ राजपुरुषों, आदिके आंख, कान, पेट, हाथ, पैर प्रभृति सर्वथा समान हैं, तो भी इनके ऐश्वर्य, कान्ति, ओज, प्रताप, पराक्रम, सौन्दर्य, आदि सब ही गुण हमलोगोंसे सर्वथा विशिष्ट क्यों हैं ? ऐसा कुछ लोग आपसमें पूछते थे। तब दूसरे कहते थे 'क्या ७८ आपने संसारमें होनेवाले समस्त कार्योंके असाधारण (उपादान) कारणको स्पष्ट बतानेवाला यह वाक्य नहीं सुना है—"सांसारिक समस्त सुख अथवा दुख अपने अपने कर्मोंसे उत्पन्न हुए फलका विस्तार मात्र है।" संसारकी प्रत्येक घटना इसी सिद्धान्तको पुष्ट करती है। सर्वसाधारण- ७९ को इतना ज्ञान तो होना ही चाहिये कि धर्माचरणसे सुखप्राप्ति होती है तथा पापकर्मोंके फलका उदय होनेपर दुख होता है। स्पर्शनादि पांचों इन्द्रियोंको प्रिय विषयोंकी प्राप्तिसे सुख होता है और इसके उल्टे अर्थात् पांचों इन्द्रियोंको अप्रिय विषयोंको प्राप्तिको ही दुख कहते हैं। इस ८० संसारमें जिन मूर्ख प्राणियोंने पूर्व भवमें कोई शुभकर्म नहीं किये हैं तो भी दूसरे भाग्यशालियों-की सम्पत्तिके समान सुख, सौभाग्यको प्राप्त करनेके लिए मारे मारे फिरते हैं, उनका सम्पूर्ण प्रयत्न सारे संसारके सामने केवल हास्यास्पद होता है और परिणाम तो अन्तमें अत्यन्त कडुवा ८१ (दुखदायी) होता ही है। तोभी सांसारिक समस्त कर्मोंमें बहुत कुछ कर्म ऐसे हैं जो शुभ-फल ही देते हैं, और अत्यधिक ऐसे भी हैं जो अशुभ ही फल देते हैं। इस संसारमें रहते हुए भी जीव विघ्नबाधा रहित ऐकान्तिक शुद्ध सुखको ही प्राप्त करें, ऐसा कैसे हो सकता है। सत्पात्रको दान देना, अन्तरंग, बहिरंग तप करना, मन, इन्द्रियादिका संयम, सात तत्त्वोंका ८२ सच्चा श्रद्धालु होना, द्रव्य और भाव शौचका पालन, इन्द्रिय वृत्तियोंका निग्रह, प्राणिमात्रकी दया, जीवमात्रसे मैत्री (मित्र समान हितैषिता) भाव, प्रतिशोध लेनेमें समर्थ होते हुए भी क्षमा, सत्यवादिता, समता, परिमित-परिग्रह या परिग्रहहीनता, आदि ऐसे कर्म हैं जिनका फल सुख ही होता है। जन्म-जन्मान्तरोंमें प्रमाद त्यागकर तपे गये तपके प्रभावसे, सत्पात्रोंको ८३ दिये गये दानके परिपाकसे, भावपूर्वक की गयी जिनेन्द्रदेवकी पूजनके प्रसादसे अथवा प्राणि-

पुण्यफल

भात्रपर किये गये दयाभावकी सतत भावनासे उत्पन्न सुफलका उदय होनेपर ही लोग इस
८४ जन्ममें सुखी होते हैं। इस समय नाना प्रकारको अद्‌भुत दार्शनिक चर्चाओंका बढ़ा बढ़ाकर कहनेसे क्या लाभ है? जो इस भव और परभवमें सुखके इच्छुक हैं उन्हें पापमयकर्म करनेके चावको छोड़ देना चाहिये। पाप भी प्राणियोंकी द्रव्य या भाव हिंसा करनेसे होता है और
८५ इस पापरूपी मूलसे ही दुखरूपी फलोंको जीव प्राप्त करते हैं। धर्म मार्गके सर्वथा अनुकूल इन वचनोंको सुनते ही समस्त स्त्री पुरुषोंको धर्मके आचरण तथा उसके शुभ फलपर तुरन्त अडिग श्रद्धा हो गयी थी, क्योंकि जन्मान्तरोंमें किये गये शुभकर्मोंके सुफलोंके भोक्ता कुमार वराङ्ग तथा उसकी पत्नी राजकुमारियां उनके चर्मचक्षुओंके सामने थे। इसके अतिरिक्त यह वचन इतने सरल थे कि अति सरलतासे सबकी समझमें आ गये थे, और कुशंका करनेवालोंको
८६ निरुत्तर कर देते थे।

जिस शुभ मुहूर्तमें समस्त मंगलकारी नक्षत्रोंका उदय था, सबके सब गृह अपने अपने अतिउच्च स्थानपर थे तथा चन्द्रमा भी अत्यनुकूल उन्नत स्थानपर था, उसी शुक्लपक्षके परम श्रेय-
८७ स्कर मुहूर्तमें महाराज धर्मसेनने दशों बहुओंका पाणिग्रहण संस्कार कराया था। लोका-

विवाह मंगल

चार और गृहस्थाश्रमकी मर्यादाओं तथा विधियोंको अक्षुण्ण बनाये रखनेकी इच्छासे ही महाराज धर्मसेनने अपनी पट्टरानी तथा पुत्रको साथ लेकर अभ्यागत राजा, महाराजाओंका
८८ परिपूर्ण स्वागत किया था तथा प्रचुर भेंट दी थी और अन्तमें विधिपूर्वक बिदायी की थी। पृथ्वी पर इन्द्रके समान प्रतापी तथा विभवशाली वे राजा लोग भी, सुयोग्यवररूपी महाकल्याण तथा अन्य विपुल विभूतियोंकी प्राप्तिसे परम शोभायमान अपनी राजदुलारियों तथा उसी समय विशाल राज्य सम्पत्तिको प्राप्त करनेवाले श्रेष्ठ दामादसे भेंट करके अपने अपने देशोंको लौट
८९ गये थे। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके सम्बन्ध और अनुपातके विशेषज्ञ तथा लोकाचारके पंडित युवराज वरांगको जब यह समाचार मिला कि महेन्द्रके समान विभव और प्रतापके स्वामी उसके ससुर लोग अपने देशोंको लौट रहे हैं तो वह उन्हें बहुत दूरतक भेजने गया। उन्हें भेजकर लौटनेके बाद ही उसने समस्त गार्हस्थिक भोग, उपभोगोंका यथेच्छ सेवन किया था।

९० राजकुमारकी नवोढा सबही पत्नियां परम प्यारी थी, सबही लोकोत्तर सुन्दरियां थीं, उन सबके नेत्र पूर्ण विकसित नीले कमलोंके समान सुन्दर और मदपूर्ण थे, मुख पूर्ण चन्द्रके समान मोहक और उत्तेजक थे और स्तनादि भोग्य अंग पूर्ण विकसित थे। फलतः वह उनके
९१ साथ चिरकाल रतिकेलिमें लीन रहा था। धरिणाके इन्द्र महाराज धर्मसेनके पुत्र वरांगका सारा समय अपनी प्रेयसियोंके साथ प्रेमालाप, हास्य-प्रहसन, हाव भाव, आदि प्रेम लीलाएं करते करते ही बीत जाता था, क्योंकि वे सब ही पतिको प्यारी थीं और पति-

पति-पत्नी अनुराग

पर प्रगाढ़ प्रेम करती थीं, और प्रेम लीलाओंकी शृंखलाको चालू रखनेमें
९२ बड़ी कुशल थी। उन सबही बहुओंका वेशभूषा उज्ज्वल और उद्दीपक था, वे दिन रात पति और उसके साथ हुई प्रेमलीलाके विचारोंमें ही मस्त रहती थी, उनका रूप, ओज और कान्ति
९३ हृदयमें स्थायी स्थान कर लेते थे वे सबकी सब समस्त इन्द्रियोंसे रति करनेमें दक्ष थीं, सबकी सब सत्यभाषिणी, सरल प्रकृति, शान्त स्वभाव और दयाशीला थीं, चाटुकारिता छल कपट, असत्य वचन, लाभ, आदि दुर्गुणोंसे कोसों दूर थीं, पारस्परिक ईर्ष्या, रूपादिका अहंकार,

पक्षपात, आदि दोष उनके निकट भी न फटकते थे, फलतः उन्होंने युवराजके मनको पूर्णरूपसे चुरा लिया था। देवताओंके अधिपति इन्द्र जाज्वल्यमान महामणियोंकी ज्योतिसे प्रकाशमान पर्वतराज सुमेरुपर जिस प्रकार आकाशचारिणी अद्भुत रूपवती अप्सराओंके साथ रमण करते हैं उसी प्रकार पृथ्वीके इन्द्र महाराज धर्मसेनके सुपुत्र कुमार वरांग अपनी प्राण प्यारियोंके साथ महामूल्यवान मणियों आदिसे परिपूर्ण उत्तम उद्यानों और केलिवनोंमें मनचाहा रति विहार करते थे। १४

इस प्रकार पुण्यकी साक्षात् मूर्ति समान राजपुत्रके कल्याणकारी शुभ विवाहका यह वर्णन ऊपर अति संक्षेपसे किया है, कारण; कोई बुद्धिहीन व्यक्ति महापुण्यके सुफलको, हजारों वर्ष कहकर भी क्या निःशेष स्तुति कर सकता है? १५

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथामें विवाहवर्णन नामक
द्वितीय सर्ग समाप्त।
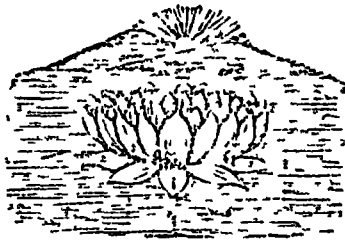
तृतीय सर्ग

१ इस युगमें बाइसवीं बार श्रीअरिष्टनेमि प्रभुने सद्धर्म तीर्थका प्रवर्तन किया था। संसारके सम्पूर्ण धर्मोंके मुकुटमणि समान जिन धर्मरूपी महातरुके लिए वे नेमिनाथ भगवान भूमिके समान थे, उन्होंने अनादिकालसे बंधे आठों कर्मोंके जटिल बन्धनोंको समूल नष्ट कर दिया था इसीलिये लोकोत्तर एक हजार आठ नामों (सहस्र-

श्रीवरदत्तकेवली

२ नाम स्तवन) द्वारा गणधर, इन्द्रादि महापुरुषोंने उनके यशकी स्तुति की थी। श्रीनेमिप्रभुके सर्वप्रधान शिष्य वरदत्त महाराजने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और प्रशस्त तप (सम्यक् चारित्र) की दुर्धर-सफल साधनाके प्रभाव द्वारा अनादिकालसे बंधे अत्यन्त प्राचीन चारों घातिया (ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय और अन्तराय) कर्मोंकी पाशको छिन्न भिन्न

३ करके अनुपम केवल (पूर्ण, अनन्त) ज्ञानको प्राप्त किया था। वही वरदत्तकेवली संसारके कल्याणकी भावनासे जिनधर्मरूपी अमृतकी मूसलाधार वृष्टि (उपदेश) करते हुए अनेक महात्मा मुनियोंके साथ नाना देशोंमें विहार कर रहे थे। उनके संघके सब ही मुनिराजोंका सर्वांग सुन्दर चारित्र अतिक्रम आदि दोषोंसे रहित था, तपस्या अत्यन्त दुद्धर और शास्त्रानुकूल

४ थी, तथा वे सब ही नाना ऋद्धियोंके स्वामी थे। भव्यजीवोंरूपी कमलोंके अन्तरंग और वहिरंग विकासके लिये प्रातःकालके सूर्यके समान मुनिराज वरदत्तकेवली अपने संघके साथ अनेक नगरों, खनिकोंकी बस्तियों (आकर) ग्रामों, अडम्बों और खेड़ोंमें विहार करते हुए जिनधर्म और उसके परम प्रभावका उपदेश देनेके लिए ही क्रमशः उत्तमपुरमें जा पहुंचे थे।

५ महाराज धर्मसेनकी राजधानीमें सर्वसाधारणके विहारके लिए खुला हुआ 'मनोहर' नामका विशाल उद्यान था। उसके कुंज, लतामण्डप, दूर्वाप्रदेश, वीथि, आदि सब ही स्थान लोगोंके लिए अत्यन्त सुखद थे, फलतः वह दर्शकोंके मनको अपनी ओर आकृष्ट करता था तथा पुष्पोंके परागका संचय करनेमें लीन भौंरोंके शब्दसे

मनोहर उद्यान

६ वह उद्यान सदा गूंजता ही रहता था। इस उद्यानके अत्यन्त रमणीय भागमें एक परम सुन्दर तथा कीड़ा मकोड़ोंसे रहित पूर्ण स्वच्छ विशाल शिला पड़ी थी। इसी शिलापर मुनिराज वरदत्त-केवली उन सब महामुनियोंके साथ विराजे थे; जिन्होंने अपने उद्धत मन और इन्द्रियरूपी अश्वोंको पूर्णरूपसे आज्ञाकारी बना लिया था और जिनकी प्रत्येक चेष्टा दयाभावसे ओत-प्रोत थी।

७ कोई, कोई साधु अलग, अलग बैठकर आत्मचिन्तवन कर रहे थे, दूसरे कितने साधु इकट्ठे बैठकर शास्त्र चर्चा कर रहे थे, अन्य लोग पूर्ण ध्यानमें लीन थे, कुछ मुनियोंके मुखसे शास्त्र पाठकी धीर, गम्भीर और मधुरध्वनि निकल रही थी तथा शेष परम योगी मौन धारण

८ किये थे। निरतिचार पूर्ण चारित्रको कान्ति और ओजसे जाज्वल्यमान तपके धनी उन सब ऋद्धिधारी मुनियोंके बीचमें विराजमान श्रीवरदत्तकेवली ऐसे शोभित हो रहे थे, जैसा कि पूर्णिमाका चन्द्रमा समस्त ग्रहों, नक्षत्रों और तारिकाओंके बीचमे होता है।

९ उग्र तपश्चरणसे उत्पन्न उद्योतसे कान्तिमान परम पुण्यात्मा मुनियोंके दर्शन करते ही 'मनोहर' उद्यानके मालीका चित्त आनन्दसे गद्‌गद हो उठा था फलतः उसने विना विलम्ब

किये ही शीघ्रतासे राजप्रासादमें पहुंचकर पृथ्वीपर इन्द्रके समान प्रतापी महाराज धर्मसेनको मुनिसंघके आगमनकी सूचना (निम्न प्रकारसे) दी थी। हे महाराज ? नगर या वनमें रहते हुए, भवन या राजसभामें विराजे हुए, चलते फिरते हुये, स्वयं सोते या जाग्रत अवस्थामें दिनको या रात्रिमें, प्रातःकाल या सन्ध्या समय जिन मुनिवरोंका आप मन ही मन चिन्तन किया करते हैं; उन्हीं साधु परिमेष्ठीके समस्त गुणोंसे विभूषित, परम शान्त स्वभाव युक्त तथा अपने ज्ञानसे तीनों लोकोंके चराचर पदार्थोंके ज्ञाता, महामुनियोंके संघको मैंने 'मनोहर' उद्यानके स्वच्छ सुन्दर विशाल शिलापर आनन्द और निश्चिन्तताके साथ विराजमान देखा है। १० ११

माली द्वारा संदेश

अपने प्रचण्ड शत्रुओंके भी मस्तकोंको झुका देनेवाले तथा परम प्रभुताशाली महाराज धर्मसेन उद्यानपालके वचनोंको सुनते ही सिंहासनसे नीचे उतर आये थे और जिस दिशामें मुनिसंघ विराजमान था उधर ही सात पग आगे जाकर उन्होंने भूमिपर मस्तक झुकाकर भक्तिभाव पूर्वक प्रणाम किया था। आनन्दिनी नामकी महाभेरी जिससे प्रचण्ड बादलोंकी घनघोर गर्जनाके समान दूरतक सुनायी देनेवाला शब्द निकलता था और जो केवल मांगलिक धर्मकृत्योंकी सूचना देनेके लिए ही बजायी जाती थी। वही महाभेरी महाराज धर्मसेनकी आज्ञासे सर्वसाधारणको मुनिसंघके आगमनकी सूचना देनेके लिए जोर जोरसे पीटी गयी थी। आमात्य, परामर्शदाता, सेनापति, धर्ममहामात्य, शिल्पियों आदिकी श्रेणियोंके मुखिया, तथा गणोंके अध्यक्ष मेघोंकी महा गर्जनातुल्य आनन्दिनी भेरीके तीव्र और गम्भीर शब्दको सुनते ही विना विलम्ब राजभवनमें आकर इकट्ठे हो गये थे। १२ १३ १४

धर्म-यात्राकी सूचना

मुनिदर्शनकी कल्पनासे महाराज इतने प्रसन्न थे कि उन्हें बार बार रोमाञ्च हो आता था, नेत्रों और मुखके भाव उनकी आन्तरिक तुष्टिको व्यक्त करते थे, इसलिए निर्धन और अभावग्रस्त याचकोंको दान देनेके बाद वह पूरे ठाट-बाट तथा साज-सज्जाके साथ अपने अन्तःपुरको साथ लेकर मुनियोंकी बन्दना करने गये थे। अनेक देश देशान्तरोंके रहनेवाले फलतः नाना प्रकार के वेश भूषाको धारण किये हुए तथा पृथक् पृथक् भाषाओंमें बोलते हुए सब ही नागरिक महाराजके साथ ही मुनिसंघके दर्शन करनेके लिए निकल पड़े थे। वे सब रास्ता चलते चलते मनमें उठनेवाले नाना प्रकारके विषयोंको भी सोचते जाते थे। १५ १६

धर्मयात्रा

मुनि-बन्दनाको निकले नागरिकोंमें कुछ ऐसे थे जो राजाकी सूचना सुनकर चले थे, दूसरे ऐसे थे जो अन्य लोगोंको जाते देखकर उनके पीछे पीछे चल दिये थे तथा अन्य लोग अपनी उदार शोभा और सम्पत्तिके साथ निकले थे मानो उनकी यात्राका चरम लक्ष्य अपनी सम्पत्ति और सजावटका प्रदर्शन ही था। कुछ लोगोंके गमनका कारण राजभक्ति थी, बहुतसे लोगोंकी धर्मयात्राका प्रधान प्रेरक वीतराग मुनियोंकी शुद्धभक्ति थी, दूसरे अधिकांश जनोंको अपने गुरुजनोंका ख्याल करके ही उस यात्राके लिए उठना पड़ा था, तथा अन्य लोग इस लोक और परलोकके साधक श्रेष्ठ जिन धर्मकी श्रद्धाके कारण ही मनोहर उद्यानकी तरफ दौड़े जा रहे थे। १७ १८

यात्राका उद्देश्य तथा यात्री

उन यात्रियोंमें काफी लोगोंको सत्पात्रोंको आहारादि दान देनेकी उत्कट अभिलाषा थी, कुछ लोग यही चाहते थे कि इन्द्रिय विजेता मुनियोंके चरणोंमें जाकर धोक दें, दूसरे लोग १९

जिन धर्मके मर्मको गुरुओंके श्रीमुखसे सुननेके लिए व्याकुल थे, अन्य लोगोंकी यही कामना
२० थी कि मुनिदर्शनके पुण्यका संचय करके स्वर्गमें सुरांगनाओंके साथ रमण करें, ऐसे भी लोग थे जो मोहनीय कर्मकी क्रोधादि मय सेनाकी प्रगतिको सर्वथा रोक देना चाहते थे, दूसरे इनसे भी एक कदम आगे थे वे कर्मोंके राजा मोहनीयको मारकर फेंक देना चाहते थे, अन्य लोगोंकी यही अभिलाषा थी कि कषाय, नोकषाय रूपी मल्लोंसे जमके लोहा लिया जाय, कतिपय
२१ लोगोंको केवल इतनी ही तृष्णा थी कि एकबार कामदेवके अहंकारको चूर-चूर कर दें, ऐसे पुरुष सिंह भी थे जो आठों कर्मोंकी पाशको खोलकर फेंक देना चाहते थे, दूसरे श्रावक अज्ञान रूपी महा समुद्रको पार करनेके इच्छुक थे, मुनियोंके विशाल चारित्र और निर्दोष गुणोंकी स्तुति करनेके लिए ही अनेक लोग आतुर थे।

२२ अन्य लोग अपने संशयापन्न विषयोंका स्पष्ट समाधान पानेके लिए ही उत्सुक थे, ऐसे भी लोग थे जो पापकर्मों रूपी धूलको साफ करनेकी हार्दिक इच्छा करते थे, अन्य लोगोंको पुण्यरूपी जल राशिके प्रचुर संचय करनेकी लालसा थी, कुछ लोगोंकी यही कामना थी कि महाराजसे दीक्षा लेकर घोर तप करें, दूसरे लोग यही भावना भाते थे कि उनका आचरण
२३ पूर्ण रूपसे आगमके अनुकूल हो। कतिपय मुनि दर्शनार्थी संसारिक दुखरूपी रोगोंका प्रतीकार करनेके लिए ही व्यग्र थे, अन्य मुनिभक्त लौकिक दुखोंके बीजको ही मसल देना चाहते थे, ऐसे भी यात्री थे; जिन्हें संसारके दुखोंरूपी दावानलको बुझा देना ही अभीष्ट था, अधिकाश गुरुभक्तोंको जीवादि षड्द्रव्य, उनके गुण तथा स्वभावकी वास्तविक जिज्ञासा ही प्रबल थी,
२४ कुछ लोग पुण्य और यशका संचय करना चाहते थे, दूसरे पुण्यरूपी बीजको बोनेकी अभिलाषा करते थे अन्य लोगोंको यही लालसा थी कि पवित्र जिनधर्मरूपी तीर्थमें खूब गोते लगावें, अन्य लोग अलौकिक (मोक्ष) सुखकी प्राप्तिकी कामना करते थे।

२५ उन नागरिकोंमें ऐसे सज्जनोंकी भी पर्याप्त संख्या थी जो गृहस्थ-धर्मको विधिपूर्वक धारण करना चाहते थे दूसरे ऐसे भी थे जो श्रावकाचारको छोड़कर महाव्रतोंको लेना चाहते थे। जहां कुछ लोग संसारके मिथ्या धर्मोंको सर्वथा त्यागनेके इच्छुक थे, वहीं अन्य लोग
२६ मुनिदीक्षा ग्रहण करनेके लिए कटिबद्ध थे। मुनि वन्दनाको निकले जनसमूह में ऐसे लोगोंकी भी कमी न थी जो स्वयं जीवादि तत्त्वों और नौ पदार्थोंके विशेषज्ञ होते हुए भी सिर्फ इसीलिए जा रहे थे कि गुरुचरणोंमें बैठकर वे व्रतोंके अतिचारोंके रहस्योंको अच्छी तरह समझ सकें और पूर्व गृहीत व्रतोंको निर्दोष रूपसे बढ़ा सकें, इतना ही नहीं, बल्कि इस प्रकारके आचरणसे
२७ अपने आपको महाव्रतोंका पात्र बना सकें। अनेक ऐसे भव्यजीव थे जिनका पुरातन कर्मबन्ध शुभाचरण द्वारा यों ही काफी कम हो गया था, वे संसार और शरीरकी निस्सारता, विकारों और दोषोंको भलीभांति जानते थे फलतः उनका मन वैराग्यसे ओत-प्रोत हो रहा था इसीलिए वे मुनिदीक्षा ग्रहण करनेका पक्का निश्चय करके ही घरसे निकले थे।

२८ मदजलके सतत प्रवाहसे गीले गण्डस्थल युक्त मस्त हाथियोंकी बीच, बीचमें होनेवाली चिंघाड़ें, जोरसे दौड़े जानेवाले रथोंकी धुराकी चेंचाहट, चपल घोड़ोंकी अत्यधिक हिनहिनाहट, आपसमें गपशप करनेमें लीन पैदल सैनिकोंके शोरगुल, जोर जोरसे पीटे

२९ यात्रावर्णन

गये अनेक तरहके पटह, आदि बाजों, जोरसे फूके गये शंखोंकी ध्वनि, तथा आगे आगे चलकर महाराजका विरुद उच्चारण कानमें मस्त भाटोंके शोर आदिकी ध्वनियोंके

मिल जानेसे वर्षाकालीन मेघोंके समान दारुण गर्जना करती हुई चली जानेवाली राजाकी सेनाकी शोभा अद्भुत ही थी।

महामूल्यवान विविध प्रकारके रत्नोंसे जड़े हुए जगमगाते हुए उत्तम मुकुट आदि पहिनकर अलग अलग हाथी, घोड़ा आदि सवारियोंपर आसीन हुए युवराज वरांग, आदि सब ही श्रेष्ठ राजकुमार महाराजकी सवारीके आगे आगे मुनिसंघकी बन्दनाको चले जा रहे थे। विशालबाहु महाराज धर्मसेन स्वयं भी मदोन्मत हाथीके ऊपर विराजमान थे। उनके ऊपर चन्द्रिकाके समान धवल छाता लगा था और (आठके आधे अर्थात्) चार बढ़िया चमर उनके ऊपर ढुर रहे थे। इस ठाटके साथ मुनिवन्दनाको निकले महाराज दूसरे इन्द्रके समान मालूम देते थे। श्रीवरदत्तकेवलीकी चरण चर्चाके लिए उक्त रूपसे जाते हुए महाराजाधिराज धर्मसेनको देखकर आपातत: उस यात्राका स्मरण हो आता था जो प्रथम चक्रवर्ती भरतने इस युगमें सर्व प्रथम धर्मके उपदेशक भगवान हिरण्यगर्भ (जिनके गर्भमें आते ही सोनेकी वृष्टि होने लगी थी) पुरुदेवके समवशरणकी वन्दनाके लिए की थी। ३० ३१ ३२

यात्री राजवंश

विपुल वैभवके स्वामी महाराज धर्मसेन जब चलकर मुनिसंघके निकट पहुंचे तो विशाल शिलापर विराजमान तपोधनोंको वहींसे देखकर तुरन्त ही अपने मदोन्मत्त हाथीपरसे नीचे उतर आये और आनन्द विभोर हो गये थे। तथा छत्र, चमर, आदि सब ही राजचिह्नोंको वहीं छोड़कर पैदल ही मुनिवन्दनाको गये थे। ३३

गुरु विनय

जिस प्रकार ग्रह, नक्षत्र और प्रकोर्णक ज्योतिषी देवोंके साथ चन्द्रमा पर्वतोंके राजा सुमेरुकी परिक्रमा करता है उसी प्रकार पृथ्वीके इन्द्र महाराज धर्मसेनने अपनी पत्नियों, पुत्रों, पुत्र-वधुओं, मित्रों और कुटुम्बियोंके साथ मुनियोंके भी मुकुटमणि महर्षि वरदत्तकेवलीकी प्रदक्षिणा करके चरणोंमें धोक दी थी। ऋषिराज वरदत्तकेवलीके चरणोंमें साष्टाङ्ग प्रणाम करते हुए महाराज धर्मसेन अपने जगमगाते हुए मुकुट, घुटनोंतक लटकते लम्बे मणि मुक्ताओंके हार तथा भुजाओंमें नीचे ऊपर सरकते हुए विचित्र रत्नोंसे निर्मित अंगदकी कान्तिके कारण वैसे शोभित हो रहे थे जैसा कि उदयाचलपर उदित होता सूर्य लगता है। राजाने अपने नाम, गोत्र और व्रतादिका निवेदन करके अनेक मन्त्रों तथा विविध स्तोत्रों द्वारा केवली महाराजकी विनती की थी तथा 'संघका ज्ञान, चरित तथा नियम निरन्तराय बढ़ रहे हैं?' कहकर समस्त ऋषियोंकी कुशल क्षेम पूछी थी। इसके उपरान्त मन, वचन और कायसे शुद्ध राजाने संघके शेष समस्त चरित्र चक्रवर्ती ऋषियोंकी क्रमश: भक्ति भावसहित बन्दना करके लौटकर अत्यन्त विनयके साथ श्रीकेवली महाराजके चरणोंमें शान्ति और प्रसन्नता पूर्वक बैठ गये थे तथा निम्न प्रकारसे तत्त्वार्थकी जिज्ञासा की थी। ३४ ३५ ३६ ३७

मुनिवन्दना

हे मोहजेता ऋषिवर? अहिंसा महाव्रतका सांग पालन करके अपने संसारके प्राणिमात्रको अभयदान दिया है, अतीन्द्रिय बल और ज्ञानके स्वामी होनेके कारण आप ही संसारकी शरण हैं और आपके आश्रयसे ही तो उसका उद्धार हो सकता है। पूर्ण ज्ञानके भण्डार होनेके कारण आप ही सत्य और हितकारी उपदेश दे सकते हैं अतएव महाराज! मुझे धर्मरूपी अमृतका पान कराइये। हे महाराज! देश, काल, पर्याय आदि बन्धनहीन परमपवित्र केवलज्ञान ही आपकी आंखें हैं। आप समस्त द्रव्य ३८ ३९

गुरुस्तुति तथा धर्म प्रश्न

और पर्यायोंको साक्षात् जानते हैं, आप क्षायिक, आदि समस्त गुणोंके भंडार हैं, सब ही स्वर्गोंके इन्द्रों के लिए भी आप परमपूज्य हैं, पाप तो आपसे दूर दूर ही भागता फिरता है। इसलिए हे गुरुवर मुझे जीवादि नौ पदार्थोंको समझाइये।

४० हे प्रभो! कुछ जीव किन कारणोंसे नरकों में उन भयंकर दुखोंको भरते हैं; जिनकी तुलना मध्यलोकके दारुणसे दारुण दुखसे भी नहीं की जा सकती है। वे कौनसे कर्म हैं जिनके फलस्वरूप तिर्यञ्च योनिमें वध, बन्धादि विविध वेदनाएं सहनी पड़ती हैं? वे कौन सी क्रियाएं हैं जो जीवको मनुष्य गतिमें ले जाती हैं? अणिमा, महिमा आदि आठ गुणोंसे युक्त—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी—चारों प्रकारकी देवगतिके निरन्तराय सुखोंका स्वामी यह जीव क्यों होता है? तथा वह कौनसी साधना है जो इस आत्माको समस्त कर्मोंके नाशसे होनेवाले उस चरम मोक्षसुखको दिलाती है जहांसे फिर कभी लौटना नहीं होता है।

गतिकारण जिज्ञासा

४१

४२ हे आठों कर्मोंके काल? बताइये कौनसे कर्मोंके फलस्वरूप सुखप्राप्ति होती है? वे कर्म कौनसे हैं जिनके परिपाक होनेपर दुख भरने पड़ते हैं? तथा वे कौनसी कर्मप्रकृतियां हैं जिनका विपाक मिले हुए सुख और दुख दोनोंमय होता है? हे केवली! मेरे संशयको नष्ट करिये। मनुष्योंके अधिपति श्रीधर्मसेनके द्वारा उक्त प्रकारसे पूछे जाने पर, संसार दुखोंसे तप्त प्राणियोंको कल्याणमार्गका उपदेश देनेके इच्छुक ऋषियोंके राजा श्रीवरदत्तकेवलीने श्रोताओंपर अनुग्रह करनेके लिए ही निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था।

कर्मफल जिज्ञासा

४३

४४ हे नरेन्द्र! प्रश्नकलामें पारंगत आपने उपयुक्त विनय तथा शिष्टाचारपूर्वक जो नरकादि चारों गतियों, वहां होनेवाले सुखों दुखोंके मूल कारणभूत कर्मोंके तथा समस्त पदार्थोंके रहस्यको अलग अलग पूछा है वह सब मैं आपके ज्ञानके लिए कहता हूं, आप अपने चित्तको एकाग्र करके सुनिये।

४५ जो भव्यजीव समीचीन जैनधर्म—शास्त्ररूपी धाराके जलको मत्सर आदि दोषहीन सद्बुद्धिरूपी पात्रमें आदरपूर्वक भर लेते हैं और परम श्रद्धाके साथ भलीभांति पीते हैं (अर्थात् समझते हैं) वे जन्म मरणरूप संसार महार्णवको सरलतासे पार करके बहुत दूर (सर्वार्थसिद्धि, मुक्ति) निकल जाते हैं। धर्मशास्त्रके श्रवण और मननसे पापका समूल नाश होता है, धर्मके तत्त्वोंको सुनने और सुनानेसे ही पुण्य दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता है, और तो क्या स्वर्ग और मोक्षके सर्वदा स्थायी, अनुपम और अपरिमित सुख और सम्पत्तियां भी केवल धर्मचर्चाके अनुशीलनसे ही प्राप्त होते हैं; इनका कोई दूसरा कारण नहीं है। अतएव जो प्राणी अपने उद्धारके लिये व्याकुल हैं उन सबको धार्मिक चर्चाओंके श्रवण और मननकी ओर अपनी रुचिको प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिये, क्योंकि धर्मके तत्त्वोंका सतत अनुशीलन करके ही ये प्राणी जन्म, रोग, जरामरण, आदि समस्त सांसारिक उत्पातोंको जीतकर तीनों लोकोंके वन्दनीय होते हैं।

४६

शास्त्र-ज्ञान महिमा

४७

४८ इस संसारमें उपलब्ध शास्त्र भी तीन प्रकारके होते हैं—कुछ शास्त्र ऐसे हैं जिनका श्रवण और मनन धार्मिक प्रवृत्तिको बढ़ाता है, दूसरे कुछ शास्त्रोंपर आस्था करनेसे आत्माकी पाप प्रवृत्तियोंको ही प्रोत्साहन मिलता है और अन्य कुछ शास्त्रोंके पठन पाठनसे मनुष्यको

पाप-पुण्यमय मिश्र चेष्टाएं करनेका चाव होता है। फलतः क्रमशः इनके फल भी सुख, दुख और सुख दुख होते हैं। संक्षेपमें यों समझिये कि धर्मानुबन्धी शास्त्रोंके श्रवण और पठनसे शुद्ध सुखकी ही प्राप्ति होती है, पापानुबन्धी शास्त्रोंके पठन पाठनका फल केवल दुखसंगम ही होता है और मिश्रानुबन्धी शास्त्रोंके अभ्यास करनेसे मनुष्य मिले हुए सुख और दुख दोनोंको भरता है। थोड़ेमें शास्त्रोंका यही वर्गीकरण है। ४९

शास्त्र-स्वरूप

जहांतक रंगका सम्बन्ध है संसारके सबही दूध एक श्वेत रंगके ही होते हैं लेकिन उनकी रासायनिक शक्तियोंका विचार करनेपर प्रत्येकमें अलग अलग अनेक गुण पाये जाते हैं। कारण, कुछ ऐसे दूध हैं जिन्हें पीते ही जीव और पुद्गलका संबंध तुरन्त टूट जाता है और दूसरे ऐसे हैं जिनके उपयोगसे मृततुल्य शरीर भी लहलहा उठते हैं। संसारमें प्रचलित नाना प्रकारके अनेक धर्मोंकी भी यही अवस्था है; नामके लिए सबही धर्म हैं, पर उनके तत्त्व, आचरण, ज्ञान, आदि गुणोंमें बड़ा अन्तर है। जब कि कुछ धर्मोंको अंगीकार करनेसे जीव अथाह दुखसागरमें डूब जाते हैं तब दूसरे धर्मोंका सहारा पाते ही प्राणी आनन्दके साथ सुखसागरमें गोते लगाता है। किन्हीं धार्मिक सिद्धान्तोंके आचरण जीवको नरकमें ढकेल देते हैं, दूसरी धार्मिक मान्यताएं प्राणियोंको तिर्यञ्च गतिकी वेदनाएं भरवाती हैं, अन्य धार्मिक तत्त्वोंका श्रद्धान और आचरण जीवोंको मनुष्य गतिमें आनेका अवसर देता है तथा शेष शुभ और शुद्ध उपयोगकी प्रेरणा देनेवाले धर्म इस जीवको क्रमशः स्वर्ग और अपवर्ग पदोंपर स्थापित करते हैं। ५० ५१ ५२

धर्म-दूधरूपक

यदि केवल नीमका रस ही लिया जाये तो वह अत्यन्त कडुवा होता है इसी प्रकार केवल शुद्ध ईख रस देखा जाये तो वह परम मधुर होता है। लेकिन यदि यह दोनों मिलाये जांय, तो जो रस परिमाणमें अधिक लिया जायेगा वही अधिकताके कारण अपने रसका स्वाद देगा। इसी प्रकार यदि जीवका पाप अधिक है तो उसे दारुणसे दारुण दुख भोगने पड़ेंगे, और यदि उसके कर्मोंमें अधिकांश पुण्यानुबन्धी कर्म रहे हैं तो उसे सुखोंका स्वाद मिलेगा। यदि पाप-पुण्य बराबर हैं तो उनके परिपाक दुख-सुखकी मात्रा भी समान रहेगी। फलतः नीम और ईखके रसोंके दृष्टान्तसे यह कथन स्पष्ट हो जाता है। ५३ ५४

पाप-पुण्यफल

अज्ञानके वशीभूत होकर जो प्राणी कर्तव्य और अकर्तव्यका भेद भूल जाते हैं और धर्मके नामसे खूब दुराचार करते हैं, वे यहींपर अनेक कष्ट भरते हैं, और पथभ्रष्ट होकर सांसारिक कष्टोंकी ज्वालाओंमें झुलसते हुए अन्तमें घोरातिघोर दुखोंके कुण्ड रौरव नरकमें जा गिरते हैं। ५५

समस्त प्रकारके भयोंके भण्डार इस संसारमें अज्ञानसे बड़ा कोई दूसरा भय नहीं है। अज्ञानसे बढ़कर अभेद्य कोई दूसरा अन्धकार (सन्मार्गके दर्शनका विरोधी) इस पृथ्वीपर नहीं है। जीवके सब ही शत्रुओंका यह अज्ञान महाराजा है फलतः सम्पत्ति, प्रियजन और जीवन अपहरण करनेवाले शत्रु भी इसके सामने कुछ भी नहीं हैं। कोई भी कारण हजारों प्रयत्न करके भी अज्ञानसे अधिक दुख नहीं दे सकता है। ५६

अज्ञान शत्रु

महावतके अंकुशका संकेत न माननेवाला उद्दण्ड, मदोन्मत्त हाथी जिस प्रकार प्राणके ग्राहक शत्रुओंकी सेनामें घुसकर सहसा ही अपने ऊपर बैठे योद्धाके साथ व्यर्थ प्राण गंवाता है उसी प्रकार ज्ञानरूपी अंकुशसे हीन चित्तवाला जीव व्यर्थ ही जन्म मरणके दुख भरता है। ५७

५८ किन्तु जो हाथी हस्तिपकके संकेतको शीघ्र ही समझता है और उसके ही अनुसार चलता है वह श्रेष्ठ हाथी शत्रुसेनाको घेर घेरकर जैसे पैरोंसे रौंदता है वैसे ही ज्ञानपूर्वक आचरण करनेवाला जीव मोहनीयकर्मरूपी भयंकर शत्रुकी उग्रसेनाको भी देखते देखते सर्वथा पराजित कर देता है।

ज्ञानांकुश का उदाहरण

५९ जंगलमें लगी सर्वतोमुखी दावाग्निसे बचकर निकल भागनेका प्रयत्न करता हुआ अंधा पुरुष जिस प्रकार घूम फिरके फिर उसीमें जा पड़ता है, आंखोंपर अज्ञानरूपी कालिमाका मोटा परदा पड़ जानेपर यह जीव भी उसी प्रकार दुख ज्वालाओंमें जा पड़ता है और भस्मसात् हो जाता है। सूझता लंगड़ा आदमी भी अनेक उपयुक्त उपायोंके सहारेसे धीरे-धीरे दावाग्निसे बाहर निकलकर जिस प्रकार अपने स्थानपर पहुंच जाता है, उसी प्रकार ज्ञानीपुरुष अपने ज्ञानरूपी नेत्रोंसे सुपथको पहिचान लेता है और आगमके अनुरूप तप करके सरलतासे परम निर्वाणको प्राप्त कर लेता है।

अंधपंगु का निदर्शन

६०

६१ संसारमें अत्यन्त प्रचलित इन सब दृष्टान्तोंको अपनी बुद्धिरूपी आंखसे भलीभांति परखकर सत्य श्रद्धासे युक्त सम्यक्ज्ञानी पुरुषार्थी जीव (भरत चक्रवर्तीके समान) दुर्द्धर तप तपे विना ही साधारण तपस्या द्वारा ही अपने चरमलक्ष्य क्षायिक सुखोंके सागर मोक्षको प्राप्त कर लेता है।

विवेक माहात्म्य

६२ संसारमें जिन प्राणियोंका पुण्य क्षीण हो जाता है उनपर कुमतिका एकाधिकार हो जाता है और उन्हें मिथ्यात्वका उपदेश ही रुचता है फलतः वे धर्माचरण और उत्तमभावोंके रहस्यको समझते ही नहीं हैं। परिणाम यह होता है कि वे सत्य तत्वज्ञान और अर्थरहस्यसे अनभिज्ञ ही रह जाते हैं और बार बार जन्ममरणके चक्रमें पड़कर अनन्तकालतक दुख भरते हैं। अतएव जिन पुरुषोंकी सद्बुद्धि नष्ट नहीं हुई है वे मनुष्य धर्मोंमें सर्वश्रेष्ठ उस सत्यधर्मका आश्रय लें जो तीनों लोकोंके सुखोंके सारभूत मोक्षसुखकी प्राप्ति कराता है और दुराचारपूर्ण उन लौकिक वाममार्गोंको छोड़ दें जिनमें सत्यका नाम भी नहीं है।

कुमति

६३

अब अनेक कर्मोंके भेद और प्रभेदोंको सावधानीसे सुनें।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
धर्मप्रश्न नामक तृतीय सर्ग समाप्त।
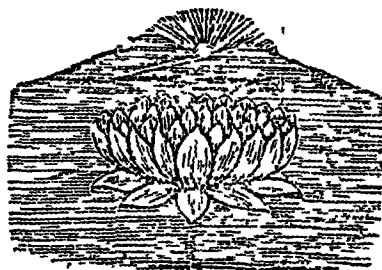
चतुर्थ सर्ग

देव, आदि चार गतियोंमें विभक्त इस संसारमें कृमिसे लेकर सर्वार्थसिद्धिके देव पर्यन्त सब ही प्राणी दुख-सुखके अनादि चक्रमें परिवर्तन कर रहे हैं। इन संसारी जीवोंके द्रव्य और भाव सब ही सुख-दुखोंके कारण उनके निजार्जित शुभ और अशुभ-कर्म ही हैं, ईश्वरकी इच्छा, माया या प्रकृति आदि नहीं हैं। सामान्य दृष्टिसे देखनेपर सांसारिक सुख-दुखोंका प्रधान कारण कर्म एक ही प्रकारका है, किन्तु परिपाककी अपेक्षासे भेद करनेपर उसीके आठ भेद हो जाते हैं। कर्म अपने बन्धके कारण मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगके भेदसे पंचविध तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश प्रकारोंकी अपेक्षासे चार प्रकारका भी कहा गया है। 1 2

जगत्स्रष्टा-कर्म

ज्ञानस्वरूप जीवके ज्ञानको रोकनेवाला ज्ञानावरणी प्रथम कर्म है, पदार्थोंके साक्षात्कार-का बाधक दर्शनावरणी दूसरा कर्म है, सुख दुखमें साता और असाताके अनुभवका द्योतक वेदनीय तीसरा कर्म है, जीवके स्वभावको अन्यथा करनेवाला मोहनीय चौथा कर्म है, देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गतियोंमें वासका कारण आयु कर्म पांचवा है, मनुष्य, पशु, पक्षी आदिके अलग अलग शरीरोंका निर्माता छठा कर्म नाम है, उच्च और नीच विभागोंका कारण सातवां कर्म गोत्र है और ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, भोग, आदिकी प्राप्तिका प्रधान बाधक अन्तिम (आठवां) कर्म अन्तराय है। इस प्रकारसे कर्म सामान्यके आठ प्रधान भेदों (मूल प्रकृतियों) के नाममात्र आपको बताये हैं। 3 4 5

अष्ट कर्म

इन्हीं मूल प्रकृतियोंको विस्तृत रूपसे देखनेपर प्रथम कर्म ज्ञानावरणीके पांच भेद होते हैं, दूसरे दर्शनावरणीके नौ भेद हैं तृतीयकर्म वेदनीयके दो ही भेद हैं, कर्मोंके मुखिया मोहनीय नामक चोथे कर्मके सम्यक्त्वमोहनीय और चारित्र मोहनीय दो प्रधान भेद हैं तथा इनके ही अवान्तर भेद अट्ठाइस होते हैं। योनि विशेषमें रोक रखनेवाले आयुकर्मके भी चार भेद हैं, नाना प्रकारके आकार और प्रकारोंके जनक षष्ठकर्म नामके प्रधानभेद बयालीस हैं, शक्तिकी अपेक्षा समान एक ही योनिके जीवोंको भी उच्च और नीच वर्गोंमें विभाजक गोत्रकर्म प्रधान रूपसे दो ही प्रकारका है और अन्तिम कर्म अन्तरायकी उत्तर प्रकृतियां पांच हैं। इस प्रकारसे संक्षेपमें आठों कर्मोंकी उत्तर प्रकृतियोंको गिना दिया है। 6 7

उत्तर-प्रकृति

पहिले दो कर्म अर्थात् ज्ञानावरणी और दर्शनावरणी तथा चौथा कर्म मोहनीय ये तीनों जीवको एकान्तरूपसे दुख ही देते हैं। तथा वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय इन पांचों कर्मोंका फल सदा ही सुख और दुखमय होता है। 8

विपाक भेद

ज्ञानावरणीकर्म अपनी अन्धकारमय प्रकृतिकी अपार सामर्थ्यके द्वारा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान (परोक्षप्रमाण), अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान (विकल प्रत्यक्ष प्रमाण) और केवलज्ञान (सकल प्रत्यक्ष) इन पांचों ज्ञानोंको ढककर जीवको अज्ञान अन्धकारमें डाल देता है। 9

ज्ञानावरणी

१० स्थूलरूपसे मतिज्ञान चार (अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा) प्रकारका ही है। इन चार प्रकारोंको ज्ञानके साधनोंसे मिलानेपर मतिज्ञानके अट्ठाइस भेद हो जाते हैं। अर्थात् पांचों इन्द्रियों और मनसे अर्थके पृथक्, पृथक् अवग्रह आदि (६ × ४ = २४) होनेसे चौबीस और चार प्रकारका व्यञ्जन अवग्रह, (कारण मन और चक्षुसे व्यञ्जनावग्रह नहीं होता) इस प्रकार (२४ में ४ जोड़नेपर) कुल २८ भेद होते हैं। उक्त अट्ठाइस भेदोंमें मूल चार भेद जोड़ देनेसे (२८ + ४ = ३२) यही ११ मतिज्ञान बत्तीस प्रकारका हो जाता है। स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध मतिके ही नाम हैं। मतिज्ञानावरणी कर्म इन स्मृति आदिको रोक देता है। अवग्रह मतिज्ञानावरणीकर्म पदार्थके साधारण ज्ञानको भी रोक देता है, अर्थकी विशेषताओंको जिज्ञासा मात्रका मूलोच्छेद करना ईहा मतिज्ञानावरणीका काम है, विषयके निर्णयात्मकज्ञानमें अवाय-मतिज्ञानावरणी ही बाधक होता है और धारणा मतिज्ञानावरणी कर्म उक्त प्रकारसे जाने हुए भी पदार्थज्ञानके दृढ़ संस्कारको नहीं होने देता है।

मतिज्ञानावरणी

१२ विशेषरूपसे देखनेपर श्रुतज्ञानावरणीके भी अधोलिखित बीस भेद होते हैं—पर्याय (निगोदिया जीवके जन्मके प्रथम समयमें रहनेवाला श्रुतज्ञान, जो कभी आवृत नहीं होता), पर्याय समास (पर्याय ज्ञानसे अक्षर ज्ञानतकके ज्ञानके भेद), अक्षर (पर्याय समास ज्ञानसे अनन्तगुना ज्ञान), अक्षर समास (पद ज्ञान तकके ज्ञानभेद), पद (अक्षरज्ञानसे संख्यातगुना), पदसमास (संघात तकके सब भेद), संघात (पदसे संख्यातगुना एक गतिका ज्ञान), संघातसमास, प्रतिपत्तिक (संघातसे संख्यात हजारगुना चारों गतियोंका ज्ञान), प्रतिपत्तिक समास, अनुयोग (प्रतिपत्तिसे संख्यात १३ हजारगुना चौदह मार्गणाओंका ज्ञान), अनुयोगसमास, प्राभृतप्राभृत (एक एक अक्षर करके चतुरादि अनुयोग वृद्धियुक्त अनुयोगज्ञान), प्राभृतप्राभृत समास, प्राभृत (चौबीस बार सविधि बढ़ा प्राभृत प्राभृत ज्ञान), प्राभृत समास, वस्तु (प्राभृत ज्ञानसे सविधि बीसगुना ज्ञान), वस्तुसमास, पूर्व (वस्तुसे क्रमशः दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दशगुने उत्पाद, आदि चौदह पूर्व) तथा पूर्वसमास।

श्रुतज्ञानावरणी

१४ प्रकट रूपमें श्रुतज्ञानावरणीका यही फल होता है कि उससे आक्रान्त जीव न तो शास्त्रको ही समझता है और न उसके प्रतिपाद्य अर्थको ही। तीसरी अवस्था भी होती है, जब प्राणी ग्रन्थ और विषयार्थ दोनोंको स्वयं जानकर भी जब दूसरोंको उपदेश देता है तो उनको भलीभांति नहीं समझा सकता है।

१५ साधारणतया अवधिज्ञान दो (भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय) प्रकारका होता है; साधना आदिसे उत्पन्न आत्मीक गुणके (क्षयोपशम) के कारण गुणप्रत्यय अवधि ज्ञान होता है तथा योनिविशेष (देव नारक) में जनम लेनेसे ही क्षयोपशम पूर्वक होनेवाला भवप्रत्यय अवधि ज्ञान है। इन दोनों प्रकारके ज्ञानोंको जो कर्म ढक देते हैं उन्हें क्रमशः भवप्रत्यय-अवधिज्ञानावरणी और क्षयोपशम प्रत्यय १६ अवधि ज्ञानावरणी कहते हैं। इस अवधि ज्ञानावरणी कर्मका नाश हो जानेपर ही संसारके जीवोंमें अवधिज्ञानका उदय होता है। उक्त दो प्रकारके अवधि ज्ञानोंमें भव प्रत्यय अवधिज्ञान १७ देवों और नारकियोंके ही कहा गया है। गुणप्रत्यय अर्थात् क्षयोपशमसे उत्पन्न होनेवाला

अवधि ज्ञानावरणी

अवधिज्ञान तिर्यञ्चों और मनुष्योंको होता है ऐसा आगम बतलाते हैं। किन्तु उत्कृष्ट देशावधिसे भी बड़ा परमावधिज्ञान मनुष्य गतिमें ही हो सकता है। मनुष्योंसे बचे नारकों और तिर्यञ्चोंकी तो बात ही क्या है देवोंके भी परमावधिज्ञान नहीं होता है। वास्तवमें कर्मोंका (सर्वघातीका क्षय और उपशम) क्षयोपशम ही अवधि ज्ञानका प्रधान कारण है और लेकिन जब, जब जीवके परिणाम क्रोधादि कुभावोंसे संक्लिष्ट होते हैं तब ही कर्मोंका क्षय उपशम दोनों विलीन हो जाते हैं फलतः अवधि ज्ञानका भी लोप हो जाता है। १८

जीवोंकी मानसिक वृत्ति एक तो अत्यन्त ऋजु अर्थात् सरल निर्वर्तित होती है और दूसरी अत्यन्त कुटिल या विपुल अनिवर्तित होती है। इन दोनों प्रकारकी मानसिक चेष्टाओंको जाननेमें समर्थ चेतना शक्तिको ढकनेवाला कारण ही चौथा ज्ञानावरणी (मनःपर्यय ज्ञानावरणी) है। ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानावरणी कर्मका यही फल होता है कि ज्ञाता योजन पृथक्त्व (दो, तीन योजनसे ७, ८ योजन तक) में बैठे हुए प्राणियोंके मनोंमें उठनेवाले संकल्प-विकल्पोंको भी जाननेमें समर्थ नहीं होता है। ढाई, (अर्थात् जम्बुद्वीप, धातकी खण्ड द्वीप और आधे पुष्कर) द्वीपमें रहनेवाले प्राणियोंके हृदयोंमें उठनेवाले विचारों और भावोंको भी जो ज्ञाता नहीं जान सकता है वह सब विपुलमति-मनः पर्यय ज्ञानावरणीका ही फल है। यह तो हुआ क्षेत्रकी अपेक्षा किन्तु कालकी अपेक्षासे भी कमसे कम दो, तीन भवोंकी बातोंको और अधिकसे अधिक असंख्यात भवोंमें घटी बातोंको जाननेमें असमर्थ होना भी जीव पर मनःपर्यय ज्ञानावरणी कर्मका आवरण पड़ जानेसे ही होता है। १९ २० २१ २२

मनःपर्यय ज्ञानावरणी

आत्माकी वह विशेष योग्यता जिसके द्वारा यह जीव आदि छहों द्रव्योंके सांगोपांग स्वभाव और पर्यायोंका तीनों लोकों और तीनों कालोंमें युगपत् जानता है, उसी असाधारण पूर्ण चैतन्य स्वरूपको केवल ज्ञानावरणी कर्म पूर्ण रूपसे ढक देता है। २३

केवल ज्ञानावरणी

पदार्थोंका दर्शन (सामान्य प्रतिभास), निद्रा (सोना), निद्रानिद्रा (अत्यधिक सोना), प्रचला (बैठे बैठे साधारण शयन), प्रचला=प्रचला (बक झक सहितप्रचला), स्त्यानगृद्धि (सोते सोते उठकर रुद्रकर्म करना) चक्षुदर्शनावरण, अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण (अवधि ज्ञानके द्वारा ज्ञात पदार्थोंका सामान्य प्रतिभास न होना) तथा केवल दर्शनावरण (केवल ज्ञानके द्वारा जानने योग्य पदार्थोंका साधारण प्रतिभास न होना) के कारण नहीं होता। फलतः दर्शनावरणी कर्मके यही नौ भेद होते हैं। २४ २५

दर्शनावरणी

संसारके संयोगोंका अनुभव (वेदन) दो ही प्रकारका होता है; सुखरूप (साता वेदनीय) या दुखरूप (असाता वेदनीय)। असाता वेदनीय कर्मका उदय होनेसे यह जीव नरकमें दारुणसे दारुण दुखोंको एकान्तरूपसे सहता है। तिर्यञ्च और मनुष्य गतिमें साता और असाता वेदनीय दोनोंका उदय रहता है फलतः सुख दुख दोनों प्राणीको प्राप्त होते हैं और देवगतिमें केवल साता वेदनीयका उदय रहनेसे केवल सुख भोग प्राप्त होता है। २६

वेदनीय

२७ मोहनीय कर्म भी दो प्रकारका होता है, जो जीवकी सामान्य श्रद्धानशक्तिको भ्रान्तकर देता है उसे दर्शन मोहनीय कहते हैं तथा जीवके चारित्रको अन्यथा करनेवालेका नाम चारित्र मोहनीय है। दर्शन मोहनीयके भी सम्यक्त्व मोहनीय, मिथ्यात्व

मोहनीय

२८ मोहनीय और मिश्र (सम्यत्व-मिथ्यात्व) मोहनीय ये तीन भेद हैं। चारित्र मोहनीयके कषाय और नोकषाय प्रधान रूपसे दो हो प्रकार हैं, लेकिन नोकषाय (साधारण कषाय) नौ प्रकारकी हैं। इसी प्रकार कषाय के भी अवान्तर भेद

२९ सोलह हैं। हास्य (हंसना), रति (प्रेम या प्रीतिभाव), अरति (द्वेष, इर्षा, आदि), शोक (अनुताप, विलाप, आदि), जुगुप्सा (घृणा ग्लानि, आदि), भय, स्त्रीवेद (पुरुषसे रमण करनेकी इच्छा), पुंवेद (स्त्रीसे रमण करनेकी प्रकृति), और नपुंसकवेद (स्त्री और पुरुष दोनोंकी द्रव्य तथा भाव शक्तिकी विकलता) इन नौ परिणतियोंको केवली भगवानने

३० नोकषाय कहा है। कषायके मुख्यभेद क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार ही हैं, किन्तु आत्माके चारित्रको नाश करनेके क्रमकी अपेक्षा इनकी भी निम्न चार कोटियां होती हैं—(१) अनन्तानुबन्धी (महा संसार बंधके कारण) क्रोध, मान, माया और लोभ वे हैं जो आत्मामें सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण चारित्रको भी प्रकट नहीं होने देते हैं। [(२) अप्रत्याख्यान (अल्पत्यागअर्थात् देश संयम भी न करनेकी प्रवृत्ति) नामके

३१ क्रोध, मान, माया और लोभ आत्माकी संयमासंयम अर्थात् अणुव्रतमय प्रारम्भिक चरित्र पालन करनेको भावनाको भी बलपूर्वक दबा देते हैं।] (३) जो क्रोधमान, माया और लोभ पांचों महाव्रतोंके पालनसे होनेवाले पूर्ण संयमको विकसित नहीं होने देते हैं, महाव्रती होनेसे रोकते हैं उन्हे शास्त्रमें प्रत्याख्यानावरणी कषाय कहा है। संज्वलन (संयमके साथ

३२ धीरे किन्तु स्पष्टरूपसे जलनेवाले) क्रोध, मान, माया और लोभ, यद्यपि अपने सूक्ष्मरूपके कारण सम्यत्त्व, विकल और सकलचारित्रमें बाधक तो नहीं होते हैं तो भी यथाख्यात (स्वाभाविक परिपूर्ण) चारित्रका विकास नहीं होने देते हैं ऐसा निश्चय है।

३३ चतुर्थकर्म आयुके मुख्यभेद चार ही हैं—नरकयोनि, त्रिर्यञ्चयोनि, मनुष्ययोनि और देवयोनि। इन चारों योनियोंमें रोक रखनेमें समर्थ प्रधान कारणको ही शास्त्रोंमें आयुकर्म नाम

३४ दिया है। नरक आयुमें बिना विराम सदा ही दुख भरने पड़ते हैं, तिर्यञ्च आयु

आयुकर्म

और मनुष्य आयुमें सुख तथा दुख दोनोंके मिश्रणका जीवको अनुभव करना पड़ता है—तथा यहींपर जीव अपना अधिक विकास भी कर सकता है—तथा देव आयुका फल दुखकी मिलावटसे हीन शुद्ध सुख ही होता है।

३५ जीवके शारीरिक आकार प्रकारोंका निर्माता नामकर्म शुभ (शुभ नामकर्म) और अशुभ (अशुभ नामकर्म) विशेषणोंसे युक्त होकर प्रधानरूपसे दो ही प्रकारका

नामकर्म

होता है। मुख्य भेदोंकी अपेक्षासे विभक्त करनेपर इसके ब्यालीस भेद होते हैं तथा अवान्तर भेदोंकी अपेक्षासे देखनेपर इसीके तेरानबे भेद हो जाते हैं।

३६ गोत्रकर्मके दो ही भेद हैं:—प्रथम उच्चगोत्र और द्वितीय नीचगोत्र। मनुष्य गतिमें उच्चगोत्र और नीचगोत्र दोनों होते हैं, तिर्यञ्चगति और नरकगतिमें एकमात्र नीच-

गोत्रकर्म

गोत्र ही होता है और इसी प्रकार देवगतिमें भी केवल उच्चगोत्र ही शास्त्रोंमें कहा है।

जीवकी स्वभाव प्राप्तिमें बाधक अन्तिमकर्म (अन्तरायकर्म) जीवकी दान देने,

भोग, उपभोग और लाभ प्राप्ति तथा वीर्य वर्द्धनमें अड़ंगा डालता है फलतः उसकी दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय ये पांच ही प्रकृतियां होती हैं। इस प्रकार कर्मकी आठों मूल प्रकृतियोंकी उत्तर प्रकृतियोंका प्रमाण, उक्त उत्तर प्रकृतियोंको जोड़नेपर एक सौ अड़तालीस केवली भगवान्‌ने कहा है। ३७ ३८

अन्तरायकर्म

आदिके तीन अर्थात् ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी और वेदनीय तथा अन्तरायकर्म इन चारों कर्मोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीस कोड़ाकोड़ी सागर बतायी है। किन्तु कर्मोंके राजा मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर है। किन्तु उसीके अवान्तरभेद चारित्र मोहनीयकी चालीस कोड़ाकोड़ी सागर ही है। गोत्रकर्म और नामकर्मकी उत्कृष्ट आयु बीस कोड़ाकोड़ी सागर ही है और आयुकर्मकी उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर है। इन्हीं कर्मोंकी जघन्य स्थितिपर विचार करनेसे ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म कमसे कम (दो छह अर्थात्) बारह मुहूर्त रहता है, नामकर्म और गोत्रकर्म आठ मुहूर्त पर्यन्त ही जघन्य रूपसे टिकते हैं और बाकी ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनोय, आयु और अन्तरायकी न्यूनतम स्थिति अन्तर्मुहूर्त (एक मुहूर्त अर्थात अड़तालीस मिनटसे भी कम) है। ३९ ४० ४१

कर्म-स्थिति

बुरेसे बुरे फल देनेवाले अतएव जीवके लिए अत्यन्त भयंकर इन आठों कर्मोंके बन्धके प्रधान कारण मिथ्यात्व, (भ्रान्त श्रद्धा) असंयम, (अनुचित आचार-विचार) योग (मन वचन और कायकी सब ही चेष्टाएं) और कषाय ही हैं। ४२

कर्मबन्धके कारण

जिन प्राणियोंको सम्यक् ज्ञानसे द्वेष है (प्रदोष), जो (प्रतिपक्ष) मिथ्या मार्गोंकी प्रशंसा करते हैं, दूसरोंके सम्यक् ज्ञानकी विनय तथा प्रशंसा नहीं करते उसके प्रचारको रोकनेमें जिन्हें आनन्द आता है, ज्ञान अर्जन करनेवालोंकी सिद्धिमें जो बार बार अनेक विघ्न बाधाएं डालते हैं (अन्तराय) किसी विषयके विशेषज्ञ होते हुए भी, दूसरे न जान सकें इसीलिए अपने ज्ञानको जो व्यक्ति छिपाते हैं (निन्हव), सम्यक् ज्ञान और सम्यक् ज्ञानियोंका जो अहंकारी निरादर करते हैं, जिन्हें अपने ज्ञानका अहंकार तथा अन्य ज्ञानियोंसे अकारण वैर होता है (मात्सर्य), ऐसे लोग निश्चयसे ज्ञानावरणीका बन्ध करते हैं। जो सत्य आगमकी सूत्र परम्पराका उल्लंघन करके पढ़ते हैं, जिन्हें वर्जित समय (अकाल) में ही पढ़नेकी इच्छा होती है अथवा जो गुरु, शास्त्र आदिकी विनय और भक्तिको यथाविधि नहीं करते हैं वे ही प्राणी श्रुत ज्ञानावरणी कर्मका निःसन्देह बन्ध करते हैं। वर्षा ऋतुके काले काले घने मेघ आकाशमें धवल चन्द्रिकाको फैला देनेवाले पूर्णिमाके षोडसकला युक्त चन्द्रमाको जैसे अकस्मात् ही कहींसे आकर ढक लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्म भी ज्ञान गुण युक्त आत्माको एक क्षण भरमें ही आवृतकर लेता है। किसी एक ओर इकट्ठी हुई काई जिस प्रकार हाथके आघातसे हिलाये डुलाये जानेपर क्षणभरमें ही पूरी स्वच्छ जलराशिके ऊपर फैल जाती है बिल्कुल इसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्मका स्वभाव होता है। जिसको आंखोंकी ज्योति नष्ट हो गयी फलतः आंखोंमें अन्धकार छा गया है ऐसा व्यक्ति सामने पड़े हुए द्रव्योंको देखनेमें असमर्थ हो जाता, ठीक इसी प्रकार ज्ञानावरणी कर्मने जिस जीवके ज्ञानपर पर्दा डाल दिया है वह पदार्थोंके सत्य लक्षणोंका विवेचन नहीं कर सकता है। ४३ ४४ ४५ ४६ ४७

ज्ञानावरणीका बन्ध

४९ दर्शनावरणी कर्मकी निद्रा, प्रचला आदि, नौ उत्तर प्रकृतियां पहिले कह चुके हैं। जो प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन, आदि ज्ञानावरणी कर्मके बन्धमें कारण होते हैं

५० यही सबके सब दर्शनावरणी कर्मके बन्धमें भी प्रधान निमित्त हैं। निद्रानिद्रा दर्शनावरणीके प्रभावसे आदमी वृक्षकी शाखाओं और शिखरोंपर भी सो जाता है, चौराहे या बीच सड़कपर भी मौजसे खुर्राटे भरता है तथा बार-बार जगाये जानेपर तथा स्वयं भी जागनेका भरपूर प्रयत्न करके भी वह आंख नहीं खोल पाता

दर्शनावरणी-बन्धकारण

५१ है। यह सब प्रचलाप्रचलाका ही प्रतिफल है जो सोते व्यक्तिके मुखसे लार बहती है, बार-बार सोनेवाला शरीरको इधर उधर चलाता है तथा शिरको इतना अधिक मोड़ देता है मानो

५२ टूट ही जायेगा। स्त्यानगृद्धि दर्शनावरणीके उदय होनेसे व्यक्ति जगाकर खड़ा कर देनेके तुरन्त बाद ही फिर सो जाता है, सोते सोते ही उठकर कोई काम कर डालता है और नींद नहीं टूटती है, तथा सोते सोते कुछ ऐसा बोलता है जिसमें पूर्वापर सम्बन्ध ही नहीं होता है।

५३ निद्रा दर्शनावरणीमें वह शक्ति है कि वह चले जाते हुए जीवको तुरन्त कहीं रोक देती है, रुककर खड़े हुए व्यक्तिको विना विलम्ब बैठा देती है, बैठे हुए पुरुषको उसके बाद ही लिटा देती

५४ है और लेटेको तुरन्त निद्रामग्न कर देती है। यह सब प्रचला दर्शनावरणीके ही लक्षण हैं कि आदमी आखोंको थोड़ा सा खोले रहता है अर्थात् पलक पूरे नहीं ढपते हैं तो भी फिर फिर कर सो जाता है और बीच बीचमें कभी कभी आंख भी खोल लेता है इतना ही नहीं सोते हुए भी उसे अपने आस पासकी घटनाओंका थोड़ा थोड़ा ज्ञान रहता है।

५५ चक्षु दर्शनावरणी कर्म आंखोंकी पदार्थ देखनेकी सामर्थ्यको सर्वथा नष्ट कर देता है और शेष स्पर्श, रसना, घ्राण, श्रोत्र और मनकी प्रतिभास करनेकी शक्तिको अचक्षु दर्शनावरणी

५६ कर्म नष्ट कर देता है। पहिले अवधिज्ञानका वर्णन कर चुके हैं उसके द्वारा जानने योग्य उत्कृष्ट और जघन्य पदार्थोंके साधारण प्रतिभासको जो आवरण अपनी शक्तिसे रोक देता है उसे अवधि दर्शनावरणी कहते हैं। केवल ज्ञानके ज्ञेय त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों और उनकी सम्पूर्ण पर्यायोंके सामान्य प्रतिभासमें जो बाधक है उसे ही केवल दर्शनावरणी कहते हैं।

५७ प्राणियोंको दुख देना, शोक सागरमें ढकेलना, वध करना, रोना विलाप करना, प्राणियोंको बन्धनमें डालना और उनको शास्ति देनेके लिए भोजन पान रोक देना इस प्रकारकी सबही चेष्टाएं निश्चयसे असातावेदनीय कर्मके बन्धका कारण होती हैं।

वेदनीय बन्ध विचार

५८ सत्पात्रों तथा अभावग्रस्त व्यक्तियोंको दान देना, कर्त्तव्यपालन, प्राणिमात्र पर दयाभाव, चंचलताके कारणोंकी उपस्थितिमें भी शान्त रहना, भीतर बाहर पवित्र रहना, तपस्याके अभ्यासके साथ व्रतोंका आचरण, ब्रह्मचर्य, शीलधारण, संयम पालन और मन, वचन

५९ तथा कायपर नियन्त्रण रखना जीवको सातावेदनीयका बन्ध कराते हैं। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और नरकलोकमें जितने भी ताड़न, भेदन, आदि शारीरिक और शोक, चिन्ता, आदि मानसिक

६० दुख होते हैं वे सबके सब जीवके साथ बंधे असातावेदनीय कर्मके ही परिपाक हैं। इसी प्रकार तीनों लोकोंमें प्राप्त होनेवाले स्वास्थ्य, सेवकादि शारीरिक सुख अथवा प्रेम, प्रसन्नता, आदि मानसिक सुख भी उक्त दान, दया, आदि शुभकर्मोंके द्वारा बांधे गये सातावेदनीयके फलोन्मुख होनेपर ही प्राप्त होते हैं।

जो लोग कवलाहारी, आदि कहकर केवली भगवानकी (केवली-अवर्णवाद), 'है भी, नहीं भी है इसलिए सब संशयात्मक है' रूपसे स्याद्वादमय सत्य शास्त्रकी (श्रुत अवर्णवाद), 'अहिंसापर ही जोर देकर राष्ट्रको सण्ढ बना दिया है' आदि मिथ्या लांछनों द्वारा धर्मकी (धर्मावर्णवाद), 'कमंडलुमें रुपया पैसा भरे रहते हैं' आदि भ्रांतियोंसे सद्गुरुओंकी (गुरु अवर्णवाद), 'प्रथम अर्हन्त ऋषभदेव मलमें पड़े रहते थे' इत्यादि लिखकर वीतराग प्रभुकी (देवावर्णवाद), श्रावक, श्राविका, मुनि और आर्यिकाओंके चतुर्विध संघका, नग्नमुनि तथा आर्यिकाओंका आमने सामने आना भी वासनाको जाग्रत कर देता होगा' के समान अपने मानसिक पतनको प्रकट करके जो बिना सिर-पैरकी निन्दा करते (संघावर्णवाद) हैं। वीतराग केवली प्रभुके द्वारा उपदिष्ट स्वैराचार विरोधी सन्मार्गका विरोध करके जो धर्माचरणकी आड़में वासना पूर्तिमें सहायक मिथ्यामार्गका उपदेश देते हैं उन लोगोंका संसार भ्रमण बढ़ता ही जाता है, कारण वे जीव निश्चयसे दर्शन मोहनीय कर्मका बन्ध करते हैं। जिन जीवोंकी चेतनाको दर्शनमोहनीयने चांप रखा है वे लोग शुभ भाव कैसे होते हैं ? इसका उन्हें आभास भी नहीं होता है। न तो उन्हें लब्धि (सम्यक्त्व प्राप्त करनेका अवसर) ही प्राप्त होती है और न उन्हें शुभकर्म करने तथा भला चेतनेकी प्रवृत्ति ही होती है। परिणाम यह होता है कि उन्हें कभी भी संसार शरीरसे वैराग्य नहीं होता है; मुक्तिकी तो बात ही क्या है ?

दर्शनमोहनीय बन्धविमर्ष

६१ ६२ ६३

जिन्हें तीव्रतम क्रोधरूपी कृष्णसर्पने डस लिया है, जिनके मनको मानकी बाढ़ने हेय, उपादेयके विवेकसे वंचित करके निश्चेतन कर दिया है, जिनका अन्तःकरण मायारूपी मैलसे सर्वथा मलीन हो गया है और लोभरूपी लालिमाने जिनकी आंखोंको अन्धा कर दिया है, इस प्रकारसे सदा ही पाप चिन्तामें मग्न रहनेवाले लोग ही चारित्रमोहनीय कर्मका दृढ़ बन्ध करते हैं। और यही चारित्रमोहनीय परिपक्व होकर अपनी लीला दिखाता है जिसके कारण उक्त प्रकारके जीव संसारमार्गमें नाना प्रकारके क्लेश उठाते हैं।

चारित्र-मोहनीय

६४ ६५

प्रथम प्रकारके अर्थात् अनन्तानुबन्धी क्रोधका जो संस्कार आत्मापर पड़ता है वह इतना तीव्र होता है कि उसकी उपमा पत्थरपर खोदी गयी रेखासे दी जाती है। यही कारण है कि ये क्रोधादि जन्म जन्मान्तरोंमें भी जाकर शान्त नहीं होते हैं और निमित्त सामने आते ही भड़क उठते हैं। दूसरे प्रकार अर्थात् अप्रत्याख्यानावरणी क्रोध कषायकी जो छाप आत्मापर पड़ती है उसे वैसी ही समझिये जैसी कि गीली पृथ्वीके सूखनेपर उसमें पड़ी दरार होती है। यह संस्कार काफी समय बीतनेपर अथवा शास्त्ररूपी जलवृष्टिसे चित्त स्नेहार्द्र हो जानेपर उपशमको प्राप्त हो जाता है। तीसरे अर्थात् प्रत्याख्यान क्रोधके उद्गार वैसे ही होते हैं जैसा कि बालूके ऊपर लिखा गया लेख, क्योंकि ज्यों ही उसपर ज्ञानरूपी तीव्र वायुके झोंके लगते हैं त्यों ही लेखकी समस्त रेखाएं (कषायोंके उभार) पुरकर एक-सी हो जाती हैं। अन्तिम प्रकार अर्थात् संज्वलन क्रोधकी आत्मापर पड़नेवाली झलककी पानीपर खींची गयी रेखासे तुलना की गयी है अतएव जिस कारणसे वह उत्पन्न होता है उसके दूर होते ही तुरन्त विलीन हो जाता है।

क्रोध निदर्शन

६६ ६७ ६८ ६९

प्रथम प्रकारका (अनन्तानुबन्धी) मान इतना तीव्र और विवेकहीन होता है कि ७०

शास्त्रकारोंने उसे पत्थरके स्तम्भके समान माना है इसीलिए अनन्तकाल बीत जानेपर भी उससे आक्रान्त जीवमें तनिक भी मृदुता या विनम्रता नहीं आती है।

मान निदर्शन

७१ पुराण पुरुष कहते हैं कि दूसरा मान (अप्रत्याख्यान मान) का उदय आत्मामें हड्डीके समान कर्कशता ला देता है, परिणाम यह होता है कि जब जीव ज्ञानरूपी ७२ आगमें काफी तपाया जाता है तो उसमें कुछ कुछ विनम्रता आ ही जाती है। तृतीय अर्थात् प्रत्याख्यान मानका उद्गार होनेपर जीवमें उतनी ही कठोरता आ जाती है जितनी कि गीली लकड़ीमें होती है, फलतः जब ऐसा जीवरूपी काष्ठ ज्ञानरूपी तैलसे सराबोर कर दिया ७३ जाता है तो उसके उपरान्त ही वह सरलतासे झुक जाता है। अन्तिम संज्वलन मानके संस्कारकी बालोंकी घुंघराली लटसे तुलना की है, आपाततः ज्यों ही उसे शास्त्रज्ञानरूपी हाथसे स्पर्श करिये त्योंही वह क्षणभरमें ही सीधा और सरल हो जाता है।

७४ प्रथम अनन्तानुबन्धी मायाके उदय होनेपर जीवकी चित्तवृत्ति बिल्कुल बांसकी जड़ोंके समान हो जाती है। इसी कारण उसका चाल-चलन और स्वभाव अत्यन्त उलझे तथा कुटिल

माया-उपमा

७५ हो जाते हैं और उनमें कभी भी सीधापन नहीं आता है। अप्रत्याख्यानावरणी मायाका आत्मापर पड़नेवाला संस्कार मेढ़ेके सींगके समान गुड़ादार होता है। फलतः इस कषायसे आक्रान्त व्यक्ति मनमें कुछ सोचता है और जो करता है वह इससे ७६ बिल्कुल भिन्न होता है। प्रत्याख्यानावरणी मायाके उभारकी तुलना चलते बैलके मूत्रसे बनी टेढ़ी मेढ़ी रेखासे होती है, परिणाम यह होता है कि उसकी सब ही चेष्टाएं बैलके मूत्रके समान ७७ आधी सीधी और आधी कुटिल एवं कपटपूर्ण होती हैं। अन्तिम प्रकारकी (संज्वलन) मायाका उद्गार आत्माको चमरी मृगके रोमके समान कर देता है। अतएव ज्यों ही आत्मारूपी रोमको आप ज्ञानरूपी यन्त्रसे रखकर दबाते हैं त्यों ही वह बिना विलम्ब अपने शुद्ध स्वभावको प्राप्त कर लेता है।

७८ प्रथम लोभ (अनन्तानुबन्धी) के उदय होनेपर आत्मापर वैसा ही अमिट संस्कार पड़ जाता है जैसा कि कीड़ोंके खूनसे बनाये गये लाल रंग (कागज) का होता है। अतएव

लोभोदाहरण

ऐसे आत्माको जब शास्त्रज्ञानरूपी ज्वालामें जलाया जाता है तब भी वह लोभका संस्कार उसे नहीं छोड़ता है। अप्रत्याख्यानावरणी लोभसे आत्मापर ७९ वैसा ही रंग चढ़ जाता है जैसा कि नीले रंगका किसी धवल वस्तुपर आता है, परिणाम यह होता है कि ज्यों ही जीव अपने आपको ज्ञानरूपी जलमें धोता है त्यां ही आत्मा तुरन्त ही शुचि और स्वच्छ हो जाता है। प्रत्याख्यानावरणी लोभके उद्गारकी गीले कीचड़के साथ तुलना ८० की गयी है फलतः ज्योंही प्राणी आत्माको शास्त्राभ्यासरूपी जलसे भलीभांति धोता है त्यो ही इस लोभका नामो-निशां भी आत्मासे गायब हो जाता है। अन्तिम संज्वलन लोभके उदय ८१ होनेपर उसका जो प्रतिबिम्ब आत्मापर पड़ता है वह हल्दीके रंगकी लालीके समान होता है। उसपर शास्त्ररूपी सूर्यकी किरणें पड़ी नहीं कि वह क्षणभरमें ही लुप्त हुआ नहीं। यह चारित्र- ८२ मोहनीयकी ही महिमा है जो जीव चाहनेपर भी किसी प्रकारके चारित्रका पालन नहीं कर पाता है। तथा जो जीव किसी भी प्रकारके चारित्रको धारण नहीं कर सका है उसका तो कहना ही क्या है, बिचारा अनन्तकालतक घोर नरकमें सड़ता है।

८३ हास्य नोकषायके उदय होनेपर यह जीव प्रसन्नताके अवसरपर, साकूत क्रोधमें तथा

कहींपर अपमान होनेके बाद अकेले ही या अन्य लोगोंके सामने भी प्रकट कारणके विना ही हंसता है अथवा अपने आप ही कुछ बड़बड़ाता जाता है। जब किसी जीवके रति नोकषायका उदय होता है तो उसे उन दुष्ट लोगोंसे ही अधिक प्रीति होती है जो पापमय कर्मोंके करनेमें ही सदा लगे रहते हैं, जिनके कर्मोंका परिणाम कुफल प्राप्ति ही होता है तथा निष्कर्ष शुद्ध अहित ही होता है। यह अरति नोकषायका ही फल है जो जीव ज्ञानार्जनके साधन, व्रतपालनका शुभ अवसर, तप तपनेकी सुविधाएं ज्ञानाभाव मार्जनकी सामग्री लौकिक और पारलोकिक सम्पत्ति (द्रव्य) तथा अन्य सुखोंके कारणोंकी प्राप्ति हो जानेपर भी अपने आपको उनमें नहीं लगा सकता है। स्मशान, राजद्वार, अन्धकार, आदि सात भयके स्थानोंपर किसी साधारणसे साधारण भयके कारणके उपस्थित होते ही जो प्राणी एकदम कांपने लगता है तथा बोली बन्द हो जाती है या हकला हकला कर बोलने लगता है यह सब भय नोकषायका ही प्रभाव है। जब प्राणी हरएक बातसे उदासीन हो जाता है, लम्बी लम्बी सांस छोड़ता है, मनको नियन्त्रित नहीं कर पाता है फलतः मन सब तरफ अव्यवस्थित होकर चक्कर काटता है, इन्द्रियां इतनी दुर्बल हो जाती हैं कि वे अपना कार्य भी नहीं कर पाती हैं तथा बुद्धि विचार नहीं सकती है, तब समझिये कि उसके शोक नोकषायका उदय है। जो पुण्यहीन व्यक्ति पांचों इन्द्रियोंके परमप्रिय भोगों और उपभोगोंकी प्राप्ति करके भी उनसे घृणा करता है या ग्लानिका अनुभव करता है, समझिये उसे जुगुप्सा नोकषायने जोरोंसे दबा रखा है। पुरुषत्वके दर्शन होते ही जो जीव पुरुषको प्राप्त करनेके लिए आतुर हो उठता है उसे स्त्रीवेद कहते हैं। स्त्रीवेदधारी जीव पुरुषको देखते ही ऐसा द्रवित हो उठता है जैसे कि लाख आग छुआते ही वह पड़ती है। स्त्रीका साक्षात्कार होते ही जो जीव स्त्रीको पानेके लिए आकाश पाताल एक कर देता है यह पुंवेदका ही कार्य है। पुरुषवेद युक्त प्राणी स्त्रीको देखते ही वैसा पिघल जाता है जैसे कि जमे घीका घड़ा अग्नि स्पर्श होते क्षणभरमें ही पानी पानी हो जाता है। ईंटोंके अवेके समान (बाहर आगका नाम नहीं और भीतर भयंकर दाह) जब किसी प्राणीमें काम उपभोग सम्बन्धी भयंकर विकलता होती है, तथा अत्यन्त निन्दनीय कुरूपपना होता है। समझिये यह सब नपुंसकवेदका ही परिपाक है। अपने अपने विशेष कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली हास्यादि नौ कषायोंके कारण यह जीव बड़े बड़े अनाचार और अत्याचार करता है। परिणाम यह होता है कि आत्माकी संसारमें स्थिति क्लेशपूर्ण हो जाती है।

नोकषाय-अनुभाव

८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२

जिन लोगोंकी विवेकरूपी दृष्टिपर मिथ्यात्व मोहनीयका पर्दा पड़ गया है, जो अहिंसादि व्रत और शिक्षा तथा गुणव्रतमय शीलसे हीन हैं, साथ ही साथ संसार-कारण अत्यधिक आरम्भ और परिग्रह करते हैं वे नरकायुका बन्ध करते हैं। ९३

नरकायुबन्ध कारण

जो अत्यन्त मायावी हैं, दूसरोंको सदा सर्वथा ठगते हैं, जिनके बांट और तराजू झूठे हैं तथा जो एकरसमें दूसरे रसको मिला देते हैं जैसे दूधमें पानी, घीमें चर्बी, आदि ऐसे ही लोग तिर्यञ्च आयुका बन्ध करते हैं। ९४

तिर्यञ्चायुका बन्ध

जिनकी क्रोधादि कषाय स्वभावसे ही मन्द हैं, जो यद्यपि सामायिक, आदि शील तथा कायक्लेश, आदि इन्द्रिय संयमका पालन नहीं करते हैं तो भी दान देते हैं, व्यवहारमें सरल और कोमल हैं, ऐसे ही प्राणी मनुष्य आयुको प्राप्त करते हैं। ९५

मनुष्यायुका बन्ध

९६ स्वर्गवासियोंकी आयुको वे ही पाते हैं जो आसक्ति या फलेच्छापूर्वक संयम पालते (सराग संयम) हैं, जो बिना उद्देश्यके ही ऐसे कार्य करते हैं जिससे कर्मोंकी निर्जरा हो सकती है (अकाम निर्जरा) संयमासंयममय (देशचरित्र) आचरण करते हैं या जो कि सम्यक् दृष्टी सम्यक्ज्ञानी और सम्यक्चारित्री होते हैं।

देवायु बन्ध

९८ जिन प्राणियोंकी मानसिक, वाचनिक तथा शारीरिक चेष्टाएं छल और कपटसे भरी रहती हैं, जिन्हें विरोध, मतभेद या सन्देह करनेमें ही आनन्द आता है वे प्राणी ही दुर्वर्ण अयशःकीर्ति आदि बुरे नामकर्मका बन्ध करते हैं। जो कुछ मनसे सोचते हैं वही मुखसे बोलते हैं, वचनोंके अनुकूल ही चेष्टा करते हैं तथा जो करते हैं उसे ही मनसे सोचते हैं, विरोध, सन्देह वैमनस्यके बिलकुल खिलाफ रहते हैं ऐसे ही जीव शुभ, सुस्वर, आदि शुभनामकर्मकी प्रकृत्तियोंको बांधते हैं।

नामकर्म बन्ध

९९ जिन प्राणियोंको अपनी जाति, कुल, शरीर, बल, ऋद्धि, ज्ञान, तप और पूजाका अभिमान या उन्माद हो जाता है, सर्वदा दूसरोंकी निन्दा और दोषोद्घाटनमें लीन रहते हैं, ऐसे ही प्राणी नीच गोत्रका बन्ध करते हैं जिसका परिपाक अत्यन्त दुखदायी होता है। अर्हन्त प्रभुके द्वारा प्राप्त सम्यक् ज्ञान तथा उन्हींके द्वारा उपदिष्ट वीतराग धर्ममें जिनको अटूट भक्ति होती है। दूसरेकी निन्दा तथा पैशुन्य, आदिसे जो कोसों दूर रहते हैं, वे ही प्राणी उच्चगोत्र कर्मका बन्ध करते हैं, जो कि इस संसारमें भयंकर प्रयत्न करनेपर भी कष्टसे ही प्राप्त होता है।

गोत्रकर्म बन्ध

१००

१०१ जो प्राणी दूसरोंके दान देने और पानेमें बाधक होते हैं वे भव, भवमें दरिद्र ही होते हैं। जो किसीको होते हुए लाभमें अकारण ही अडंगा लगा देते हैं उनको सम्पत्ति कमानेकी इच्छा असफल ही रहती है। अपने अपने पुण्यके फलस्वरूप भोगोंका रस लेनेवालोंके मार्गमें जो बाधक होते हैं वे स्वयं भी सब ही भोगोंसे वञ्चित रह जाते हैं। जिन्होंने दूसरोंके उपभोग भोगनेके मार्गमें रोड़े अटकाये हैं वे सम्पत्ति, आदि साधनोंको पाकर भी उपभोगोंके आनन्दसे वञ्चित ही रह जाते हैं। दूसरोंकी शक्ति और वीर्यके विकास मार्गमें जो कांटे बोते हैं वे भी इस संसारमें शक्तिहीन और अक्षम होते हैं। इसी प्रकार जो अन्य लोगोंके धर्माचरणमें विघ्नबाधाएं डालते हैं उन्हें तो दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य सबका ही अन्तराय मानना चाहिये।

१०२ अन्तराय बन्धकारण

१०३

१०४ हे राजन् उक्त प्रकारसे क्रमशः आठों कर्मोंका स्वरूप, उनके बन्धके कारण और विशद्ध परिणामको आपको समझाया है। क्योंकि इस संसारमें जीव इन आठों कर्मोंके द्वारा ही सदा लुभाया जाता है और पथभ्रष्ट किया जाता है। एक साधारणसे जीवकी हिंसा कर देनेसे ही यह जीव आठों प्रकारके कर्मोंका बन्ध करता है। तथा यह सब उस बन्धका ही माहात्म्य है जो यह जीव नाना योनियोंमें अनेक प्रकारके दारुण अनन्त दुखोंको भरता है। संसारचक्रमें ज्यों ही जीव किसी एक कर्मकी पाशसे छूटता है त्यों ही दूसरेका फन्दा उसपर कस जाता है फलतः बन्ध परम्परा रेंहटकी घड़ियोंके समान आत्माको घेरता रहता है अथवा यों कहिये कि मथानोकी डोरीके समान एक तरफसे खुलता है और दूसरी तरफसे बंध जाता है। जिस प्रकार एक बीजसे दूसरे बीज उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार पूर्वोपार्जित कर्मके द्वारा उत्तरकालीन कर्मोंके बोझको बढ़ाता हुआ यह जीव संसारमें मारा

१०५

कर्म महिमा

१०६

१०७

मारा फिरता है और बहुत समय पर्यन्त अनेक क्लेशोंको भोगता है। हे राजन्! ये ज्ञाना- १०८
वरणी, आदि आठों कर्म इस जीवके पीछे अनादि (जिसका प्रारम्भ नहीं खोजा जा सकता
है) कालसे चिपके हैं और इस जीवके एक दो नहीं हजारों पतनोंको करते आये हैं। यही १०९
कर्म दारुण और भयंकर नरकोंमें जीवको पटकते हैं, ये ही तिर्यञ्च और मनुष्य गतियोंमें
दौड़ाते हैं और ये ही कभी कभी स्वर्गगतिमें बैठा देते हैं। यह इनकी ही सामर्थ्य है जो
जीवको पुनः पुनः दुखोंके समुद्रमें डुबा देते हैं। प्रियजनोंकी सत्संगतिकी प्राप्ति (विरोधी ११०
प्रकृतिके अप्रिय लोगोंकी कुसंगतिका भरना) तथा प्राणप्रियजनोंके समागमसे सदाके लिए
वियुक्त होना, जन्म और मरण, यौवन और वृद्धावस्था जो जीवोंको प्राप्त होती है यह सब
भी इन्हीं कर्मोंकी लीला है। ये कर्म ही सब दुखोंके मूल बीज हैं, प्राणियोंके उद्धत और १११
निर्दय शत्रु कोई हैं तो ये हैं, यदि कोई शोक-दुखका कर्ता है तो ये ही हैं, इसी प्रकार सांसारिक
सुखोंके प्रधान उत्पादक भी ये ही हैं। इस संसारमें आठों कर्मोंरूपी पण्य या विक्रय वस्तुओंको ११२
लेकर यह जीव सुख दुःखको ही बेचने और खरीदनेके लिए ही नरक आदि गतिरूपी नगर
और पत्तनोंमें घूमता फिरता है।

इस प्रकारसे तपस्वियोंके मुकुटमणि महाराज वरदत्त केवलीने जन्म, मरण, रोग और ११३
शोकके मूलकारण अनेक प्रकारके कर्मों तथा उनके दोषोंके स्वरूप, उनके संग्रह या बन्धके
कारणों, फल देनेके समय या उदय कालको तथा आबाधा, आदिको समझाया था जो

उपसंहार

कि सत्य तत्त्वज्ञानका रहस्य था। तो भी केवल ज्ञानरूपी विशाल बुद्धिके स्वामी ११४
मुनिराजने राजाके कल्याणकी भावनासे प्रेरित होकर ही पापोंके उदयके कारण ही अधो-
गतिको प्राप्त करनेवालों तथा वहांपर कम बढ़ दुःखरूपमें अपने कर्मोंके फलोंको भरनेवालोंके
विषयमें और भी कहनेके लिए निश्चय किया था।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
'पापफल प्रकथन' नाम चतुर्थ सर्ग समाप्त
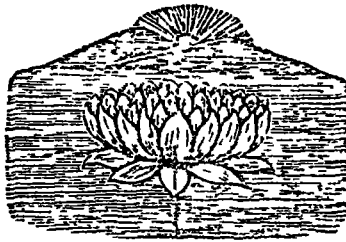
पंचम सर्ग

१ दुर्धर तप करके केवली पदको प्राप्त सब ही कर्मजेता तीर्थंकरोंने कहा है कि आकाश द्रव्य सब जगह व्याप्त है और अनन्त है। इसी व्यापक आकाशके मध्यमें यह जीवलोक स्थित है। जीवलोकका आकार और स्थिति दोनों अत्यधिक सुव्यवस्थित हैं। जीव-

२ लोक पुरुष

लोकका नीचेका भाग जिसे पाताललोक या अधोलोक नामसे पुकारते हैं, वह वेतसे बनाये गये मूढे (स्टूल) के समान है अर्थात् नीचे काफी चौड़ा और ऊपर अत्यन्त संकीर्ण, बीचका भाग या मध्यलोक झांजके आकारका है। यों समझिये उथला और गोल तथा ऊपरका भाग स्वर्गलोक या ऊर्ध्वलोककी बनावट खड़े मृदङ्गकी सी है। संक्षेपमें यही तीनों लोकोंके आकार हैं।

३ तिर्यञ्चलोक या मध्यलोकके विस्तारको माप मानकर, उसे एक राजु प्रमाण माना है। इस राजु प्रमाणके अनुसार तीनों लोकोंकी सम्मिलित ऊंचाईको चौदह राजु प्रमाण कहा है।

४ लोक प्रमाण

मध्यलोकके केन्द्र बिन्दुपर स्थित गिरिराज सुमेरुसे नीचेकी तरफके लोककी ऊंचाई सात राजु प्रमाण है, इसी प्रकार ऊपरके भागका प्रमाण भी सात ही राजु है। फलतः सुमेरुके मूलमें स्थित आठ प्रदेश ही ऊर्ध्व और अधोलोकके बीचका ठीक केन्द्र स्थल हैं।

५ इस सम्पूर्ण जीवलोकको घनोदधि वातवलय, घन वातवलय और तनुवातवलय इन तीनों वातवलयोंने हर तरफसे भलीभांति घेर रखा है। यह वायुसमूह भी स्वयं अत्यन्त भारी और घनाकार हैं। लोकके मूलभाग या नीचे इन वातवलयोंका

६ लोक-अवलम्ब

विस्तार सोलह योजन है, लोकके मध्यमें केवल बारह योजन प्रमाण है तथा ऊपर जाकर दश संख्या कम गव्यूति प्रमाण (दो के लगभग) रह जाता है। पहिले कहे

७ गये दोनों वातवलयोंके विस्तारके ही कारण तीनों लोकोंकी स्थिति है। जीवलोकके आदिमें अर्थात् नीचे सब वातवलयोंका विस्तार जो सोलह कहा है उसमें घनोदधि वातवलयका विस्तार सात योजन है, घन वातवलयका केवल पांच योजन है और तनुवातवलयका चार

८ योजन प्रमाण कहा है। लोकके मध्यमें बताये गये वातवलयोंके बारह योजन प्रमाण विस्तारमें घनोदधि वातवलयका विस्तार पांच योजन प्रमाण है, घनवातवलयका विस्तार चार योजन प्रमाण है और तनुवातवलयका केवल तीन योजन ही है। लोकके शिखरपर घनोदधिका विस्तार दो गव्यूति प्रमाण है, घन वातवलयका एक गव्यूति (कोश) है और अन्तिम वातवलयका एक कोशसे कुछ कम है।

९ केवल ज्ञानरूपी दृष्टिसे तत्त्वोंका साक्षात्कार करनेवाले मुनियोंने समस्त जीवोंको पांच गतियोंमें विभक्त किया है—नरक गति, तिर्यञ्च गति, मनुष्य गति,

चतुर्गति-पंचमगति

देव गति तथा अन्तिम गति या मोक्ष उनके नाम हैं।

१० - इन पांचों गतियोंमेंसे लोकके नीचेकी ओरसे प्रारम्भ करनेपर नरक गति सबसे पहिले आती है। हर प्रकारसे जीवका अकल्याण करनेवाली इस गतिमें वे जीव ही जाते हैं जो

हिंसा, आदि पाप कर्मोंमें ही लगे रहते हैं। सामान्य दृष्टिसे देखनेपर यह अधोगति एक है ११ लेकिन दुख, आयु, आदिकी अपेक्षासे विचार करनेपर इसीके सात भेद हो जाते हैं। ऋषियोंके अग्रणी केवलियोंने इन सातोंके नामोंको निम्न प्रकारसे कहा है:—प्रथम नरकका नाम है धर्मा उसके नीचेके पृथ्वीका नाम वंशा है, इसके १२ बादकी पृथ्वीको शिला कहते हैं, इसके नीचे क्रमसे अञ्जना और अरिष्टा पृथ्वियां हैं, छठे नरकका नाम मघवी है और अन्तिमको माघवी संज्ञा दी है। मैं इन नामोंको उसी क्रमसे कह रहा हूं जैसा कि पूर्वाचार्योंने कहा है। आगे कहे गये नाम शब्दोंके अन्तमें १३ 'प्रभा' शब्द जोड़ देनेसे इन्हीं सातों नरकोंके क्रमशः रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा तथा सातवींका तमस्तमा या महातमाप्रभा नाम हो जाते हैं। ये नाम इन पृथ्वियोंके रंग तथा वातावरणके स्वरूपपर भी प्रकाश डालते हैं।

नरक गति

अत्यन्त तापयुक्त इन्द्रक, (केन्द्रका विल) दिशाओंमें फैले तथा इधर उधर फैले १४ (प्रकीर्णक) नारकियोंके वास स्थानों (विलों) से पूर्ण पटल प्रथम पृथ्वी धर्मामें एकके नीचे एक करके तेरह होते हैं। इसके आगे प्रत्येक पृथ्वीमें दो दो घटते जाते हैं। अर्थात् वंशामें ग्यारह, शिलामें नौ, अञ्जनामें सात, अरिष्टामें पांच, मघवीमें तीन और माघवीमें केवल एक। इन सातों नरकों में बने निवासों (विलों) १५ की संख्या भी रत्नप्रभामें तीस लाख, शर्कराप्रभामें पांचका वर्ग (पच्चीस) लाख, बालुका प्रभामें पन्द्रह लाख, पंकप्रभामें दश लाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पांच कम एक लाख और महातमःप्रभामें केवल पांच ही है। आठों कर्मोंके मानमर्दक जिनेन्द्र प्रभुने इस १६ प्रकारसे इन सातों नरकोंके पटलोंके भेदोंको कुल मिला चार लाख अधिक अस्सी लाख अर्थात् चौरासी लाख प्रमाण कहा है। इन चौरासी लाख विलोंमेंसे जो विल सबसे छोटे हैं वे भी १७ अपने विस्तार आदिमें हमारे जम्बूद्वीपके समान हैं। तथा जो विल सबसे बड़े हैं उनका तो कहना ही क्या है उनका प्रमाण असंख्यात योजन है।

नरक पटल

इन्द्रक या केन्द्र स्थानपर स्थित नरकों (विलों) की लम्बाई, चौड़ाई और अन्य १८ बातों को हे राजन्! बिलकुल मध्यलोकके नगरोंके आकारका ही समझिये, इन्द्रककी आठों दिशाओंमें बने विलोंको श्रेणीबद्ध कहते हैं तथा श्रेणीबद्ध विलोंकी पंक्तियोंके अन्तरालमें इधर उधर खुदे विलोंको ही प्रकीर्णक कहते हैं।

विल विस्तार

ऊपरके नरकोंकी अपेक्षा नीचेके नरक अधिक निर्दय और भयंकर हैं। ज्यों ज्यों १९ नीचे जाईयेगा त्यों त्यों कष्ट और वेदनाको दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता पाइयेगा, अवस्थाका भी यही हाल है क्योंकि नीचेके नरकोंमें ऊपरकी अपेक्षा बहुत बड़ी आयु है। नरकोंमें व्याप्त अन्धकार भी नीचे, नीचे घनतर और घनतम होता जाता है। सातमे और छठे नरकमें भयंकर शीत वातावरण है, पांचमें नरक २० धूमप्रभामें क्रमशः अत्यन्त प्रखर शीत और उष्ण वातावरण है और चतुर्थ पृथ्वी अञ्जनापर दारुण गर्मीका ही साम्राज्य है। यह शीत और ताप किन्हीं बाह्य कारणोंसे नहीं है बल्कि वहांकी पृथ्वीकी प्रकृति ही उस प्रकार की है। इन नारकियोंपर बीतनेवाले दुखोंकी, भयंकर २१ शीत और दारुण ताप-बाधाओंकी, उनके रंग-रूप, गन्ध और आकृतियोंकी हजार प्रयत्न करनेपर भी दूसरी उपमा नहीं मिल सकती है।

नारकी वातावरण

२२ उन नरकोंकी गर्मी ऐसी होती है कि यदि उसमें सुमेरु पर्वतके समान लम्बे, चौड़े और घने लोहेके पिण्डको यदि यों ही फेंक दिया जाय तो वह भी एक, दो मुहूर्तमें नहीं

२३ शीतोष्ण बाधा

अपितु क्षणभरमें पानी होकर बह जायेगा। इसी लाखों योजन लम्बे, चौड़े और घने द्रवीभूत लोहेके महापिण्डको यदि शीतबाधायुक्त नरकमें उठाकर डाल दीजिये तो निश्चित समझिये कि वह बिना किसी प्रयत्नके ही बिल्कुल हिमशिलाके

२४ समान हो जायेगा ऐसी भयंकर वहांकी ठंड होती है। दैवी शक्ति सम्पन्न जो देव संपूर्ण जम्बूद्वीपको पलक मारनेके समयमें ही पारकर जाता है, वही देव यदि सबसे बड़े नारकियोंके बिलमें घुस जाय तो लगातार चलते चलते हुए भी उसे बिलके दूसरे किनारेतक पहुंचनेमें ही छह माह लग जांयगे। इसीसे उनके क्षेत्रफलका पता लग जाता है।

२५ मुनियोंके अग्रणी केवली, आदि ऋषियोंने जिस गतिको भयंकर और कट्र दुखोंसे व्याप्त कहा है, उसी गतिमें कौनसे जीव मरकर पहुंचते हैं उन्हींके विषयमें अब मैं विस्तार

२६ नरक गतिके कारण

पूर्वक कहता हूं। जो हर समय दूसरोंकी द्रव्य या भाव हिंसामें लगे रहते हैं, जिन्हें झूठ बचन बोलनेमें कभी कोई हिचकिचाहट ही नहीं होती है, दूसरे की सम्पत्तिका चुराना जिनकी आजीविका हो जाती है, दूसरेकी स्त्रियोंकी

२७ लज्जा और सतीत्वको ले लेना जिनका स्वभाव हो जाता है, विपरीत या भ्रान्त श्रद्धा जिनके विवेकको ढक लेती है, अत्यधिक आरम्भ और परिग्रहको करना जिनका व्यापार हो जाता है और जिनकी लेश्या (विचार और चेष्टा) अत्यन्त कृष्ण (कलुषित) हो जाती है, ये ही

२८ लोग नरकगतिमें जाकर बहुत समयतक दुख भरते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि पांचों इन्द्रियोंका अत्यन्त आकर्षक और सुखदायी जो स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द, पांच भोग्य विषय हैं

२९ इनको प्राप्त करनेके उद्देश्यसे ही जो लोग निर्दय और नीच काम करते हैं वे लोग अपने दुष्कर्मों और अकर्मोंके भारसे इतने दब जाते हैं कि वे धड़ामसे नरकमें वैसे ही जा गिरते हैं जैसे लोहेका भारी गोला पानीमें फेंके जानेपर जोरकी आवाज करता है और रसातलको चला जाता है ऊपर नहीं ठहरता है।

३० इस प्रकार नरकमें पहुंचकर कुछ जीव तो भट्टियोंके समान अत्युष्ण स्थानोंमें पैदा होते हैं तथा दूसरे उन स्थानोंपर उत्पन्न होते हैं जिनकी तुलना ऊंटकी आकृतिके बने भाड़ोंसे की

३१ नारकी-जन्म

जा सकती है। वे वहांपर नीचे मुख किये हुए उत्पन्न होते हैं और जन्मके क्षणसे असह्य वेदनासे व्याकुल रहते हैं वे दुराचारी उत्पन्न होते ही वहांके प्रखर तापसे असह्य कष्ट पाते हैं और उसीसे अशान्त होकर जन्मके स्थानपरसे ऊपरको उचकते हैं और बार बार वहीं ऐसे गिरते हैं जैसे जलते भाड़में तिल उचट उचट कर गिरते

३२ हैं। सबही नारकियोंके रंग रूप भयावने होते हैं, वे सब अत्यन्त दुर्बल होते हैं और आवेशमें आकर अपने बलका दुरुपयोग ही करते हैं, शरीरोंसे असह्य सड़ांद आती रहती है, उनका संस्थान (शरीर गठन) ऐसा ऊबड़ खाबड़ होता है कि उन्हें कुब्जक भी नहीं कह सकते, सबही नपुंसक होते हैं और अत्यन्त कटु तथा कठोर बातें करते हैं।

३३ उन सबको विभंग (कुत्सित) अवधिज्ञान होता है फलतः नये नारकियोंको उत्पन्न हुआ देखकर ही उन्हें उनके प्रति अपने पूर्वभवके वैर याद आ जाते हैं, फलतः वे सब नये

३४ नारकोंपर हर तरफसे हमला करते हैं। उनके हाथ ही शस्त्रोंके समान तेज होते हैं, वे हाथ

उठाकर नये नारकियोंको धमकाते हैं, उनपर जोर, जोरसे गरजते हैं, गालियां देते हैं और निंदा करते हैं और दूसरे जन्मोंमें किये गये (नूतन नारकियों द्वारा) दोषों और अपकारोंको

नारकियोंका स्वभाव

बकते हुए उनपर टूट पड़ते हैं। वे नारकी पूर्व जन्मोंमें किये गये अपने ३५ अपराधों और दोषोंकी याद आते ही भयसे कांपने लगते हैं, शरीर ढीला पड़ जाता है और अपने विरोधीको आता देखकर भागना प्रारम्भ कर देते हैं। दूसरे ३६ नारकी ज्योंही उन्हें भयसे भागता देखते हैं त्योंही वे जल्दीसे आगे बढ़कर उनको रोक लेना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि वे और उग्र होकर उनको डराते हैं तथा जिधर जिधर वे भागते हैं उनके पीछे, पीछे दौड़ते जाते हैं।

भयसे भीत होकर भागते हुए उन असहाय तथा सब प्रकारसे उनके आश्रित ३७ नारकियोंको जब अन्तमें वे पकड़ ही लेते हैं तो उनके मर्म स्थलोंपर मूसरों, मुद्गरों और

नारकी व्यवहार

भालोंकी निर्दय बौछार प्रारम्भ कर देते हैं। उन पापियोंके द्वारा निर्दय ३८ रूपसे पीटे गये वे नूतन नारकी रोते हैं, विलाप करते हैं और शिर आदि अंगोंके फट जानेपर वेदनासे विह्वल हो जाते हैं तथा मरेसे होकर पृथ्वीपर गिर जाते हैं।

घायल और बेहोश होकर जमीनपर गिरे उन नारकियोंको तब सिंह, बाघ, हिरण, ३९ हाथी, गिद्ध, उल्लू, कौआ, आदि पशु पक्षी अपने अपने लोहेके समान नखों, दांतों और

नारकी दुःख

चोंचोंसे उन्हें खाते हैं। दूसरे नारकी उन्हें लोहेके कड़ाहोंमें डाल देते हैं ४० और लोहेकी सींकोंसे उन्हें खूब कोंचते हैं। अन्तमें जब वे मांस, मिट्टी, मज्जा और अन्य रसोंसे लथपथ हो जाते हैं तो उन्हें मांसकी तरह काट काटकर खाते हैं। अन्य निर्दय नारकी उनको जीभ, नाक, कान और आंख आदि अंगोंको बलपूर्वक नोच लेते ४१ हैं। फिर इन सबको शिरारूपी तागोंमें गूंथ देते हैं और उष्ण शिलाओंपर फैलाकर इन्हें सुखाते हैं। जो जीव बार बार दूसरोंके हाथ, पैर, आदि अंग काट देते थे तथा मांसादि ४२ खूब खाते थे उन्हें नारकी नीचेको मुख करके पटक देते हैं और पुनः पुनः बिना विलम्बके उनको खूब घुमाते हैं। इसके बाद उनके हाथ, पैर, नाक, कान, आदि अंगोंको काट ४३ लेते हैं, और जबकि उनसे रक्त बहता ही रहता है तभी उन्हें इकट्ठाकर लेते हैं।

इसके बाद अपने मिथ्यात्व जन्य संस्कारोंसे प्रेरित होकर उन सब अंगोंको बलिरूपमें दिशाओंको चढ़ा देते हैं। दूसरे नारकी अंगोंको काटकर अपने भालोंमें फंसा देते हैं; फिर ४४

नरक कैलि

जोरोंसे दौड़ते जाते हैं और उन अंगोंको चक्रकी तरह घुमाते जाते हैं। अन्य सहापतित नारकी उन्हें ओखलीमें फेंक देते हैं और बादमें लगातार मूसल मारकर बिल्कुल चूर्ण कर देते हैं। वे इतने दयाहीन होते हैं कि नरकियोंको सगुन्धि ४५ द्रव्य (लेप) की तरह पीस डालते हैं अथवा धान्यके समान दलते हैं। तीक्ष्ण शूलोंके द्वारा आंखोंको बेध देते हैं तथा कांटोंमें फंसाकर आंखे उपार लेते हैं। कुछ नारकी दूसरोंके रक्तको ४६ पानीकी तरह पी जाते हैं जबकि शस्त्रोंकी मारसे उनका शिर फूट जाता है, ऐसी हालतमें कोई उसे मुखकी तरफसे खाना शुरू करता है, दूसरा उसे पैरोंकी तरफसे चखने लगता है। वे एक दूसरेके अंगोंको तलवारसे काट देते हैं, इसके उपरान्त छुरियोंसे उनको बोटी बोटी ४७ बना देते हैं। टांकिया चला चलाकर शिरके कपालको फोड़ देते हैं, और तलवारसे मुखोंको क्षत विक्षत कर डालते हैं। पहिले सम्पूर्ण शरीरको घासमें लपेट देते हैं फिर आग लगाकर ४८

बिल्कुल जला डालते हैं। शिरमें नुकीली कीलोंको गाड़ देते हैं और टेढ़ी टेढ़ी सीखोंसे
४६ आंखें उखाड़ लेते हैं। जब खण्डित अंगोंसे रक्त और पीप बहने लगती है तब ही मक्खियां, मच्छर, बिच्छू, चीटियां, आदि कृमि घावोंपर लग जाते हैं और उन्हें खूब काटते हैं।

५० जो प्राणी अपने पूर्वजन्ममें दूसरे जन्तुओंको मारते थे और आनन्दसे उनका मांस खानेके लिए तयार रहते थे, उन्हें ही नरकमें पहुंचने पर वे नारकी बड़ी बड़ी यातनाएँ देते हैं

५१ नारकी दुःख तथा कारण

और इसी प्रकार आपसमें दण्ड व्यवस्था करते हैं। जिन लोगोंने अपने पूर्वजन्मोंमें लोभसे प्रेरित होकर, राग द्वेषके कारण, प्रमादसे, अथवा राजाकी आज्ञाको पाकर, अभिमानमें चूर होकर या अपने प्रभुत्वको जमानेके लिए,
५२ अथवा दूषित शक्तिके भरोसे झूठ बोलकर दूसरोंके प्राण लिये थे, उनको नारकी कहते थे कि आओ, अब तुम्हारे उस उद्दण्ड बल और सामर्थ्यको देखें ? यह कहकर वे उन्हें नोचते थे
५३ इतना ही नहीं बार बार शस्त्रोंसे कांचते थे। पहिले हथियारोंसे ये उनके दांत उखाड़ डालते थे और फिर (दांतों के आवरण) ओठोंको किसी यंत्रसे काट लेते थे इसके बाद उनके मुखोंमें बलपूर्वक ऐसे भयंकर सांपोंको ठूस देते हैं जिनकी फुंकारसे ही प्राण निकलते थे।
५४ *जन्म जन्मान्तरोंके संबंधोंके कारण शत्रुभावको प्राप्त नारकी दूसरे नारकियोंकी जीभ ही* उखाड़ लेते थे और अति ही अत्यधिक दाहक गर्म तांबेको उन जीवोंको पिलाते थे जिन्हें
५५ अन्य भवोंमें झूठ बोलनेका अभ्यास था। उनका क्रोध इतना संहारक होता है कि उनकी आंखें क्रोधसे फड़कती रहती हैं, तीखे से तीखे भालोंको लेकर निर्दयरूपसे दूसरे नारकियोंके पैरोंको छेद देते हैं, यद्यपि मारे गये नारकी अत्यन्त करुण स्वरसे रोते रहते थे।

५६ कुछ नारकी ऐसे होते हैं जो विलाप विलाप कर रोते हुए नारकियोंकी भी अंगुलियोंको लोहेकी तेज कीलोंसे छेद देते हैं। वे इतने नृशंस होते हैं कि दूसरे नारकियोंसे गाढ़ शत्रुता
५७ कर लेते हैं और उसके आवेशमें आकर उनके शरीरके टुकड़े टुकड़े कर डालते हैं। वे तीक्ष्ण फरसा उठाकर दूसरोंकी जांघोंको छीलने लगते हैं और बादमें काट काटकर खाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो पहिले मारते हैं उसके उपरान्त उनके हाथ पैर काटते हैं और अन्तमें इन्हें उठाकर जलती हुई चिताकी ज्वालाओंमें झोंक देते हैं। विभंग अवधि ज्ञानरूपी नेत्रोंसे
५८ ही अपने पूर्वभव और कर्मोंको देखनेवाले वे कुकर्मी और पापात्मा नारकी ऊपर कही गयी रीतियोंसे तथा नाना प्रकारके अनेक दण्डोंके द्वारा उनके खण्ड खण्ड करते हैं जो इस लोकमें चोरी करनेको आनन्द मानते थे।

५९ जो लोक इस संसारमें दूसरोंकी पत्नियोंसे या अन्य स्त्रियोंसे संगम करनेके लिए लालायित रहते थे या करते थे वे ही मरकर जब नरकोंमें पहुंचते हैं, तब वहां उपस्थित नारकी

परस्त्री-गमनका फल

तुरन्त ही दौड़ दौड़कर विषसे मिली हुई चन्दनकी गोली गीली कीचड़ शरीरपर लेपकर उनका स्वागत करते हैं। इस लेपके लगते ही उनका सारा शरीर भीतरसे जलने लगता है। दूसरी स्त्रियोंसे रतिकेलि करनेवालोंको, अथवा
६० परस्त्रीसे निर्दयतापूर्वक संभोग करनेवालोंको नारकी गरमागरम लोहेसे या तांबेसे बनाये गये गहने, मालायें तथा कपड़े आदि जबरदस्ती ही पहिना देते हैं। संभोगरूपी युद्धके परम ज्ञाता
६१ जीवोंके पास नारकी स्त्रियां बड़े हावभाव और शृंगारके साथ आती हैं। उनकी शृंगारिक चेष्टाएं, भाव, संकेत तथा प्रेमसे कहे गये वचन ऐसे होते हैं जो कि स्वागतका काम देते हैं।

इतना ही नहीं वे स्त्रियां पूर्वजन्ममें किये गये अनैतिक प्रेम, और सम्बन्धों, आदिकी प्रेरणा पाकर उन नारकियोंके मनको विशेष रूपसे अपनी ओर आकृष्ट कर लेती हैं तब वे उन्हें अपनी प्राण प्यारियां समझकर जोरसे आलिंगन करते हैं। उनका आलिंगन करते ही उन्हें ऐसा अनुभव होता है, मानो सारा शरीर ही किसी ज्वालासे चिपटकर जल गया है, इतना ही नहीं दूसरेकी स्त्रियोंको बहकाकर उनका स्त्रीत्व दूषित करनेवाले वे नारकी, उन स्त्रियोंसे चिपकनेपर घीकी तरह पिघल जाते हैं और उनका संपूर्ण शरीर ही बह जाता है। 'उस स्थानपर उस भवमें हम दोनोंने उस, उस तरहसे प्रेमलीला और संभोग किया था' इत्यादि बातें वे पापी नारकी जीव कहते हैं। और इसके बाद उन्हें ही फिर नाना तरहके कष्ट देते हैं जिन्हें पूर्वभवमें भी अनेक कष्ट दिये थे। कष्ट देनेके लिए ही नारकी परपुरुषोंसे प्रेम करनेवाली स्त्रियोंके सामने वे खूब गर्म लोहे या तांबेके पुरुष बना देते हैं तथा परस्त्रीगामी पुरुषोंके आगे स्त्रियां बनाकर खड़ी कर देते हैं। इस तरह आपसमें आलिंगन, आदि कराके वे उन्हें दुख देते हैं। ६२ ६३ ६४ ६५

जो मनुष्य भोग उपभोगके किसी भी काममें न आनेवाले मुर्गा-मुर्गी, मेढ़े, बिल्ला-बिल्ली, नेवली-नेवला, लावक, कुत्ता-कुत्ती, आदि ऐसे पशु पक्षियोंको पालते हैं, जो कि मानसिक या शारीरिक जीवनके लिए सर्वथा निरथक हैं। जिनकी संसार भरके सम्पत्ति और विभवशालियोंका जितना धन और सामग्री है वह सबकी सब मुझे ही प्राप्त हो जाय, किसी दूसरेके पास थोड़ी सी भी शेष न रह जाय ऐसी उत्कट इच्छा होती है। सांसारिक सम्पत्ति और भोग उपभोग सामग्रीको प्राप्त करनेके लिए आवश्यक सबही कुकर्मोंको जो मनुष्य बड़े चाव और तत्परतासे करते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरोंमें प्राप्त होनेवाले दुखोंका पार नहीं पाते हैं और बहुत लम्बे अरसेतक नरक-गतिमें ही सड़ते हैं। इनमेसे कुछ लोगोंको नारकी घड़ेमें बन्द करके पकाते हैं, दूसरोंको अत्यन्त तपी बालू और राखमें उसी तरह भूंजते हैं जैसे धान्य भाड़में भुजते हैं तथा अन्य लोगोंको पीट पीटकर भूसेके समान चूर्ण कर देते हैं। ६६ ६७ ६८ ६९

व्यर्थ परिग्रह। फल

कुछ नारकी आरियोंसे चीरकर दो बराबर टुकड़े कर डालते हैं अथवा शरीरके मर्म (कोमल तथा जिनको पीटनेसे मौत हो सकती है) स्थलों तथा जोड़ोंको किसी यन्त्रसे काटते हैं। अन्य नारकियोंकी गति और भी बुरी होती है क्योंकि वे भालोंसे कोंचे जाते हैं और बादमें मूसलोंसे कूटे जाते हैं। कुछ नारकी कोल्हुओंमें पेले जाते हैं तथा दूसरोंका दुर्दैव उन्हें गन्नेकी चरखीमें डाल देता है। अन्य लोग सदा घूमते हुए चक्रयन्त्रोंपर बैठा दिये जाते हैं, वहांपर वे काफी देरतक तेजीसे घुमाये जाते हैं और अन्तमें वेगसे रसातलमें फेंक दिये जाते हैं। शरीरके सैकड़ों टुकड़े हो जानेपर वे वेदनासे मूर्च्छितसे हो जाते हैं। इन अवस्थाओंको भरनेमें उन्हें दारुणसे दारुण समस्त क्लेश सहने पड़ते हैं। यह सब हो जानेपर अन्तमें वे प्रचण्ड वेगसे खिसककर एक गर्तमें गिर जाते हैं। वहां गिरते ही थोड़ी देरमें उनके शरीरके सब आंगोपांग फिरसे ठीक हो जाते हैं, तब वे अकस्मात् ही उठकर खड़े हो जाते हैं लेकिन चारों ओरकी परिस्थितियोंको देखकर भय विह्वल हो जाते हैं और आत्मरक्षाके लिए भागते, भागते पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं। पर्वतोंपरसे फेंके जानेके कारण पत्थरोंसे घिसकर उनके सबही अंग गलने लगते हैं फलतः वे दौड़ते जाते हैं और चिल्लाते रोते जाते हैं। इसके बाद ७० ७१ ७२ ७३ ७४

क्या होता है ? पर्वतकी गुफाओंसे सिंह, बाघ और रीछ निकलते हैं जो कि उन्हें खाना ही प्रारम्भ कर देते हैं।

७५ तब वे पहाड़ोंसे भी भागते हैं और नीचे आकर देखते हैं कि कुछ लोग सुन्दर भोजन कर रहे हैं और दूसरे लोग बढ़िया शरबत, आदि पी रहे हैं। वे स्वयं भी भूख और प्याससे चकनाचूर रहते हैं इसलिए धीरे धीरे चलने लगते हैं और उन लोगोंसे

७६ अन्य दुःख साधन

भोजन-पान मांगते हैं। वे लोग (ओका) भी बड़ी त्वरा और आदरसे उठते हैं और मांगनेवालोंको विधिपूर्वक पैर धोनेको जल देते हैं। अर्घ अर्पण करके स्वागत करते हैं, इसके उपरान्त अनेक शिष्टाचार और आवभगतोंको करते हैं तथा अन्तमें अत्यन्त

७७ जलता हुआ आसन बैठनेको दे देते हैं। उसपर बैठते ही उनके हृदय भयसे कांप उठते हैं किन्तु दुर्गति होती ही रहती है क्योंकि अन्य नारकी खूब गरम किये गये लोहेके गोलोंको अनेक टुकड़ोंमें बांट देनेके बाद, भूखोंके मुखोंको यन्त्रोंके द्वारा फाड़कर उनमे ठूंस देते हैं।

७८ यह होनेपर उनके तालु, ओष्ठ, जिह्वा और मुख बिलकुल सूख जाते हैं। वे प्याससे दुखी होकर चिल्लाने लगते हैं, तब दूसरे निर्दय नारकी उनकी विनय, विलाप और पुकारकी परवाह न करके खूब तपाये गये ताम्बेके द्रव (पानी) को उनके मुखमें भर देते हैं और बलपूर्वक

७९ पिलाते हैं। वे नारकी कितने हृदयहीन और निर्दय होते हैं इसका पता इससे लग जायगा कि वे गर्मीके प्रतीकार करनेका बहाना बनाकर तड़पते नारकियोंकी गर्दन सावधानीसे

८० पकड़ लेते हैं और तुरन्त ही जलते हुए पानीमें शिरसे पैरतक डुबा देते हैं। इतना ही नहीं वे चारों ओरसे रास्ता घेर लेते हैं और गरम जलमें तड़पते हुए नारकियोंको अत्यन्त घोर वैतरणी नदी पार करनेके लिये बाध्य करते हैं। यह वैतरणी भीषण जलचर, भंवर, आदि अनेक उपद्रवोंसे भरी है, इसका पानी भी विषमय है और इतना खारी है कि शरीरमें जहां लगता है वहीं काट देता है।

८१ जब कोई अन्य गति ही नहीं रह जाती है तो नदीमें पड़े नारकी बड़े कष्टोंसे नदीके उस पार पहुंचते हैं। वहांपर फले फूले बगीचेको देखते है तो शान्ति पानेके लिए वनमें घुस जाते हैं। किन्तु ज्योंही वनके बीचमें पहुंचते हैं त्योंही हवा क्रुद्ध (तीव्रतम) हो जाती है और

८२ भीषण आंधीका रूप ले लेती है। तब वृक्षोंसे पत्ते गिरते हैं जो तलवारके समान काटते हैं, फल इतने भारी होते हैं मानो लोहेके गोले ही हैं और फूलोंमें तो विष ही भरा रहता है जो कि

८३ तुरन्त ही प्राण ले लेता है। वृक्षोंकी उक्त मारसे उनका सारा शरीर क्षत-विक्षत हो जाता है, अंग-उपांग कट छट जाते हैं तब वे प्राणरक्षाके लिए ही क्योंकि वेदना असह्य हो जाती है— उन पेड़ोंपर चढ़ जाते हैं। लेकिन चढ़कर बैठे नहीं कि धड़ामसे भूमि पर आ पहुंचे। वह भूमि भी कांटोंसे भरी रहती है और विषकी ज्वालासे धधकती रहती है।

८४ सब दुःखमय

भूमिके विषके संचारसे उनका समस्त शरीर जलने सा लगता है तब वे अत्यन्त करुण स्वरसे बुरी तरह रोते हैं। पर सब व्यर्थ क्योंकि वहांपर दीमक–आदि कृमि उनके

८५ शरीरको नष्ट करती हैं और चींटिया जोरसे काटती हैं। इतना ही नहीं काले काले कुत्ते आकर उनको चीड़ना फाड़ना शुरू कर देते हैं। अशुभ कृष्ण काक उनके अंगोंको चोंचोंसे खींचते हैं, काले, कालकूट विषपूर्ण भीषण सर्प डसते हैं और विचित्र मक्खियां उनका रक्त पीती हैं।

८६ यह सब हो जानेपर भी एक मूहूर्तसे भी कम (अन्तर्मुहूर्त) समयमें उनके शरीरके

सब अंग जुड़ जाते हैं तथा शरीर पूरा हो जाता है। यह भी इसीलिए होता है कि उनके असातावेदनीय कर्मका परिपाक उक्त वेदनाएं सहनेपर भी पूरा नहीं होता है

कृतसे मुक्ति नहीं

अतएव और वेदनाएं सहनेके लिए ही वे जीवित रहते हैं। उनकी आंखें यदि ८७ कुछ देखती हैं तो वह सब अनिष्ट ही होता है, कानोंके द्वारा सुने गये स्वर भी अत्यन्त कर्णकटु और बुरे होते हैं, नाकसे जो कुछ सूंघते हैं वह सब दुर्गन्धमय हो जाता है हाथ पैर आदिसे जो जो वस्तु छूते हैं वही कठोर और कष्टप्रद मालूम देती है और जिह्वाके द्वारा जिस ८८ किसी पदार्थको चखते हैं वही सर्वथा बेस्वाद हो जाता है। मानों कोई अच्छा इन्द्रिय-व्यापार करनेकी शक्ति ही उनमें नहीं रह जाती है इसीलिए सब इन्द्रियोंके द्वारा अकल्याण करनेवाले विषयोंको पाकर उनका चित्त अत्यन्त खिन्न और व्याकुल हो उठता है।

नरकलोकमें मध्यलोककी भांति न तो ऐसे लोग मिलते हैं जिन्हें किसीके भले बुरेमें ८९ कोई रुचि ही न हो और न ऐसे ही सज्जन होते हैं जो मित्रता करें। हितैषी, प्रियजन तथा बन्धुबान्धवकी तो सभावना हो क्या है। वहांपर जिससे भी पाला पड़ता है वही

असुर कुमार

अपकार करता है फलतः सब ही शत्रु होते हैं। और तो कहना ही क्या है असुर जातिके ९० देवता तक प्रथम नरकसे चौथे पर्यन्तके नारकियोंको तरह तरहसे कष्ट देते हैं। वे स्वयं क्रोधके आवेशमें आकर उन्हें हजारों पतनोंकी ओर ले जाते हैं और इस प्रकार स्वय भी पाप ही कमाते ९१ हैं। इन असुर कुमार देवोंके चित्त रागके द्वारा जड़ ही हो जाते हैं इसीलिए उनके भावोंमे असुरों ऐसी निर्दयता, क्रोध, आदि आ जाते हैं। परिणाम यह होता है कि उन्हें एक जगह बैठा लेते हैं और आपसमे एक दूसरेके विरुद्ध समझाते हैं। तब वे अपने पूर्वभवोंके कुछ वैरियों या ९२ अहितुओंको भाषण सेमरके पेड़ोंपर बैठा देते हैं। इसके बाद उन्हें खूब जोरसे नीचे ऊपर खींचते हैं और बिना किसी विचारके पुनः पुनः नीचे गिरा देते हैं। इस खींचातानीमें उन ९३ नारकियोंके प्रबल और खुले वक्षस्थलोंको बड़े लम्बे लम्बे और नुकीले कांटे छिन्न भिन्न कर देते हैं। वे नीचे भी नहीं आ सकते हैं क्योंकि उनके वैरी नीचे आग जला देते हैं। यदि ऊपर जाते हैं तो भी कुशल नहीं क्योंकि वहां राक्षस खा जाते हैं। गीध और कौए चोंचें मार, मार ९४ कर ही नोच डालते हैं, डांस और मच्छर काट, काटकर सारे शरीरको फुला देते हैं, पिशाचोंसे भी बढ़कर भीषण नारकी चारों ओरसे डराते हैं और यदि आपसी युद्धसे विरत हों तो असुरकुमार देवता डाटते हैं।

इस प्रकारसे नारकी अपने पूर्व जन्मोंमें किये पापोंके फलस्वरूप नाना प्रकारके दारुण ९५ दुःख भरते हैं। किन्तु इतनेसे ही उनके कष्टोंका अन्त नहीं हो जाता है? कारण नरकोंका शीत और उष्ण वातावरण ही उन्हें दुःख देनेके लिए आवश्यकतासे

वातावरण जन्य महादुःख

अधिक है। वहांकी गर्मी और ठंड दोनों ही असह्य होती हैं। यदि ९६ कोई नारकी किसी तरह उस नरकसे निकल सके जिसमें गर्मी बहुत पड़ती है तथा इसके बाद मध्यलोककी ग्रीष्म ऋतुकी तीक्ष्ण दुपहरोंमें उसे जलती ज्वालामे घुसड़ दिया जावे, तो भी निश्चित है कि वह अपनेको सुखी समझेगा। जिस नरकमें पूर्ण शीत पड़ता है, यदि उसमेंसे ९७ किसी नारकीको निकाला जाय और हेमन्त ऋतुमें उसे बरफके ढेरमे तोप दिया जाय तो, इतना निश्चित है कि वह उस अवस्थामें भी अपनेको सुखी पायेगा। उनकी प्यास इतनी दाहक ९८ होती है कि यदि वे किसी तरह सब समुद्रोंको पी जांय तो उस प्यासमें गटागट पी जायगे।

इतना पानी पीनेपर संभव है कि उनका पेट भर जाय पर पिपासाकी वह दाह तो शान्त होती
९९ ही नहीं है। तीनों लोकोंमें जो अपरिमित फल फूल हैं, पत्ते हैं, और घास है वह सब यदि किसी
तरह कोई नारकी पा जाय और खा जाय तो भी उसकी भूखकी ज्वाला जरा भी शान्त न होगी।

१०० हे राजन्! आपने देखा कि उक्त प्रकारसे नारकी जीव अनन्त प्रकारके दारुणसे
दारुण दुःख भरते हैं और वह भी; बिना अन्तरालके सहते हैं क्योंकि नरकोंमें सुखकी तो बात

१०१ परिग्रह नरकका कारण है

ही क्या है, विचारे नारकी सुखके नामको भी नहीं जानते हैं। जो
चक्रवर्ती सम्पूर्ण पृथ्वीका न्याय और शासनद्वारा पालन करता है तथा
अपने पुरुषार्थ और पराक्रमसे प्राप्त संसारकी समस्त विभूतियोंका भोग करता है। वही पाप-
१०२ कर्मोंके विपाकसे नरक जाता है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। जो पुरुष इस भवमें
मनके द्वारा संसारकी समस्त विभूतियों तथा भोगोपभोग सामग्रीको सोचता रहता है और
मानसिक परिग्रह बढ़ाता है, वह मानसिक (कल्पनाका) चक्रवर्ती भी सीधा नरक जाता
१०३ है। यही आश्चर्यका विषय है। पुराण बतलाते हैं कि स्वयंभूरमण महासमुद्रमें एक इतनी बड़ी
मछली है जो एक द्वीपके समान है। इस महामत्स्यके कानमें एक छोटा सा मच्छ रहता है
जिसका यही ध्यान रहता है कि यदि वह बड़ा मत्स्य होता तो सब जल-जन्तुओंको खा
जाता इस दूषित कल्पनाके कारण ही वह घोर नरक गया है।

१०४ सप्तम नरक महातमाप्रभा पृथ्वीमें तेतीस सागर उत्कृष्ट आयु है, छठे नरकमें बाइस सागर
आयुका प्रमाण है, पांचवें नरकमें नारकियोंकी लम्बीसे लम्बी आयु सत्तरह सागर ही है, जो

१०५ नरकायु

कि चौथे पंकप्रभा नरकमें दशसागर ही उत्कृष्ट है, बालुका प्रभा नरकमें अधिकसे
अधिक आयु सात सागर ही है, दूसरी पृथ्वी वंशापर पैदा होनेवाले नारकियोंकी
उत्कृष्ट आयु तीन सागर होती है और प्रथम घर्मा पृथ्वीपर जन्मे नारकियोंकी उत्कृष्ट आयु एक
१०६ सागर है। प्रथम रत्नप्रभा पृथ्वीपर जघन्य आयुका प्रमाण केवल दश हजार वर्ष है। इसके
आगे अगले नरकोंमें (यथावंशामें) उससे पहिले नरक (धर्माकी) की उत्कृष्ट आयु (एक
सागर) ही जघन्य होती है।

१०७ कुकर्मोंके पाशमें पड़े विचारे नारकी बड़े बड़े, लम्बे अरसे तक उक्त प्रकारके दारुण
दुःखोंको वहां जन्म लेकर भरते हैं उन्हें अकाल मृत्यु द्वारा आयुके बीचमें भी छुट्टी नहीं

नरकमें अकाल मृत्यु नहीं

मिलती है क्योंकि उनकी आयु किसी भी तरह कम नहीं होती है, फलतः
अपवर्त्य (अकाल मृत्यु) की संभावना न होनेसे उन्हें दारुण दुःख भरने
१०८ पड़ते हैं। पलक मारनेके समयमें जितना सुख हो सकता है उतना सुख भी नारकियोंको प्राप्त
नहीं होता है उन्हें तो दिन रात बिना अन्तराल या व्यवधानके लगातार दुःख ही दुःख मिलता है।

१०९ हे नरदेव? इस समय मैंने उक्त प्रकारसे अत्यन्त संक्षेपमें आपको नरकगति तथा वहां
होनेवाली नाना प्रकारकी यातनाओंको समझाया है। इसके उपरान्तमें आपको तिर्यञ्चगतिके
विषयमें कहता हूँ इसलिये दुविधाको मनसे निकालकर शुद्ध बुद्धिसे उसे सुनो। महापापी
११० जीव नरक गतिके घोर अन्धकार पूर्ण गुफा समान बिलोंमें चिरकालतक उक्त विविध दुःखोंको
सहकर भी जब सब पापकर्मोंका क्षय नहीं कर पाते हैं तब वे अभागे जीव मरकर तिर्यञ्च-
गतिमें उत्पन्न होते हैं। वहांपर भी वे भव, भवमें लगातार दुःख ही दुःख भरते हैं।

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें नरकगति नामनाम पञ्चम सर्ग समाप्त

षष्ठ सर्ग

इसके उपरान्त तपोधन मुनियोंके गुरु श्रीवरदत्तकेवलीने पृथ्वीके पालक राजा धर्मसेनको निम्न प्रकारसे तिर्यञ्च गति[1] और उसके भेदोंको कहना प्रारम्भ किया था। तिर्यञ्चगति १

तिर्यञ्चयोनि

भी विविध प्रकारके अनेक दुखोंके कारण अत्यन्त भयानक है तथा उन असह्य दुखोंके आयतन (घर) नरकोंसे प्राणियोंको पीड़ा देनेमें थोड़ी ही कम है। सामान्यरूपसे केवल तिर्यञ्चपने (तिर्यक्त्व) की अपेक्षासे विचार करनेपर तिर्यग्गतिका एक ही २ भेद होता है, जहां जहां तिर्यञ्चोंका निवास या जन्म है उन स्थानोंकी अपेक्षा चौदह भेद होते हैं, कायकी अपेक्षा तिर्यञ्च छह प्रकारके हैं, इन्द्रियोंको प्रधानता देनेसे तिर्यञ्चोंके पांच ही भेद हैं। इस प्रकार तिर्यग्गतिके विशेषज्ञ गुणोंकी अपेक्षा भी तिर्यञ्चोंको पांच ही राशियोंमें विभक्त करते हैं।

स्थानकी प्रधानतासे चौदह भेद ये हैं:—एकेन्द्रिय तिर्यञ्च, इसके भी दो भेद स्थूल ३ एकेन्द्रिय और सूक्ष्म एकेन्द्रिय, यह दोनों भी दो प्रकारके होते हैं पर्याप्त और इसका उल्टा

स्थानभेद

अर्थात् अपर्याप्त। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय और चार इन्द्रिय धारी ये तीनों प्रकारके तिर्यञ्च भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक होते हैं। पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चोंके दो ४ भेद होते हैं संज्ञी (मन सहित) और असंज्ञी, ये दोनों भी पर्याप्तक और अपर्याप्तक, फलतः पंचेन्द्रियके भी चार भेद होते हैं। इस प्रकार सब (एकेन्द्रिय चार, दो, तीन, चार इन्द्रिय प्रत्येक दो और पंचेन्द्रिय ४) मिलाकर चौदह होते हैं।

षट्काय

जीवोंके समुदायका निवास पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, वनस्पति और (दो इन्द्रिय आदिके) त्रस शरीरमें होता है, अतएव इन्हीं छहको षड् जीव-निकाय कहते हैं।

इस संसारमें पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक और अग्निकायिक स्थावरजीव[2] ५ असंख्यात हैं, इन्हें लौकिक गणनाके उपायों द्वारा गिना नहीं जा सकता है। किन्तु वनस्पति

स्थावरतिर्यञ्च

कायिक जीवोंका परिमाण अनन्त हैं। पृथ्वी, आदि पांचों शरीरोंके धारक जीवोंके सिर्फ एक स्पर्शन इन्द्रिय ही होती है। फलतः छुये जानेपर या छूकर ही वे सुख और दुखका अनुभव करते हैं।

नदी, आदि स्थलोंपर पाये जानेवाले शंख, घोंघे, सीप, कुक्षि, केंचुआ, आदि कृमि, ६ इत्यादि प्रकारके प्राणियोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां होती हैं अतएव वे स्पर्श और

त्रस तिर्यञ्च[3]

रस इन दो विषयोंको ही भोगते हैं। चींटी, खटमल, बिच्छू, आदिके वर्गके जीवोंके स्पर्शन, रसना और घ्राण ये तीन इन्द्रियां होते हैं। ये स्पर्श, रस और गन्धका अनुभव करते हैं। पतंग, भ्रमर, मधुमक्खी, ततैया, आदिकी जातिके जीवोंके ७

---

१. नारकी, मनुष्य तथा देवोंको छोड़कर शेष प्राणिजगत, मोटे तौरसे पशुपक्षी योनि। २. जो जीव चल नहीं सकते। ३. जो चलते फिरते हैं, पृथ्वी, अप्, वायु, अग्नि तथा वनस्पतिके अतिरिक्त प्राणिमात्र।

स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं। ये स्पर्श रस, गन्ध और रूपका साक्षात्कार करती हैं। हिरण, सांप, अण्डोंसे जन्म लेनेवाले पक्षी तथा जन्तु, जलमें उत्पन्न हुए जन्तु, आदिके सजातीय जीवोंके पांचों इन्द्रियां होती हैं। तथा वे पूर्वोक्त चारों विषयोंके सिवा शब्दका भी साक्षात्कार करते हैं।

८ स्थावर दुःख — जो जीव एकेन्द्रियत्वको प्राप्त करके एकेन्द्रिययुक्त जीवोंके वर्गोंमें उत्पन्न होते हैं, वे विचारे अपनी रक्षा करनेमें भी असमर्थ हो जाते हैं। वे नाना तरहसे छेदे जाते हैं, उनको विविध प्रकारसे भेदा जाता है, वे पीसे जाते हैं और जलाये जाते हैं, तो भी दारुण वेदनामय यह सब अत्याचार उन्हें सहने ही पड़ते हैं।

९ त्रसपर्याय दुःख — दो, तीन, आदि इन्द्रियधारी जीवोंकी भी खूब जोरसे पिसाई होती है। वे भी तरह तरहसे काटे जाते हैं, उनको भी विविध प्रकारसे सड़ाया गलाया जाता है तथा उन्हें उत्कटसे उत्कट पीड़ा देनेके ढंग भी एक दो नहीं बहुत अधिक हैं। यह जीव भी इन सब दुःखोंको भरते हुए तरह तरहसे मौतके मुखमें जा पड़ते हैं।

१० नेत्रेन्द्रियका कुपरिणाम — चार इन्द्रियधारी पतंग नेत्र इन्द्रियका विषय अधिक प्रिय होनेके कारण जोरोंसे जलते हुए बड़े दीपककी शिखापर दौड़ता है और उसमें घुसकर बिल्कुल भस्म हो जाता है। नासिकाका कुपरिणाम — चार इन्द्रियधारी जीवोंमें भौंरेकी घ्राण इन्द्रिय प्रधान होती है। इस इन्द्रियको प्रिय फूलोंपर विचरता हुआ वह विषैले फूलोंको भी सूंघता है और इस प्रकार अपने नाशके साधनोंको जुटाता है।

११ कर्णेन्द्रियका कुफल — पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च हिरणकी कर्ण इन्द्रिय प्रबल होती है। वे मांसाहारी व्याध, (शिकारी) आदिके मधुर गीतकी ध्वनिपर आकृष्ट होकर अपने आपको उसके जालके फंदोंमें डाल देते हैं। उसके बाद निर्दय बहेलियोंके द्वारा मारे जानेपर विचारे अपने प्रिय जीवनोंसे भी सहसा हाथ धो बैठते हैं।

१२ जिह्वालौल्यका फल — नदी, तालाब, आदि जलाशयोंके निर्मल जलमें आनन्द विहार करनेवाले मछली, मगर, आदि जलचर रसना इन्द्रियके वशमें होकर धीवरके जालमें बंधे मांसपर मुंह मारते हैं, किन्तु उसे मुखमें देते ही उनका रंग बिरंगा सुन्दर शरीर ही ढीला पड़ जाता है क्योंकि मांसकी जगह लोहेका कांटा उनके मुखमें फस जाता है, तब वे असह्य वेदनाको सहते हुए अपनी जीवनलीला समाप्त करते हैं।

१३ कामपरायणताका कुफल — जंगलमें विचरते मस्त हाथियोंको हथिनियोंके साथ कामलीला करनेकी उत्कट अभिलाषा रहती है अतएव काठ कपड़ेसे बनी हथिनीसे कामसुख प्राप्त करनेके प्रयत्नमें वे बन्धको प्राप्त होते हैं। किन्तु जब उनको नाना प्रकारसे अंकुश आदि शस्त्रों द्वारा खींचा जाता है तब उनका चित्त दुखी हो उठता है और वे मन ही मन जंगलकी स्वतन्त्रता, आदि सुखोंका ध्यान करते हैं।

१४ इन्द्रिय विषय लोलुपताका फल — पहिले कहे गये सब ही जीव केवल अपनी एक ही इन्द्रियके विषयमें अत्यन्त लम्पट होते हैं तो भी परिणाम यह होता है कि अपने परम प्रिय विषयको बिना पाये ही वे नष्ट हो जाते हैं। सब इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त होनेपर जीवोंका समूल नाश हो जाता है। इसमें कौनसी अतिशयोक्ति है, क्योंकि उक्त प्रकारकी आसक्तिका; नाश अवश्यंभावी फल है।

पृथ्वीके पालक, राजा महाराजाओंकी सवारीके लिए पकड़े गये हाथी घोड़ा, ऊंट, गधे, खच्चर, आदि पशुओंपर बेशुमार वज़न लादा जाता है, उनको खाने, पीने, आदि सब तरफसे बड़ी कड़ाईसे रोका जाता है। उन्हें यदि इन्हीं क्लेशों और परिश्रमोंको सहना पड़ता तब भी दुर्दशा अन्तिम मर्यादा तक न पहुंचती। लेकिन उन्हें तो भूख प्यास और अन्तमें अकाल मृत्यु भी सहनी पड़ती है। वे विचित्र, विचित्र प्रकारके कड़े बन्धनोंसे कसे जाते हैं, उन पर डंडों, अंकुशों, चाबुकों, रस्सियों, आदिकी धड़ाधड़ मार पड़ती है, तरह, तरहसे उन्हें पीड़ा दी जाती है, उन्हें मारने पीटनेके ढंग भी निराले ही होते हैं, भार लादते समय उनकी शक्तिका ख्याल भी नहीं किया जा सकता है और बन्धनके दुखोंकी तो बात ही क्या है, इस प्रकार विचारे अनेक दुख भरते हैं। किन्हीं भोलेभाले तिर्यञ्चोंके गलेमें मोटी रस्सीकी फांस बांध दी जाती है, दूसरे निरपराध पशु-पक्षी अत्यन्त दृढ़ और विशाल पिंजड़ोंके भीतर डाल दिये जाते हैं और अन्य अनेक पशुओंके पैरोंको अकाट्य रज्जुसे बांध दिया जाता है। तब ये सबके सब प्राणी अपने इन्द्रिय सुखोंसे वञ्चित होकर किसी तरह जीवनके दिन व्यतीत करते हैं। १५ १६ १७

वाहन तिर्यञ्च

आकाशमें स्वैर विहार करनेवाले कबूतर, लावक, वर्तक, मोर, कपिञ्जल, टिट्टिभ, आदि पक्षी कुछ दानोंके लोभसे जालपर बैठते हैं और अपने पैरोंमें पाश लगने देते हैं, अन्तमें ये सब निर्दोष तिर्यञ्च पापाचारी आखेटकोंसे निर्दयतापूर्वक मारे जाते हैं और जीवनसे हाथ धोते हैं। नदी, नाला, तालाब आदि जलाशयों या उनके आस पासके स्थानोंमें सुखसे जीनेवाले बगुला, सारस, पानीकी मुर्गियां, क्रौञ्च, कारण्डव तथा चक्रवाक पक्षी भी किसी अपराध या इन्द्रिय लोलुपताके बिना ही निर्दय पापाचारी लोगोंके हाथ मारे जाते हैं। १८ १९

नभचर तिर्यञ्च

भूखसे आकुल हो मछली, मगर, आदि जलचर जीव अपनेसे छोटे मछली, कच्छप, आदिको आपसमें ही निगल जाते हैं। आकाशचारी प्रबल पक्षी भी अपनेसे कमजोर पक्षियोंको मार डालते हैं। वनविहारी अधिक बलिष्ठ हिरण दुर्बल हिरणोंकी भी इहलीला समाप्त कर देते हैं। कितने दुखका विषय है कि विचारे हिरण, सियार, सुअर, वृक, रूरुव, हिरण, न्यङ्क्रोलक ?, आदिके वर्गके कितने ही पशु जिनके शरीर अत्यन्त स्वस्थ और सुन्दर होते हैं. वे केवल खानेके लिए उत्तम मांस और सुन्दर चमड़ेके लिए ही इस पृथ्वीपरसे लुप्त कर दिये जाते हैं। २० २१

जीवो जीवस्य भक्षणम्

यह पशु, पक्षी इतने भयभीत हो जाते हैं कि प्यासरूपी अग्निसे उनका शरीर भीतरसे जलने सा लगता है, बाहर भी उनके गले, जीभ और ओठ सूखकर लकड़ीसे हो जाते हैं, तो भी वे शान्त चित्तसे न पानी ही पीते हैं और न घास चरते हैं। वृक्षपरसे गिरते हुए सूखे पत्तेका शब्द भी उन्हें डरा देता है। पहाड़ी झरनों या अन्य जलाशयोंके आसपास अपने शरीरको पूर्णरूपसे छिपाकर शिकारी बैठ जाते हैं तथा पानी पोने आये पशु पक्षियोंको अचानक मार डालते हैं, इन बहेलियोंसे वन्य पशु इतने डर जाते हैं कि वे अपनी परछांयीको भी बहेलिया समझ लेते हैं इसीलिए निश्चिन्त होकर वे पानी भी नहीं पी सकते हैं। मांसाहारियोंके द्वारा जंगलमें शोर गुल मचाकर हकाई होनेपर (अथवा हिंसक पशुओंकी आवाज सुनकर ही) कुछ पशु भयसे इतने विह्वल हो जाते हैं कि २२ २३ २४

भयपूर्ण तिर्यञ्च योनि

अपने बच्चोंका ख्याल न करके प्राणरक्षाके लिए तेजीसे भागते हैं तथा दूसरोंकी चेतना ही नष्ट हो जाती है फलतः उनमें कोई क्रिया ही नहीं नजर आती है, उनकी आंखोंसे भय टपकता रहता है और वे भयभीत होकर हिंसक पशुओंके मुखमें या शिकारीके सामने ही आ जाते हैं।

२५ बड़े बड़े वाणोंकी मारसे किन्हीं किन्हीं पशुओंके अंग अंग कट जाते हैं तो भी प्राणोंका मोह उन्हें पर्वतोंकी गुफाओंमें ले जाता है। वहांपर उनकी वेदना बढ़ती ही जाती है क्योंकि उसका वे कोई उपचार नहीं कर सकते हैं फलतः अत्यन्त दुखी होकर वे तुरन्त ही प्राण छोड़ देते हैं। बिचारे सिंह, बाघ केवल चितकबरे

थोड़ेके लिए महापाप

२६ चमड़ेके लिए ही मारे जाते हैं, घास फूस खानेवाले भोले भाले चमरी मृगोंको शिकारी उनकी पूंछके बालोंके बहानेसे मार डालते हैं, सियार, सुअर, आदि स्वादिष्ट मांसको प्राप्त करनेके लिए नष्ट किये जाते हैं मदोन्मत्त विशालकाय हाथियोंके शरीरसे प्राण अलग किये जाते हैं सिर्फ उसके दांतों और मस्तकमें पड़े मोतियोंके लिए।

२७ तिर्यञ्च योनिमें जन्मे जीवोंको बिना किसी कारणके ही क्रोध आ जाता है और उनकी आंखें कोपके आवेशसे तमतमा (लाल) उठती हैं। उनका स्वभाव ऐसा विचित्र होता है कि किसी प्रकारके अपकारके बिना ही वे दूसरोंसे गाढ़ वैर बांध लेते हैं। परिणाम यह होता है कि वे अपने अपने तीक्ष्ण नखों, दांतों और सींगोंसे आपसमें एक दूसरेके मर्मस्थलोंपर प्रहार करते हैं।

अकारण कोप

२८ कुछ प्राणी पूर्वजन्ममें आचरित प्रबल मान कषायके पापसे तिर्यञ्च गतिको प्राप्त करके हाथी, ऊंट, घोड़े और गधोंमें उत्पन्न होते हैं। तब उनपर सतत सवारी की जाती है, थोड़ी सी अवज्ञा करनेपर ही खूब पीड़ा दी जाती है और अत्यधिक भार लादा जाता है। यह सब उन्हें अनाथ और पराधीन बना देते हैं।

मानका कुफल

२९ पूर्वभवमें मान करनेका ही यह परिणाम है कि जीव सुअरोंमें पैदा होता है और अत्यधिक मान करनेपर तो पशुओंमें भी अत्यन्त दूषित और कष्टमय श्रेणीमें जन्म लेना पड़ता है। इस प्रकार तिर्यञ्चगतिमें दूसरोंके द्वारा अपमानित होनेसे उत्पन्न दुखोंको यह जीव एक दो नहीं अनन्त प्रकारसे पाता है।

३० जो जीव पूर्व भवमें छल कपट करके दूसरोंको ठगते हैं और वंचनासे प्राप्त धन-सम्पत्तिके द्वारा अपने ही देहको दिन रात पोषते हैं वे मरकर तिर्यञ्च गतिमें जाते हैं, जहांपर यत्नपूर्वक पाले पोषे उनके ही पुष्ट शरीर मांसाहारियोंकी उदर दरीमें समा जाते हैं।

ठगनेका कुपरिणाम

३१ कुछ विवेक विकल प्राणी मनुष्यभवमें लोभ कषायकी प्रबलताके कारण अपने स्वार्थ-साधनके लिए दूसरोंकी श्रमसाध्य सम्पत्तिको चुराते हैं वे भी मरकर जब तिर्यञ्च गतिमें पदार्पण करते हैं तो बहेलिये आदि मृगया विहारी लोग पहिले तो उनके शरीरोंको अपने जालोंमें फंसाकर अच्छी तरह बांध लेते हैं और बादमें मार मारकर उनके मांससे अपनी भूखको शान्त करते हैं।

लोभका परिपाक

३२ तिर्यञ्च गतिमें मिलनेवाले दुःख और शोक अनन्त और असंख्य हैं अतएव यदि

चिरकालतक भी उनका वर्णन किया जाय तो भी वह अपूर्ण ही रह जायगा। फलतः उसे

तिर्यञ्चगतिके हेतु

यहीं छोड़कर सबसे पहिले उन्हीं लोगोंके विषयमें संक्षेपसे कहता हूं जो उस भयावनी और दारुण गतिको जाते हैं। जो जीव झूठे माप, कम या ३३ बड़े बटखरे और तुला आदिके द्वारा दूसरोंको ठगते हैं, बिला नागा दूसरोंको तरह तरहका कष्ट और दुख देना जिनका स्वभाव है, वचनसे कुछ कहते हैं पर शरीरसे कुछ दूसरा ही काम करके जो दूसरोंकी सुविचारित योजनाओंको सदा ही विफल करते रहते हैं। हाथमें ३४ देकर सौंपी गयी दूसरोंकी सम्पत्तिको लेकर भी एकाएक चट कर जाते हैं और मांगनेपर लेना ही स्वीकार नहीं करते हैं, अथवा सम्पत्तिके मदमें चूर होकर या, अहंकारके कारण, या पराक्रम और शक्तिकी अधिकता होनेसे जो दूसरोंका तिरस्कार करते हैं और मनचाहा झूठ बोलते हैं। जो मठेमें पानी, दधिमें कांजो, दूधमें पानी या आरारोट, घीमें चर्बी या, ३५ आलू आदि तथा गुड़ शक्करमें मिट्टी मिला देते हैं इस प्रकार एक रसको दूसरे रससे मिलाकर नष्ट करते वे पुण्यहीन, कृपण और पतित आत्मा ही तिर्यञ्च गतिरूपी वड़वानलके मुखमें गिरते हैं। जो लोग मूंगा, मोती, मणि और सोनेको अपवित्र करते हैं अथवा दूसरी ३६ वस्तुओंसे वैसे ही नकली मूंगा आदि बनाते हैं और भोले लोगोंको अकारण ही ठगते हैं, समझिये वे तिर्यञ्च गतिसे ही प्रेम करते हैं जहांपर विवश होकर उन्हें जाना पड़ता है और अनन्त कष्टोंको सहते हुए भी चिरकालतक रहना पड़ता है। जिन प्राणियोंके स्वभाव महा ३७ कुटिल हैं तथा जिन्हें छल कपट या जुआ आदि खेलनेके अतिरिक्त अन्य कार्य रुचता ही नहीं है, चोरी कराकर अथवा चोरीका माल खरीदकर जो अपनी अभिलाषाओंको पूर्ण करनेकी दुराशा करते हैं, जो दूसरोंके वध या नाशके लिए प्रेरणा देते हैं वे सबके सब कर्मोंके आधीन होकर तिर्यञ्च गतिकी सैर करते हैं।

सर्वसाधारणके हितैषी संयमी पुरुषोंका जो लोग व्यङ्ग्य वचन बोलकर तिरस्कार ३८ करते हैं तथा दुराचारी असंयमी पतितोंको आश्रय देकर सुख देनेमें जो गौरव समझते हैं वे ही प्राणी महाद्वीपोंकी दिशाओं और विदिशाओंमें स्थित छोटे छोटे द्वीपोंमें अशुभरूप लेकर

कुभोगभूमि जन्मकारण

उत्पन्न होते हैं। वहांपर देखनेमें वे मनुष्यसे ही लगते हैं लेकिन उनके मुख पशुओंके होते हैं। इन लोगोंमेंसे कुछ लोगोंके मुख वैसे ही ३९ होते हैं जैसा कि बन्दरका मुख, दूसरे लोगोंको मोटे ताजे स्वस्थ हाथीका सा सूंडदार मुख प्राप्त होता है, अन्य लोगोंकी गर्दनपर घोड़ेका मुख शोभा देता है तो कुछ लोगोंकी मुखाकृति मेढ़ेकी होती है। इतना ही नहीं उनमें ऊंट समान मुखों और भैंसा मुखोंकी भी कमी नहीं होती है।

तिर्यञ्च गतिके विशेषज्ञोंका मत है कि पृथ्वी शरीरवाले तिर्यञ्चोंकी अधिकसे अधिक ४० आयु बाइस हजार वर्ष है, जलकायिक जीवोंकी उत्कृष्ट आयु सात हजार वर्ष प्रमाण है, अग्नि-

स्थावर आयु

मय रहनेवाले (अग्निकायिक) जीवोंकी आयु केवल तीन दिन प्रमाण है। वायुमय देहधारी तिर्यञ्चोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तीन हजार वर्ष है, और ४१ वनस्पतिकायिक जीवोंकी अधिकसे अधिक दश हजार वर्ष है।

दो इन्द्रिय जीव अपने पूरे जीवन भर यदि जियें तो वे अधिकसे अधिक (दो छह) बारह वर्ष ही जीवित रहेंगे। एक दिन कम पचास वर्षतक तीन इन्द्रिय जीव अधिकसे ४२

त्रस आयुः

अधिक जिन्दा रह सकते हैं यदि उनका जीवन किसी विघ्न बाधासे अकालमें ही नष्ट न कर दिया जाय। चार इन्द्रिय जीवोंकी बड़ीसे बड़ी आयु छह मास हो सकती है और पञ्चेन्द्रियोंकी आयुको अलग अलग वर्गकी अपेक्षा कहता हूं।

४३ कर्मभूमिमें उत्पन्न चौपायों तथा जलमें रहनेवालों (जलचरों) की उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक पूर्वकोटि वर्ष है। अण्डज जीवोंकी उत्कृष्ट वयका प्रमाण भी (तीन शून्य सहित सात अर्थात्) सात सौ वर्ष है तथा पृथ्वीपर छातीके बल रेंगनेवालों (सरीसृपों) की अधिकसे अधिक आयु [त्रिगुणित आठ अर्थात्] चौबीस हजार वर्ष प्रमाण है। तपस्वियोंके मुकुटमणि केवली भगवानने तिर्यञ्चोंकी जघन्य आयुका प्रमाण केवल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण कहा है।

कर्मभूमिज तिर्यञ्च

४४

हे राजन्? पूर्वोक्त प्रकारसे तिर्यञ्चोंकी आयुको गिनाकर अब आपको उनके कुलों तथा योनियों (जन्मस्थानों) को संख्या भी अति संक्षेपमें बतलाता हूं। तिर्यञ्चोंके समस्त कुलों या श्रेणियोंकी संख्या (१९७५०००० कोटि), सूर्योंकी संख्यामें शून्ययुक्त कोटिसे गुणित होनेपर आती है [यह अशुद्ध है]। उनमेंसे पृथ्वीकायिक जीवोंके कुलोंकी संख्याका प्रमाण बाईस लाख कोटि प्रमाण है, जलमय और वायुमय शरीरधारियोंके कुलोंका प्रमाण सात लाख कोटि है, अग्निमय शरीरधारी जीवोंकी कुल संख्या तीन लाख कोटि है तथा वनस्पतिकायिक समस्त जीवोंके कुलोंकी संख्या आठ अधिक बीस अर्थात् अट्ठाइस लाख कोटि प्रमाण है॥

४५

कुलयोनि

४६

४७ दो इन्द्रियधारी जीवोंके कुलोंकी गणना सात लाख कोटि है, इसी प्रकार तीन इन्द्रिय युक्त जीवोंके कुलोंका प्रमाण आठ लाख कोटि है और चार इन्द्रिय जीवोंकी कुल-संख्या भी नौ लाख कोटि प्रमाण है।

पञ्च इन्द्रिय जीवोंमें सरीसृपोंके समस्त कुलोंको नौ लाख कोटि गिनाया है, जलचरोंके कुलोंका प्रमाण अर्ध हीन तीनके अर्थात् ढाईयुक्त दश (साढ़े बारह) लाख कोटि है, आकाशचारियों (नभचरों) के कुलोंकी संख्या [द्विगुणित छह] बारह लाख कोटि है, और चौपायोंकी कुल संख्याका आगमोंमें दश लाख कोटि प्रमाण दी है।

४८

प्रथम गति (नरक गति) में उत्पन्न तिर्यञ्चोंकी कुल संख्या पांच अधिक बीस लाख कोटि है, देवोंके विमानोंमें जन्म लेनेवालोंके कुलोंकी संख्या छब्बीस लाख कोटि है तथा मनुष्योंमें होनेवालोंके कुलोंकी संख्या केवल (द्विगुणित छह) बारह लाख कोटि है।

४९ चारों गतियों अर्थात् नरक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकमें भरे हुए निगोदिया जीवों तथा अनन्त निगोदतामें पड़े दुखोंको तथा पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, जीवोंकी योनियोंकी संख्या [सात गुनी सौ हजार अर्थात्] सात सात लाख है। वनस्पतिकायिक जीवोंकी योनियोंका प्रमाण दशलाख केवली प्रभुने कहा है तथा विकलेन्द्रिय [दो, तीन और चार इन्द्रियधारी जीव] जीवोंमें प्रत्येककी योनियां दो, दो लाख प्रमाण हैं। तिर्यञ्च, देव और नारकियोंकी गणना चार लाख प्रमाण है तथा मनुष्यवर्गकी योनियोंका प्रमाण चौदह लाख आगममें कहा है।

५०

५१ बड़े शोकका विषय है कि बिचारे पापबन्ध करनेवाले संसारी जीव सुखोंसे सदाके लिए बिछुड़कर अनेक योनियोंमें लम्बे लम्बे अरसे तक चक्कर काटते हैं। वे जितना अधिक

दुख भरते हैं उसका अन्त भी उतना अधिक दूर चला जाता है और उन्हें दुःखक्षयकी कभी प्राप्ति नहीं होती है। क्रमशः सबही कुलों और योनियोंके करोड़ों भेदोंमें वे जन्म लेते हैं और वहांपर भी जन्म, जरा, मृत्यु आदि अनेक रोगोंको भरते हैं। कुटिल स्वभावयुक्त संसारी यह सब दुख सहकर भी तिर्यञ्च गतिमें तनिकसा भी सुख नहीं पाते हैं। ५२

दुःख—उपसंहार

कुछ जीवोंको दूसरोंके उपद्रवोंके कारण शारीरिक दुख प्राप्त होता है, दूसरोंको अपने आप या दूसरों द्वारा मानसिक दुखका संयोग पड़ता है तथा अन्य लोगोंके द्वारा शारीरिक और मानसिक दोनों दुख सहे जाते हैं। यह सब ही दुख इतने अधिक होते हैं कि कोई जीव इनका अनुमान नहीं कर सकता है। ५३

इस प्रकार मुनिराज वरदत्तकेवलीने महाराज धर्मसेनको तिर्यञ्च गतिका स्वरूपभेद, कायभेद, तिर्यञ्चगतिके कारण, उनका विशेष फल, वहां प्राप्त होनेवाले महादुख और उनकी स्थितिका समय, तिर्यञ्चोंके कुल, जीवन तथा इन्द्रियोंकी अपेक्षासे विशेषतया वर्णन किया था। ५४

इसके उपरान्त महामुनिराजने मनुष्यगतिका उपदेश देनेको इच्छासे जब सावधानीसे बोलना प्रारम्भ किया, तो वैराग्यको उद्दीपन करनेवाली शैलीसे सम्बोधित उस सारीकी सारी सभाने राजाके समान ही अपने मनको कानमें स्थापित कर दिया अर्थात् उसके मन और कान एक हो गये थे, और राजा सहित पूर्ण सभा, अत्यन्त संतुष्ट भावको प्राप्त हुई थी। ५५

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्ग-चरित नामक धर्मकथामें तिर्यंगतिविभाग नाम

षष्ठ सर्ग समाप्त

सप्तम सर्ग

१ हे राजन् ! तीसरी गति (मनुष्यगति) के विषयमें सावधानीसे सुनिये अब मैं कहता हूं। मनुष्यत्व सामान्यकी दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्य जाति एक ही प्रकारकी है, तो भी सुखप्राप्तिके द्वारोंकी अपेक्षासे विचार करनेपर इसी मनुष्य जातिके दो भेद हो जाते हैं; जहांपर मनुष्य साक्षात् श्रमके विना भोगोंको प्राप्त करता है वह भोगभूमि है और कर्मभूमि वह है; जहां मनुष्यको पुरुषार्थपर ही विश्वास करना पड़ता है।

२ मध्यलोकका विभाग बताते समय आगममें पांच उत्तरकुरु (जम्बूद्वीपमें एक, धातकी खण्ड द्वीपमें दो और पुष्कराद्धमें भी दो) तथा इसी प्रकार हे राजन् ! सुमेरुकी दूसरी ओर

भोगभूमि

स्थित देवकुरुओंकी संख्या भी पांच है। इनके साथ साथ हैरण्यक, हैमषव रम्यक और हरि नामके देशोंका प्रमाण भी उक्त प्रकारसे पांच, पांच ही है।

३ इन सब देशोंकी रचना और वातावरण ही ऐसा है कि यहां उत्पन्न हुये जीवोंको एक निश्चित मात्रामें विना परिश्रमके ही सुख प्राप्त होगा, इन सब सुखोंका प्रमाण गिननेपर तीस प्रकारका होता है। इन भोगभूमियोंके विशेष वर्णनको अब मैं अलग अलग लक्षण, आदि बताकर कहता हूं।

४ भोगभूमियोंका धरातल सोने आदि धातुओंसे वना है अतएव इसकी छटा चारों ओर फैली रहती है। जाज्वल्यमान एकसे एक बढ़िया रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण वह चित्र

भोगभूमिकी भूमि

विचित्र होती है, और भोगभूमियोंमें अत्यन्त सुलभ नीलम मोती, उत्तम वज्रमणि आदिका सद्भाव तो वहांके पृथ्वी तलको ऐसा सजा देता है कि वहांकी भूमि सुसज्जित सुन्दर स्त्रीके समान आकर्षक लगती है। महामहेन्द्र नीलमणियोंसे,

५ रुचकप्रभ रत्नोंसे, कर्कतनों द्वारा, अत्यन्त जगमगाते हुए सूर्यकान्तमणियों द्वारा, तथा आतपको शान्त करनेवाले चन्द्रकान्तमणियोंसे पुरी हुई पृथ्वी सब ऋतुओं और सब ही वेलाओंमें अत्यधिक शोभित होती है। किसी स्थानपर भूमिका रंग बन्धूक पुष्प या मनःशिला (गेरू)

६ के समान लाल है, दूसरे स्थलोंकी छटा जाति पुष्प, अञ्जन और सोनेके रंगकी है, अन्य स्थलोंकी कान्ति सारङ्ग (बगुला) पक्षियोंके पंखोंके समान है तथा कुछ अन्य स्थलोंकी छवि चन्द्रमाके अंकुरों (किरणों) के समान मोहक धवल है। चारों तरफ उगी हुई भोगभूमिकी

७ दूबके प्रधान गुण चार हैं—वह अत्यन्त सुकुमार होती है, उसकी गन्ध उत्तम सुगन्धसे व्याप्त है, अत्यन्त कोमल होते हुए भी उसके रंगोंकी संख्या [दशकी आधी] पांच है और वह मनमोहक दूब प्रतिदिन ऐसी मालूम देती है मानो नयी ही उगी हो। मन्द मन्द पवनके झोंके

८ जब दूबको झकोरे देते हैं तो उसके कोमल सुकुमार पौधे एक दूसरेको छूने लगते हैं उससे जो ध्वनि निकलती वह गन्धर्व देवोंके उन गीतोंको भी मात कर देती है जो मधुर स्निग्ध स्वर तथा उसकी प्रतिध्वनिके कारण अत्यन्त कर्णप्रिय होते हैं। वहांपर व्याप्त सुगन्धियां अपनी

९ गन्धके द्वारा तुरुष्क (लोबान) कालागरु चन्दन, साधारण चन्दन, लवङ्ग, कंकोल (गुग्गुल) कुंकुम, इलायची, तमाल, सब प्रकारके कमल, तथा चम्पक पुष्पोंकी सुगन्धियोंको जो कि इस लोकमें सर्वोपरि मानी जाती हैं, भी पछाड़ देती हैं।

वहांपर शीतके कारण ठिठुरना नहीं होता है और न गर्मीमें हाय-हाय करनी पड़ती है, न आन्धियोंके आनेकी शंका है और न हिमपातका आतंक है, न वर्षा ऋतुकी चिन्ता है और न उसके सहगामी बादलोंके अन्धकार, वज्रपात, बिजलीकी चमक और घड़घड़ाहटका ही भय है। वे भोगभूमियां ऐसी हैं जहांपर दुर्भिक्षोंका भय नहीं है, न रोगोंका आक्रमण है, अकाल मृत्यु आदि न होनेसे शोकके कारणोंका भी अभाव है, चोरी, परस्त्रीगमन, आदि व्यसनोंका तो नाम भी नहीं है और सबको समसुख होनेके कारण आततायी आदिके उत्थान रूपसे ईतियोंका होना तो असंभव ही है। १०

समशीतोष्ण

भोगभूमिमें न कोई राजा है और न कोई सेवक है। कृपणों और निर्धनोंका तो नाम ही नहीं सुनायी देता है। चोरी करनेवालों और परस्त्री प्रेमियोंकी तो कल्पना ही असंभव है, तब निर्दयों और हिंसकोंकी संभावना ही कैसे हो सकती है। न तो वहां कोई लंगड़ा, अन्धा तथा गूंगा है और न कोई कुणि, कुबड़ा और हाथ टूटा है इसी प्रकार वहां ऐसा एक भी मनुष्य न मिलेगा जो असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और सेवा इन छह कर्मोंको करता हो। ११

समान समाज

वहां ऐसी जलराशि, घास, झाड़ियों, लतामण्डपों और वृक्षोंका अभाव है जो किसी भी प्रकारसे दुखके निमित्त हो सकते हों। पक्षी, पशु, विषैले कीड़े और सांप आदिसे होनेवाले दुखोंकी तो चर्चा ही नहीं सुन पड़ती है। भोगभूमिमें उत्पन्न हुए मृग आदि पशु आपसमें भी मारपीट नहीं करते हैं। १२

निर्मल जलसे पूर्ण भोगभूमिके जलाशयोंकी छटा निराली ही होती है। उनके चारों ओर वैडुर्यमणिकी शिलाओंसे बने घाटोंकी प्रभा सुशोभित है, उनका मध्यभाग पूर्ण विकसित कमलों और नीलकमलोंसे भरा रहता है और उत्तम कारण्डवों और हंसोंकी बड़ी संख्या उनमें विहार करती है। १३

मद्याङ्ग, तूर्याङ्ग, विभूषणाङ्ग, ज्योत्यङ्ग, गृहाङ्ग, भाजनाङ्ग, भोजनाङ्ग, प्रदीपाङ्ग, वस्त्राङ्ग और वरप्रसंगाङ्ग अथवा माल्याङ्ग ये दश प्रकारके श्रेष्ठ वृक्ष होते हैं। मद्याङ्ग वृक्ष सदा ही अरिष्ट (सविधि निकाला गया सार) मैरेय (रासायनिक क्रियासे निकाला गया फल फूलोंका सत्) सुरा (सड़ाकर निकाला गया फलोंका रस) मधु (मधुमक्खियों द्वारा संचित पुष्प पराग आदि) कादम्बरी (निर्मल प्रकारकी मदिरा), आदि मदको लानेवाले पदार्थोंको तथा अत्यन्त उत्तम आसवोंको अत्यन्त निर्मल और उत्तम मात्रामें उक्त कल्पवृक्ष देते हैं। भोगभूमिमें उत्पन्न तूर्याङ्ग कल्पवृक्ष बढ़िया बढ़िया मृदंगों, वीणाओं तथा शंखतालोंको, आजकल न दिखनेवाले मुकुन्द संग और ग्वालोंकी बस्तियोंमें बजनेवाली दुन्दुभियोंको तथा आसानीसे बजाने योग्य बड़े बड़े मर्दलों (ढोलों) को वहांपर यथेच्छ-रूपमें देते हैं। भूषणाङ्ग वृक्ष वहांपर स्त्रियों और पुरुषोंके योग्य मुकुट, हार, अङ्गद (बाजूबन्द), कुण्डल, गले, वक्षस्थल, भुजाओं, पेट आदिपर पहिनने योग्य मनोहर सुन्दर आभूषणों आदि विविध प्रकारके मण्डनोंको सतत और सदा वितरण करते रहते हैं। भोगभूमिके समस्त भूखण्डोंपर व्याप्त अन्धकारको नष्ट करके जो सूर्यके उद्योत और चन्द्रमाकी कान्तिसे उन्हें प्रकाशित कर देते हैं वे ही ज्योतिपाङ्ग कल्पवृक्ष हैं। इस जातिके वृक्ष विशाल प्रकाशपुञ्जके समान है इसोलिए उन्हें देखते ही नेत्र परम मुदित हो उठते हैं तथा उनकी कान्ति सदा ही चित्तको आकर्षित करती है। सुखी जीवनके लिए उपयोगी समस्त उपकरण

दश कल्पवृक्ष

तथा सर्वाङ्ग सजावटसे युक्त निवास गृहों, उनके आगे बने विशाल श्री मण्डपों, स्वास्थ्य तथा विनोदके साधन दोला गृहों तथा प्रेक्षण गृहोंको गृहाङ्ग कल्पवृक्ष देते हैं। उपयोगी तथा सुन्दर भाजन एवं स्वादु तथा स्वास्थ्यकर भोजन, भाजन-भोजनाङ्ग कल्पवृक्ष प्रदान करते हैं[1]।

२० जिनकी अत्यन्त जगमगाती और कान्तिमान प्रधान शाखा और उपशाखाओंपर निकली कोंपलें, पत्ते, अंकुर और पल्लव ऐसे मालूम देते हैं मानो प्रकाशमान प्रदीप हैं उन्हें प्रदीपाङ्ग कल्पवृक्ष बताया है। इन्हें देखते ही नेत्रों तथा मनको बड़े सुखका अनुभव होता है।

२१ वस्त्राङ्ग वृक्षोंका यही कार्य है कि वे सर्वदा कपाससे बने उत्तरीय, अधरीय आदि वस्त्र, कोशाके वस्त्र, केशों (ऊन) से निर्मित उत्तम वस्त्र, चीनमें बने रेशमी वस्त्र, पाटके रेशोंसे निर्मित सूक्ष्म और लघुवस्त्र, कम्बल आदि नाना रंगों तथा विविध आकार और प्रकारोंके

२२ वस्त्रोंको भोगभूमियां मनुष्योंको अर्पित करते रहें। माल्याङ्ग वृक्षोंके अग्रभागमें परम सुगन्धि-युक्त उत्तम चम्पा, मालती, पुन्नाग, (चम्पा), जाति, (चमेली), नीलकमल, केतकी, आदिके सुविकसित पुष्पोंकी पांच प्रकारकी माला अपने आप निकलती हैं, जिन्हें वे वृक्ष 'वरप्रसंग'

२३ करनेके इच्छुक भोगभूमियोंको लगातार देते रहते हैं। ये दशों प्रकारके कल्पवृक्ष चारों ओर उगी सुन्दर लताओंके समूहसे पूर्ण रूपसे घिरे हुए हैं। लताओंसे युक्त और अपने आप पवित्र और स्वच्छ वे कल्पवृक्ष ऐसे मालूम देते हैं जैसे कि सदा ही प्रेमिकाओं के बाहुपाशसे

२४ वेष्टित प्रेमी लगते हैं। इस प्रकार भोगभूमिमें उत्पन्न दूब, जलाशय, वृक्ष तथा भूमिकी शोभा और विभूतिको मैंने आपको बताया है। अब संक्षेपमें उनके विषयमें कहूंगा जो भले मानुष मरकरके वहां उत्पन्न हो सकते हैं।

२५ जो स्वभावसे ही सर्वसाधारणके हितैषी होते हैं, जिनकी प्रकृतिमें विनम्रता स्थायी रहती है, छलकपट, अहंकार, क्रोध और हिंसा करनेकी जिन्हें कभी इच्छा नहीं होती है, सत्यबोलने, सीधेपन, क्षमाशीलता, तथा प्रचुर दान देनेके समय ही जिनकी वीरता प्रकट होती है, ऐसे सज्जन उत्तम भोगभूमि (विदेहोंमें) में उत्पन्न

भोगभूमिके कारण

२६ होते हैं। दान देनेसे मनुष्यको यहां और परलोकमें समस्तभोग सरलतासे स्वय प्राप्त होते हैं। संसारमें उन्हींकी कीर्ति चिरकाल तक रहती है जो निस्वार्थ भावसे दान देते हैं। और तो और दान (क्षमा, आदि का दान) के द्वारा रिपु भी वशमें हो जाते हैं, अतएव प्रत्येक मनुष्यको

२७ विधिपूर्वक सुपात्रको दान देना ही चाहिये। हे राजन्! दानके प्रसंगमें जिन भद्रपुरुषोंने निरविचार दानक्रिया, दाताकी योग्यता, ग्रहण करनेवालेकी सत्पात्रता, देय वस्तुकी शुद्धि और उपयोग, देय वस्तुको जुटानेके उपाय तथा ग्रहीता पर उसका फल इतनी बातोंको भलीभांति जान लिया है। तथा विवेकपूर्वक दान देते हैं वे जीव निस्सन्देह भोगभूमिको जाते हैं।

२८ यहां दान ग्रहण करनेवालेकी सत्पात्रता और अपात्रताकी अपेक्षा प्रधान दो विभागोंमें बंट जाता है। मिथ्यादृष्टी और असंयमी जीवोंको अपात्र कहा है तथा सत्यदेव, गुरु और शास्त्रमें *श्रद्धा करनेवाली सम्यग्दृष्टी सत्पात्र हैं। जो मिथ्यादृष्टी अर्थात् असंयमी और भ्रान्तलोगोंको दान देते हैं वे मनुष्य गतिकी कुत्सित

२९ पात्र-अपात्र

योनियोंमें उत्पन्न होते हैं। सम्यक्ज्ञानी, संयमी, सद्धर्मी आदिको दान देनेसे भोगभूमिको

---

१. इस श्लोकका उत्तरार्ध पुस्तकमें नहीं है।

प्राप्ति होती है और वहांके सुखोंके रूपमें वे अपने दानका फल पाते हैं, अतएव जिनका स्वभाव दान देनेका है उन्हें प्रयत्न करके अपात्रोंसे बचना चाहिये।

दाताकी सर्वप्रथम योग्यता है उसकी गाढ़ श्रद्धा, श्रद्धा होनेपर भी यदि उपेक्षासे दिया तो वह निरर्थक ही होगा इसलिए दाताको भक्तियुक्त होना चाहिये। दान देनेकी सामर्थ्य भी अनिवार्य योग्यता है। दानविधिके ज्ञाता होनेके साथ दाताका निर्लोभी होना भी आवश्यक है। उसके स्वभावमें शान्तिके साथ, साथ सात्त्विकता होना भी अनिवार्य है। फलतः जिसमें ये सब गुण हैं वही श्रेष्ठ दाता है। ३०

दाताका स्वरूप

सम्यक्‌दृष्टी, दुर्द्धर तपस्याओंको तपनेवाले तपस्वी, जिनके शरीरपर उत्कृष्ट ध्यान, उपवास, यम, नियम, आदिकी आभा चमकती है तथा सत्य ज्ञानरूपी जलसे जिन्होंने भोग और उपभोगोंकी उत्कट अभिलाषारूपी प्यासको पूर्ण शान्त कर दिया है, वे ही आदर्श प्रतिग्रहीता कहे गये हैं। ३१

उत्तम पात्र

दान शास्त्रके पंडितोंने मोक्षप्राप्तिके प्रधान कारण शास्त्र, शरीर स्थितिका निमित्त आहार, निर्विघ्न रूपसे तपस्यामें साधक औषधि तथा संसारमात्रको सुखी बनानेका अमोघ उपाय, अभय ये चारों अनुपम वस्तुएं ही इस संसारमें देने योग्य बतायी हैं। शास्त्रदानमें वह शक्ति है जो एक दिन दाताको भी सर्वज्ञ पदपर बैठा देती है, सत्पात्रमें दिये गये आहार दानके ही प्रतापसे लोग प्रचुर भोगोपभोगोंको प्राप्त करते हैं। जो दूसरोंको अभय देते हैं वे स्वयं भी दूसरोंके भयसे मुक्त हो जाते हैं। औषध दान देनेका ही फल है जो लोग पूर्ण स्वस्थ होते हैं। ३२ ३३

दान-भेद

कुछ संकुचित मनोवृत्तिके लोगोंका कहना है कि कन्याको भूमि, गृह, स्वर्ण, गाय, भैंस, घोड़ा, आदि गृहस्थीमें आवश्यक वस्तुएं देना भी सुदान है और प्रशंसनीय है। किन्तु उक्त प्रकारके दानसे हुए दोषोंके कारण वह छोड़ने योग्य ही है; विशेषरूपसे उन साधुओंके द्वारा जिन्होंने गृहस्थी आदिके दोषमय आचरणको छोड़ दिया है। जब किसीको लड़की दी जायेगी तो उससे उन दोनोंमें राग ही बढ़ेगा, उस रागभावको कार्यान्वित करनेमें नाना प्रकारकी परिस्थितियोंके कारण क्रमशः द्वेष उत्पन्न होगा। रागद्वेषसे मोहनीय दिन दूना और रात चौगुना बढ़ेगा और जब मोहका आत्मापर पूर्ण अधिकार हुआ तो विनाश निश्चित ही है। विवाहके समय कन्याके साथ यौतक (दहेज) रूपसे दिये गये खड्ग, आदि शस्त्र, अग्नि तथा अग्निके साधन, विषादि परम्परया दूसरोंके दुखके कारण होते हैं, दहेजमें दिया गया सोना और धन उक्त उपायोंका साधन होनेके कारण तथा चोरादिके कारण भयको उत्पन्न करता है तथा जामाताको दिये गये गाय, बैल आदि पशु तो साक्षात् ही पिटना, बंधना, जलाया जाना, आदि अनेक दुखोंको भरते हैं। गर्भवती स्त्री तथा खेती आदिके उपयोगमें आनेवाली भूमि ये दोनों ही अपनी जनन शक्तिके कारण महान संहारका कारण होती हैं, क्योंकि इनके उत्पादक स्थलोंपर रहनेवाले अनेक प्राणी हल आदि चलाते ही मर जाते हैं फलतः इन दोनोंके दानमें कोई विशेषता नहीं है। ३४ ३५ ३६ ३७

कन्यादान

वही देय वस्तु ठीक समयसे उपयुक्त क्षेत्रमें यदि किसी गुणवान व्यक्तिको दी जाती है तो निश्चयसे उसका परिणाम उत्तम होता है। इसे ही समझनेके लिए व्यवहारकी प्रधानताको ३८

३९ दान कथा

बतलानेवाला संसारमें अत्यधिक चालू एक उदाहरण, सुनिये मैं कहता हूँ— कुएंका एक ही रसयुक्त निर्मल जल जब किसी नालीसे निकाला जाता है और अलग अलग स्थानों पर सींच दिया जाता है तो वही एकरस जल नाना प्रकारकी वस्तुओंसे मिलकर अनेक प्रकारके रसों और गुणोंको प्रकट करता है। गायके द्वारा पिया गया वही ४०. कूप जल कुछ प्रक्रियाके बाद दूध हो जाता है। सोंठकी जड़में पहुंचकर उसका स्वाद कटु-तिक्त हो जाता है, कदलीमें जाकर वह मीठे केले उत्पन्न करता है, ईखमें प्रवेश करके वही जल सबसे मीठे गुड़ और शक्करको उत्पन्न करता है, सुपारी और हर्रमें पहुंचकर वह कषाय (कसैले) ४१ रसका कारण होता है, उसी मधुर-निर्मल जलको पीकर सांपका विष बढ़ता है, नीमकी जड़ोंसे खींचा गया वही रस उसके कड़ुवे स्वादका कारण होता है, इमली और कैंथको जड़ोंमें पड़ा वही जल खट्टे रसमें बदल जाता है और आंवड़े तथा आंवलेके द्वारा पिया गया वही जल अम्ल रसका जन्मदाता होता है। इसी प्रकार देय पदार्थ हैं, वह अपने आप सर्वथा दोषोंसे ४२ रहित है। किन्तु दाताकी योग्यताओं और भक्तिके द्वारा उसकी विशेषताएं दूनी हो जाती हैं तथा ग्रहण करनेवालेकी योग्यताओंके अनुसार वह सुख-दुःखमय विविध प्रकारके फलोंको उत्पन्न करता है।

४३ भोजनमें खाये गये अन्नसे प्राप्त शक्तिके द्वारा इस संसारमें बहुतसे लोग स्त्रियोंसे कामरति, जुआ, शिकार, हिंसा, शराब, गांजा आदि मादक द्रव्योंका सेवन करते हैं, दूसरे लोग उस शक्तिका दूसरोंकी अपकीर्ति करनेमें व्यय करते हैं और अन्य लोग निर्दयतामय कार्य करके भयंकर दुखोंके दाता पापोंको ही कमाते

दान परिपाक निदर्शन

हैं। किन्तु दूसरे कुछ लोग जिनके हृदय ज्ञानरूपी निर्मल जलधारसे धुलकर रागद्वेषादि ४४ दोषोंसे निर्मल हो गये हैं, जो सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रहत्याग व्रतोंके पालनमें दृढ़ हैं, क्रोधादि कषाय तथा अन्य दोषोंको नष्ट कर दिया है, इन्द्रियां जिनकी आज्ञाकारिणी हैं तथा जो सदा न्यायमार्ग पर ही चलते हैं वे अपने भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पुण्य कर्मोंका ही संचय करते हैं। जिन दाताओंके भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पुण्य- ४५ कर्म किये जाते हैं और पाप नहीं किये जाते हैं उन्हें फलप्राप्तिके अवसरपर पुण्य ही मिलता है तथा जिनके भोजनसे प्राप्त शक्तिके द्वारा पाप किया जाता है और पुण्य नहीं किया जाता है उन्हें फल प्राप्तिके अवसर निश्चयसे पाप ही मिलता है। असंयमी व्यक्तियोंको शरण देनेसे, ४६ उनका भरणपोषण करनेसे अथवा उनकी संगति करनेसे जिस प्रकार निर्दोष गृहस्थ उन अपराधियोंके साथ नाना प्रकारके दण्ड पाते हैं उसी प्रकार दानविमुख, कुकर्मरत लोगोंको दान देनेसे दाता लोग भी उनके कुकर्मोंमें हाथ बंटाते हैं। संयमी शिष्ट पुरुषोंको अपने घर ४७ पर ठहरानेसे, भोजनपान व्यवस्था द्वारा उनका स्वागत करनेसे तथा उनकी सुसंगतिमें रहनेके कारण ही साधारण गृहस्थ जिस प्रकार पूजा और सम्मानको पाता है उसी प्रकार स्वयं दान-कर्मसे हीन योग्य प्रतिग्रहीताके साथ उदार दानी भी पुण्य कमाते हैं।

अपात्रोंको दान देनेसे यह जीव कुत्सित मनुष्योंके समान अशुभ और अवगुणमय ४८ देहको पाते हैं फलतः उनकी इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियां भी अकल्याणकी तरफ होती है, सुख और भोग भी पतनकी दिशामें ले जाते है। बिना किसी प्रयत्नके ही उनका ज्ञान दूषित हो जाता है, शक्ति और बुद्धिका झुकाव भी

अपात्र सुपात्र दानफल

अनिष्टकर होता है तथा उनकी शारीरिक और मानसिक शोभा तथा कीर्ति भी कलंकित हो जाती है। सुपात्रको दिये गये दानके फलका अवसर आते ही देवों और विशिष्ट मनुष्यों तुल्य अनेक सद्गुणोंका आगार शुभ शरीर प्राप्त होता है, इन्द्रियोंकी विषय प्रवृत्ति भी कल्याणकारी होती है, सुख और भोग भी शुभबन्धके ही कारण होते हैं, स्वभावसे ही उनका ज्ञान सत्यमय होता है विना प्रयत्नके ही उनकी शक्ति और बुद्धि इष्ट कार्योंमें लगी रहती है तथा उनकी शारीरिक कान्ति और सुयश दिनों दिन बढ़ता ही जाता है। ४९

सांसारिक प्रलोभनों और बाधाओंके सम्मुख अकेले ही जूझनेवाले निग्रन्थ मुनि ही सर्वोत्तम पात्र हैं, क्योंकि उन्हें दूसरोंका अभ्युदय देखकर बुरा नहीं लगता है अहंकार और ईर्ष्या तो उनके पास भी नहीं फटकते हैं, वे सत्यकी मूर्ति होते हैं, क्षमा, तथा दया गुणोंके तो वे भण्डार होते हैं, उनका स्वभाव संतोषसे ओतप्रोत होता है, हृदय और शरीर दोनों ही परम पवित्र होते हैं तथा ज्ञानवीर्यके पुञ्ज होते हुये भी वे विनम्रताकी खान होते हैं। जिन तपोधन ऋषियोंका ज्ञान तीनों कालों और लोकोंके समस्त द्रव्यों और उनकी पर्यायोंको हथेलीपर रखे हुये आंवलेके समान देखता है, जो तीनों लोकोंमे धर्मका प्रचार करनेके लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं, जिन्हें कामदेवकी ज्वाला जलाना तो कहे कौन आंच भी नहीं पहुंचा सकती है, जिनका चरित्र किसी भी प्रकारके प्रलोभन, भय और बाधाओंसे खण्डित नहीं किया जा सकता है, मोहरूपी आध्यात्मिक अन्धकारको जिन्होंने समूल नष्ट कर दिया है तथा क्षुधा, तृषा, आदि अठारह परीषह भी जिन्हें आत्म-साधनासे विचलित नहीं कर सकते हैं तथा आशारूपी नदीके उस पार पहुंचे हुये वे ऋषिराज ही सत्पात्र हैं। सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्रधारी मुनियोंको जो भव्यजीव भक्तिपूर्वक उक्त चार दान देते हैं वे सम्यक्दृष्टी देवगतिके समस्त सुखोंको भोगकर उत्तम मनुष्योंमें जन्म लेते हैं, और मनुष्यगतिके अभ्युदयकी चरम सीमापर पहुंचकर क्रमशः अन्तमें मोक्ष लक्ष्मीको वरण करते हैं। मिथ्यादृष्टी जीव, जो किसी प्रकारके आचरणका पालन नहीं करते हैं तथा सदा ही भोगों और उपभोगोंकी इच्छा किया करते हैं वे भी सत्य श्रद्धायुक्त व्रतधारी ऋषियोंको चार प्रकारके दानमेंसे कोई भी दान यदि परम शुद्धि और भक्तिके साथ इस भवमें देते हैं, तो निश्चयसे भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं। ५० ५१ ५२ ५३ ५४

पाणिपात्र ही उत्तमपात्र

वे ज्योंही गर्भसे निकलते है त्योंही उनके माता पिताकी मृत्यु हो जाती है, अतः जन्मके बाद वे एक सप्ताह पर्यन्त ऊपरको मुख किये जन्म स्थानपर पड़े रहते हैं और अपने पैरके अंगूठेको चूसते हैं। और दो सप्ताह बीतते बीतते ही उनका शारीरिक विकास इतना हो जाता है कि उनका शरीर और स्वभाव सोलह वर्षके किशोर और किशोरीके समान हो जाता है। भोग-भूमिया जीव अपनी माताके उदरसे युगलरूपमें उत्पन्न होते हैं और युगल भी स्त्री और पुरुषका होता है। जन्मसे ही उनकी इन्द्रियां, बुद्धि और शक्ति निर्दोष होती हैं। किसी भोगभूमियाका शरीर ऐसा नहीं होता है जिसपर शुभलक्षण न पाये जांय तथा उन सबमें जन्मसे ही ललित कलाओंका प्रेम, ज्ञान तथा शुभ गुण होते हैं। ५५ ५६

भोगभूमि-जन्मादि

५७ उनकी हथेलियों और पैरोंके तलुओंमें द्वीप, समुद्र, भवन, विमान, जलाशय, नगर,
५८ गोपुर, (प्रवेश द्वार) इन्द्रकी ध्वजा, शंख, पताका, मूसल, सूर्य, कमल, चन्द्रमा, स्वस्तिक,

भोगभूमिज शरीर

माला, कच्छप, दर्पण, सिंह, हाथी, ऐरावत, मछली, छत्र, शय्या (पलंग), सिंहासन, वर्धमानक ( ) श्रीवत्स, (पुष्पाकार चिह्न) चक्र, अग्निज्वाला, वज्र, कलशके चिन्ह होते हैं, जो कि लौकिक सामुद्रिक शास्त्रके अनुसार
५९ विभूतियोंके द्योतक हैं। भोगभूमिके सबही पुरुषोंके स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा कान्ति देवोंके समान होती है और समस्त नारियां तो साक्षात् देवियां ही होती हैं क्योंकि उनके अद्भुत वस्त्र, आभूषण और शृङ्गार सर्वथा मनोहर होते हैं, वे सब सदा युवतियां ही रहती हैं वे मन्द
६० मुस्कानके साथ जब बोलती हैं तो उनके शब्द कानमें अमृतकी तरह लगते हैं। भोग भूमिया जुगलिया (एक साथ उत्पन्न पुरुष और स्त्री) एक दूसरेके गीत और प्रेमालाप सुननेमें ही मस्त रहते हैं। परस्परमें पुरुष स्त्रीका और स्त्री पुरुषका वेशभूषा देखते देखते तृप्त ही नहीं होते हैं। वे सदा ही एक दूसरेके प्रेमको पानेके लिए उन्मुख रहते हैं। इस प्रकार वे चिरकाल
६१ एक दूसरेके साथ रमण करते हैं। उनकी आंखें एक दूसरेका सौन्दर्य पान करनेमें ही व्यस्त रहती हैं। आपसमें पति; पत्नीका और पत्नी; पतिका शृंगार करके एक दूसरेके रूपको और अधिक मोहक बना देते हैं। वे एक दूसरेको प्रिय क्रीड़ाको करनेमें ही अपना शरीर और मन दोनों लगा देते हैं।

६२ जो उत्तर कुरु और देवकुरुमें जन्म लेते हैं, हे राजन् उनकी अवस्था तीन पल्य प्रमाण होती है। मध्यम भोगभूमि अर्थात् हरि और रम्यक क्षेत्रोंके निवासी जीवोंकी आयुका प्रमाण दो, दो पल्य है। यह सब भी उक्त प्रकारसे उत्तम वेशभूषाको धारण करते हैं और
६३ समस्त सुखोंके समुद्रमें बूड़े रहते हैं। जो जीव हैरण्यक और हैमवतक क्षेत्रोंमें व्याप्त जघन्य

भोगभूमि-स्थिति (आयु)

भोगभूमिमें उत्पन्न होते हैं वे सब वहांपर एक पल्य लम्बा जीवन व्यतीत करते हैं। यह सब भोगभूमिया जीवन भर समस्त प्रकारके सुखों और भोगोंका रस लेते हैं और आयु पूर्ण होने पर एक छींक या जमायी लेकर ही अपनी जीवन लीला समाप्त कर देते हैं और जाकर स्वर्गमें उत्पन्न होते हैं।

६४ भोगभूमिया जीव न तो अपनी प्रशंसा स्वयं करते हैं और न दूसरोंकी निन्दा ही करते हैं, न उन्हें दूसरेके अभ्युदयसे संक्लेश होता है न वे किसीकी वंचनाके लिए कपट ही

भोगभूमियोंकी विशेषताएं

करते हैं, न उन्हें अहंकार होता है और न किसी प्रकारका क्षोभ, स्वभावसे ही उनका शरीर और भाव प्रशस्त होते हैं फलतः दोनों लेश्याएं (द्रव्य-भाव) शुभ ही होती हैं। ये ही सब कारण हैं कि वे मरकर स्वर्ग ही जाते
६५ हैं। जिस चक्रवर्तीकी आज्ञाके विरुद्ध कोई शिर नहीं उठा सकता है उसको चौदह रत्नों और दश ऋद्धियोंके कारण जो सुख और भोग प्राप्त होते हैं, तुलना करनेपर भोगभूमिमें प्राप्त भोग और सुख उनकी अपेक्षा अनन्तगुणे होते हैं ऐसा आगम कहता है।

६६ हे राजन्! दाता दान आदिकी विशेषताओं पूर्वक दिये गये विशाल दानके पुण्यसे प्राप्त होनेवाले भोग भूमिके अत्यन्त ललित सुखको आपको संक्षेपसे समझाया है। दश प्रकारके कल्पवृक्षोंसे प्राप्त इस सुखमें न तो कोई बाधा ही आ सकती है और न इसकी सीमा ही है।

जब मुनिराज श्रीवरदत्तकेवलीने पुण्य और पापके मिश्रित शुभ और अशुभ फलकी रंगस्थली भूत गति (मनुष्यगति) के विषयमें उपदेश प्रारम्भ किया तो राजाको इतना आनन्द हुआ कि उसे रोमाञ्च हो आया और उसने अपने मनको पूर्णरूपसे कर्णेन्द्रियमें केन्द्रित कर दिया। ६७

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें
देवोत्तर-कुरु वर्णन नाम सप्तम सर्ग समाप्त

अष्टम सर्ग

१ इस जम्बूद्वीपके ही विदेह खण्डमें सुमेरुकी पूर्व और पश्चिम दिशामें सोलह सोलह सुन्दर देश ऐसे हैं जहांके निवासी असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और सेवा इन छहों कर्मोंको करके जीवन व्यतीत करते हैं, इनके अतिरिक्त उक्त द्वीपके उत्तर और दक्षिणमें स्थित ऐरावत और भरतक्षेत्रके निवासियोंका भी यही हाल है। फलतः उक्त बत्तीसमें यह दो जोड़ देनेपर जम्बूदीपमें ही चौंतीस कर्मभूमियां हो जाती हैं।

कर्मभूमि संख्या

२ हे नरेश! इस संख्यामें पांचका गुणा (क्योंकि 'धातकीखण्ड' और 'पुष्करार्द्ध'में जम्बूद्वीपसे दुगुने क्षेत्र, पर्वत, आदि हैं) करने पर कुल कर्मभूमियोंकी संख्या (सौ) अधिक सत्तर अर्थात् एक सौ सत्तर हो जाती है। केवली भगवानने कहा है कि इन कर्मभूमियोंमें जन्म लेनेवाले लोग आर्य और अनार्यके भेदसे दो प्रकारके होते हैं।

३ सिंहल (लंका) में जन्मे लोग, साधारणतया जंगलोंके निवासी वर्बर या आटविक किरात (भील, गोंड़, आदि), गान्धार, काश्मीरमें उत्पन्न हुए लोग, पुलिन्द (संथाल, आदि) कम्बोज, वल्ख (वाल्हीक), खस, औद्रक (उण्ड्र निवासी) आदि मनुष्योंकी गणना अनार्योंके समूहमें की गयी है। इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश, ४ उग्रवंश (यादव, आदि) कुरुवंश, आदि अग्रगण्य कुलोंमें उत्पन्न हुए राजा, आदि, उनके मंत्री, पुरोहित, सेनापति, दण्डनायकादि सब ही आर्य थे, क्योंकि इन्हें सत्धर्म अत्यन्त प्रिय है फलतः इनका आचरण भी अनार्योंके असंयममय चरित्रसे सर्वथा विपरीत (संयत) होता है।

आर्य-अनार्य देश

५ मनुष्यगतिकी कर्मभूमियां अनेक वर्गोंके पुरुषोंसे ठसाठस भरी हैं, मनुष्यको आर्यत्व और अनार्यत्वके साधनों तथा स्वरूपका शुद्ध ज्ञान नहीं है, आर्योंका आचरण और चिन्ता दोनों ही विशाल हैं अतः उसका निर्दोष पालन दुष्कर है, मनुष्यको दुर्जनोंकी संगति, कुशास्त्र और कुज्ञान सरलतासे प्राप्त हो जाते हैं, ६ यही कारण हैं जो आर्यकुल सरलतासे प्राप्त ही नहीं होता है। सामान्यरूपसे आकृति तथा वेश, भूषा देखनेसे सब ही मनुष्य एक समान प्रतीत होते हैं इसके अतिरिक्त साधारणतया काम्बोज, काशमीरकी ओरसे आये ऋषिक, तुखा [षा] र, शक, हूण, आदि म्लेच्छ वर्गके लोगोंकी संख्या अत्यधिक है कि इन कारणोंका विचार करके ही विद्वानोंने कहा था कि शुद्ध आर्य लोग इस पृथ्वीपर अत्यन्त कठिन हैं।

मनुष्य तथा आर्यत्व

७ इसी प्रकार आर्योंमें भी शुद्ध भोजकुलको पाना तो एक प्रकारसे असंभव ही समझिये, क्योंकि समय, समय पर आक्रमण करनेवाले पुलिन्द, चाण्डाल, आदिके कुत्सित कुलोंके लोग भी उसमें समा गये हैं। शुद्ध और कल्याणकारिणी बुद्धि, शुभ कर्मरत इन्द्रियों, घृणित रोगहीन स्वास्थ्य, न्यायसे अर्जित संपत्ति, और वीतराग ८ प्रभुसे उपदिष्ट जिनधर्मकी भी यही (दुर्लभतम) अवस्था है। यदि किसी प्रकार कल्याण-पथकी ओर चलनेवाली सुमति प्राप्त हो जाय तथा अनेक कष्ट झेलनेके बाद शुद्ध तपस्याकी विधिका पता लग भी जाता है तो क्रोधादि कषायोंकी सहायताके कारण भयंकर विषयरूपी

भोज कुल

शत्रु नाना प्रकारसे इस आचरण और ज्ञानकी उपासनामें विघ्न करते हैं। इस मनुष्यलोकमें ९ जीवोंका विभाग समझानेके लिए स्वप्न, सेवक, युग, चक्र, कच्छप, जुआ, धन, धान्य, परमाणु, रत्न और पांसे यह दश उदाहरण दिये हैं।

समस्त पर्वतोंमें जिस प्रकार सुमेरु उन्नत और विशाल है, नदी, तालाब, झील, कूप १० आदि सब प्रकारके जलाशयोंमें जैसे समुद्र श्रेष्ठ है, संसारके नीम, अश्वत्थ, वट, पीपल, चन्दन, आदि सब वृक्षोंमें गोशीर्ष (गोरोचन) के पेड़की जैसी प्रधानता है उसी प्रकार नरक, त्रियंञ्च, मनुष्य और देवगतियोंमें उत्तम

मनुष्यगतिकी प्रधानता

कर्मभूमिया मनुष्य ही सर्वोपरि है। गुरु, भौम, रवि, शुक्र, आदि ग्रहों, नक्षत्रों तथा तारोंमें ११ जैसा चन्द्रमा है, मृग, आदि वन्य पशुओंमें जैसी स्थिति मृगोंके राजा सिंहकी है, मनुष्योंमें जिस प्रकार राजा सबसे श्रेष्ठ, अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले पक्षियोंमें जो स्थिति गरुड़की है, रत्नोंमें जो माहात्म्य वज्रका है, जलसे उत्पन्न पदार्थोंमें जैसी कमलकी प्रधानता है, ठीक इसी प्रकार सब भवोंमें मनुष्यभवकी प्रधानता है। ऐसा मनुष्य भव ही अहिंसादि व्रत और १२ सामायिक, आदि शीलोंसे हीन होकर इस जीवको तिर्यञ्चगति और कुमानुष जन्मके पतनोंकी ओर ले जाता है। इतना ही नहीं नरक गतिके उन दुखोंमें झोंक देता है जिनका कोई आदि अन्त नहीं है तथा जिन्हें यह जीव संयम प्राप्त न होनेसे एक, दो बार नहीं अनन्त बार भरता है। यही मनुष्य पर्याय यदि अहिंसा, सत्य, आदि व्रतोंको धारण कर सकी और सामायिक, १३ अतिथिसंविभाग, आदि शीलोंसे सम्पन्न हुई तो तिर्यञ्चगति और कुमानुष योनिकी सब ही विपत्तियोंको समूल नष्ट कर देती है, और तो कहना ही क्या है नरक गतिके अपरिमित अनन्त दुखोंका विध्वंस करके वह क्रमशः मोक्ष महापदकी ही प्राप्ति करा देती है। इसी मनुष्यपर्याय- १४ का यदि किसी तरह दानकी प्रवृत्तिसे गठबंध हो गया तो यह उत्तम भोगभूमि; देवकुरु और उत्तरकुरुके लोकोत्तर भोगोंका भरपूर रस पिलाकर वहाँसे देवपदकी ओर ले जाती है। अतएव, हे नरेश ! मनुष्य पर्याय सब पर्यायोंसे बढ़कर है; इतना ही नहीं अपितु कहना चाहिये कि अन्य भवों और उसमें कोई तुलना ही असंभव है। यदि मनुष्य जन्मको सम्यक् दर्शन, १५ ज्ञान और तपका सहारा मिल गया तो फिर कहना ही क्या है ? क्योंकि ऐसी अवस्थामें उसका परिणाम या तो चक्रवर्ती पदकी प्राप्ति होता है अथवा देवोंकी प्रभुता इन्द्रपना होता है, नहीं तो संसारके सुखोंकी चरम अवस्था अहमिन्द्र पद होता है ऐसा आप निश्चित समझिये। यही मनुष्य पर्याय एक मात्र ऐसी योनि है जो मानवको सृष्टिका उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय- १६ कारी बनाती है ऐसा अज्ञ (जगत्कर्तृत्ववादी) लोग मानते हैं। किन्तु सार यह है कि मनुष्यजन्म तीनों लोकोंमें सबसे अधिक समर्थ है ऐसा (उनमेंसे) भी कितने ही लोग मानते हैं[1]।

इस प्रकार तीनों लोकोंकी समस्त पर्यायोंमें अत्यन्त कल्याणकारक महासार युक्त १७ मनुष्य पर्यायको भी प्राप्त करके बहुतसे लोक अपनी मतिको साधारण तथा तुच्छ फलके ऊपर लगा देते हैं और दूसरोंकी सेवावृत्ति स्वीकार करके चक्रवर्तीकी योग्यताओंयुक्त जीवनको दास रहकर व्यतीत करते हैं। मनुष्योंके अधिपति १८

मनुष्यकी भ्रांति

१ मूलमें यह पद्य अत्यन्त अशुद्ध है।

चक्रवर्तीके समान आचरण और ज्ञानकी सम्पत्तिको, जिसके द्वारा तीनों लोकोंका प्रभुत्व भी मोल लिया जा सकता है—पाकर भी जो लोहा कोदों, चावल-दालके लिए अपने आपको बेच देते हैं, वे यथार्थको नहीं जानते हैं। परिणाम यह होता है कि वे दूसरोंकी आज्ञाके
१९ अनुसार नाचते फिरते हैं। मनुष्य योनिमें जन्मे दूसरे जीव मनुष्यभवरूपी खेतमें व्रत, शील और दानरूपी बीज बोते हैं, व्रतादिके पौधोंकी वृद्धिके बाधक क्रोध, मान आदि कषाय-रूपी घास फूसको उखाड़कर फेंक देते हैं तब इस खेतीमें से उस बीजको संचित करते हैं जो उन्हें स्वर्ग, आदि सद्‌गतिरूपी फल देता है।

२० जो प्राणी धर्मका पालन करते हैं उनको समस्त सुख अपने आप ही आ घेरते हैं तथा जिनका आचरण इसके विपरीत है अर्थात् पापमय है वे सब दुखोंके घर हो जाते हैं। जो धार्मिक कृत्योंके करनेमें प्रमाद करते हैं उन्हें सबका दास होना पड़ता है

धर्माचरण

तथा जिन्हें धार्मिक कर्मोंमें गाढ़ अनुराग और उत्साह होता है वे सब
२१ संसारके प्रभु होते हैं। 'हे स्वामि! हे प्रभो! हे नाथ! मैं आपका किंकर हूं, आज्ञा दीजिये, मुझे आज क्या करना है?' इत्यादि वचन कहते हुए अनेक पुण्यहीन पुरुष उन लोगोंकी दासताको स्वयं स्वीकार करते हैं जिनका उत्साह धार्मिक कार्योंमें दिन दूना और
२२ रात चौगुना बढ़ता है।

कुछ व्यक्ति झूठे सांचे लेख लिखकर दूसरोंकी सम्पत्ति और कभी कभी जीवनको भी ले लेते हैं, अथवा किसी और कूट क्रियासे दूसरेकी सम्पत्ति छीनते हैं। किन्तु समय बीतनेपर जब इन कर्मोंके फलका उदय आता है तो वे स्वयं अत्यन्त निर्धन

पापमूल परिग्रह

२३ होते हैं। अन्य कुछ लोग धनके लोभसे प्रचण्ड आंधीके कारण फुंकारते हुये समुद्रमें घुस जाते हैं; जिसमें उठती हुई लहरें थपेड़े मारती हैं और बड़े भयंकर मगर मच्छ तैरते रहते हैं तथा जिसकी गहरायी अपरिमित होती है। फल यह होता है कि वे वहीं
२४ मर जाते हैं। समस्त विद्याओंका अध्ययन करनेके कारण जिनका प्रभाव अत्यधिक बढ़ जाता है तथा सातों तत्त्वों और पदार्थोंको चर्चा सुनकर जो उनके विशेषज्ञ बन जाते हैं वे लोग भी अपने परम इष्टके रक्षक और समुचित न्याय करनेवाली फल व्यवस्थाके कारण कासो घूमते
२५ हैं तो भी शरीर यात्राके लिये आवश्यक कुछ ग्रास भिक्षाको भी नहीं पाते हैं। जीव शास्त्र पर्यन्त अनेक शास्त्रोंमें पारंगत हो जाने तथा विविध प्रकारकी क्रियाओं, विधियों और समय-की उपयोगिता आदि विशेष विभागोंको भली भांति जान लेनेके बाद भी अनेक मलीनमन मनुष्य प्राचीन मठोंमें पड़े रहते हैं और सुखोंसे वंचित होकर किसी प्रकारसे समय काटते
२६ हैं। धन पानेके प्रलोभनसे ही कितने ही पुण्यहीन तथा दुख सागरमें पड़े व्यक्ति दूसरोंको प्रसन्न करनेके प्रयत्नमें लगे रहते हैं। उनकी अनेक विशाल कलाएं जो कि प्रयोग द्वारा निर्दुष्ट और लाभप्रद सिद्ध होती हैं, वे भी दूसरोंके उपयोगमें आती हैं और उनके भाग्यमें अनेक
२७ क्लेश ही पड़ते हैं। जो व्यक्ति अपनी रुचिसे, अथवा संगति और सहवासके कारण, किसी प्रबल प्रलोभनकी प्रेरणासे, या किसी भीषणताके आतंकसे पापमय कार्योंको करते हैं वे ही निकृष्ट मनुष्य दूसरोंके आज्ञाकारी दास होकर व्यर्थ ही अनेक आरम्भोंमें व्यस्त रहते हैं।

२८ पुण्यकर्म न करनेके कारण मनुष्योंके पैरोंके अग्रभाग रोगोंके आक्रमणसे फट जाते हैं।

तब वे पंगु होकर अत्यन्त कठोर कंकरीली भूमिपर पड़े रहते हैं, भूखके मारे चिल्लाते हैं, वस्त्रके अभावके कारण एक टुकड़ेसे अपनी लाज ढकते हैं। इन कष्टोंके कारण उनका शरीर सूख जाता है, यह विपत्तियां उन्हें इतना दीन कर देती हैं कि बिचारे दिन रात भीख मांगते रहते हैं। विद्वान और शास्त्रज्ञ होनेपर भी मनुष्य जो धर्मकार्योंसे रुचि नहीं करता है, अनेक शास्त्रोंका पंडित होनेपर भी निर्धन होता है तथा कामदेवके समान सुन्दर होनेपर भी जो लोग उसे अपशकुन मानते हैं यह सब पापमय कर्मोंका ही विपाक है। मनुष्यको भूख-प्यास और रोगोंके कारण जो पीड़ा होती है, निर्धनताके कारण जो आपत्तियां सहनी पड़ती हैं, वध, बन्धन, आदि जो अनेक कष्ट भरने पड़ते हैं, गाली, अभिशाप, भर्त्सना और मारपीट के जो दुःख और अपमान सहने पड़ते हैं यह सब भी पूर्वकृत पापोंकी करतूत हैं। पूर्णरूपसे निर्दोष आश्रित व्यक्तियोंपर बलपूर्वक झूठे अभियोग लगाकर स्वामियोंके द्वारा जो उन्हें कठिन कठिन करावास आदि दण्ड तथा शूली आदि पर चढ़ाकर जो वध किया जाता है, इन समस्त यातनाओंको विद्वान् आचार्य कुकर्मोंका ही फल कहते हैं। पुण्यहीन मनुष्य अपने जीवनको दुखपूर्वक व्यतीत करते हैं, उनके कुटुम्बी भी उनका साथ नहीं देते हैं, और तो क्या, पत्नी और औरस पुत्र-पुत्रियां भी उन्हें छोड़ देते हैं। इतना ही नहीं, उनकी शारीरिक आवश्यकतायें भी पूर्ण नहीं होती हैं—यथा, न तो वे कभी उबटन ही पाते हैं और न माला आदि सुरभि श्रृंगार, फलतः शरीर मलिन हो जाता है तथा गाल और आंखें धंस जाती हैं।

पुण्यहीन जीवन

२९

३०

३१

३२

पुण्य संचय न करनेके ही कारण अधिकतर मनुष्य निर्धन होते हैं, लोक निन्द्य नीच-कुलोंमें उत्पन्न होते हैं, मूर्ख होते हैं, कुरूपता और अशिष्टताको वरण करते हैं, तथा ऐसी अवस्थाको प्राप्त होते हैं जिसमें न तो दूसरे ही उन्हें कुछ समझते हैं और न स्वयं उनमें बढ़नेकी सामर्थ्य रह जाती है। इन अवस्थाओंमें पड़कर वे सर्वथा निराश और निर्णयहीन हो जाते हैं, परिणाम यह होता है कि सदाके लिये निर्धन होकर दूसरोंके घरोंमें सुलभ भोगोंकी आश्चर्यपूर्वक प्रशंसा ही करते हैं, प्राप्तिके लिए पुरुषार्थ नहीं करते हैं तथा अकिंचन होकर अपनी हथेलियोंको ही पात्र बनाकर मांगते हुये एक देशसे दूसरे देशमें चक्कर काटते हैं। वे रात दिन ऐसे घोर अकल्याणकारी कार्योंको करते हैं जिनके फलस्वरूप उनके क्लेश और अनुताप बढ़ते ही जाते हैं, फलतः वे दिन रात दुखोंकी ज्वालामें जलते हैं, उनका चित्त खिन्न हो जाता है, उत्साह नष्ट हो जाता है तथा वे अपने मनोरथोंको पूरा किये बिना ही मौतके घाट उतर जाते हैं।

३३

३४

३५

पाप कर्मोंके चंगुलमें फंसे बिचारे पुण्यहीन पुरुष प्रायःकर अन्धे और बहिरे होते हैं, शरीर भी उनका ऐंचकताना और कुबड़ा होता है, गूंगे और नपुंसक भी वही होते हैं। वे इतने मूर्ख होते हैं कि जिस गलत बातपर अड़ जायेंगे हजार समझानेपर भी उसे न छोड़ेंगे। ऐसा भी नहीं है कि उक्त दोष उनमें संगति आदिके कारण आते हों, वे तो उनमें जन्मसे ही होते हैं। लोगोंके मुख, नाक, कांख आदिसे दुर्गन्ध क्यों आती है, कितने ही पुरुष आकारसे मनुष्य होते हुये भी नपुंसक क्यों होते हैं? बहुतसे युवकोंके चेहरेपर डाढ़ी मूंछ क्यों नहीं आती है? तथा आकृति आदिसे पुरुष होते हुये भी लोगोंमें पुरुषके समान साहस, वीर्य और विवेक क्यों नहीं होता है? उत्तर एक ही है, यह सब भी कुकर्मोंका ही फल है। सबका

३६

३७

३८

-उपकार करते हुए भी, सर्वसाधारणसे प्रिय वचन बोलते हुए भी, आवश्यकताके समय दूसरों-को धन और आश्रय देते हुए भी, जिस मनुष्यसे सारा संसार शत्रुता करता है और उसका अहित चाहता है इसे भी पूज्य आचार्य पूर्वकृत महाकुत्सित कर्मोंका प्रभाव ही मानते हैं।

३९ जिन लोगोंने प्रयत्नपूर्वक पुण्य नहीं कमाया है उन्हें अपनी इच्छाके अनुकूल सफलता नहीं मिलती है, उनकी संपत्ति भी उनका भला नहीं कर पाती है, बेचारोंका प्रियजनोंसे विरह होता है और अहितु अप्रियजनोंका चिर समागम होता है। यदि किसी तरह कुछ अधिकार प्राप्त हो ही जाते हैं तो उन सबसे भी कोई लाभ नहीं होता है।

४० समृद्धिशाली उन्नत वंशोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष जन्म लेते हैं, उत्तम वर्ण (ब्राह्मण, आदि) को पाते हैं, पुण्यकर्म और सत्य आदि सुगुण जो उनके वंशकी शोभा बढ़ाते हैं तथा संपत्ति, ज्ञान, सुमति आदिसे उत्पन्न उनके कुलका यश जा दिशाओं और विदिशाओंमें फैल जाता है

४१ इस सबको आचार्योंने पुण्य कर्मोंका फल ही कहा है। 'मेरे स्वामी ! बेटा ! प्राण प्यारे पुत्र ! आदि प्रेम सम्बोधन कहकर जिसका लालन पालन माता पिताके द्वारा अत्यन्त यत्नपूर्वक किया जाता है, बिना किसी कष्ट या शोकके ही जो शैशवसे यौवनमें प्रविष्ट

पुण्य परिपाक

होकर ऐसे सुन्दर और रूपवान हो जाते हैं कि उसका वर्णन शब्दों द्वारा

४२ करना अशक्य हो जाता है यह सब पुण्यका फल है ऐसा पूज्य आचार्योंने कहा है। जो व्यक्ति पुण्यरूपी सम्पत्तिसे सम्पन्न है वह युवकोंका अग्रणी होता है, अपने समकक्षोंमें समानता ही नहीं पाता, अपितु उन सबका मान्य भी होता है। अपने माता पिता, बन्धु बान्धव मित्रों आदिको परमप्रिय होता है। उसके वेशभूषा ही उसकी समृद्धि और पूर्णताको प्रकट करते हैं

४३ तथा वह नाना प्रकारके भोगों और उपभोगोंके साथ यथेच्छ क्रीड़ा करता है। उसके सबही वस्त्र कोमल और चिकने (तैलाक्त नहीं) होते हैं, निवास स्थान विपुल सम्पत्ति व्यय करके बनाये जाते हैं तथा उसके रंग ही चित्र विचित्र नहीं होते हैं अपितु उनमें सदा ही अलौकिक रागकी गूंज उठती रहती है। ऐसे महलोंमें पड़े हुए पुण्यात्मा जीव सुगन्धित पदार्थों, फूल मालाओं, आदिसे मौज लेते रहते हैं।

४४ पुण्यके प्रतापसे ही लोग मकानोंकी उत्तम छतोंके ऊपर कोमलसे कोमल रमणीय शय्याओंपर सोते हैं तथा अत्यन्त अनुरक्त, मनवाञ्छित भोगोंके लिये सदैव उद्यत प्रिय

४५ नायिकाओंके साथ दिन रात अद्भुतसे अद्भुत प्रेम लीलायें करते हैं। पूर्वभवोंमें पुण्यकर्म करनेवाले व्यक्ति अगले जन्मोंमें वीणा और मृदङ्ग आदि बाजे बजाकर नींदसे जगाये जाते हैं, बांसुरी आदि मनोहर यन्त्र बजाकर सदा ही उनका मनोरञ्जन किया जाता है तथा अत्यन्त मधुर हृदयहारी गाने आदि सुनते हुए वे दिन रात क्रीड़ा करके अपना जीवन

४६ व्यतीत करते हैं। (पुण्यात्मा जीव अपनी प्राण प्यारियोंके साथ, आनन्द सागरमें आलोडन करते हैं) जिसमें गायकके आलाप और लयके अनुसार समस्त बाजोंकी ध्वनि रहती है तथा नर्तकी या नर्तकके नेत्र भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि अभिनयोंके कारण अत्यन्त सुन्दर हो

४७ जाते हैं, ऐसे नृत्योंको देखते हुये, न हरे और न पके जामुनके फलकी लालिमाके समान लाल तथा कान्ताओंके द्वारा मणियोंके प्यालोंमें भरकर लायी गयी मधु मदिराको, जो कि कामाचाररूपी उत्सवमें सबसे श्रेष्ठ समझी जाती है, पीते हुए, केवल भोगोंकी इच्छासे पुण्य

४८ करनेवाले जीव सुखसे रमण करते हैं। पुण्यरूपी निधिके स्वामी सदा ही यथेच्छ भोगोंसे

घिरे रहते हैं। उनका अध्ययन इतना गम्भीर होता है कि गोष्ठियोंमें आगम प्रमाण सहित वार्तालाप करते हैं, काव्य, संगीत, आदि ललित कलाओंमें भी पारंगत होते हैं तथा समस्त मनुष्योंके मान्य और पूज्य होते हैं।

कुछ पुण्यात्मा जीव उत्तम राजा होते हैं वे जब कहीं जाते हैं तो भाग्योदयके कारण वे मदोन्मत्त हाथीकी पीठपर सुन्दर वेशभूषाके साथ बैठते हैं। उनके ऊपर धवल छत्र लगाया जाता है जिसकी उन्नत कान्तिके कारण वे और अधिक सुन्दर प्रतीत होते हैं तथा उनके पीछे पीछे पैदल, घुड़सवार और हाथियोंपर सवार सेना चलती है। 'यह हमारे भरण पोषण करनेवाले प्रभु हैं, ये साक्षात् सारी पृथ्वीके राजा हैं, इनको हजारों ग्रामोंसे राजस्व प्राप्त होता है, इत्यादि चाटु वचन कहकर अपने प्रधान सेवकोंके द्वारा प्रशंसित होते हुये अनेक धीर वीर पुरुष चलते हैं। यह सब भी उनके पुण्योंके प्रतापसे ही संभव होता है। अन्य सुखी पुरुष पुण्य कर्मोंके फलोन्मुख होनेके ही कारण अपनी पत्नी, बाल बच्चों, मित्रों, कुटुम्बियों तथा अन्य प्रियजनोंके साथ मन चाहे प्रियसे प्रिय सुखोंको दिन रात भोगते हैं और दुखोंके अनुभवसे मुक्त होकर दिन रात प्रफुल्ल रहते हैं। दूसरे नरपुंगव धर्मके प्रभावसे इतनी अधिक सम्पत्ति पाते हैं कि अत्यन्त प्रसन्नता और उल्लासके साथ याचकोंके झुंडोंके झुंडोंको भोजन, पान, अन्न, बिछौना, धन आदि देकर खूब संतुष्ट करते हैं तो भी उनकी सम्पत्ति घटती नहीं है और उनका जीवन सुख और सम्पन्नतासे ही बीतता है। जो पुरुष अत्यधिक पुण्यात्मा हैं उन्हें केवल सौन्दर्य ही नहीं प्राप्त होता अपितु वे सबको प्रिय होते हैं, उनके सौन्दर्यका सहचारी स्वास्थ्य गुण होता है तथा उनका स्वास्थ्य भी नाना प्रकारकी भोग-उपभोग सामग्रीसे घिरा रहता है। पुण्यकार्योंके द्वारा कोई माताका लाल इतना अधिक यश और तेज कमाता है कि बड़ेसे बड़े पराक्रमी पुरुष भी उसके सामने आनेपर सिर उठा करके उसको आश्चर्यसे देखते हैं। इसी प्रकार कोई दूसरा सपूत धार्मिक कार्योंमें ही अपनी सारी शक्तिको लगाकर अवसर आते ही अनेक शत्रुओंको युद्धमें परास्त कर देता है। ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४

मनुष्य जन्म प्राप्त हो जानेपर भी वीतराग प्रभु द्वारा उपदिष्ट धर्मके ज्ञान और आचरणकी अभिलाषा, मानसिक शान्ति, मुक्त जीवों और मुक्तिके साधनोंके प्रति अनुराग, दयामय स्वभाव, तथा दान देनेकी इच्छा केवल उन्हीं पुरुषोंको होती हैं जिन्होंने पूर्व जन्मोंमें अत्यधिक पुण्य किया है। इक्ष्वाकु आदि विविध उत्तम क्षत्रिय वंशोंमें उत्पन्न सारी पृथ्वीके एकच्छत्र अधिपति आर्य ऋषभदेव, आदि परम पवित्र धर्मकी प्रगाढ भक्तिके ही कारण अर्हन्तकेवली पदको पा सके थे। इतना ही नहीं बल्कि तीनों लोकोंके वन्दनीय और पूज्य हो सके थे। दूसरे कुछ लोग क्रोधादि कषाय-रूपी समस्त दोषोंको नष्ट करके आशाओंपर भी विजय पाते हैं इसीलिए वे ज्ञानी लोग अपने इसी जन्ममें ही अन्तरंग और बहिरंगरूपसे पूर्ण सुखी होते हैं। इस जीवनको समाप्त करके जब परलोकमें पहुंचते हैं तो वहांपर भी उन्हें मन चाहे भोगोंकी प्राप्ति होती है तथा अन्तमें वे तीनों लोकोंके कल्याणकर्त्ता होते हैं। सद्धर्मका ही यह प्रभाव है जो जीव देवता, असुर और मनुष्य पर्यायके उन स्थानोंको प्राप्त करते हैं जो ऋद्धि, सिद्धि आदिके कारण तीनों लोकोंमें सर्वोत्तम माने गये हैं। इसके उपरान्त वे सर्वज्ञ पदको प्राप्त करते हैं और ५५ ५६ ५७ ५८

प्रशस्त नरजीवनके कारण

अन्तमें तीनों लोकोंको हितोपदेश देकर मोक्ष धामको चले जाते हैं जहांसे फिर लौटकर आना नहीं होता है।

५९ इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य जन्म पाना अत्यन्त दुर्लभ है तो भी इसको ही प्रधानता नहीं दी जाती है क्योंकि साधारणतया यह संसार भ्रमणको बढ़ाता ही है। होता यह है कि जीव मनुष्य जन्म पाकर भी जब अहिंसादि व्रत, सामायिक, उपवास, आदि शीलोंका पालन नहीं करते हैं, तो असंयत होकर ऐसे ही कार्य

मानवजन्म-अतिदुर्लभ

६० अधिक करते हैं जिनका परिणाम चिरकाल तक संसारभ्रमण ही होता है। शारीरिक तथा मानसिक सैकड़ों क्लेशों, रोगों, बुढ़ापा, आदि अनेक बाधाओंसे परिपूर्ण होनेके कारण मनुष्य पर्याय यों ही अत्यन्त कष्टकर है। इससे भी अधिक कष्टकी बात यह है कि इसमें दूषित मन और अपवित्र शरीर प्राप्त होता है तथा सबसे बढ़कर कष्ट यह है कि उक्त त्रुटियोंके अतिरिक्त यह सर्वथा अनित्य है।

६१ इस शरीरके कारण वीर्य और रज कोई पवित्र पदार्थ नहीं है, यह स्वयं भी मल, मूत्र, कफ आदि अपवित्र पदार्थोंसे परिपूर्ण है। यह पदार्थ भीतर ही हों ऐसी बात भी नहीं है अपितु दुर्गन्ध फैलाते हुये आंख, नाक, कान आदि नौ द्वारोंसे बहते हैं। इसमें अनेक प्रकारके कीटाणु व्याप्त हैं, इसीलिए सैकड़ों रोग इसे

अनर्थका मूल शरीर

६२ घेरे रहते हैं। फलतः यह शरीर अपने प्रारम्भसे लेकर अन्ततक अशुचि ही है। इस तरहके मलिन पदार्थोंको ढोते हुए,जो कि अत्यन्त तीव्र घृणाको उत्पन्न करनेमें समर्थ हड्डी, शिरा, तथा चमड़ेसे ढके हुये हैं, इतना ही नहीं, इन सबके साथ दूषित वात, पित्त, कफ, बुढ़ापा, आदि भी लगे हैं, तो कौन ऐसा पुरुष है जो इस शरीरके कारण किसी भी प्रकारका अभिमान करेगा।

६३ इस मनुष्यका विज्ञान, रूप, कान्ति, तेज, सामर्थ्य, दूसरोंसे किया गया स्नेह, सन्मान, आदि, बुद्धि, पदार्थोंके ग्रहणमें तीव्र इन्द्रियां, सगे सम्बन्धी, सम्पत्ति, आयु, आदर्श शरीर मित्र तथा उनकी सत्संगति सबही क्षायोपशमिक होनेके कारण क्षण, क्षणमें बदलते रहते हैं। यह मनुष्यभव सन्ध्या समय मेघों

मानव पर्यायकी अनित्यता

६४ पर चमकती लालिमा, गरजते और बरसते बादलोंमें कोंधनेवाली बिजलीकी चमक, जलपर तैरते फेन या उठती हुई लहरों, वृक्षोंके फूल, पानीके ऊपर तैरते बुद्‌बुद तथा शरत समयमें दूबके ऊपर अटकी ओसकी बूंद अथवा इन्द्रजालियेकी मायाके समान क्षण भर ठहरनेवाला

६५ है। इसके सिवाय कर्मभूमिमें जन्मे जीवको माताके गर्भमें, जन्मके समय या बादमें ज्ञान-हीन बाल्य अवस्थामें, प्रमाद बहुल युवा अवस्थामें तथा शारीरिक और मानसिक दुर्बलताके भण्डार बुढ़ापेमें सब स्थानोंपर सब प्रकारके रोगोंकी संभावना है, अपवित्रता और अनित्यता तो पीछा छोड़ती ही नहीं है।

६६ यदि कर्मभूमिमें मनुष्य आयुका उत्कर्ष अपनी अन्तिम सीमातक जाये तो मनुष्य अधिकसे अधिक एक पूर्वकोटि वर्षोंतक जीवित रहेगा। इसी प्रकार यदि कमसे कम समय तक ही मनुष्य जी सके तो उसकी आयुका प्रमाण एक मुहूर्तकी सीमा न लांघेगा अर्थात् अन्तर्मुहूर्त होगा।

स्थिति प्रमाण

इस प्रकारसे यतिराज वरदत्तकेवलीने सुख, भोगप्राप्तिके द्वारा जानने योग्य, सार्थक तथा विशालतम धर्माचरणके फलका वर्णन किया था। संसारमें सर्वसाधारणके अनुभवमें प्रतिक्षण आनेवाले पापकर्मोंके फलोंको भी कहा था जो विविध प्रकारके शोक और दुखोंसे आत्माको आकुल कर देते हैं। तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त उत्सुक राजा धर्मसेनको सुख और दुखकी रंगस्थली मनुष्य गतिका व्याख्यान देनेके पश्चात्, उपदेश कलाके मर्मज्ञ मुनिराजने स्पष्ट वचनों द्वारा देवताओंके लोककी कथा कहना प्रारम्भ किया था।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें
कर्मभूमि वर्णन नाम अष्टम सर्ग समाप्त।

नवम सर्ग

१ हे राजन् ! मनुष्यगतिके बाद अब आपको मैं साधारणदृष्टिसे चार प्रकारके देवलोकका वर्णन कहता हूं, जहांपर पूर्वजन्ममें पुण्य करनेवाले वैमानिक अथवा सोलह कल्पवासी, भवनोंके अधिपति (भवनवासी), जोतिर्गण (ज्योतिषी) तथा व्यन्तर

देव भेद

२ नामधारी देवोंका निवास है। भवनवासी देवोंके विशेषभेद असुरकुमार आदि दश हैं, किंपुरुष, किन्नर, आदि व्यन्तर देवोंके अवान्तरभेद कुल आठ ही हैं। ज्योतिषी देवोंके भेद सूर्य, चन्द्र, आदि पांच हैं और कल्पवासी देवके विशेषभेद इन्द्रोंकी

३ अपेक्षा दोगुने छह अर्थात् बारह हैं। वैमानिक देवोंका प्रमाण गणनासे परे है अर्थात् वे असंख्यात हैं, भवनवासी देवोंकी संख्या कल्पवासियोंसे भी बहुत अधिक है, व्यन्तर देवोंकी संख्या भवनवासियोंसे भी अधिक है और ज्योतिषी देवोंकी संख्या तो व्यन्तरोंसे भी अधिक है।

४ सुपर्णकुमार, नागकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, द्वीपकुमार, अग्निकुमार, विद्युत्कुमार, स्तनितकुमार, अनिलकुमार तथा इनमें असुरकुमारको जोड़ देनेपर भवनवासी देवोंके दश भेद होते हैं। इनके एक एक वर्ग असुरकुमार आदिमें दो, दो इन्द्र होते हैं।

भवनवासी

५ भूत, पिशाच, गरुड (महोरग), यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस तथा इनमें किंपुरुषको मिला देनेपर संख्याकी अपेक्षासे व्यन्तरोंके आठ भेद हो जाते हैं। इनका निवास भवनवासियोंकी तरह वंशा (?) पृथ्वीमें या वैमानिकोंकी तरह ऊर्ध्वलोकमें नहीं है बल्कि ये तिर्यलोक या मध्यलोकमें ही रहते हैं।

व्यन्तरदेव

६ सूर्य, चन्द्रमा, तारका समूह, ग्रह तथा नक्षत्रोंके गण ये पांचों ज्योतिषी देवोंके प्रधान भेद हैं। इनकी गति और स्थानके ही कारण प्रकाश और अप्रकाश होता है तथा अपनी अपेक्षा भी यह हमारे लिए योग्य स्थानपर होनेसे चमकते हैं और अन्तरालमें चले जानेसे छिप जाते हैं।

ज्योतिष्कदेव

७ वैमानिकोंमें प्रथम कल्पका नाम सौधर्म है, दूसरे कल्प या स्वर्गकी ऐशान संज्ञा है, सब प्रकारकी ऋद्धियोंसे जाज्वल्यमान सानत्कुमार तीसरा कल्प है, चौथे स्वर्गको माहेन्द्र कल्प

८ कहते हैं। पुरातन आचार्योंने पञ्चम कल्पका नाम ब्रह्म (ब्राह्मं) कहा है; (यह भी इन्द्रकी अपेक्षा है क्योंकि ब्रह्म और ब्रह्मोत्तरका एक ही इन्द्र होता है)। उन्हीं श्रेष्ठ आचार्यने छठे कल्पकी लान्तव संज्ञा दी है (यहां भी लान्तव और कापिष्ट दोनोंका एक ही इन्द्र होता है), सातवां कल्प शुक्र नामसे समस्त संसारमें प्रसिद्ध है इसीमें महाशुक्र भी अन्तर्हित है, इससे आगेके आठवें कल्पका नाम सहस्रार है जिसमें

वैमानिकदेव

९ शतारको भी समझना चाहिये। आनत स्वर्गको नौवां कल्प कहा है, प्रानत स्वर्गको दशम स्वर्ग रूपसे वर्णन किया है, ग्यारवें कल्पको आरण नामसे समझाया है तथा आरणके बाद बारहवें स्वर्गका नाम अच्युत है। यह अन्तिम कल्प है क्योंकि इसके बादका देवलोक कल्पातीत है।

सौधर्म आदि सोलह स्वर्गोंके ऊपर सारस्वत, आदित्य आदि अहमिन्द्र वर्गके देवोंका लोक है। १०
अहमिन्द्रलोकसे ऊपर लोककी ग्रीवाके समान ग्रैवेयक लोक है इसके निवासी नौ वर्गोंमें बंटे हैं। इन नौमें तीनको अधोग्रैवेयक कहते हैं, मध्यमें पड़े तीनोंका नाम मध्य ग्रैवेयक है और ऊपरके तीनोंकी संज्ञा ऊर्ध्व ग्रैवेयक है। इनमें नीचेकी ओरसे आरम्भ करके आगे आगे सुख बढ़ता ही जाता है। अपने विमानोंकी सम्पत्ति तथा कान्तिसे अत्यन्त भासुर नव ग्रैवेयकोंके ११
ऊपर परमपुण्यात्माओंके जन्मस्थान विजय, जयन्त, वैजयन्त, अपराजित तथा सर्वार्थसिद्धि नामके पांच विमान एक दूसरेके ऊपर ऊपर हैं।

इन स्वर्गोंमें विमानोंकी रचना इस प्रकार है—मध्यमें 'इन्द्रक' या प्रधान विमान होता १२
है, फिर उसकी दिशाओं और विदिशाओंमें (आग्नेय, नैऋत, वायव्य, ईशान) श्रेणीबद्ध विमानोंकी पंक्तियां होतीं हैं। इन श्रेणीबद्ध विमानोंकी ज्योति अनुपम होती है, इन पंक्तियोंके आसपास जो विमान बिना क्रमके फैले हैं वे

स्वर्ग पटलोंका विन्यास

'प्रकीर्णक' विमान हैं। इनमें जो इन्द्रक या प्रधान विमान हैं उनकी शोभा चिरस्थायी तथा अलौकिक है। कुछ विमानोंका रंग नूतन निकले दूबके अंकुरोंके समान हरा है, दूसरे कुछ १३
विमानोंकी छटा तोतेके पंखोंके रंग सदृश है, अन्य विमानोंकी प्रभा शिरीषके पुष्पोंके तुल्य है दूसरे विमानोंकी कान्ति इन्द्रधनुषके समान अनेक रंगकी है, शेष अनेक विमानोंकी छटा भी अद्भुत है:—कुछ विमानोंका रंग मोर और कबूतरके गलेके समान है, कुछ शंखके समान १४
श्वेत हैं, दूसरे मूंगेके तुल्य लाल हैं, कुछ जाति पुष्प और दुग्धके समान धवल हैं, कितनोंका रंग अंजनका-सा है, कितने ही नीले, लाल और श्वेत कमलोंके रंगसे भूषित हैं तथा अन्य कितनोंका ही हरिताल सदृश रंग है।

उन सब विमानोंकी दीप्ति मध्याह्नके सूर्यके तेजसे भी बढ़कर है, यदि उनकी कान्तिपर १५
दृष्टिपात करिये तो उसे चन्द्रमासे भी बढ़कर पाइयेगा। उनके रंग यद्यपि पांच रंगोंमेंसे ही कोई न कोई हैं तो भी वे अत्यन्त मनमोहक हैं, दूरतक फैली हुई मणियोंकी प्रभा ही उनके ऊपर फहरायी गयी ध्वजाओंका कार्य करती है।

विमान शोभा

जगमगाते हुए बड़े बड़े रत्नोंसे परिपूर्ण तथा बीच बीचमें वैडूर्य मणियोंसे खचित सुन्दर १६
स्वर्णमय कलशों, वज्रसे निर्मित आसन (कुर्सी) युक्त तथा बृहत् स्फटिक मणिकी शिला पर खड़े किये विशाल मृदङ्गयुक्त स्तम्भोंसे सदा सब ओरसे घिरे रहते हैं। विमानोंकी भित्तियोंपर १७
पृथक् पृथक् आकार और प्रकारके बनाये गये हाथी, घोड़ा आदिके चित्र, पक्षी, जलजन्तु मकर, आदि तथा लता कुंज आदिकी चित्रकारी सदा ही उन्हें सुशोभित करती हैं, वह इतनी अद्भुत है कि उसके रूप रंगकी मनके द्वारा कल्पना भी नहीं की जा सकती है। विमानोंके १८
चारों ओर मूंगा, मोती, मणि और सोनेकी मालाएं तथा जालियां लटकती हैं, उनमें लटके हुए घंटोंके गम्भीर घोषके साथ छोटी घंटियोंकी टुनटुन ध्वनि अति मनोहर होती है, चारों ओर फैले हुए अद्भुत रत्नोंके गुच्छोंकी पंक्तियोंके द्वारा उनकी शोभा अत्यधिक बढ़ जाती है। विमानोंके चारों ओर लटकती झालरें महेन्द्रनील मणियोंसे बनायी गयी हैं, १९
ऊपरकी छत अथवा चन्दोवे अत्यन्त शुभ (निर्दोष) चांदीसे बने हैं, समस्त भित्तियां भी विशेष प्रकारके सोनेकी बनी हैं तथा धरातल भी महामूल्यवान रत्नोंको जड़कर बनाया गया है। बिना किसी प्रकारके प्रयत्नके ही विमान निर्मल और भासुर रहते हैं, उनकी चमक कभी २०

घटती नहीं है, देखनेपर ऐसे लगते हैं मानों आंखोंके लिए अमृत ही हैं, उन्हें कोई शिल्पकार नहीं बनाता है वे अकृत्रिम हैं, उनका उपमान खोजना भी कठिन है। ऐसे इन्द्रक विमान स्वर्गोंमें सदा ही सुशोभित होते हैं।

२१ उनके द्वार जाम्बुनद सोनेके द्वारा ही नीचेसे ऊपर तक बने हैं, किवाड़ वज्रके हैं जिनकी प्रभा चारों ओर दूर-दूर तक फैली है, दरवाजोंके आगेकी तथा अन्य सीढ़ियां तपनीय स्वर्णसे बनायी गयी हैं। इस प्रकार प्रकाशमय पदार्थोंसे निर्मित होनेके कारण उन विशाल

२२ विमानोंमें कहींपर हल्का सा अन्धकार भी नहीं ठहरता है। सूर्यके उद्योतके समान जाज्वल्यमान सूर्यकान्त मणियों द्वारा, चन्द्रमाकी किरणोंसे भी अधिक कान्तिमान चन्द्रकान्त मणियोंसे, शुक्र ग्रहके समान कान्तियुक्त शुक्रप्रभ मणियोंसे, जाज्वल्यमान अग्निकी

विमानोंका विशेष वर्णन

२३ लपटके समान अरुण दीप्तियुक्त अग्निप्रभ मणियोंके कारण, विविध प्रकारकी उत्तमसे उत्तम सुगन्धयुक्त धूप आदि सुगन्धित पदार्थोंकी उत्कट वाससे, विविध वर्णके तथा अनेक आकार और गन्धयुक्त फूलोंसे तथा नाना विधियोंसे अलग अलग रखी गयी बलि सामग्री (फूल, चौक, आदि) के द्वारा उन विमानोंकी कान्ति ऐसी लगती है कि उसे कोई भी उपमा देकर समझाना असंभव ही है। यह कान्ति अस्थायी या परिवर्तनशील नहीं

२४ होती है अपितु चिरस्थायी होती है। विमानोंके बाहर चारों ओर छूटे हुए प्रदेशोंकी रमणीयता भी अलौकिक ही होती है, उनमें स्थान स्थानपर छोटे छोटे उद्यान, बावड़ी, जलाशय, झील, आदि बने रहते हैं, इनकी सब दिशाओंमें अत्यन्त मनोहर कल्पवृक्षोंकी पंक्तियां खड़ी रहती हैं, बीच बीचमें सोने आदिके सुन्दर रंगके मनमोहक क्रीड़ा-पर्वत बने रहते हैं।

२५ देवलोककी संक्षेपसे कही गयी उक्त समस्त विभूतियोंको कौन ऐसा व्यक्ति है जो हजार वर्ष कहकर भी समाप्त कर सके ? अतएव हे भूपते ! जो पुण्यात्मा वहां जाते हैं उनको विशेष विगत बार मैं कहता हूं; आप ध्यानसे सुनें।

२६ जो दयामय व्यवहार करनेके लिए कमर कसे हैं तथा सत्य गुरु, देव और शास्त्रके भक्त हैं, जो सत्यव्रतको दृढ़तापूर्वक पालते हैं, जिन्होंने पूर्णरूपसे चोरीको छोड़ दिया है, जो अपनी पत्नीपर परम अनुरक्त हैं और संतुष्ट हैं तथा परकामिनीको

देवगतिका कारण

देखकर पापमयसे त्रस्त हो जाते हैं, तथा संपत्तिको नियमित करके संतोषकी

२७ आराधना करते हैं, वे दृढ़ साधु पुरुष निश्चयसे स्वर्ग जाते हैं। सत्यज्ञान और आचरणसे अनभिज्ञ होते हुए भी जो तपस्याका स्वांग रचते हैं, महिनों केवल वायु और पानीपर रहकर 'कायक्लेश' करते हैं, सतत व्रत और उपवास करनेपर भी जिनका मन विषयोंसे विरक्त नहीं होता है यद्यपि शरीर कृश हो जाता है, ज्ञानहीन होनेके कारण जो अज्ञानियोंकी विधिसे उग्र तप करते हैं जैसे कि चारों तरफ चार ज्वालाएं जलाकर ग्रीष्मके मध्याह्नमें सूर्यकी तरफ

२८ देखते हुये पंचाग्नि तप करना आदि, जो बिना किसी अभिलाषा या आसक्तिके ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं अथवा अन्य संयम करते हैं, सांसारिक कारणोंसे बन्धनको प्राप्त होनेपर, किसी स्थान विशेषपर ही रोके जानेपर, चरों (खुफिया) या अन्य राज्यकर्मचारियोंके द्वारा विविध प्रकारसे वेदना दी जानेपर जो अनेक कष्टोंको साहसपूर्वक सहते हैं, वे सबके सब अमरता

२९ (देवगति) को प्राप्त करते हैं। पानीमें डूबकर, जलती आगमें कूदकर, पर्वतसे गिरकर, घातक विष पान करके, किसी शस्त्रके द्वारा तथा रस्सीमें गला फंसाकर, जो लोग आत्महत्या

करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हें भी देवगति प्राप्त होती है। हां इतना निश्चित है उनकी ऋद्धियां बहुत ही कम होती हैं।

अहिंसा, आदि पांचों व्रतोंका आंशिक-स्थूल (अणु व्रतों) पालन तथा दिग्व्रत आदि गुणव्रतों तथा सामायिक आदि चारों शिक्षा व्रतोंका निरतिचार रूपसे पालन करनेवाले पुरुष उन स्वर्गोंमें जन्म लेते हैं जहांपर सब ऋद्धियां सुलभ ही नहीं हैं अपि तु अपने चरम विकासको प्राप्त हैं। इस प्रकार वे महर्द्धिक देव होते हैं। हे नरेन्द्र! जिस व्यक्तिकी जीव, आदि सात तत्त्वोंपर ऐसी हार्दिक आस्था है कि जो सुमेरुकी भांति अडोल और अकम्प है, शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, आदि आठ दोष जिसे छू तक नहीं गये हैं उस शुद्ध सम्यक्त्वीको तिर्यंच और नरक गतिका भय कभी हो ही नहीं सकता है। यदि किसी सम्यक् दृष्टीने किसी भी प्रकारका चरित्र धारण नहीं किया है, चित्त विकृत है और स्वभावतः कुमार्गगामी है, अन्य कोई भी गुण उसके पास नहीं फटका है, व्रत, दान, आदिका नाम भी नहीं जानता है, असंयमी है तथा भोग और उपभोगोंकी प्राप्तिके लिए लालायित रहता है वह भी स्वर्गगतिको जाता है। ३० ३१ ३२

उत्तम देवगतिके कारण

जो प्रकृतिसे ही शान्ति और दयासे परिपूर्ण हैं, सबके साथ कोमलतापूर्ण व्यवहार करते हैं, किन्हीं परिस्थितियोंमें उद्वेजित नहीं होते हैं, जिनकी समस्त चेष्टाएं शुभावह और निर्दोष होती हैं, कपटहीन सरल स्वभावी तथा प्रेम, स्नेह आदिसे जो परे हैं वे मुनिवर निश्चयसे स्वर्गकी शोभा बढ़ाते हैं। भूख, प्यास, शीत, उष्ण, आदि बाईस परीषहोंके उपस्थित रहनेपर भी जो तपस्यासे क्षणभरके लिए भी नहीं डिगते हैं, जो अनशन आदि छह बाह्यतपों तथा प्रायश्चित्त आदि छह आभ्यन्तरतपोंके आचरणमें दृढ़ हैं, जो ईर्या, भाषा, आदि पांचों समितियोंको सावधानीसे पालते हैं तथा जो सर्वदा ही मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति इन तीनोंका पालन करते हैं, वे अवश्य ही स्वर्गमें पदार्पण करते हैं। प्राणिमात्रकी रक्षा करनेके लिए जो प्रमाद त्यागकर प्रयत्न करते हैं, स्पर्श, आदि पांचों इन्द्रियोंको जो जीत लेते हैं, वर्षाऋतुमें खुले प्रदेशमें (वर्षावास, आदि) तथा ग्रीष्म ऋतुमें उष्ण प्रदेशमें जो ध्यान लगाते हैं, भूख, प्यास, आदि समस्त परीषग्रहोंपर जो पूर्ण विजय पा लेते हैं तथा आशारूपी बंधनको जो चूर चूर कर देते हैं वे ही जीव मरकर कल्पोंके अधिपति इन्द्र होते हैं। जिन्होंने निर्दोष सम्यक् ज्ञानकी उपासना की है, अतिचाररहित विशाल सम्यक्चारित्रके जो अधिपति हैं तथा शंका, आदि आठ दोषोंसे रहित परम पवित्र सम्यक्दर्शन भी जिनको सिद्ध हो गया है, वे रत्नत्रय विभूषित जीव हे भूपते! नव ग्रैवेयकोंसे प्रारम्भ करके अहमिन्द्र आदि लोकपर्यन्त जन्म ग्रहण करते हैं आप ऐसा समझें। ३३ ३४ ३५ ३६

स्वभाव मार्दव

हमारे नभस्तलमें घनघटा, वज्रपात, इन्द्रधनुष, विद्युतप्रकाश, मेघोंकी गर्जना, धूमकेतु या पुच्छलतारेका उदय, वृष्टि तथा हिमवृष्टि जिस प्रकार अकस्मात् होते हैं उसी प्रकार स्वर्गलोकमें देवोंका जन्म भी पहिलेसे कोई चिन्ह न होते हुये भी सहसा होता है। वे अत्यन्त रमणीय शय्या (जिसको इसी कारणसे उत्पाद शय्या कहा है) पर जन्म लेते हैं तथा जन्म लेते ही एक मुहूर्तके भीतर ही उनका संपूर्ण शरीर परिपूर्ण हो जाता है तथा उसके सब संस्कार भी हो लेते हैं। इसके बाद जब वे उठते हैं तो उनकी ३७ ३८

देवजन्म

कान्तिसे दशों दिशाएं जगमगा उठती हैं, वे परम प्रसन्न रहते हैं और आनन्दसे अपने
३९ पूर्वकृत तपका फल भोगते हैं। जब अन्यदेव अकस्मात् ही नूतन देवोंको जन्मते देखते हैं
तब वे अत्यन्त मंगलमय स्तुतियों तथा उनके पुण्यात्मापनको प्रकट करनेवाले 'जय' आदि
घोषोंको करते हैं। इतना ही नहीं अपितु वे उनके जन्मकी सूचना देनेके लिए तालियां बजाते
हैं, फटाके आदि स्फोटक पदार्थोंको फोड़ते हैं, तोपों आदिकी भी क्ष्वेणित (धड़ाका) ध्वनि
४० करते हैं तथा बड़े उल्लासके साथ निकट आकर उन्हें प्रणाम करते हैं। अति आकर्षक श्रेष्ठ
सुन्दर शरीर धारिणी वरांगी अप्सराएं उनके सामने नृत्य करती हैं, वे बड़े हावभावके साथ
वीणाको विविध प्रकारसे बजाती हैं, मनको मुग्ध कर देनेवाले मधुर गीत गाती हैं, तथा रंग
४१ विरंगे फूलोंको हर तरफसे उनके ऊपर वरसाती हैं। अतीव सुन्दर अलौकिक वस्त्र, माला तथा
सुललित भूषणोंको धारण किये हुए वे देवलोक भी परिपूर्ण प्रभुता, असाधारण तथा अविकल
सम्पत्तिको प्राप्त करते हैं। उनकी सुख सामग्री विषयक समस्त अभिलाषाएं मनसे सोचते ही
पूर्ण हो जाती हैं तथा उनके लिए ही प्रतीक्षामें बैठी अनेक देवाङ्गनाओंके साथ वे दिन रात
४२ विहार करते हैं। दयामय भाव, निरतिचार तप, सत्पात्र दान, इन्द्रिय दमन, मानसिक
सरलता, उत्तम ब्रह्मचर्यव्रतका प्रयत्नपूर्वक पालन, श्री एक हजार आठ देवाधिदेव वीतराग
प्रभुकी अष्ट द्रव्य द्वारा भाव और द्रव्य पूजा करनेको प्रवृत्ति तथा उत्कट इच्छा आदिके
परिपाकका ही यह सब फल है, ऐसा सज्ज्ञान भी उन्हें होता है।

४३ स्वभावसे ही उनका तेज अरुणाचलपर विराजमान सूर्यके समान होता है। किसी
बाह्य प्रयत्न अथवा संस्कारके विना ही वे पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान शीतल और कान्तिमान्
होते हैं। उनके स्वभावतः सुन्दर अंगोंपर किसी अन्य व्यक्तिकी सहायताके
देवशरीर
बिना ही सुन्दर अलंकार दिखायी देते हैं इसी प्रकार बाहिरी सामग्री जुटाये
विना ही उनकी देहसे अद्भुत सुगन्धयुक्त गन्ध आती है। जन्मके क्षणसे हो उनका रूप
४४ अत्यन्त कमनीय और कान्त होता है तथा पूरे जीवन भर उसमें न ह्रास होता है और न
वृद्धि, जो सुगन्धित मालाएं जन्मके समय उनके गलेमें पड़ती हैं वे जीवन भर उनका साथ
नहीं छोड़ती हैं। जन्मके क्षणमें ही वह युवा अवस्थाको प्राप्त कर लेते हैं जो कि स्थायी
होती है तथा जीवनके प्रथमक्षणसे आरम्भ करके जीवन भर उन्हें इष्ट पदार्थोंकी निर्बाध प्राप्ति
४५ होती है। उनकी परम पूर्ण असाधारण ऋद्धियां और सिद्धियां सर्वदा उनकी सेवा करती हैं,
उनकी हृदयाकर्षक तथा निर्मल मुस्कान भी कभी रुकती नहीं है, कभी भी म्लान न होनेवाली
उनकी द्युति भी निरन्तर जगमगाती ही रहती है तथा उन्हें प्राप्त महासुख भी बिना अन्तरालके
हर समय उनका रंजन करते हैं।

४६ उनके लहराते तथा घुंघराले सुन्दर बालोंका रंग नीलिमा लिये होता है, बुढ़ापा, रोग
तथा यहां सुलभ सैकड़ों रोगोंसे वे सब प्रकार बचे हैं, उनकी देहोंमें हड्डी नहीं होती है,
न उनके कपड़ोंपर कभी धूल ही बैठती है इसी प्रकार किसी भी देवको न
देव-वैशिष्ट्य
४७ पसीना आता है और न रज-शुक्रका स्राव ही होता है। न तो उन्हें नींद
आती है, न उनकी आंखें कभी पलक झपाती हैं और न उन्हें कभी किसी कारणसे शोक ही
होता है। वे चलते अवश्य हैं पर उनके पैर पृथ्वी नहीं छूते हैं, आकाशमें भी वे अपने अपने
वाहन विमानोंपर आरूढ़ होकर चलते हैं तथा उनके समग्र भोग समस्त प्रकारकी त्रुटियोंसे

रहित होते हैं। देव अपने भुजबलसे सुमेरु पर्वतको भी उखाड़ कर फेंक सकते हैं, सारी पृथ्वीको एक हाथसे उठा सकना भी उनके सामर्थ्यके बाहर नहीं है, एक झटकेमें वे सूर्य चन्द्रको पृथ्वीपर गिरा सकते हैं। वे अपनी शक्तिसे समुद्रको भी सुखाकर चौरस स्थल बना सकते हैं, यदि एक क्षणमें तीनों लोकोंको अपने आकारसे व्याप्त करके बैठ सकते हैं, तो दूसरे ही क्षणमें वे ऐसे अन्तर्धान (विलीन) हो सकते हैं कि उनके रूपका पता लगाना ही असंभव हो जाता है। एक बार पलक मारने भरके समयमें वे पृथ्वीके एकसे दूसरे छोरतक चल सकते हैं, वे सर्वशक्तिशाली संसारी अपने आकार इच्छानुसार बदल सकते हैं। ४८ ४९

प्रत्येक स्वर्गके देव साधारणतया इन्द्र (प्रधान) सामानिक (इन्द्रकी बराबरीके देव) लोकपाल (दण्डनायक आदि) त्रायस्त्रिंश (मंत्री, पुरोहित, आदि) अनीक (सेनाके समान देव) प्रकीर्णक (प्रजाके समान) किल्विषक (नीच देव) आत्मरक्ष (अंग रक्षक) अभियोग्य (सेवक स्थानीय जो सवारी आदिके काम आते हैं) तथा परिषत् (सभासद) ये दशों प्रकारके देव सौधर्म, आदि सोलह कल्पोंमें पाये जाते हैं। सूर्यादि ज्योतिषी देवों तथा किन्नर आदि व्यन्तर देवोंमें त्रायस्त्रिंश और लोक-पालके सिवा आठ ही वर्गके देव होते हैं। ५० ५१

देव-वर्ग

देवोंकी स्त्रियां अपनी विक्रिया ऋद्धिके द्वारा वेशभूषाको अत्यन्त ललित बनाती हैं, उनके हावभाव भी अतीव मनमोहक होते हैं, कोई ऐसी ललित कला नहीं है जिसमें वे दक्ष न हों, वे एकसे एक उत्तम ऋद्धियों और गुणोंकी खान होती हैं। इस प्रकार अपनी बहुमुखी विविध विशेषताओंके कारण वे देवोंके मनको हरण करती हैं। उनका रूप ऐसा होता है कि उसे देखकर उनके पतियोंके शरीरमें ही विकार होता है, वे अपने अपने प्राणनाथोंके भावोंके अनुकूल ही प्रिय वचन बोलती हैं, उनका वेश और शृंगार ऐसा होता है जो कि उनके पतियों-की आंखोंमें समा जाता है तथा उनका मन सदा ही अपने पतियोंकी आज्ञाका पालन करनेके लिए उद्यत रहता है। अपरिमित सौन्दर्य और कान्तिकी स्वामिनी स्वर्गीय अंगनाओंको शारीरिक रचना, वेशभूषा, प्रेमलीला, हाव-भाव आदिका मनुष्य कैसे अविकलरूपसे वर्णन कर सकता है क्योंकि नितम्ब, स्तन, आदि प्रत्येक अंगकी कान्तिकी कोई सीमा नहीं है तथा प्रत्येक अंग ही मनोहर होता है। ५२ ५३ ५४

देवियां

भवनवासी देवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण एक सागर प्रमाण है। व्यन्तरोंकी आयुका प्रमाण पल्यकी उपमा देकर समझाया गया है। ज्योतिषी देवोंको आयुका प्रमाण कुछ अधिक एक पल्य ही है, प्रथम स्वर्ग सौधर्ममें देवोंको उत्कृष्ट आयु दो सागर प्रमाण है, ऐशान कल्पमें भी आयुका यही प्रमाण है। सानत्कुमार और माहेन्द्रकल्पमें सात सागर उत्कृष्ट आयु है, ब्रह्म तथा ब्रह्मोत्तर कल्पोंमें उत्कृष्ट आयुको दश सागर गिनाया है, यतियोंके राजा केवली प्रभुने लांतव तथा कापिष्ठ स्वर्गोंमें अधिकसे अधिक चौदह सागर प्रमाण आयु कही है, शुक्र, महाशुक्र स्वर्गोंमें ऐसी ही (उत्कृष्ट) अवस्थाका प्रमाण सोलह सागर है, अष्टम कल्प शतार तथा सहस्रारमें उत्तम आयु अठारह सागर है, इसके ऊपर आनत-प्राणत कल्पोंमें बीस सागर है तथा आरण और अच्युत नामके स्वर्गोंमें बाईस सागर प्रमाण है। हे पृथ्वीपालक ! इसके ऊपर प्रत्येक ग्रैवेयकमें क्रमशः एक एक सागर आयु बढ़ती जाती है अर्थात् अन्तिम ग्रैवेयकमें उत्कृष्ट आयुका प्रमाण इकतीस सागर गिनाया है, ५५ ५६ ५७ ५८

देवोंकी स्थिति

विजय, वैजयन्त जयन्त, और अपराजित कल्पोंमें बत्तीस सागर है तथा लोकके शिखरपर स्थित सर्वार्थसिद्धि विमानमें उत्पन्न देवोंकी उत्कृष्ट आयुका प्रमाण तेतीस सागर है ।

५९ पूर्वोक्त भवनवासी देवोंकी जघन्य आयुका प्रमाण (तीन शून्योंके पहिले दश वर्ष (१०,०००) लिखनेसे) अर्थात् उनकी जघन्य आयु दश हजार वर्ष है। उत्कृष्ट और

६० जघन्य आयु — जघन्य आयुके प्रमाणके विशेषज्ञोंने इसी प्रकार व्यन्तरोंकी भी जघन्य आयु को गिनाया है, अर्थात् दश हजार वर्ष बताया है। जाज्वल्यमान उद्योतके पुंज ज्योतिषी देवोंके लोकमें उत्पन्न हुये देवोंकी कमसे कम अवस्थाका प्रमाण एक पल्यका आठवां भाग होता है । प्रथम सौधर्म और ऐशान कल्पमें जघन्य आयुका प्रमाण एक पल्य है इसके आगे पहिलेकी उत्कृष्ट आयु ही उसके अगले कल्पमें जघन्य हो जाती है। यथा—सौधर्म-ऐशानकल्पकी उत्कृष्ट आयु दो सागर ही सानत्कुमार-माहेन्द्रकल्पमें जघन्य हो जाती है ।

६१ मुनियोंके अग्रणी श्रीवरदत्तकेवलीने समीचीन धर्मके पालन करनेसे प्राप्त होनेवाले सुखोंके स्थान तथा अपनी छटाके द्वारा सूर्यके किरण जालके समान चारों प्रकारके देवलोकोंका

६२ उक्त प्रकारसे अत्यन्त संक्षेपमें वर्णन किया था। पुण्यके परिपाक होनेपर स्वयं समागत स्वर्गीय सुखोंका व्याख्यान करनेके उपरान्त, तीनों लोकोंके ऊपर विराजमान, मोक्ष महापदको प्राप्त तथा अनन्तकाल पर्यन्त स्थायी अतीन्द्रिय सुखों स्वरूप सिद्धोंका स्वरूप राजा धर्मसेनको समझानेकी इच्छासे केवली प्रभुने मोक्षके विषयमें कहना प्रारम्भ किया था।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें

देवलोक वर्णन नाम नवम सर्ग समाप्त ।

दशम सर्ग

ज्ञानावरणी आदि आठों कर्मोंका सांगोपांग क्षय हो जानेसे प्रकट हुआ अनन्त सुख ऐकान्तिक है उसमें कभी भी दुख लेशका समावेश नहीं होता है, वह सुखकी चरमसीमा और परम विकास है, तथा वह अपने पूर्णरूपमें सदा ही विद्यमान रहता है। अतएव हे नरेन्द्र! आप इसे ध्यान लगाकर सुनिये मैं संक्षेपसे कहता हूं। १

जिस सर्वार्थसिद्धि विमानकी कीर्तिको आगमने विस्तारपूर्वक गाया है, उसके भी ऊपर बारह योजन जाकर 'प्राग्भार' नामकी भूमि है जिसका व्यास तथा परिधि मनुष्यलोक (ढाई द्वीप प्रमाण) के समान है। उसका आकार भी दुग्ध-धवल छातेके समान है। हे नरदेव! इस प्राग्भार पृथ्वीकी मोटायी मध्यमें आठ योजन प्रमाण समझिये, इसके बाद मध्य या केन्द्रसे आरम्भ करके सब दिशाओंकी ओर उसकी मोटायी घटती गयी है और अन्तमें अंगुलके असंख्येय भागसे भी कम रह गयी है। गणित शास्त्रकी विधिके अनुसार उसकी परिधिका विस्तार उसके व्यास (ढाई द्वीपके व्यास) के तिगुनेसे भी कुछ अधिक है ऐसा लोकविभाग प्रकरणमें कहा है। इस क्षेत्रके ऊपर ही सिद्धलोग विराजते हैं जो कर्ममलसे रहित हैं तथा अतीन्द्रिय सुखके भण्डार हैं अतएव वे 'विशुद्ध सिद्ध' शब्दसे पुकारे जाते हैं। २ ३ ४

मोक्ष स्थान

यह सिद्धलोक स्वयं पवित्र है पुण्य कर्मों द्वारा प्राप्य है, शुभगतियोंका मुकुटमणि है, कल्याण अवस्थाका प्रतीक है, सर्वश्रेष्ठ तथा शुभ ही शुभ है। हमारी व्याख्यानशैली अथवा शब्दनयके अनुसार वह उत्तम लोक है, संसारके समस्त पदार्थोंसे अत्यधिक पवित्र है, चरम श्रेय है, सतत स्थायी है और कभी नष्ट नहीं होता है। व्यतिरेक दृष्टिसे देखनेपर वह समस्त रोगोंसे परे है, क्लेश, बुढ़ापा, आदिका वहां प्रवेश नहीं है, दीनता वहांसे बहुत दूर है, आकुलताका अभाव है, उसके परिमाणका अनुमान करते समय प्रमाणकी प्रगति रुक जाती है, निन्दा उसकी हो ही नहीं सकती, क्षोभकी वहां कल्पना भी शक्य नहीं है, वह सीमाओंमें नहीं समाता है, सबका अग्रणी है, आत्माके स्वाभाविक सुखका भण्डार है तथा जीवके शुद्ध स्वरूपका तोषक और पोषक है। चंचलताका वहां सचार नहीं है, राग-विरागसे रहित है, उसके खण्ड नहीं हो सकते, वहां द्रोह-विद्रोहका पूर्ण अभाव है, बाधाओंके समागमकी संभावना भी नहीं है। उसे गिराया नहीं जा सकता, गलता भी नहीं है, उसका उपमान खोजना अशक्य है। वह भासमान है, अभ्यसूयासे परे है, हर प्रकार श्रवण और मनन योग्य है। शत्रु-मित्रके विभागसे रहित है, विनाश और शंकाकी संभावना भी नहीं है, किसी हेतुसे उत्पन्न नहीं है, समस्त प्रवृत्तियों और कषायोंसे कलुषित नहीं है, वृद्धि-हानिसे हीन है, योग-वियोगसे सर्वथा दूर है, कृष्ण आदि लेश्या, क्षुधा-तृषासे अछूता है तथा कल्पनाके भी परे है। उसका छेदन भेदन नहीं हो सकता, न वहां दिन है और न दिनका आतप ही है, दुख और द्वेषसे कोशों दूर है, विशालतम सुखोंकी भी वहां कोई गिनती नहीं है, न उसका अन्त है। वह इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण भी नहीं किया जा सकता ५ ६ ७ ८ ९

मोक्ष माहात्म्य

है, जन्म-मरणसे परे है, अत्यन्त निर्मल है तथा वहां पहुंचनेपर फिर जन्मग्रहण नहीं करना
१० पड़ता है। भव्य जीवोंके द्वारा वह बिना आयासके ही प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु अभव्यजीव मनसे उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते साक्षात् गमनकी तो बात ही क्या है। श्रेष्ठसे श्रेष्ठ उग्र तपस्वी यतिराज भी जिसे पानेकी अभिलाषा करते हैं उसे ही शिवालय
११ (कल्याणोंका घर) या मोक्ष कहते हैं। इन्द्र आदि प्रधान देव तथा चक्रवर्ती आदि प्रधान राजा भी उसकी आकांक्षा करते हैं, अन्तरंग बहिरंग शुद्धियुक्त श्रेष्ठ पुरुष भी उसका गुणगान करते हैं तथा संसारके समस्त पाखण्डी (दार्शनिक) जिसकी तर्ककी कसौटीपर कसके परीक्षा (युक्तियों द्वारा सिद्ध) करते हैं। अब जो जीव उसे प्राप्त करते हैं उनका वर्णन करता हूं।

१२ क्षमा ही जिनका प्रधान अलंकार है, विपुल (उत्तम) चरित्र ही जिनका वस्त्र है, शान्ति, आदि गुण ही जिनका मुकुट हैं, इन्द्रिय-मनका दमन ही जिनकी सुन्दर माला है, तथा धैर्यरूपी कांछ जिन्होंने बांध ली है ऐसे दिगम्बर मुनिरूपी वीर ही मनुष्य जीवनको

मोक्ष गामी

१३ समाधिपर अनन्तकाल पर्यन्त स्थायी मोक्षको गमन करते हैं। जीवनका अन्त उपस्थित होनेपर भी जिनकी सामर्थ्य और दृढ़ता बिखरती नहीं है, अनेक प्रकारके योगों और समस्त व्रतोंके विशाल भारको जो खींचकर आत्मसात् कर लेते हैं, जो अडिग भक्तिपूर्वक निर्दोष तथा परिपूर्ण शीलके उस भारको वहन करते हैं जिसे थोड़ी
१४ दूर ले जाना भी अतिकठिन है, जो परमसंयमी त्रिगुप्तिरूपी विशाल किवाड़ोंको इन्द्रियोंरूपी द्वारोंपर लगाकर पाप कर्मोंके आस्रवको रोक देते हैं तथा पहिलेसे संचित कर्मोंरूपी गहन
१५ वनको तपरूपी अग्निकी शमभावरूपी ज्वालाके द्वारा समूल भस्म कर देते हैं, आसनादि योग लगानेपर जो आलसको दूर भगा देते हैं, साक्षात् श्री एकहजार आठ तीर्थंकर केवलीके मुखसे विनिर्गत तथा गणधर स्वामी द्वारा गृहीत द्वादश-अंगरूप आगमको जो चौदह पूर्वों
१६ सहित मनन करते हैं, जो ध्यानवीर आर्त और रौद्र अशुभ ध्यानोंको छोड़कर शुभ धर्म और शुक्ल ध्यानमें ही लवलीन रहते हैं तथा अत्यन्त विनम्रताके साथ अनन्त प्रकारके शुभ
१७ भाव तथा ध्येययुक्त ध्यानोंको ही लगाते हैं। पत्थर-ईंट तथा सोनेमें, वज्रके समान सारमय पदार्थमें, आदर और निरादरमें, अपने सगे सम्बन्धियों तथा जनसाधारणमें, लाभ और हानिमें, सुख तथा दुखमें जिन योगियोंके समभाव रहते हैं वे मोक्ष लक्ष्मीका वरण करते हैं।

१८ कर्मोंको समूल नष्ट करनेके लिए जो महर्षि अनशन, अवमौदर्य, व्रत परिसंख्यान, रस परित्याग, विविक्त शय्यासन तथा कायक्लेश इन छह प्रकारके बाह्य तपों तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान इन छह प्रकारके अन्तरंग तपोंको सदा करते

मोक्षसाधक तप

१९ हैं वे निश्चयसे अक्षय मोक्षपदको पाते हैं। क्रोध आदि अभ्यन्तर शल्योंको तथा स्त्री, धन, वाहन, आदि बाह्य शल्योंके दोषोंको जिन्होंने 'मनसा वाचा कर्मणा' छोड़ दिया है तथा मोहरूपी महाशत्रुकी कषायादि बहुल
२० महासेनाको पूर्णरूपसे पराजित कर दिया है उनके लिये मोक्षप्राप्ति ध्रुव है। उदयाचलसे उदित होकर तथा मध्याह्नको तप करके उसी दिनके भीतर ही फिर बदलकर जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रारम्भिक प्रकृतिको प्राप्त होता है उसी प्रकार समस्त तपस्याके विविध विधानोंको पूर्ण करके भी सम्यक् चारित्रकी निर्दोषताके रक्षक महामुनि आत्माकी परम स्वाभाविक अवस्थाको
२१ प्राप्त करते हैं। विवेकरूपी महाशक्तिसे सम्पन्न मुनिरूपी मदोन्मत्त गज अनादिकालसे बंधे

(सुस्थिर) मोहरूपी जड़ोंपर खड़े, कषायरूपी शाखायुक्त, अज्ञान कुज्ञानरूपी फूलोंसे पूर्ण तथा दुखरूपी पके फलोंसे लदे कर्मरूपी विषवृक्षको उखाड़ कर फेंक देते हैं तथा मोक्षमें सहज सुखमय जीवन बिताते हैं।

मोहनीय कर्मके नष्ट होनेसे ज्ञानके रोधक ज्ञानावरणी कर्मका नाश होनेपर, दर्शनावरणीके सर्वथा लुप्त हो जानेके कारण तथा क्रमशः अन्तराय कर्मके गल जानेपर यह आत्मा केवल ज्ञानको प्रकट करता है तब समस्त द्रव्योंको उनकी पर्यायोंके साथ जानता है। गोत्रकर्म, नामकर्म, वेदनीयकर्म तथा आयुकर्म इन अनुपम शक्तिशाली चारों अघातिया पापकर्मोंको भी आत्मशक्तिके प्रहारसे चकनाचूर करके समस्त दोषोंको हवा कर देता है। अन्तमें यह आत्मा इस संसारके परेके अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करता है। २२ २३

कर्म-क्षय क्रम

मिट्टीका लेप लगाकर जलमें फेंका गया तुम्बोफल लेप गल जानेपर जिस प्रकार तुरन्त ही पानीके ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार तपस्या करके कर्मबन्धको नष्ट करनेमें सफल जीव भी संसारसे मुक्त होकर तीनों लोकोंके मस्तक समान प्राग्भार पृथ्वीपर सीधे चले जाते हैं। आगके ऊपर तपाया गया अथवा आगकी लपटोंसे झुलसा हुआ बीज उर्वराभूमिमें बोये जानेपर भी जिस प्रकार अंकुरको उत्पन्न नहीं करता है उसी प्रकार उग्र तपरूपी ज्वालासे झुलसा गया कर्मरूपी बीज फिर कभी भी पुनर्जन्मरूपी अंकुरको उत्पन्न करनेमें समर्थ नहीं होता है। यदि तालवृक्षके ऊपरके पत्ते एक बार पूरे काट दिये जांय तो उसमें नूतन अंकुरकी उत्पत्ति असंभव हो जाती है फलतः उसमें फिर डालपात नहीं ही आते हैं यही अवस्था एक बार पूर्णरूपसे क्षय हुए कर्मोंकी है। स्वाभाविक सुखादिको आत्मा उसी तरह प्राप्त होता है जिस प्रकार तैलके नष्ट हो जानेपर दीपककी लौ शान्त हो जाती है। दीपककी वर्ती या नलीमें चढ़नेवाला तेल जैसे प्रभात समयमें अकस्मात् समाप्त हो जाता है और दीपक शान्त हो जाता है, उसी प्रकार जिन जीवोंके अघातियाकर्म एक ही अनुपातमें शेष रह जाते हैं, वे सब जीवनके अन्तिम क्षणमें एक साथ समाप्त हो जाते हैं और जीव शुद्ध स्वरूपको पा जाता है। २४ २५ २६ २७

मुक्तजीवका ऊर्ध्वगमन

जिन जीवोंके शेष आयुकर्म तथा अन्य कर्मोंमें विषमता होती है वे समुद्धात करनेके प्रयोजनसे अपने आत्म प्रदेशोंको चार समयके भीतर ही सारे लोकमें फैला देते हैं। इस प्रकार अन्य कर्मोंकी स्थिति भी आयुकर्मके अनुपातमें हो जाती है। फलतः वे अन्त समयमें सब कर्मोंको नष्ट करके निर्वाणको प्राप्त होते हैं। २८

समुद्धात

हे राजन्, किसी भी एक समयमें इस संसारसे यदि अधिकसे अधिक जीव मुक्ति पावें तो उनकी संख्या आठ अधिक एक सौ अर्थात् एक सौ आठ ही होगी। इस संसारके जीवोंको मुक्ति जानेमें कमसे कम अन्तराल एक 'समय' पड़ता है और यदि अधिकसे अधिक लगा तो छह महिना भी हो सकता है। एक समयमें अधिकसे अधिक छह तीर्थंकर क्षपक श्रेणी चढ़ सकते हैं। २९

निर्वाण सख्या

इसी प्रकार यदि 'प्रत्येक बुद्ध' केवल एक साथ श्रेणी आरोहण करें तो एक समयमें उनकी संख्या दशसे अधिक न होगी। तथा बोधित बुद्ध क्षपक श्रेणी आरोहकोंकी संख्या भी एक समयमें एक साथ श्रेण्यारोहणकी दृष्टिसे एक सौ आठसे अधिक न होगी क्योंकि इस ३०

प्रकारके चरम-शरीरी जीव स्वर्गसे एक समयमें अधिकसे अधिक एक सौ आठ ही च्यवन
३१ (आ सकते) करते हैं। सोत्कर्ष-शरीर धारी अधिकसे अधिक दो ही एक समयमें सिद्ध हो सकते हैं तथा जिनके शरीर उत्कर्षादिसे हीन हैं ऐसे एक समयमें मुक्त होनेवाले मानवोंको संख्या चार ही कही गयी है, मध्यम उत्कर्षयुक्त शरीरधारियों अथवा सामान्य देह युक्त जीवोंके विषयमें यही प्रसिद्ध है कि एक समयमें अधिकसे अधिक आठ ही उनमेंसे सुगति (मुक्ति) को प्राप्त करते हैं।

३२ जिस प्रकार ताड़ी वृक्षके बीज परिपाकके पूर्ण होते ही बन्धन मुक्त हो इधर उधरको उचट जाते हैं, अथवा जैसे अरण्डके बीजोंके आवरणके फटते ही वे चिटक कर ऊपर चले जाते हैं, अथवा जलती आगकी ज्वालाओंकी जैसी ऊपरको गति होती है

मुक्ति-उदाहरण

३३ उसी प्रकार बन्धन मुक्त जीवका गमन भी ऊपरकी ओर होता है। अन्तरंग और वहिरंग परिग्रहके छूट जानेसे, शुद्ध प्रकृति होनेके कारण, कर्मोंके निखिल बन्धनोंके नष्ट हो जानेके कारण तथा ऊर्ध्व गमन स्वभाव होनेके कारण आठों कर्मोंके समूल क्षय होने पर उदित अतीन्द्रिय अनन्त सुखके स्वामी होकर सिद्धजीव लोकके ऊपर पहुंचकर सिद्धशिला (प्राग्भार) पर ही ठहरते हैं।

३४ हे भूपते ! सुखों और दुखोंके प्रधान हेतु शब्द, स्पर्श, गन्ध आदि शरीरमेंसे विलीन हो जाते हैं फलतः शरीरका पौद्गलिक (स्थूल) रूप नष्ट हो जाता है, फलतः उसी उत्सेध आदिके मापका सूक्ष्म आकार मात्र शेष रह जाता है, जो कि मुक्ति पानेके बाद

मुक्त-आकार

३५ सदा ही प्रतिविम्बके समान शोभित होता है। मधु मक्खियोंके छिद्रोंमें वमन किया गया मधु जिस प्रकार छिद्रका आकार धारण कर लेता है, अथवा सांचेमें ढाला गया सोना जिस प्रकार उसके आकार को ग्रहण कर लेता है उसी प्रकार मुक्त जीव भी अपनी पहिलेकी आकृतिको उसके आंगोपांगके आकारके साथ केवल छाया रूपसे धारण करता है।

३६ सूर्य, चन्द्रमा, तारका, ग्रह, नक्षत्र, आदिके विमानोंकी एक बड़ी भारी संख्या जिस प्रकार इस आकाशमें बिना किसी आधारके स्थित है उसी प्रकार मुक्त जीव भी किसी अन्य पदार्थका सहारा लिये बिना ही आधर रूपसे इस आकाशमें विराजमान हैं।

मुक्तों की स्थिति

३७ बादलोंको चीर कर ऊपर आया सूर्य जिस प्रकार चमकता है, मियानसे बाहर खींची गयी प्रखर तलवार जैसी चमचमाती है, मिट्टी तथा पत्थरोंके बीचमेंसे निकालकर शुद्ध किया गया सोना जैसा अनुपम आभासे भासित होता है उसी प्रकार कर्मरूपी शत्रुओंकी विजय-

३८ में कृतकृत्य जीव भी कर्ममैलसे मुक्त होकर शोभता है। यदि एक ही गृहमें अनेक दीपक जलाये जायं तो उन सबका प्रकाश जिस तरह एक दूसरेको नहीं रोकता है इसी तरह अनन्त सिद्ध

३९ जीव सिद्ध लोकमें रहते हैं पर किसी भी प्रकारसे आपसमें एक दूसरेसे टकराते नहीं हैं। एक साथ अनेक दीप पंक्तियोंको प्रज्वलित करने पर उनका प्रकाशपुञ्ज आपसमें बिना टकराये ही अन्धकार दूर करता है। यदि रूपी प्रकाश (क्योंकि प्रकाश भी पौद्गलिक है) में ऐसी विशेषता है तो अरूपी सिद्ध जीवोंकी तो कहना ही क्या है।

४० सूर्यका प्रखर आतप-उद्योत, चन्द्रमाकी हृदयहारिणी तथा नेत्रसुधा समान चन्द्रिका, अन्य अनेक प्रकारके मणियोंकी दीप्ति तथा गुणियोंके समस्त असाधारण गुण भी, लोकोत्तर सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, आदि गुणोंके द्वारा कर्मोंका क्षय हो जाने पर प्रकट हुए आत्माके

शुद्ध स्वरूपके सामने न जाने आसानीसे कहां छिप जाते हैं। चन्द्रमा और सूर्य उपयुक्त आकारमें व्यवस्थित अपने-अपने प्रदेशोंको ही प्रकाशित करते हैं किन्तु ज्ञानकी ज्योतिसे आसमान सिद्ध जीव एक ही साथ लोक और अलोकमें स्थित समस्त पदार्थों-को स्पष्ट रूपसे प्रकट कर देते हैं। सम्यक्त्व, (अनन्त दर्शन) सम्यक्ज्ञान, (अनन्त ज्ञान) सम्यक्चारित्र (अनन्त सुख) वीर्य, (अनन्त शक्ति) निर्बाधता, (किसी वस्तुसे न रुकना और न अन्य किसीको रोकना) अवगाहना, (शरीर की छाया) अगुरुलघु (गौरव और लघुतासे हीनता) तथा सूक्ष्म ये आठ लोकोत्तर गुण सिद्धोंमें होते हैं। ४१ ४२

सिद्ध स्वरूप

इन्द्रियोंके द्वारा पदार्थोंका भोग करनेसे जो सुख प्राप्त होता है उसकी तुलना मधुसे लिपटी तलवारके चाटनेके साथ की जाती है। दश प्रकारके कल्पवृक्षोंके कारण भोगभूमिमें जो ऐकान्तिक सुख प्राप्त होते हैं उन्हें भी विष मिले मधुर पकवानोंके भोजनके समान आचार्योंने कहा है। विक्रिया ऋद्धिके द्वारा मन चाहे शरीर धारण करनेमें जो आनन्द आता है सतत सर्वदा स्थायी कान्ति और दीप्तिके अधिपति इन्द्र, आदि श्रेष्ठ देवोंके सुख भोग तथा अन्य समस्त भोगोंको इन्द्रियों द्वारा भोगनेमें जो रस आता है वह भी वैसा है जैसा कि जलनेसे हुए घावपर चन्दनका लेप। किन्तु अनादिकालसे बंधे आठों कर्मोंके बन्धनोंको खण्ड-खण्ड कर देनेके कारण तीनों लोकोंके चूणामणिके समान उन्नत स्थान पर जा विराजनेवाले सिद्ध जीवोंके अतीन्द्रिय सुखकी हे राजन्! कोई उपमा ही नहीं दी जा सकती है। उस सुखके विषयमें मैं कुछ कहता हूं आप सुनें। ४३ ४४ ४५

संसार-मुक्त सुख तुलना

तिर्यञ्च जीवोंको जो कुछ सुख प्राप्त होता है, मनुष्योंका सुख उससे बहुत बढ़कर है। साधारण मनुष्योंकी अपेक्षा आप राजालोग अधिक सुखी होते हैं। कर्मभूमिके चक्रवर्ती आदिसे भी भोगभूमिके मनुष्य बहुत अधिक सुखी होते हैं, किन्तु सिद्धजीव भोगभूमियोंसे भी अनन्त गुने सुखी होते हैं। देवगतिमें व्यन्तर सबसे कम सुखी हैं। ज्योतिषी देव उनसे भी अधिक सुखी होते हैं, भवनवासी देवोंके सुखका परिमाण ज्योतिषियों से बहुत आगे है, किन्तु सौधर्म स्वर्गमें उत्पन्न देवोंका सुख भवनवासियोंसे भी बढ़कर है इस प्रकार कल्पवासियोंमें ज्यों-ज्यों ऊपर जाइयेगा त्यों-त्यों सुखकी मात्रा बढ़ती ही जायगी। अच्युत कल्पके देवोंसे ग्रैवेयकवासी देव अधिक सुखी हैं। विजय, जयन्त, वैजयन्त तथा अप राजितवासी देवोंका सुख इनसे भी बढ़कर है तथा इनसे भी बहुत बढ़कर सर्वार्थसिद्धि-वासियोंका सुख है किन्तु सिद्ध जीवोंके चरम और परम सुखकी तो उक्त सांसारिक सुखसे कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। जिन्होंने राग आदि भावोंको नष्ट कर दिया है उन्हें कपड़ोंसे क्या प्रयोजन? जिनका क्षुधा वेदनीय कर्म सदाके लिए शान्त हो गया है, भोजन उसके किस काम आयगा? प्यासकी ज्वाला जिनमें बुझ गयी है पानी उनपर क्या प्रभाव करेगा? समस्त रोगोंको जिन्होंने दूर भगा दिया है औषध उनके किस काम आयगी? जिन्होंने गमन की क्रियाको छोड़ दिया है वाहनसे उन्हें क्या प्रयोजन? जिन्हें किसी प्रकारकी थकान ही नहीं होती है आसन उन्हें क्या सुख देगा? समस्त पदार्थोंको हाथपर रखे आंवलेके समान देखने वालोंको क्या आंखोंकी आवश्यकता है? भले तथा बुरेके विवेकके जो भण्डार हैं वे शंका, प्रश्न, आदि करने का कष्ट क्यों करेंगे? जो सब प्रकारके मैलसे हीन हैं वे स्नान क्यों करेंगे? जो स्वयं तेजपुञ्ज हो गये हैं वे बाह्य ओज और प्रकाशकी अपेक्षा क्यों करेंगे? अपने ४६ ४७ ४८ ४९ ५२

सिद्ध-सुख

५२ समस्त कर्त्तव्योंको पूर्ण कर देनेवाले योजनाएं क्यों बनायेंगे? इच्छाओंके विजेता राग, आदि भावोंको क्यों अपने में आने देंगे? जो समस्त प्रकारके परिकरसे मुक्त हो चुके हैं, जिन्हें शीत, उष्ण, धूप, आदिकी बाधा कष्ट नहीं दे सकती है वे किसलिए गृह आदि आश्रयकी चाह करेंगे? इसी प्रकार हे राजन् संसारके सर्वश्रेष्ठ सिद्ध जीवोंको, जो कि सब प्रकारसे अलिप्त हैं उन्हें शब्द, स्पर्श आदि बाह्य विषयोंकी इच्छा क्यों होगी?

५३ इस संसारमें चन्द्रमा, समुद्र, सूर्य, आदि पदार्थोंकी किसी अन्य पदार्थके साथ तुलना नहीं की जा सकती है क्योंकि उनके लिए कोई उपमान (जिसकी उपमा दी जाती है) ही नहीं मिलता है, इसी प्रकार परमपदमें स्थित सिद्धोंकी उपमा भी इस

सिद्ध-सुखके निदर्शन

५४ संसारके किसी पदार्थसे नहीं दी जा सकती है। इस संसारमें किसी एक रंग की उपमा दूसरे रंगोंसे दी जाती है इसी प्रकार एक रसकी अन्य रसोंसे, तथा एक स्वरकी किन्हीं दूसरे स्वरोंसे किसी प्रकार तुलना की जाती है किन्तु संसारसे पूर्ण छुटकारा पाकर अतीन्द्रिय सुखोंके भोक्ता सिद्धोंकी उक्त प्रकारकी (एक सिद्धको दूसरे सिद्धके साथ)

५५ तुलना भी संभव नहीं है। हे भूपते! जो लोग सांसारिक बन्धनोंसे मुक्त सिद्धोंकी कोई उपमा देते हैं वे उपमाके रहस्यको नहीं समझते हैं, वे अज्ञ हैं क्योंकि उनका सादृश्य हीनोपमा (उत्तम पदार्थकी निकृष्टसे तुलना यथा सफेद दाढ़ी युक्त मुखकी पूर्णिमाके चन्द्रमाके साथ) है। उनके समान दूसरा उपमान पृथ्वी पर है ही नहीं। यदि कोई उनका उपमान हो सकता

५६ है तो वह वे स्वयं हैं। इस लोकमें कोई भी पदार्थ सूर्यसे अधिक आतप और उद्योत युक्त नहीं है, समुद्रसे बढ़कर कोई जलका आश्रय नहीं है तथा पर्वतोंके राजा सुमेरुकी अपेक्षा पृथ्वीतल पर कोई भी पर्वत अधिक ऊंचा नहीं है इसी प्रकार यों समझिये कि कोई भी सुखोंका

५७ आश्रय मोक्षकी अपेक्षा बड़ा नहीं है। किसी भी इच्छित पदार्थको तुला (तराजू) के बिना तोलना असाध्य है, यदि कोई माप न हो तो पदार्थोंका प्रमाण बतलाना असभव है इसी प्रकार जो पदार्थ अनुमान और तर्कके क्षेत्रसे बाहर है उसे हेतु युक्त वचनोंके द्वारा समझाना भी

५८ असंभव है। समस्त दुखोंसे व्याकुल संसाररूपी घोर समुद्रके जो उस पार चले गये हैं, जीव, धर्म, अधर्म, आदि छहों द्रव्यों तथा सातों तत्त्वोंको जो साक्षात् देखते हैं तथा महा प्रतापी सिद्धोंमें जिस क्षायिक अनन्त सुखका उदय होता है उसका अविकल वर्णन कौन कर सकता है?

५९ हे पृथ्वीपालक! नारकियों, तिर्यञ्चों, मनुष्यों, अमरों तथा पुनर्भवको नष्टकर देनेवाले सिद्धोंके विषयमें जो आपने इस सभामें प्रश्न किये थे उनको उसी क्रमसे मैंने पांचों गतियोंमें

६० विभक्त करके आपको कहा है। इन पांचों गतियोंमेंसे प्रथम चार अर्थात्

संसार एवं मोक्ष

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगतिको ही विद्वान् आचार्य संसार कहते हैं, किन्तु, जन्म, रोग, बुढ़ापा और मृत्युसे परे होनेके ही कारण पंचमगतिको परम कल्याण (निःश्रेयस) कहा है, अतएव हे राजन् आप भी इसीकी प्राप्तिके लिए सतत प्रयत्न करें।

६१ ग्रीष्म ऋतुमें सूर्यके प्रखर आतपसे तपायी गयी धरिणीको देवताओंका प्रभु (इन्द्र काव्य जगतकी मान्यताके अनुसार) वर्षा ऋतुमें मुसलाधार पानी वर्षा कर जैसे शान्तकर देता है। उसी प्रकार मुनियोंके स्वामी श्रीवरदत्त केवलीने सांसारिक क्लेशोंसे झुलसी गयी उस

६२ सभाको धर्मोपदेशरूपी जलकी वृष्टि करके भलीभांति प्रमुदित कर दिया था। केवली

महराजके धर्मोदेश देते समय उनकी ओर उन्मुख रागयुक्त राजाका विकसित मुख ऐसा कान्त मालूम देता था मानो प्रातःकालके सूर्यकी किरणोंके पड़नेसे कमल खिल गया हो।

श्रोताओंमें जो पुरुष विशेष ज्ञानी थे उन्होंने धर्मके सारको सुनकर तुरन्त ही समस्त सांसारिक अभिलाषाओंको छोड़कर ऋषिराज वरदत्तके चरणोंमें रहकर तपस्या करनेका निश्चय किया था, दूसरे सांसारिक भोगोंकी प्राप्तिका संकल्प करके चल गये थे तथा शेष लोगोंने गृहस्थके आचारको निरतिचाररूपसे पालनेका निर्णय किया था। इसके उपरान्त ही पृथ्वीके इन्द्र (धर्मसेन) ने उठकर साधुओंके इन्द्र (केवली) की तीन प्रदक्षिणाएंकी अपनी योग्यताके अनुसार स्तुति की तथा प्रणाम किया। तथा हाथियोंके इन्द्रकी पीठपर चढ़कर श्वेत छत्रके नीचे बैठकर उसने अपनी विशाल राजसंपत्तिके साथ नगरमें प्रवेश किया था। ६३ ६४

उपदेश-परिणाम

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरितनामक धर्मकथामें
मोक्षाधिकार नाम दशम सर्ग समाप्त।

एकादश सर्ग

१ पूर्वोक्त प्रकारसे आत्मकल्याणके लिए अत्यन्त उपयोगी धर्मकथा सुन करके जब महाराज धर्मसेन लौट गये, तब कामदेवरूपी महाशत्रु के मान मर्दक श्रीवरदत्तकेवलीके पास कुमार

वरांग प्रश्न

वरांग हाथ जोड़कर बैठ गये और उनसे कुछ प्रश्न किये, क्योंकि उनके मनमें कुछ शंकाएं उठ रही थीं। हे गुरुदेव ! संसार चक्रमें पड़े हुए २ जीवके साथ यह मिथ्यात्व अनादि कालसे बंधा हुआ है ऐसा श्रीमुखसे सुना, किन्तु वह कितने प्रकारका है ? इस मिथ्यामार्गसे कैसे मुक्ति मिलती है, इसके कारण क्या क्या अनर्थ होते हैं तथा किस आचार-विचारसे जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है ? इन सबके उत्तर स्पष्ट रूपसे कहनेका अनुग्रह करिये।

३ यतिराज वरदत्तकेवली गुणोंकी खान थे तथा उनका चित्त परम करुणा भावसे भासमान था। अतएव उक्त प्रकारसे प्रश्न किये जानेपर उसके शुद्ध समाधान करनेकी भावनासे ही

मिथ्यात्व-वर्णन

उन्होंने मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके विकल्पों तथा उसके सारभूत तत्त्वका व्याख्यान करना प्रारम्भ किया था। हे युवराज ! मोटे रूपसे ऐकान्तिक, ४ (किसी पदार्थकी एक अवस्थापर ही पूरा जोर देना यथा 'संसार नित्य है') सांशयिक, (पदार्थके विषयमें विकल्प करते रहना यथा 'स्त्री मुक्ति हो सकती है या नहीं') मूढ, (किसी पदार्थको जानता ही नहीं) स्वाभाविक, (प्रकृतिसे विपरीत या अशुद्ध श्रद्धानकी रुचि) वैनयिक, (राम भी ठीक रावण भी, वीर भी शुद्ध बुद्ध भी सत्य) व्युद्ग्राहित (अज्ञान मूलक कुछ भी हठ) तथा विपरीत (सांसारिक पदार्थोंके ज्ञानमें अपेक्षावाद अनावश्यक है) ये सात मिथ्यात्वके भेद कहे हैं।

५ एकान्त मिथ्यात्वने जिस जीवके आत्माको अपने अन्धकारसे ग्रस लिया है वह जीव, अजीव, आदिके क्रमसे इन तत्त्वोंको समझ ही नहीं सकता है। ऐसा समझिये कि वह

मिथ्यात्वोंके लक्षण तथा दृष्टान्त

'जन्मसे अंधे' व्यक्तिके समान चित्र, मूर्त्ति, आदि सुन्दर कार्योंको न ६ तो देख सकता है और न जान ही सकता है। जिस व्यक्तिका चित्त संदेह मिथ्यात्वके रंगसे सराबोर है वह यह भी नहीं निश्चित कर पाता है कि हिंसा करना धर्म है अथवा अहिंसा पालन श्रेयस्कर है। जिस किसी विषयको सोचता है वहीं उसकी बुद्धि संदेहमें पड़ जाती है वह उस दृष्टाके समान होता है जो बहुत ७ दूर खड़े पशुको देखकर यह निर्णय नहीं कर पाता कि वह कुत्ता है या गाय। जिसका विवेक संमूढ़ मिथ्यात्वके द्वारा पराजित कर दिया गया है वह यही कहता फिरता है कि 'ज्ञानसे लाभ ! व्यर्थकी आकुलता बढ़ती है,' अतएव अज्ञान ही सबसे अधिक आनन्दमय है।' जिस व्यक्तिको विष और अमृतकी पहचान नहीं है, वह विषको पीकर नष्ट होनेके लिए विवश होता है, यही गति संमूढ़ मिथ्यात्वीकी होती है। अज्ञान मिथ्यात्वी जीवकी बुद्धि सर्वथा नष्ट ८ हो जाती है, फलतः वह हिंसाको ही अहिंसा समझता है अथवा यों समझिये कि यह सब अज्ञानका ही प्रभाव है कि वह सोना बनानेकी इच्छासे ऐसी मूल धातु

को भट्टीमें जलाता है जिससे सोना बन ही नहीं सकता है। परिणाम यह होता है कि उसका समस्त परिश्रम व्यर्थ ही होता है। स्वाभाविक मिथ्यात्वसे जिसका अन्तःकरण कलुषित हो चुका है वह जिस किसी सत्य शास्त्रको सुनता या पढ़ता है उसे ही अपनी मतिके अनुसार कुमार्गके समर्थनमें लगाकर दूषित करता है। उसकी अवस्था सांपके समान होती है जिसे शक्कर मिला मिष्ट दूध पिलाया जाता है, किन्तु वह विष ही उगलता है। विनीत मिथ्यात्वके नशेके कारण जिसका हृदय मूर्च्छित हो गया है वह सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पृथ्वी, नदी तथा अन्य जलाशय, आदिको देवता मानता है। इतना ही नहीं उसकी समझके अनुसार स्वर्गमें रहनेवाले देवताओंके द्वारा आकाशमें पताका भी फहरायी जाती है। मिथ्यामार्गियोंके भ्रान्त दृष्टान्तोंपर श्रद्धा करनेके कारण व्युद्ग्राहित मिथ्यादृष्टीको सन्मार्ग स्पष्ट होनेपर भी सूझता नहीं है क्योंकि उसकी सद्बुद्धि उक्त संस्कारोंके कारण पंगु हो जाती है फलतः उसकी वही दुर्दशा होती है जो कि उन लोगोंकी होती है जो जन्मांध चोरोंके कहनेमें आकर घने जंगलमें चले जाते हैं और वहीं विनाशके मुखमें जा पड़ते हैं। विपरीत मिथ्यादृष्टी जीव संसारके प्रत्येक पदार्थको उल्टा ही समझता है। उसकी मति इतनी दूषित हो जाती है कि वह किसी पदार्थके वास्तविकरूपको परख ही नहीं सकता है। जैसे कि पानीकी धारापर जोरसे बहती नौकापर बैठा नाविक आसपासके पर्वत, वन और भूमिको जोरसे दौड़ता हुआ देखता है अपने आपको नहीं। ९ १० ११ १२

अभव्य जीवके मिथ्यात्वका न तो प्रारम्भ है (अनादि) और न कभी समाप्ति ही होगी (अनन्त) अर्थात् वह कालद्रव्यके समान अनादि-अनन्त है। किन्तु भव्यजीवका मिथ्यात्व अनादि होते हुए भी सान्त (समाप्तियुक्त) होता है। तथा किन्हीं, किन्हीं भव्यजीवोंका तो सान्त ही नहीं सादि (निश्चित समय पहिले बंधा) भी होता है। १३

भव्याभव्य तथा मिथ्यात्व

मिथ्यात्वके कारण आत्मामें मोहरूपी अन्धकार बढ़ता है। उचित तथा अनुचित आरम्भ तथा प्रवृत्तियोंका प्रधान उद्गमस्थान मोह ही है। आरम्भ,परिग्रहका अवश्यंभावी फल नाना योनियोंमें जन्म-ग्रहण करना है और जब जन्म परम्परा है तब समस्त प्रकारके दुखोंको कौन बचा सकता है। मिथ्यात्वका नाश होते ही मोह न जाने कहां विलीन हो जाता है। मोहरूपी उद्गमस्थानके न रहनेपर प्रवृत्तिरूपी धार भी सूख जाती है। प्रवृत्तिके रुकनेका फल होता है जन्मचक्रका रुकना तथा जन्ममरण परम्पराके टूटते ही उसके कारण होनेवाले समस्त दुखोंका भी आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। दुखोंके नाश होते ही उनके विरोधी-सुखोंका उदय होता है, फलतः जीव उत्तम कर्मभूमि या मनुष्यों, भोगभूमि, विद्याधर और देवगतिके, दुखकी छायारहित सुखोंको प्राप्त करता है। इसके बाद उग्र तपरूपी अग्निके द्वारा वह कर्मोंरूपी कूड़ाकर्कटको जला देता है और इस क्रमसे अन्तमें निर्वाणके सुखको प्राप्तकर लेता है। १४ १५ १६

मिथ्यात्वकी संसार कारणता

जिस समय किसी जीवके द्वारा केवल एक मुहूर्त भरके लिए भी सम्यक्दर्शन धारण किया जाता है उसी समय भयंकर तथा भारी दुखोंसे परिपूर्ण संसारमें उसका भ्रमण बहुत घट जाता है। उसके बाद वह अधिकसे अधिक आधे पुद्गल परिवर्तनके बराबर समय पर्यन्त ही जन्ममरण करता है तदुपरान्त उसकी मुक्ति १७

सम्यक्दर्शन

१८ अवश्यंभाविनी है। किन्तु जब कोई दृढ़-श्रद्धानयुक्त आत्मा वास्तव सम्यक्त्वको धारण कर लेता है तब उसका संसार भ्रमण उंगलियोंपर गिना जा सकता है। क्योंकि इसके बाद वह छयासठ सागर प्रमाण समयतक स्वर्गलोकके सुखों और भोगोंका आनन्द लेता है और अन्तमें
१९ निश्चयसे मोक्ष जाता है। संसारमें अनेक स्पृहणीय रत्न हैं किन्तु उनमेंसे कोई भी सम्यक्त्व-रूपी रत्नसे बढ़कर नहीं है, सम्यक्त्व श्रेष्ठतम मित्रोंसे भी बड़ा मित्र है, कोई भी भाई सम्यक्त्वसे बढ़कर हितैषी नहीं हो सकता है तथा कोई भी लाभ ऐसा नहीं है जो सम्यक्त्व-लाभकी आंशिक समता भी कर सके।

२० तीर्थंकर भगवान केवल ज्ञानद्वारा तीनों लोकोंके समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको जानते थे फलतः वे तीनों लोकोंके प्राणियोंके एकमात्र सहारा थे, उन्होंने ही जो जीव, अजीव, आदि सात तत्त्व कहे हैं उन पर परम शुद्धिके साथ श्रद्धा करना ही सम्यक्‌दर्शन है
२१ सम्यक्त्व स्वरूप
ऐसा आगम कहता है। कभी जीवको अपने आपही जीवादि सात तत्त्वोंका श्रद्धान हो जाता है और कभी कभी सद्गुरुका उपदेश सुननेपर ऐसा होता है। इसीलिए सर्वज्ञ प्रभुने सम्यक्त्वके नैसर्गिक और अधिगमज ये दो भेद किये हैं। कारणभूत आवरणके लोपकी अपेक्षा इसके क्षायिक, (क्षयसे उत्पन्न) औपशमिक (रोधक कर्मके उपशम या दब जानेसे उत्पन्न) तथा मिश्र (क्षायोपशमिक क्षय तथा उपशम दोनोंसे उत्पन्न) ये तीन भेद होते हैं।

२२ जब आंखमें जाली पड़ जाती है तो उसके द्वारा सामने पड़े हुए पदार्थ तथा उनके वर्ण, आदि गुण देखना संभव नहीं होता है लेकिन जब उपयुक्त चिकित्साके द्वारा वह जाली दूर कर दी जाती है तो वही आंख पदार्थों और गुणोंको स्पष्ट देखने लगती
२३ सम्यक्त्व उदय
है, इसी प्रकार जब आत्माकी स्वाभाविक दर्शनशक्ति मिथ्यात्वरूपी जालीसे ढक जाती है तो वह जीव, आदि पदार्थोंकी श्रद्धा कर ही नहीं सकता है, किन्तु सम्यक् ज्ञानरूपी शलाकाके द्वारा जब मिथ्यात्वरूपी जाली काट दी जाती है तो वही आत्मा समस्त
२४ तत्त्वोंका आत्म साक्षात्कार करता है। जब जीवका मिथ्यात्वरूपी कीचड़ नीचे बैठकर दूर हो जाता है तो वह शरत्कालीन जलकी धाराके समान निर्मल हो जाता है। तब उसमें जीवादि पदार्थोंका उसी प्रकार साक्षात्कार होता है जिस प्रकार पानीका मैल साफ हो जाने
२५ पर उसमें आसपासके वन, पर्वत और भूमिके प्रतिबिम्ब स्पष्ट दिखायी देते हैं। मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके प्रसारके कमनेपर वेदक-सम्यक्‌दृष्टी जीव, जीव तत्त्वके रहस्यको इसी प्रकार अति स्पष्ट रूपसे साक्षात्कार करता है। जैसे कि वैडुर्यमणिरूपी दीपक विशद प्रकाश हो जानेपर
२६ घरमें रखे हुए घट, पट, आदि पदार्थ साफ साफ दिखने लगते हैं। मिथ्यात्व मोहनीय नामक दर्शनमोहनीयकी प्रकृतिके नाश हो जानेपर और तो कहना ही क्या है, साधारण यक्ष भी समस्त पदार्थोंका वैसे ही साक्षात्कार करता है, जैसे कि बादलोंके फट जानेपर जगमगाती हजारों किरणोंका स्वामी सूर्य संसारके समस्त पदार्थोंको दिखाता है।

२७ प्रथम अर्थात् औपशमिक सम्यक्‌दर्शन उस जलधारके समान होता है जिसमें कीचड़ नीचे बैठ भर गया है (नष्ट नहीं हुआ है, पानीके हिलते ही ऊपर
सम्यक्त्वदृष्टान्त
आ जायगा) क्षायोपशमिक सम्यक्‌दर्शनकी तुलना वैडूर्यरत्नकी ज्योतिके

सार्थ की गयी है (रंगयुक्त प्रकाश) तथा तृतीय क्षायिक सम्यक्‌दर्शन तो उदीयमान सूर्यके ही समान होता है। इस प्रकार तीनों दर्शनोंकी यह तीन उपमाएं हैं।

जब आत्मामें सम्यक्त्वका उदय हो जाता है तो बिना किसी परिश्रमके ही इस आत्मा- २८ में से समस्त मिथ्यात्व अपने आप ही विलीन हो जाता है। यह सब होते ही उसका ज्ञान सम्यक्‌ज्ञान हो जाता है जो कि समस्त द्रव्यों और पर्यायोंको युगपत् जानता है तथा सम्यक्-

रत्नत्रयका उदयक्रम

ज्ञानकी प्राप्ति होते ही आत्माके उत्तम भाव और गुण भी अपने आप चमक उठते हैं। सम्यक्‌ज्ञान और अच्छे भावोंका यही फल होता है २९ कि आत्माको अपने हित और अहितका निश्चित विवेक हो जाता है। जिस ज्ञानी पुरुषको अपने कल्याणमार्ग और पतनमार्गका ज्ञान हो गया है वह पुरुष अपने संसारी कर्मोंमें सर्वथा फंस नहीं सकता यह निश्चित है। जिस जीवको सांसारिक सुख, अभ्युदय, आदिसे वैराग्य हो ३० गया है वह जन्म, मरण आदिके दुखोंका ध्यान आते ही कांप उठता है। जो जीव पापसे भयभीत है वह दुखके कारण बुरे भावोंसे बचता है, सदा शुभभाव करता है तथा प्राणिमात्रपर दयावृत्ति रखता है।

पापचिन्ता नष्ट हो जानेके कारण मन स्थिरताको प्राप्त होता है।' मन निर्मल होते ही ३१ इन्द्रियां वशमें हो जाती हैं। जिसकी इन्द्रियां वशमें है उसे परिग्रह छोड़ते कितनी देर लगती है ? और जब परिग्रहसे पल्ला छूट जाता है तो वह एकाविहारी हो जाता है अर्थात् महाव्रतों-

चारित्र प्राप्ति

को धारण कर लेता है। वैराग्य भावनासे उत्पन्न तीव्र तितिक्षामय भावोंके ३२ प्रवाहसे जब मनोभाव अधिकतर निर्मल हो जाते हैं तो आत्मा इर्या, भाषा, आदि पांचों समितियोंका प्रमाद त्यागकर पालन करता है। इतना ही नहीं भूख, प्यास, आदि उन बाइसों परीषहोंको भी जीतता है जिनका सहना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार वह आगममें कही गयी विधिके अनुसार तपस्या करनेका पूर्ण प्रयत्न करता है। इस विधिसे समस्त ३३ क्षुधा, तृषा, आदि दोषों और चारों घातियाकर्मोंका नाश करके वह संसारकी सर्वश्रेष्ठ लक्ष्मी और शोभाका अधिपति होकर सर्वज्ञ हो जाता है तथा अन्तमें सबही कर्मोंका सर्वथा क्षय करनेके उपरान्त मोक्षकी विशाल शान्ति और सुखको वरण करता है। वह कृतकृत्य हो जाता है फलतः मोक्षमें जाकर अनन्त कालतक वहीं विराजता है। पृथ्वीपालक महाराजा धर्मसेनके ३४ सुपुत्र कुमार वरांगको धर्मसे प्रेम था और सत्कार्य करनेका वास्तविक उत्साह था इसीलिए साधुओंके स्वामी श्रीवरदत्तकेवलीने उसके लिए उक्त प्रकारसे मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्वके भेद और फलोंको विस्तारपूर्वक समझाया था।

मुनिराज वरदत्तकेवलीके वचन सुनते ही जीव, आदि तत्त्वोंका कुमार वरांगको ३५ सत्य ज्ञान हो गया था, अपाततः अनादिकालसे बंधा हुआ उसका मिथ्यात्व वहीं नष्ट हो गया था।

वरांगकी भव्यता

इससे उसे इतना आनन्द हुआ था कि पूरे शरीरमें रोमाञ्च हो आया था, तब उसने हाथ जोड़कर गुरुवरसे ये वाक्य कहे थे। हे प्रभो ! जो ३६ जीव केवल अहिंसा, आदि पांचों अणुव्रतोंका निरतिचार रूपसे पालन करते हैं वे तथा जो और उठकर तपस्या करते हैं, वे भी कल्याणमार्गकी प्राप्त होते हैं, किन्तु मैं अपनेमें इतनी शक्ति नहीं पाता हूं जो मुझे उग्र तपस्यामें भी अडिग बनाये रखे इसलिए मुझे व्रतोंकी दीक्षा देनेका अनुग्रह करिये। आपकी असीम अनुकम्पासे मेरी अन्तरङ्ग दृष्टि खुल गयी है अतएव ३७

कुमर्गों और जीवनके पापमय मार्गोंसे मुझे पूर्ण घृणा हो गयी है। आज मुझे वह दृष्टि (सम्यक्त्व) प्राप्त हुई है जिसे मनुष्य कथा देव भी नहीं दूषित कर सकते हैं इसीलिए मैं अपनी शक्तिके
३८ अनुसार व्रतोंको ग्रहण करता हूं। महत्त्वाकांक्षी श्रेष्ठ क्षत्रिय अपने पराक्रमके अभिमानसे उद्दण्ड हो जाते हैं फलतः अपनी प्रभुता बढ़ानेके लिए आपसमें आक्रमण करते हैं जिसके निमित्तसे पर्याप्त हिंसा होती है अतएव मर्यादा रक्षाके लिए किये गये युद्धकी एक हिंसाको
३९ छोड़कर हे मुनिराज ! शेष सब प्राणियोंपर मेरा दयामय भाव हो। हे यतिराज ! दूसरेकी हिंसा, असत्य या कटुवचन, दूसरेकी सम्पत्तिका हरण, निष्प्रयोजन परिग्रह संचय तथा दूसरेकी पत्नीके आलिंगन और सुरतके सुखको मैं जीवनपर्यन्तके लिए छोड़ता हूं।

४० कुमार वरांग भव्य थे इसीलिये वे अपनेको धर्ममार्गपर लगा सके थे। तथा वे वास्तवमें अत्यन्त प्रसन्न थे। यही कारण था कि जब आचार्य प्रवरने उनके वचन सुने तो उन्हें व्रत ग्रहण करनेकी अनुमति दी थी तथा स्वयं ही विधिपूर्वक उनको व्रतोंकी दीक्षा

व्रतदीक्षा

४१ दी थी। इसके अतिरिक्त उनको यह भी तरह तरहसे समझाया था कि उक्त पांचों व्रत किस तरह व्रतीको मनवाञ्छित फल देते हैं। व्रतोंको पालन करनेसे जीव इस लोकमें यश-पूजाको कैसे प्राप्त करता है तथा परलोकमें सुख भोगोंका अधिपति होता है यह
४२ सब उसे स्पष्ट करके समझाया था। अन्धेको यदि आंखें मिल जांय तो जैसा वह प्रसन्न होता है, अथवा किसी अत्यन्त दरिद्र व्यक्तिको यदि विशाल कोश मिल जाय तो जिस प्रकार वह आनन्दविभोर हो कर नाचता है उसी प्रकार व्रतोंके सारभूत नियमोंको ग्रहण करके राजपुत्र भी आनन्दसे फूला न समाता था क्योंकि यह सुख ऐसा था जिसे इसके पहिले उसने कभी
४३ जाना ही न था। इसके उपरान्त उसने ऋषिराजके चरणोंमें पुनः साष्टांग प्रणाम किया था तथा विशाल तपरूपी निधिके अधिपति गुणोंकी राशि समस्त मुनियोंकी भक्ति-भावसे वन्दना तथा
४४ प्रदक्षिणा करके उसने परम्परा और क्रमके अनुसार उनसे विदा ली थी। गुरुवर, सच्चे देव और आत्माकी साक्षी पूर्वक लिये गये व्रतों और सम्यक्त्वके पालनमें राजकुमार अडिग और अकम्प था। मुनियोंके दम, शम, त्याग आदि गुणोंकी उसके हृदयपर गहरी छाप पड़ी थी फलतः उनसे चलनेकी अनुमति प्राप्त करके उन्हीं गुणोंको विचरता हुआ अपने नगरको चला गया था।

४५ वह विशाल नगर भी अपने उन्नत और दृढ़ परकोटाके कारण दूरसे ही अलग दिखता था, गृहों और अन्य स्थानोंपर लटकती वन्दनवार और मालाएं चन्द्रमाकी किरणोंके जालके समान निर्मल और मोहक थीं, अपनी दृढ़ता तथा अन्य योग्यताओंके कारण

संयत राजकुमार

शत्रुसेनाको नष्ट करनेके लिए वह यमसे भी भीषण था। ऐसी राजधानीमें
४६ कुमारने धीरे-धीरे प्रवेश किया था। राजपुत्रने नगरमें वापिस आते ही घर पहुंचकर शिष्टाचारके अनुसार सबसे पहिले अपने माता पिताके दर्शन किये थे, तथा पूजा और नमन करने योग्य उनके चरणोंमें प्रणाम करके वहीं शान्तिपूर्वक बैठ गया था। इसके बाद भी वह
४७ मुनिराजकी ही पुण्य कथा करता रहा था। उसपर मुनिराजका इतना गम्भीर प्रभाव था कि उनके चले जानेपर भी वे जिस दिशामें विहार करते थे वह सोते समय उसी दिशाकी ओर शिर करता था। सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ था कि अब उसने बालकों ऐसी खिलवाड़ी प्रकृतिको छोड़ दिया था। अब वह विद्वान् विशेषज्ञ पुरुषोंके समान गम्भीरता पूर्वक व्यवहार करता था।

४८ राजकुमार बहुत सवेरे उठ जाता था और सूर्योदयके पहिले ही स्नानादि मांगलिक

कृत्योंको समाप्त करके अष्टद्रव्यसे श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी पूजामें लग जाता था। इसके उपरान्त गुरुओं तथा साधुओंकी यथायोग्य विनय करके उपस्थान (स्वाध्यायशाला) चला जाता था। वहांपर भी वह आत्माके उत्थानको प्रयत्न करता था। वहांपर बैठकर भी वह केवली प्रणीत धर्मकी ही प्रभावना करता था, स्वयं समझता था तथा दूसरोंके साथ भी उसीकी चर्चा करता था। प्रत्येक बातको शास्त्रोक्त हेतुओंसे ही नहीं अपितु नूतन तर्कोंसे भी सोचता था। उत्तमपुरमें अब उसका मनोविनोद सदैव इस प्रकार होता था। किसी स्थानपर बैठते समय, घरसे बाहर निकलनेके अवसरपर, सभामें जाते हुए, शय्यापर लेटते समय, छींक या जमायी लेनेके प्रसंग, आदि सभी अवसरोंपर वह सद्भावपूर्वक पंच नमस्कार मंत्रका उच्चारण करता था। वह इतना जागरूक था कि सदा प्रजाका भला करता था, जब बोलता था तो परिमित और मधुर, उसका मन शास्त्रोंके गूढ़ तत्त्व समझनेमें ही उलझा रहता था, असंयमी दुर्जनोंको दंड देता था, शिष्ट, साधु पुरुषोंका पालन करता था और मिथ्यात्व मार्गपर ले जानेवालों तथा उनके आदर्शोंसे दूर रहता था। विविध प्रकारके रोगोंसे पीड़ित, अत्यन्त भोले अथवा मूर्ख, अभिभावक हीन शिशु, अत्यन्त वृद्ध तथा महिलाओंके कामोंकी मर्यादापूर्वक छानबीन करता था। जो दयामय कार्योंमें व्यस्त रहते थे, धर्माचरणके विशेष प्रेमी थे, स्वभावसे ही विनम्र थे तथा विशेष ज्ञानी थे ऐसे सब लोगोंका मर्यादाके अनुकूल सन्मान करता था।

कु० वरांगकी दिनचर्या

४९

५०

५१

५२

महाराज धर्मसेन राजसभामें जब लोगोंको कुमार वरांगके सेवापरायणता, न्याय-निपुणता आदि उदार गुणोंकी प्रशंसा करते सुनते थे तो उनका हृदय प्रसन्नताके पूरसे आप्लावित हो उठता था। ऐसे योग्य पुत्रके कारण वह तुरन्त ही अपने आपको कृतकृत्य समझते थे, क्योंकि प्रजाओंको सुखी बनाना उन्हें भी परमप्रिय था। अपने पुत्रके सुकर्मोंको देखकर राजाका मन और मस्तिष्क दोनों ही उसपर दिनों दिन अधिक अनुरक्त होते जाते थे, मंत्रियोंने राजाके मनकी इस बातको भांप लिया था अतएव अनन्तसेन, चित्रसेन, अजितसेन तथा देवसेन चारों प्रधान मंत्रियोंने राजाके पास जाकर निम्नप्रकारसे निवेदन किया था।

सुपुत्रानुराग तथा संतोष

५३

५४

महाराज! कुमार वरांग स्वभावसे ही विनम्र और मर्यादापालक हैं, प्रत्येक कार्यको करनेमें कुशल हैं, आश्रितों तथा हितुओंकी कार्य क्षमताको परखते हैं (फलतः लोग अनुरक्त हैं) सब प्रकारसे योग्य हैं, समस्त शास्त्रोंके पंडित हैं तथा प्रजा उनकी इन सब विशेषताओंको समझती है इसीलिए उनपर परम अनुरक्त है। इन सब कारणोंसे महाराजके सब पुत्रोंमेंसे कुमार वरांग ही प्रजाका भली-भांति पालन करनेमें समर्थ हैं। महाराज धर्मसेनके राज्यको सब प्रकारसे सम्पन्न बनानेमें उन मंत्रियोंका काफी हाथ था, तथा उनकी सम्मति हितकर और प्रिय होती थी अतएव जब राजाने उनके उक्त वचनोंको सुना तो उनसे सहर्ष सहमत होकर कुमारके राज्याभिषेककी तयारी करनेकी आज्ञा दी थी। पृथ्वीके प्रभु धर्मसेन द्वारा आज्ञा दिये जानेपर ही राज्यके आमात्यों, विभागीय मंत्रियों, सेनापतियों, सेठों तथा सेठोंकी श्रेणियोंने तथा समस्त पुरवासियोंने थोड़ा-सा भी समय व्यर्थ नष्ट किये विना राजाके मनके अनुकूल प्रत्येक कार्यको सुसज्जित कर दिया था।

राज्याभिषेक प्रस्ताव

५५

५६

५७

प्रत्येक मार्ग या गलीके प्रारम्भ होनेके स्थान (मोड़) पर तोरण खड़े किये गये थे ५८

उनपर मालाएं और ध्वजाएं लहराती थीं तथा उनके सामने सुन्दर मांगलिक चौक पूरकर उनपर पुष्प, फल आदि पूजाकी सामग्री चढ़ायी गयी थी। स्वागत द्वारके दोनों तरफ अत्यन्त उज्वल मंगल कलश रखे थे जो कि निर्मल जलसे भरे थे और उनके मुख सुन्दर हरे पत्तोंसे भली-भांति ढके थे तथा तोरणकी प्रत्येक ओर

नगर सज्जा

५९ चंचल मालाएं लहरा रही थीं। नगरके सब ही युवक बहुमूल्य कपड़े और गहने आदिको पहिनकर सुगन्धित चन्दन, कुंकुम, आदि मांगलिक पदार्थोंको उपयोग करते थे फलतः उनका वेशभूषा सर्वथा स्वाभाविक, अत्यन्त उज्ज्वल और आकर्षक लगता था। इस प्रकार सजकर

६० वे उत्सवकी तैयारीमें रंग विरंगे तथा सचित्र ध्वजाएं लेकर घूमते थे। नगरकी नायिकाओं-का वेशभूषा तथा चेष्टाएं भी उत्सव समयके अनुकूल थीं। वे स्वभावसे ही लजीली थीं तो भी उन्होंने उत्सवके लिए अंग, अंगका शृङ्गार किया था उनके भूषणोंसे मनोहर 'झुन झुन' ध्वनि निकलती थी। सबके मुख कमलोंके समान विकसित और आकर्षक थे। ऐसी युवतियां यौवनके मद और विलासके साथ नगरमें इधर उधर आती-जाती रहती थीं।

६१ जिस शुभ तिथि, करण और मुहूर्तमें रवि, शशि आदि नवग्रह सौम्य अवस्थाको प्राप्त करके अपने अपने उच्च स्थानोंमें पहुंच गये थे उसी कल्याणप्रद मुहूर्तमें राजाने कुमार वरांगको अत्यन्त शोभायमान महार्घ्य सिंहासनपर पूर्व दिशाकी ओर मुख करके

राज्याभिषेक

६२ बैठाया था। उस आनन्द और प्रीतिके अवसरपर नगरके प्रत्येक प्रवेश द्वारपर, बांसुरी, मृदंग, पटह आदि बाजे जोर जोरसे बजाये जा रहे थे, उनकी ध्वनि आकाशको

६३ चीरती हुई दूरतक चली गयी थी और उनके स्वरसे सब दिशाएं गूंज उठी थी। सबसे पहिले शिल्पी, व्यवसायी, आदि अठारह श्रेणियोंके मुखियोंने वरांगके चरणोंका अभिषेक सुगन्धित उत्तम जलसे किया था। उस जलमें चन्दन घुला हुआ था तथा विविध प्रकारके मणि और

६४ रत्न भी छोड़ दिये गये थे। इसके उपरान्त सामन्त राजाओं, सम्बन्धी श्रेष्ठ भूपतियों, भुक्तियोंके अधिपतियों, आमात्यों, मंत्रियों तथा सांवत्सरों (ज्योतिषी, पुरोहित, आदि) ने आनन्दके साथ रत्नोंके कलशोंको उठाकर कुमारका मस्तकाभिषेक किया था। उनके रत्न-

६५ कुम्भोंमें भी पवित्र तीर्थोदक भरा हुआ था। अन्तमें महाराज धर्मसेनने अपने आप उठकर कुमारको युवराज पदका द्योतक पट्ट (मुकुट तथा दूपट्टा) बांधा था जो कि लक्ष्मी और यशको बढ़ाता है। तथा महाराजकी आज्ञासे आठ युवती चमरधारिणियोंने कुमारके ऊपर

६६ सब तरफसे चमर ढोरना प्रारम्भ कर दिये थे। नगरमें चारों ओर पताकाएं लहरा रही थीं, निर्मल केतु और मालाएं हर तरफ दिखायी देती थी, नगरको परकोटारूपी करधनीने घेर रखा था, स्तुतिपाठक और बाजोंका शोर गूंज रहा था, तथा हर स्थानपर जलपूर्ण कलशोंरूपी स्तनोंकी भरमार थी। इन सब सादृश्योंके कारण नगर-लक्ष्मी एक स्त्रीके समान शोभाको प्राप्त थी तथा ऐसा मालूम देता था कि नगररूपी स्त्री युवराजरूपी वरको पाकर संतोषसे रास-लीला कर रही है।

६७ इसके उपरान्त महाराज धर्मसेनने बच्चेसे लेकर वृद्धपर्यन्त अपने कुटुम्बी और परिचारकोंको, राज्यके सब नगरों, पत्तनों (सामुद्रिक नगर) आश्रित राष्ट्रों, समस्त वाहनों, रथ आदि यानों, तथा रत्नोंको विधिपूर्वक अपने पुत्रको सौंप दिया था।

अधिकारार्पण

६८ उसने उपस्थित नागरिकों, कर्मचारियों, सामन्तों आदिसे यह भी कहा था

कि आप लोग जिस प्रकार मुझपर प्रेम करते थे, मेरे अनुगत थे तथा मेरी आज्ञाओं और शासनका पालन करते थे उसी प्रकार आप लोग मेरे पुत्रपर सदा प्रेम करें और उसके शासनको मानें।

बाल नृपति वरांग अपनी शोभा और लक्ष्मीके द्वारा चमक रहे थे, दर्शकोंकी आंखें उन्हें देखकर शीतल हो जाती थी, शिरपर बंधे मुकुट, कानोंमें लटकते कुण्डलों तथा गलेमें खेलती मणिमाला, आदिके कारण वह और अधिक आकर्षक हो गये थे। उनको देखते ही दर्शकोंके मनमें अनेक भाव उठने लगते थे जिन्हें उन लोगोंने निम्न प्रकारसे प्रकट किया था। यह युवक राजा अपनी कान्ति और तेजके द्वारा समस्त राजाओंको जीत लेता है, इसकी शोभा निर्दोष और अनुकरणीय है। यह यहांपर वैसा ही शोभित हो रहा है जैसा कि पूर्णिमाका चन्द्रमा मेघमालाके फट जानेपर आकाशके समस्त ग्रहों और नक्षत्रोंके बीच चमकता है। इसकी प्रभा अपरिमित है, यदि हम किसी तरह पूर्वभवमें संचित किये गये इसके पुण्यकर्मोंरूपी बीजको जान पाते तो आगा पीछा सोचना छोड़कर तथा छोटे बड़ेके भेदभावको भुलाकर भक्तिभावपूर्वक इसकी पूजा ही करते, इस प्रकारसे अनेक लोग कह रहे थे। राजाके दूसरे पुत्र जो कि पूर्ण राज्य पानेके अधिकारी हो सकते थे, किन्तु पा न सके थे, उनके चित्त युवराज वरांगका पूर्वोक्त अभ्युदय देखकर दुखी हो गये थे। वे सोचते थे 'हम भी उत्तम कुलमें उत्पन्न हुये हैं, हम भी रूपवान हैं तथा हमारी भुजाओंमें भी पराक्रम है तो भी हम राज्यलक्ष्मीके द्वारा वरण न किये गये।' रात्रिके अन्धकारमें चन्द्रमा, शनि, आदि ग्रह तथा रोहिणी आदि तारे मन्द, मन्द प्रकाश करते हैं, किन्तु प्रातःकाल जब सूर्य उदित होता है तो उसके तीक्ष्ण उद्योतमें वे सब न जाने कहां लुप्त हो जाते हैं, हमारी भी यही अवस्था है, आजतक हम भी राजके भागी थे किन्तु आजसे युवक राजाके प्रतापमें हम लुप्त हो गये हैं। आजका युवक राजा बचपनसे ही मल्लयुद्धमें, दौड़में, हाथी घोड़ेकी सवारीमें, तलवार, भाला, आदि पांच मुख्य हथियार चलानेमें तथा शास्त्रोंकी सूक्ष्म गुत्थियां सुलझानेमें कभी भी हम लोगोंको समानता न कर सका था। इस प्रकारके साधारण शक्तिशाली व्यक्तिकी—जो कि आज राजा बन बैठा है सेवा करके तथा उसे अपना प्रभु मानकर जीवित रहनेसे तो हम लोगोंका मर जाना ही अच्छा है, यदि शस्त्रसे मरना कष्टकर है तो विष खाकर या आगकी ज्वालामें कूदकर प्राण गंवाना चाहिये। यदि यह भी शक्य नहीं हैं तो इस देशको छोड़कर देश देश मारा फिरना भी उपयुक्त होगा।

६९ | ७० | ७१ | ७२ | ७३ | ७४ | ७५

राजा वरांग

मिथ्या अहंकारके नशेमें आकर उक्त प्रकारसे अशिष्ट व्यवहार करनेवाले उन राजपुत्रोंकी उक्त ईर्ष्यामय उक्तियोंको सुनकर दूसरे राजपुत्रोंने जो कि बड़े राजाओंके पुत्र थे तथा अधिक विशाल हृदय ही नहीं गम्भीर भी थे—उनके निराशाजन्य क्रोधसे मनोविनोद करनेकी इच्छासे निम्न वचन कहे थे। माना कि कोई अधिक पराक्रमी हो, शिल्प आदि समस्त कलाओंका पंडित हो इतना ही नहीं विद्वान् भी हो और उच्चकुलमें उत्पन्न भी हुआ हो, सुन्दर और आकर्षक रूपवान अथवा रूपवती हों, तो भी हम लोगोंका दृढ़ निश्चय है कि ऐसे सुयोग्य व्यक्तिको भी पुण्यात्माके आगे, आगे दौड़ना पड़ता है। यतः राजकुमार वरांग समस्त पुण्यात्मा लोगोंके अगुआ हैं इसीलिए राजा होने योग्य हैं। इसीलिए बालकपनसे ही आप लोग उसके सौभाग्यके कारण सुलभ सुन्दर वस्त्र,

७६ | ७७ | ७८

गुणज्ञताका उपदेश

अद्भुत आभूषण, फूल मालाएं, पान पत्ता, सुगन्धित तेल, उबटन, आदिको उससे बांट बांटकर भोगते थे। किन्तु इससे उसको कोई हानि नहीं हुई क्योंकि यह सब भोग उसके भाग्यमें लिखे हैं, हां आप लोगोंका सत्यानाश अवश्य हो गया है क्योंकि आज आप लोग किसी कामके नहीं हैं। (हाथियोंके राजाको जंगलमें सब हाथियोंका मुखिया कौन बनाता है उसका कोई अभिषेक नहीं होता है तथा दूसरे अनुचर हाथी भी रूप, आकार आदिमें उसके

७९ ही समान होते हैं) अपने आप अपना भरणपोषण करनेवाले जंगली हाथी भी यदि कारणान्तर-से दूसरोंके वशमें हो जाते हैं तो दूसरेकी कृपापर पला पुषा व्यक्ति क्यों अपने पालकका

८० अनुगामी न होगा? आप लोग विवेकसे काम लें, क्या सूर्यका प्रकाश हाथकी आड़से रोका जा सकता है? तथा दूसरेकी सम्पत्ति ईर्षा करनेसे नष्ट नहीं होती है। यह संसारका सुविख्यात नियम है कि विशेष पुण्याधिकारी पुरुषोंकी सेवा और भक्ति उन लोगोंको करना ही चाहिये जिन्होंने पूर्वजन्ममें कोई पुण्यकर्म नहीं किया है।

८१ वहांपर कुछ ऐसे भी व्यक्ति थे जिनकी विवेकरूपी आंखें अहंकाररूपी मद (नशे) के कारण मुंद गयी थीं। यही कारण था कि योग्य राजपुत्रोंके पूर्वोक्त वचनोंको सुनकर वे उस समय अत्यन्त कुपित हो उठे थे। उनका क्रोध इतना बढ़ गया था कि उनके ओठ फड़कने लगे थे, गला भारी हो गया था तो भी वे कुत्सित और अश्लील वाक्य बक रहे थे।

८२ 'क्या हम लोग राजाके पुत्र नहीं हैं, क्या हमारी माताका कुल (जाति) शुद्ध नहीं है, हम लोग पराक्रम, बाहुबल, तेज, कान्ति, धैर्य, आदि किस गुणमें वरांगसे कम हैं? ऐसी कौन-

८३ सी लौकिक व्यवस्था अथवा व्यवहार है जिसे हम लोग नहीं समझते हैं? क्या आपका विशेष पुण्याधिकारी राजकुमार हम लोगोंके होते हुए भी युद्ध करके युवराज पदको धारण कर सकता है? कसौटीपर कसनेके बाद ही सोनेकी शुद्धि और सचायी शीघ्र ही प्रकट हो

८४ जाती है ऐसा आप लोग निश्चित समझें। इस प्रकारसे बक-झक करनेके बाद

मत्सरी पुरुष-कर्म

उन अशिष्ट राजपुत्रोंने एक दूसरेकी ओर देखा और संकेत द्वारा अपने कुकर्त्तव्यका निश्चय कर लिया था। इसके उपरान्त वे सब निर्दय राजकुमार सुषेणके नेतृत्वमें

८५ प्रहारोंका आदान-प्रदान (युद्ध) करनेकी इच्छासे उठ खड़े हुए थे। इसी समय अनन्तसेन आदि मंत्रियोंने देखा कि सुषेण आदि राजकुमार सहसा ही अत्यन्त कुपित हो उठे हैं उनका अहंकार तथा हठ भी रौद्रताका रूप धारण कर रहे हैं, तथा व्यर्थ हीमें मुखसे वाचनिक कलह

८६ कर रहे है। तब उन्होंने जाकर उन्हें समझा बुझाकर मूर्खता करनेसे रोक दिया था। जो राजा तथा राजपुत्र स्वभावसे ही शान्त और भले थे तथा जिनका विवेक विशाल था वे युवक राजाको देखकर उसकी योग्यताओंके कारण हृदयसे संतुष्ट हुए थे। तथा अन्य राजकुमार जिनके मन मलीन थे, स्वार्थबुद्धि और पक्षपात बढ़ा था तथा जो दूसरेका अभ्युदय देखकर जलते थे वे वरांगको राजसिंहासनपर देखकर आपाततः कुपित हुए थे।

८७ युवक राजा वरांगका पुण्य विशाल था, उनकी कीर्ति दशों दिशाओंके सुदूर ओर-छोर तक फैली थी अतएव उन्होंने पिताके द्वारा जीती गयी उस पृथ्वीकी दिग्विजय करनेका निर्णय किया जिसकी करधनी उसे चारों ओरसे घेरनेवाले समुद्र हैं और जिसपर सुखी और सम्पन्न लोग निवास करते हैं।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें युवराज्यलाभ नाम एकादश सर्ग समाप्त

द्वादश सर्ग

१ महाराज धर्मसेनकी पट्टरानी अन्तःपुरकी सौन्दर्य-गुणोंकी खान अन्य रानियों तथा एकसे एक रूपसियोंके साथ अन्तःपुरमें विराजमान थीं कि उसी समय नृपतिवरके द्वारा भेजे गये किसी संदेशवाहकने महारानीको उनके पुत्र वरांगके यौवराज्याभिषेककी सूचना दी। पुत्रकी राज्यप्राप्तिका समाचार पाते ही वे आनन्द विभोर हो उठी थी। जो व्यक्ति इस प्रिय तथा सुखद समाचारको लेकर २ आया था उसका महारानीने वस्त्र, आभूषण आदि भेंट करके स्वागत सन्मान किया था। हर्षसे प्रसन्न होकर उसने अपने सगे सम्बन्धियोंसे भी उसी समय यह कहा था कि 'मैं आज वास्तवमें देवी हुई हूं। किन्तु वरांगके युवराजपद पानेकी सूचना सुनकर ही महारानीकी ३ सौतोंने ये वाक्य कहे थे 'हे महारानी आप हम लोगों, हमारे पुत्रों तथा सगे संबन्धियोंकी पहिलेसे पालक पोषक थी और आजसे तो विशेषकर आप हम लोगोंकी रक्षक हैं। राजाको ४ इन अनुपम सुन्दरी रानियोंके समूहमें एक रानी राजाको बहुत प्यारी थी, उनका नाम (सेना शब्दके पहिले मृग शब्द जोड़नेसे बनता) मृगसेना था। उक्त समाचार सुनकर उनका चित्त क्रोधसे इतना अधिक खिन्न हो उठा था कि उन्होंने अपना मुख नीचा कर लिया और ५ वहांसे उठकर अपने प्रासादमें चली गयी थीं। वहां जाकर बैठते ही उनकी आंखोंसे आंसुओंकी धार बह पड़ी थी। शोक और अनुतापके कारण उसने अपने बांये गालको हथेलीपर रख लिया था। रह रह कर वह यही सोचती थी कि सर्वशक्तिमान दैवने यह क्या किया? तथा अन्तमें पूर्वकृत पापोंके परिणामकी निन्दा करती थी। क्या मेरा पुत्र, राजपुत्र नहीं है, वह ६ राजाको प्यारा क्यों नहीं है! ऐसे कौनसे गुण हैं जो मेरे लाड़लेमें न हो। संसारमें सुयोग्य बड़े लड़केपर ही पिता राज्यभार देता है, किन्तु उक्त गुणयुक्त बड़े बेटेको छोड़कर दूसरेका राज्याभिषेक कैसे सह्य होगा! रानी मृगसेना निराशाजन्य क्रोधकी लपटोंसे रह-रहकर झुलस ७ उठती थी अतएव वह उक्त प्रकारकी द्विविधाओंके कारण मन ही मन अपना कर्त्तव्य निश्चित नहीं कर पाती थी। फलतः उसने अपने प्रियपुत्र सुषेणको एकान्तमें बुलाया और उसको निम्न प्रकारसे कहना (भरना) प्रारम्भ किया था।

मातृ-स्नेह तथा विमाता-असूया

८ हे बेटा! वरांग नामके राजपुत्रको युवराज पद प्राप्त हो रहा है इस बातका तुम्हें स्वयं ही पता लगाना चाहिये था न? यदि तुम्हें यह बात पहिलेसे ज्ञात थी और इसे जानकर भी अपने आपकी या राजाकी शक्तिको कम समझकर तुम चुप रहे, तो तुम्हारे पुरुषार्थ और पुरुषत्व दोनोंको धिक्कार है। जीवनके मोहमें ९ पड़कर जो व्यक्ति हीन पुरुषों समान आचरण करने लगता है, शक्तिके कम होनेके कारण जो पुरुष पराक्रम करना छोड़ देता है तथा जिसके बल और पराक्रमको दूसरे लोग नष्ट कर देते हैं, उस मनुष्यके इस पृथ्वीपर जन्म लेनेसे क्या लाभ? मैं जब, जब गुणदेवीके सौभाग्यको १० सोचती हूं और उसके पुत्रकी उत्कृष्ट विभूति और वैभवका विचार करती हूं, तब, तब क्रोधकी

कुमाताकी भर्त्सना

अधिकताके कारण मेरा माथा फटने लगता है, तथा इन गर्हित प्राणोंको तो मैं अब बिल्कुल धारण कर ही नहीं सकती हूं।

११ माताके द्वारा पूर्वोक्त प्रकारसे लांछित किये जानेपर सुषेणने निर्वेदपूर्वक कहा 'हे माता! मुझे इसका पता नहीं था ऐसी बात नहीं है, और न मैं कम शक्तिशाली होनेके कारण ही चुप रह गया हूं, अथवा यह सब राजा (मेरे पिता) के द्वारा ही किया गया है

सुषेणकी दुरभिसंधि

इस बातकी भी उपेक्षा करके मैं तो युद्ध करनेका निर्णय करके वहीं

१२ डट गया था। उसी समय कुछ और राजपुत्र मेरी सहायताके लिए कटिबद्ध हो गये थे फलतः मैंने वह तलवार उठायी थी जिसकी जाज्वल्यमान किरणें चारों ओर चकाचौंध फैला रही थी। "हे वरांगकुमार! तुम या हम लोग ही पृथ्वीका पालन करेंगे?" कहकर जब मैं मैदानमें जम गया था तब मुझे उस बुड्ढे मंत्रीने रोक दिया।'

१३ अपने पुत्रके वक्तव्यको सुनकर रानीने अपने विश्वस्त मंत्रीको बुलाया था। आते ही पहले तो उसका खूब स्वागत सन्मान किया और उसके उपरान्त साहसपूर्वक उससे यह वचन

१४

मृगसेनाका कुचक्र

कहे थे। जैसा कि मेरे माता पिताने आपको हमारी सहायताके लिए यहां भेजा था आपने समय पड़नेपर हमारी वैसी ही रक्षा की है, किन्तु जिस वृक्षको आपने इतनी चिन्ता और यत्नसे बढ़ाया है अब फिर उसे ही क्यों काटते

१५ हैं! क्या आपकी कर्तव्य शक्तिका यही रूप है? यदि हम लोग आपकी दृष्टिमें शुद्ध हैं अथवा यदि हम लोग आपके शुद्ध पक्षपाती हैं, यदि हमारे कुटुम्बियों और मित्रोंने आपका कभी कोई उपकार किया है तो आज उस (वरांग) के युवराज पदके अभिषेकको उलट दीजिये और सुषेणको युवराजके सिंहासनपर बैठा दीजिये।

१६ मंत्रीकी बुद्धि प्रखर तथा सत्पथ गामिनी थी अतएव रानीके नीति और न्यायके प्रतिकूल ही नहीं अपितु सर्वथा युक्तिहीन वचनोंको सुनकर भी उसके मनमें किसी प्रकारके पक्षपातकी भावना तक न जगी थी। वह अत्यन्त दूरदर्शी था फलतः रानीके पूर्वोक्त कथनपर उसने काफी देरतक मन ही मन विचार किया और अन्तमें इस प्रकारसे उत्तर दिया था।

१७

सन्मन्त्री-उपदेश

'जो व्यक्ति पुण्यात्मा साधुपुरुषोंका नाश करना चाहते हैं वे सबसे पहिले अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक स्वयं ही इस संसारमें निःशेष हो जाते हैं। क्या आपने नहीं सुना है कि जंगलमें जब हाथियोंके बच्चे किसी कारणसे मदोन्मत्त हाथियोंसे

१८ भिड़ जाते हैं तो वे बड़े हाथियोंका बाल बांका किये बिना स्वयं ही पहिले मर जाते हैं। जिस व्यक्तिके भाग्यसे लक्ष्मी उतर गयी है उसे प्रयत्न करके भी उन्नत पदपर नहीं बैठाया जा सकता है। इसी प्रकार जिसकी लक्ष्मी पुण्य और पुरुषार्थके कारण बढ़ रही है उसकी प्रतिष्ठा तथा पदका नष्ट करना भी संभव नहीं है। सत्य तो यह है कि पूर्वभवोंमें जीवके द्वारा जिस विधिसे पुण्यरूपी लक्ष्मी कमायी जाती है उसी विधिसे वह लक्ष्मी उस पुरुषको उत्तर भवोंमें

१९ वरण करती है। सामने खड़े करने योग्य कार्यको तथा भविष्यमें कर्त्तव्यरूपसे उपस्थित होनेवाले कार्यको स्वयं समझे बिना ही केवल दूसरोंकी बुद्धि और तर्कणासे जो व्यक्ति समझनेका प्रयत्न करते हैं, उन मूर्खोंको अपने कार्यमें सफलता नहीं मिलती है, इतना ही नहीं बल्कि उन कुमंत्रियोंकी सम्मतिको माननेके कारण वे स्वयं नष्ट होते हैं और साथमें उन अज्ञोंको भी ले

२० डूबते हैं। जिनके पल्लेमें बुद्धि नहीं है उनके द्वारा सोची गयी योजनाएं निश्चयसे विनाशके

उदरमें समा-जाती हैं। इसलिए हम सबका इसीमें हित तथा कल्याण है कि हम युवराज वरांगकी शरणमें रहकर अपना जीवन शान्तिसे बितावें।' यही उसकी सम्मतिका सारांश था।

हित तथा अहितके सूक्ष्म द्रष्टा उस विवेकी मंत्रीसे अपनी प्रार्थनाका उक्त उत्तर पाकर रानीको कोई प्रत्युत्तर ही नहीं सूझा था इसलिए वह अपने मुखसे कुछ भी न कह सकी थी। किन्तु जिस कार्यके लिए उसने मंत्रीसे निवेदन किया था उसीकी सफलताके लिए वह अपने पुत्रके द्वारा याचना कराती ही रही केवल स्वयं चुप बैठ रही थी। याचनाकी पुनरावृत्तिको सुनकर मन्त्रीने सम्पूर्ण घटनाक्रमको गम्भीरतापूर्वक एक बार फिरसे विचारा, उसने अपने और अपने स्वामी (रानीके पिता और माता) के बीचके सम्बन्धपर भी एक तीक्ष्ण दृष्टि डाली, विमर्ष और निश्चयसूचक ढंगसे अपने शिरको हिलाया, इस प्रकार किसी निर्णयपर पहुंचकर कर्त्तव्यके विशेष ज्ञाता उस मंत्रीने पुत्र सहित रानीको भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और निम्न प्रकारसे कहा—

२१

अकार्यमें सफल अनुनय

२२

'हे देवि! यदि आपके इस पुत्र सुषेणका वास्तवमें कुछ भी पुण्य अवशिष्ट है तो वह सब आजसे ही प्रकृत कार्यमें मेरा सहायक हो? मैं सब प्रकारसे उपाय करके शत्रुकी शक्ति या सैन्यबलको ज्ञात कर लेनेपर समय आते ही सफलताके लिए पूर्ण प्रयत्न करूंगा, तब तक हे साध्वि? आप धीरज धरें। इसके उपरान्त आपकी सन्देह दूर करने तथा विश्वास दिलानेकी इच्छासे उन्होंने प्रकृत कार्य सम्बन्धी अनेक विषयोंपर एकान्तमें गूढ़ मंत्रणा की थी, जिसकी उचित स्थान, काल और व्यक्तिके साथ किये जानेके कारण दूसरोंको गंध भी न लगी थी। इस प्रकार दृढ़ और गम्भीर मंत्रणा करनेके बाद वह चला गया था। अब उसकी यही अभिलाषा थी कि किसी प्रकार सुषेणका राज हो तथा कुमार वरांगके राज्यकालका शीघ्रसे शीघ्र अन्त हो। अतएव वह बैठे हुए, चलते हुए, सोते-जागते हुए, आदि सब ही अवस्थाओंमें वरांगके राज्यके दुर्बल तथा दूषित अंगोंको स्वयं ही खोजनेमें सारा समय बिताता था। कुमार वराङ्गके वायु सेवनके लिए उद्यानमें जानेपर, शारीरिक शक्तिके प्रदर्शनके अवसरपर, सभामें राजकार्य करते समय, आखेट आदिके लिए वनमें जानेपर, किसी दूसरे नगरमें पहुंचनेपर, खेल कूदमें तथा नाना प्रकारकी अन्य कल्पनाओंके सहारे वह कुमार वराङ्गके छिद्रोंको खोजता था और उन सब दुर्बलताओंको अपने कामकी सिद्धिमें लगानेका प्रयत्न करता था। यह सब करके भी वह कुमार वरांगके कपड़ों, आभूषण, विलेप, पानपत्ती, धूप, आदि सुगन्धित पदार्थों, माला आदि वर प्रसंग, शय्या, आसन तथा घोड़ा आदि वाहनकी व्यवस्थामें कोई दुर्बल स्थान (छिद्र) या व्यक्ति न पा सका था जिसके द्वारा वह उसके जीवनपर आक्रमण करता। उसका समय उन कृतघ्न नीच पुरुषोंसे मिलते जुलते बीतता था जो शारीरिक, मानसिक या अन्य किसी प्रकारका परिश्रम नहीं करते हैं। तथापि पुण्य-श्रमके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली विशाल भोग-उपभोगकी सामग्री तथा इन्द्रियोंके अन्य विषयोंको प्रतिदिन नये नये रूप और ढंगसे पानेकी अभिलाषा करते हैं।

२३

२४

२५

२६

२७

२८

इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर एक दिन मृगतीके एकच्छत्र अधिपतिने युवा राजा वरांगके लिए दो श्रेष्ठ घोड़े भेजे थे। उन दोनोंकी जाति (मातृकुल, नस्ल) तथा अन्वय (पितृकुल) उन्नत और शुभ थे, उनकी अवस्था भी उस समय किशोर थी, दोनोंका रूप अत्यन्त आकर्षक था, घोड़ोंमें जितने

२९

षड्यन्त्र प्रारम्भ

३० भी शुभ लक्षण हो सकते हैं उन सबकी तो वे दोनों निवास भूमि ही थे तथा देखनेपर वे सिंहके शावकों समान लगते थे। जब राजाने इन दोनों किशोर घोड़ोंको देखा तो सहसा ही राजसभामें उसके मुखसे निकल पड़ा कि इन दोनों घोड़ोंको कौन व्यक्ति भलीभांति शिक्षा

३१ देकर निकाल सकता है? राजाके इस वाक्यने मंत्रीको षड्यन्त्र करनेका अवसर दिया फलत. आनन्दसे उसका हृदय विकसित हो उठा था फलतः उसने खड़े होकर कहा था 'यदि कोई पुरुष मुझसे बढ़कर घोड़ा निकालनेवाला हो तो मैं उसके साथ कुछ दिनोंतक इन घोड़ोंको

३२ शिक्षित करके देखूंगा कि कौन पहिले सुशिक्षित करता है। यह सब ही जानते थे कि उक्त मंत्री समस्त शास्त्रोंरूपी समुद्रोंके पारंगत है अतएव जब उसने पूर्वोक्त प्रकारसे उत्सुकतापूर्वक उत्तर दिया तो राजाने उसके प्रस्तावको स्वीकार कर लिया, तथा उत्तम सुवर्णके आभूषण, रत्न, आदि देकर उसका सन्मान करके उसको वह दोनों बढ़िया घोड़े निकालनेके लिए दे

३३ दिये थे। प्रकृत मंत्री अश्वशास्त्र (लक्षण आदिसे घोड़ा पहिचानना, किस बातका घोड़ेपर क्या असर होता है, इत्यादि सब ही बातें) तथा घोड़ेकी शिक्षाके क्रमका विशेषज्ञ था। उसने धूप, अञ्जन, मन्त्र तथा अन्य प्रकारसे दोनों घोड़ोंको पवित्र किया था। इसके उपरान्त उन

३४ दोनों हृष्ट-पुष्ट उत्तम घोड़ोंको विधिपूर्वक प्यार माहतक पालतू बनाकर शिक्षा दी थी। एक घोड़ेको शुभ गतियों आदिकी न्याययुक्त (शुभ) शिक्षा देकर सर्वथा उपयोगी बनाया था तथा दूसरेको छल कपट करनेका अभ्यास कराके भयावह बना दिया था। निकाले जानेके बाद दोनों घोड़े ऐसे सुन्दर लगते थे मानो असीम द्रव्यसे भरे शुद्ध सोनेके कलश हैं। अन्तमें इन दोनों घोड़ोंको लेकर एक दिन मंत्री राजाके सामने उपस्थित हुआ था।

३५ नगरके बाहर एक वृत्ताकार विशाल क्रीड़ा-क्षेत्र था, वहींपर राजा और प्रजा नये घोड़ोंका कौशल देखनेके लिए एकत्रित हुए थे। सबके सामने मंत्री वहां सीधे घोड़ेपर सवार होकर उसे नाना प्रकारकी सुन्दर चालें चला रहा था, जिन्हें देखते ही

षड्यन्त्र कार्यान्वित

३६ युवक राजाका चित्त उन घोड़ोंपर मुग्ध हो गया था। कुमार वरांग घोड़ोंकी चाल, आदि क्रियाओंमें इतने दक्ष थे कि इस विषयमें दूसरा उनकी बराबरी कर ही नहीं सकता था, फलतः वे घोड़ेकी शिक्षासे परम संतुष्ट हुए थे। मंत्रीको जब इस बातका पता लग गया तो उसने घोड़ेकी प्रशंसा करनेवाले वहां उपस्थित नागरिकोंको इन मधुर

३७ वाक्योंसे शीघ्र संबोधन किया था। हे महाराज! यह दूसरा घोड़ा जिसकी आप तथा सब लोग प्रशंसा कर रहे हैं इस घोड़ेसे भी बहुत अधिक विशिष्ट है तथा आपके ही चढ़ने योग्य है' यह कहकर उसने दूसरे घोड़ेको जिसे छलकपट की शिक्षा दी गयी थी तथा जिसका स्वभाव और चेष्टाएं अशुभ हो चुकी थीं उसे ही ले जाकर युवक राजाके सम्मुख उपस्थित कर दिया था।

३८ भवितव्य वैसी ही थी इस कारणसे, घोड़ेपर आरूढ़ होनेकी तीव्र अभिरुचिके कारण अथवा यौवनमें सुलभ उद्धततासे उत्पन्न आत्मगौरवकी भावनाके कारण ही युवराज वरांगने उस कुशिक्षित घोड़ेकी परीक्षा करना आवश्यक न समझा तथा उसी

वरांगकी सहसाकारिता

३९ समय उसपर सवार होनेके लिए उद्यत हो गया था। वह घोड़ा भी क्या था, उसका अंग अंग चंचल और सुन्दर था, उसका शरीर उत्तम रत्नोंकी माला, आदि सज्जासे ढका हुआ था। कुमार वरांग मंगलमय अवसरोंके लिए ही उपयुक्त—साधारणतया

सवारीके लिए अनुपयुक्त—वेशभूषामें ही उस घोड़ेपर विधिपूर्वक चढ़ गये और आश्चर्यकी बात है कि तुरन्त ही उसे महती (सरपट) गतिसे चलाना प्रारम्भ कर दिया। इसके ४० उपरान्त जैसी कि उसे कुटिल शिक्षा दी गयी थी उसीके अनुसार बार-बार लगाम खींचकर कशा मारकर रोके जानेपर भी वह घोड़ा क्रोधके कारण उदण्ड होता जाता था और उसपर नियन्त्रण रखना असम्भव हो रहा था। थोड़े ही देरमें उसका वेग वायुके समान तीव्र हो गया था फलतः वह धनुषपरसे छोड़े गये बाणकी तरह बहुत दूर निकल गया था। मंत्रीकी ४१ कुशिक्षाने घोड़ेके हृदयको इतना दुष्ट तथा क्षुब्ध कर दिया था कि अश्वचालनमें कुशल युवक राजा ज्यों-ज्यों परिश्रम करके उसे पीछेको मोड़ना चाहता था त्यों-त्यों उसका क्रोध बढ़ता था और गतिका वेग थोड़ासा भी नहीं घटता था, फलतः वह कितने हो स्थानोंको पार करता हुआ बहुत दूर निकल गया था। अकस्मात् आये उपद्रवके कारण विचार करनेमें असमर्थ ४२ राजा घोड़ेको नियन्त्रणमें लानेके लिए जो-जो प्रयत्न करता था वह वह निष्फल होता था क्योंकि उस बलिष्ट एवं उत्तम घोड़ेको उल्टा आचरण करनेकी ही शिक्षा दी गयी थी। उसके साथ किये गये प्रयत्नोंका वही हाल हो रहा था जो कि सत्कर्मोंका नीच स्वभाववाले व्यक्ति पर होता है। अनुपम पराक्रमी युवक राजा दोनों हाथोंसे लगामको खींच कर ज्यों-ज्यों उस दुष्ट ४३ घोड़ेको रोकनेका प्रयत्न करते थे, रोके जानेके कारण (उल्टा अभ्यास होनेसे इसे वह दौड़नेका संकेत समझता था) त्यों त्यों उसकी गति बढ़ती ही जाती थी। उसकी शारीरिक शक्ति भी नियन्त्रणसे परे थी इसलिए वह और अधिक वेगसे दौड़ता था। मार्गमें पड़े अनेक ४४ ग्रामों, खनिकोंकी बस्तियों, मडम्बों, खेटों, नगरों, राज्यों, आदिको शीघ्रतासे पार करता हुए वह किसी अज्ञात देशमें वैसे ही जा पहुंचा था जैसे, ऊपरको ओर फेंका गया जल नीचे आता है अथवा जिस प्रकार आंधी बहती है अथवा जैसा धुआं उड़ता है।

इधर उसे बेरोक भागता देखकर उसका पीछा करनेके लिए कितने ही अत्यन्त ४५ वेगशाली घोड़े, हाथी तथा मनुष्य उसके पीछे दौड़कर भी उसे उसी प्रकार न पा सके थे जैसे वेगसे झपट्टा मारकर उड़नेवाले गरुड़को आकाशमें समस्त पक्षी मिलकर भी नहीं रोक पाते हैं। वह दुष्ट घोड़ा अत्यन्त घने और नीचे वृक्षोंके ४६ नीचेसे तथा मार्गोंके आसपासकी नीची-ऊंची वनस्थलियोंमेंसे अत्यन्त वेगसे दौड़ा जा रहा था, फलतः इतस्ततः उलझकर वराङ्गके मस्तकपर बंधा मुकुट तथा अन्य अंगोंसे आभूषण गिर गये थे। उत्तरीय (ऊपरका दुपट्टा) वस्त्र पृथ्वीपर गिर गया था, गलेकी माला फंसकर ४७ टुकड़े टुकड़े होकर गिर गयी थी, हृदय विषादसे भर गया था, पूर्ण शरीर आवेगसे कांपने लगा था, अनुताप और पिपासाके मारे मुख सूख गया था, आंखें अनिष्टकी आशंकासे घूमने लगी थीं तथा कान बहरेसे हो गये थे। इतनी देरतक घोड़ेकी अत्यन्त तीव्रगतिको सहनेके ४८ कारण राजाकी शक्ति धीरे-धीरे कम होने लगी थी तथा सारा पराक्रम और पुरुषार्थ ढीला पड़ चुका था। फल यह हुआ कि लताओं तथा घाससे ढके हुये एक कुएंमें वह उस दुष्ट घोड़ाके साथ जा पड़ा। अपने पूर्वकृत अशुभ कर्मोंके कुफलसे कुएंमें गिरते ही उस दुशिक्षित ४९ घोड़ेका अंग अंग चकनाचूर हो गया था और वह तुरन्त मर गया था। किन्तु युवक राजाने बीचमें ही किसी बेलको पकड़ लिया था फलतः मृत्युसे बच गया और धीरे-धीरे कुएंसे बाहर निकल आया था।

वराङ्गकी अवस्था

५० बाहर आते ही युवराजने बैठकर मुक्तिकी सांस ली थी, किन्तु उसका अनुपम कान्तिमान तथा बलिष्ठ युवक शरीर भी भूख प्यासके कारण बिल्कुल थक गया था। परिणाम यह

वनवासी अशरण वराङ्ग

हुआ कि बालु, धूल, कंकड़ आदिके कारण अत्यंत कठोर स्थलपर ही ५१ मूर्च्छित होकर गिर गया। किन्तु जंगलकी शीतल वायुने उसके ताप और थकानको दूर करके फिर उसमें चैतन्य भर दिया तब उसने धीरे धीरे अपने सुन्दर नेत्रोंको खोला। आंखें खोलते ही उसने विषादसे दीर्घ सांस लेकर एक बार अपने पूर्ण शरीरपर दृष्टि डाली थी, जिसे देखते ही आपाततः उसके मुखसे संसारकी अस्थिरताकी निन्दा निकल ५२ पड़ी थी। जब उसे अपने वृद्ध माता-पिताका ध्यान आया, बन्धु बांधवों तथा मित्रोंकी मधुर स्मृतियां आयीं, आज्ञाकारी सेवकों, राज्य तथा खजानेके स्मरण आये तथा स्वर्गकी अप्सराओंके समान सुन्दरी तथा गुणवती स्त्रियोंके विरहके कारण हृदयमें टीस उठी तो उसका ५३ हृदय दुखसे भर आया और वह विलाप करने लगा था। कुटुम्बी, हितैषी, प्रेमियों, आदिसे विरह हो जानेके कारण उसे दुख हुआ था, किन्तु दूसरे ही क्षण उसका यह अभिमान जाग उठा कि वह राजपुत्र है। यह सोचते ही उसे धैर्य बंधा फिर क्या था; इसके उपरान्त उसे मंत्रीका कपट याद आया और वह क्रोधसे लाल हो उठा था। दूसरे ही पल संसारकी अस्थिरतापर दृष्टि पड़ते ही उसे वैराग्य हो आया था।

५४ यदि मैं कोमलांगी ललनाकी तरह मनोबलको खोकर निराश होकर इस निर्जन जंगलमें पड़ा रहता हूं, कुछ पुरुषार्थ नहीं करता हूं और यही आशा लगाये रहता हूं कि

पुरुषार्थका उदय

अपने आप ही किसी प्रकार इस विपत्तिसे मुक्ति मिल जायगी तो निश्चित ५५ है कि अब मैं पुनः राज्य सम्पदाको न पा सकूंगा।' यदि मैं अब वनवास करनेका ही निर्णय कर लूं तो न मेरा भला होगा और न यहां रहनेसे और किसीका ही कोई शुभ होगा'। यह सब सोचकर उस महा भाग्यशाली राजकुमारने धीरज बांधा और 'यहांसे ५६ चलता हूं।' इस निर्णयको करके प्रालम्बक (लम्बा हार आदि लटकते भूषण) आदि उत्तम भूषणोंको जो दौड़ते समय गिरनेसे बच गये थे उन्हें अपने आप शरीरपरसे नोंचकर उस कुंयेमें फेंक दिया था तथा थोड़ी देर सोचकर वह महाशक्तिशाली नृपति वहांसे किसी दूर ५७ देशको चल दिया था। जिस जंगलसे वह चल रहा था वह सांपों, हाथियों, भयंकर पक्षियोंसे खचाखच भरा था विविध प्रकारके हिंस्र पशु सिंह आदिका तो सुरक्षित घर ही था। उसमें पग, पग पर घने वृक्ष, छोटे छोटे पौधे, झाड़ियां और खोहों समान घना वन मिलता था, वह इन सबमेंसे चला जा रहा था, यद्यपि उसे दिशा तक का ज्ञान न था।

५८ इस प्रकार चलते चलते सूर्यके अस्ताचलपर जा पहुंचते ही उसने देखा कि एक बाघ उसका पीछा कर रहा था तब वह युवक राजा उसे अपने अत्यधिक निकट पाकर बड़ी शीघ्रताके साथ

आपत्तिमें आपत्ति

५९ एक वृक्षपर जा चढ़ा था। उसी समय सिंहके शावकने क्रोधसे भूमिपर अपनी पूंछ मारकर ऊपर नजर फेकी। तथा राजकुमारको वृक्षकी शाखापर बैठा देखकर उसने ६० अपने भयंकर शरीरको फुलाकर उसी समय बड़े जोरसे गर्जना की। सिंहकी धमकी युक्त गर्जनाको सुनकर राजकुमारकी आंखें भय तथा आश्चर्यसे फैल गयी थी। उस शाखातक उसके उछल सकनेका कुछ भय था इसलिए वह दूसरी शाखापर जा बैठा और वहींसे सिंहके क्रोध, आक्रमण, ६१ आदि समस्त विकारोंको देखते हुए उसने किसी तरह अत्यन्त कष्टसे उस रात्रिको काटा।

वियोगके शोक और भविष्यकी चिन्ताओंके कारण वह उदास था, दिन रातके परिश्रमके कारण उसका सदा विकसित मुखकमल भी म्लान हो गया था, भूख और प्याससे व्याकुल था इतना ही नहीं वह अत्यन्त विषम परिस्थितियोंमें पड़ गया था और दुखद स्थानपर बैठा था, फलतः उस एक रातको काटनेमें ही उसे ऐसा लगा था मानो कई रातें बीत गयी हों। उस सिंहका चित्त मांसकी आशामें इतना लीन हो गया था कि 'अब तब गिरेगा' यही सोचनेके कारण वह वृक्षके नीचेसे हिलना भी नहीं चाहता था, तथा युवकराजा भी हृदयसे यही चाहता था कि वह सिंह चला जाय इसी आशामें वह नीचे उतरनेका विचार भी न करता था। जब यह जटिल परिस्थिति हो गयी थी, उसी समय राजाने दूरसे देखा कि एक मदोन्मत्त जंगली हाथी हथिनीके साथ चला जा रहा है, 'उसने सोचा क्यों न सिंहको मत्त हाथीसे कुचलवाया जाय' इसी इच्छासे उसने जोरसे हाथीको ललकारा था। मनुष्यकी गर्जना सुनकर हाथी एकदम लौट पड़ा, क्रोधमें चूर होनेके कारण उसके कान और पूंछ खड़े हो गये थे, उसके गण्डस्थलोंसे मदजलकी विशेष मोटी धार बह रही थी, ऐसा वह उद्दण्ड हाथी चिंघाड़ता हुआ वायुके वेगसे उस स्थलपर आ टूटा। हाथीको लपकके आता देखकर सिंहकी क्रोधाग्नि 'भभक' उठी थी फलतः उसने उछलकर सिंहके गण्डस्थलपर पंजा मारा। इस प्रकार काटे जानेपर हाथीका क्रोध भी अन्तिम सीमाको लांघ गया था अतएव उसने सूंडसे नीचे गिराकर दांतकी नोकसे उसे मार डाला था। ६२ ६३ ६४ ६५

सिंह ऐसे शत्रुको चकनाचूर कर देनेवाले उस हाथियोंके राजाकी उस महान विजयको देखकर विपद्ग्रस्त राजकुमारका मन और हृदय प्रेमसे भर आये थे। युवराजका कृतज्ञताका भाव इतना उमड़ आया था कि सहसा उसके मुखसे यह वचन निकल पड़े थे। 'हे गजराज! मैं इस वनमें ऐसी परिस्थितिमें पड़ गया हूं कि यहां मुझे कोई शरण नहीं है, भूखा बाघ क्रोधसे बारबार गरजकर मुझे धमका रहा था जिससे मैं अत्यन्त डर गया था, न मेरे पास धन है न मित्र ही हैं जो सहायता करें और न स्त्री ही है जो दुखमें भाग बटाती ऐसे असहाय मुझमें तुमने ही परमप्रिय जीवनकी आशाका संचार किया है। तुम हाथियोंके अधिपति हो और मैं भी मनुष्योंका शासक हूं अतएव तुम्हारा ऐसा जीव ही मेरी सहायता कर सकता है, किसी साधारण शक्तिशालीके वशकी यह बात नहीं है। संसारका यही नियम है कि जब साधुचरित महात्मा लोग विपत्तियोंमें पड़ जाते हैं तो उनके समकक्ष महापुरुष ही उन्हें सहारा देते हैं। यह श्रेष्ठ हथिनियां जो कि तुम्हारी प्रियतमा हैं इनके साथ चिरकालतक जंगलकी रक्षा करो, तुम्हें कभी किसी प्रकारके शोकसे संतप्त न होना पड़े, इत्यादि प्रिय वचन कहकर उसने हाथी की प्रशंसा की थी। तथा जब हाथी भी जंगलमें दूसरी ओर चला गया था तब वह शान्तिसे वृक्षपरसे उतर आया था। ६६ ६७ ६८ ६९ ७०

कृतज्ञतानुभवन

भूखने उसकी दुरवस्था कर डाली थी, प्यासने भूखसे भी अधिक व्याकुल कर रखा था, अतएव वह वेगशील तथा पुरुषार्थी युवक तुरन्त ही पानीकी खोजमें निकल पड़ा था। हाथीके जानेसे घास, लता, पृथ्वी आदि कुचल जानेसे जो मार्ग बन गया था उसे पकड़कर चलते हुए युवराजने थोड़ी दूरपर एक तालाब देखा। तब वह बढ़कर उस मनोहर तथा शीतल तालाबपर जा पहुंचा था, जिसका पानी अत्यन्त निर्मल था, उसकी थाह पाना ७१ ७२

कठिन था, मन्द-मन्द बहती हवाके झोंकोंसे उसका पानी हिलता था और सुन्दर लहरें एकके बाद एक करके उठती आती थी, पूर्ण विकसित पुण्डरीक (श्वेत कमल) तथा उत्पलों (नीले
७३ कमलों) से वह पटा हुआ था, पुष्पोंके पराग आदिको पीकर मस्त
रोटीके लिए आकुल राजा
हुए हंस आदि पक्षियोंकी मधुर कूजसे वह गूंज रहा था, किनारे पर खड़े वृक्ष फूल रहे थे उनकी मंजरियोंको सुगन्धिसे पूरे जलाशयका मधुर जल सुगन्धित हो गया था, तथा पुष्पोंपर इधर उधर उड़नेवाले भौंरे फूलोंका मधु पीकर मत्त हो गये थे
७४ और गुंजार कर रहे थे, जिसके कारण उसकी सुन्दरता और भी बढ़ गयी थी। उस जलाशयमें किलोलें करनेवाली सुन्दरी हंसियोंके सामने जब राजकुमार पहुंचा था, तो उनमेंसे कुछ हंसियोंने लजीली कुलीन बहुओंके समान, आंख बचाकर तिरछी नजरसे उसे देखा था, दूसरी नव वधुओंके समान फूलोंमें छिप गयी थीं, अन्य ज्योंकी त्यों बैठी रही थी तथा कुछ ऐसी भी थीं जिन्होंने वेश्याओंके समान मधुर-मधुर बोलना प्रारम्भ कर दिया था।

७५ विवेकी राजकुमार ज्यों ही उस सुन्दर जलाशयके किनारे पहुंचे त्यों ही सबसे पहिले उन्होंने अपने धूल धूसर हाथ पैरोंको धोया। वह अत्यन्त प्यासे और दुर्बल थे इसलिए
७६ उन्होंने कमलके पत्तेके दोनेसे धीरे-धीरे शीतल जलको पिया था। एक समय
रंक राजा
था जब यही राजकुमार अपने राजमहलोंमें त्रिजात (सुगन्धि, शीतल त्रिफली, आदि) कपूर आदि मिलानेसे सुगन्धित, सोने या चांदीके निर्मल रमणीय पात्रोंमें भरे गये तथा अप्सराओंके समान युवती प्राणप्यारियोंके द्वारा दिये गये प्यासवर्द्धक जलको जितना
७७ चाहता था उतना पीता था। किन्तु आज उसी राजकुमारने मार्गके परिश्रमसे थक कर ऐसे पानीको पिया था जिसमें सिंह आदि हिंस्र पशुओंकी लार घुली थी, बड़ेसे बड़े मदोन्मत्त हाथियोंके गण्डस्थलोंसे बहा मदजल भी उसमें मिल रहा था, तथा हंस आदि पक्षियोंने उसे इतना बिलोया था कि उसमें लहरें उठने लगी थी इतना ही नहीं वह अनछना और अप्रासुक
७८ भी था। जो राजकुमार पहिले खेल कूद अथवा मनोविनोदके लिए यदि उद्यानको जाता था तो वह हर प्रकारसे सजाये गये तथा हाथियों या घोड़ों द्वारा खींचे गये यानों (सवारियों) पर चढ़कर ही नहीं जाता था अपितु उसके शिरपर धवल छत्र लगा रहता था, सुन्दर निर्मल
७९ चमर ढोरे जाते थे और योद्धाओंकी बड़ी भारी भीड़ उसके पीछे, पीछे चलती थी, किन्तु आज वही राजकुमार पथरीली, कंकरीली और अत्यन्त कठोर जंगली भूमिपर नंगे पैरों चला जा रहा था। इतना ही नहीं, वह रास्ता भूल गया था अथवा यों कहिये कि उसके सामने कोई रास्ता था ही नहीं, उसके पैरोंके तलुये और अंगुलियां ठोकर खा, खा कर फूट गये थे, कांटों और झाड़ियोंमें उलझकर कपड़े चिथड़े, चिथड़े हो गये थे तथा कोमल शरीर स्थान,
८० स्थानपर छुल और खरुंच गया था। पहिले जब वह राजा था तो उसके शरीरका प्रक्षालन करके उसपर उत्तम चन्दन और कुंकुमका लेप किया जाता था इसके बाद उसे कालागरु आदि श्रेष्ठ चन्दनोंकी धूपका धुआं दिया जाता था, किन्तु आज वही सुकुमार शरीर अविरत बहे पसीने और मैलसे बिल्कुल पुत गया था। इतना ही नहीं अत्यन्त मैले कुचैले चिथड़ोंसे लज्जा
८१ ढके वह गहन वनमें मारा मारा फिर रहा था। पुण्यकर्मोंके उदयके कारण जिस राजकुमार को पहिले पांचों इन्द्रियोंके भोग्य विषय परिपूर्ण मात्रामें यथेच्छरूपसे प्राप्त होते थे, उसीके पुण्यकर्मोंकी फलोन्मुख शक्तिके उदयके रुक जानेके कारण वही राजकुमार आज एक इन्द्रियको

भी शान्त करनेमें असमर्थ था। सब प्रकारसे परिपूर्ण सुखोंके समुद्रमें आलोडन करते हुए ८२ जिस युवक राजाकी लोग मंगल गीतों और स्वस्ति वाचन आदि आशिषमय वचनोंसे स्तुति करते थे वही सर्वगुण सम्पन्न राजकुमार जब शिवा (सेही) तथा उल्लू आदि पक्षियोंके कर्णकटु कुशब्दोंको सुनता था तो अपने भाग्य परिवर्तनको सोच सोचकर एक क्षणमें ही दुखके महासमुद्रमें डूबने और तैरने लगता था। युवराज वरांग ऐसे अतुल तथा असीम ८३ वैभव और प्रभुताके स्वामियोंका, जिनके राज्यमें एक, दो नहीं अपितु अनेक विशाल नगर, सम्पत्तिकी उद्गम खनिक बस्तियां तथा सम्पन्न ग्राम हों, इतना ही नहीं जिनका प्रताप सूर्यके समान सम्पूर्ण विश्वको आक्रान्त कर लेता हो, पूर्व पुरुषार्थ (पुण्य) के नष्ट हो जानेपर उनकी भी जो, जितनी समस्त सम्पत्ति होती है वह उक्त प्रकारसे क्षणभरमें लुप्त हो जाती है। तब फिर उन नरकीटोंका तो कहना ही क्या है जो सर्वदा दूसरोंकी आज्ञाको कार्यान्वित करनेके ८४ लिए तत्पर रहते हैं, दिन-रात हजारों प्रकारके क्लेशोंको भरते हैं तथा जिनकी जीविकाके साधन अत्यन्त निकृष्ट हैं।

यदि कोई गाड़ी लोहा, लोहा ही लगाकर उत्तम प्रकारसे अत्यन्त दृढ़ बनायी जाय और ८५ यदि वह भी ऐसी हो जाय कि वायुके झोंकेके मारे चापसे चलने लगे तो बतलाइये कि सूखे पत्तोंका बड़ा भारी ढेर भी क्या आंधीके झोंके सह सकेगा? जो बेहद हल्का होता है स्वभावसे ही अत्यन्त चंचल होता है तथा साधारण वायुके झोंकेसे भी उड़ने लगता है। अथवा यों ८६ समझिये कि मजबूत पक्के मिट्टीके सकोरेको सोनेसे भरा जाय और यदि वह भी चूहोंके

विचित्रा कर्मपद्धतिः

द्वारा कुतरा जाकर सदाके लिए सुगति (नाश) पा जाता है तो क्या चूहोंके बिलमें रखा गया श्रीमोदक (उत्तम लड्डू) सुरक्षित समझा जा सकेगा, जब कि उस मोदकसे घी टपकता हो और गुड़ अथवा शक्कर उसमें बड़ी मात्रामें मिलायी गयी हो। जो पुरुष धैर्य, शारीरिक तथा मानसिक बल, विवेक तथा सहनशक्ति, ८७ आदि गुणोंसे परिपूर्ण हैं, जिनमें सेवकों, आज्ञाकारियों, सुमति, विभव तथा परिस्थितियोंको पैदा करके उन्हें बनाये रखनेकी असीम (धृति) शक्तिकी कमी नहीं है वे भी पूर्वकृत पाप-कर्मोंके उदय होनेसे इस प्रकार सरलतासे ऐसी महाविकृत दुखमय अवस्थामें जा पड़ते हैं। तो जो मनुष्य हिरण आदि पशुओंके समान इन्द्रियोंके दास दुर्बल और ज्ञानहीन है, उनकी तो कहना ही क्या है। आध्यात्मिक विशाल लक्ष्मीके स्वामी राजकुमारने, माता-पिता, बन्धु-मित्र, ८८ पत्नियों, आदिके स्मरणमें लीन मनको 'येन केन प्रकारेण' उधरसे मोड़कर अपने आपको धैर्य और सहनरूपी महाशक्तिके सहारे खड़ा किया था—अर्थात् घरके लोगोंकी मधुर स्मृतियोंको भूलकर सामने खड़ी विपत्तियोंको धैर्यपूर्वक सहनेका निर्णय किया था। युवक राजाने पानी पीकर अपनी प्यासको शान्त कर दिया था, इसके उपरान्त उसने शारीरिक क्लान्तिको भी कम करनेकी इच्छासे स्नान करनेका निर्णय किया था। इस निर्णयको पूरा करनेके लिए ही वह उक्त जलाशयके निर्मल जलमें धीरे, धीरे घुसा था।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
युवराज-सरोदर्शन नाम द्वादशम सर्ग समाप्त

त्रयोदश सर्ग

१ जलाशयमें उत्पल और पंकज खिले हुए थे, उच्च जातिके बगुला और सारसोंके समूहसे वह परिपूर्ण था। उसमें उतरकर राजकुमारने अपने शरीरपर कसैली मिट्टीको मला जो

कर्मगति

कि मैलको छुटा सकती है तथा शरीरको खूब रगड़-रगड़कर अपनी इच्छाके अनुकूल पूर्ण स्नान किया था। इस प्रकार राजकुमारके हृदयमें

२ तालावके बीचमें जाकर गोता लगानेकी रुचि उत्पन्न हो गयी थी, इस रुचिके आकर्षणसे, अथवा अपने पूर्वकृत कर्मोंका फल वहां उस रूपमें मिलना हो था अतएव भवितव्यताकी प्रेरणासे ही उसने मार्गकी थकान तथा रात्रि जागरणकी क्लान्तिको दूर करनेके ही लिए अपने

३ आप तालावके अगाध लहरोंसे आकुल जलपर हाथोंसे तैरना प्रारंभ कर दिया था। इसके बाद वह उत्पलों और कमलोंके बीच काफी देरतक तैरता रहा, वहांपर लहरोंके थपेड़ोंसे उसका शरीर धुलकर स्वच्छ हो गया था अतएव निकलनेकी इच्छासे वह ज्यों ही मुड़ा था कि

४ अकस्मात् पीछा करके किसी घड़ियालने युवक राजाका पैर पकड़ लिया था। यह पता लगते ही कि घड़ियालने पैरको अत्यधिक दृढ़ताके साथ दांतोंसे दबा लिया है उसने पूरी शक्ति लगाकर बाहर निकल भागनेका प्रयत्न तत्परताके साथ करना प्रारम्भ किया। किन्तु उसका शारीरिक बल लगातार आयी विपत्तियोंके कारण क्षीण हो गया था, तथा आस-पास कोई सहारा भी न था फलतः नक्रसे बचनेमें असमर्थ था। तब उसका हृदय विषादसे भर गया और वह सोचने लगा था।

५ 'किसी उपायसे सिंहका भय नष्ट होते ही मुझपर यह दूसरी महा विपत्ति कहांसे आ टूटी ? यह तो वही हुआ कि कोई मनुष्य वृक्षके उन्नत शिखरपरसे गिरके उसकी चोटोंके

आर्त एवं शुभ चिन्तन

दुखको सोच ही रहा था कि उसपर फिर मूसलोंकी लगातार मार पड़ने लगी। पूर्व जन्ममें किये गये शुभ या अशुभ कर्मोंके फल जीवको कहीं

६ भी नहीं छोड़ते हैं। चाहे वह अपने राज्यमें रहे या अपना नगर न छोड़े, चाहे पर्वतपर चढ़ जाये या महा समुद्रकी तहमें जाकर छिपे चाहे भूतलपर ही एक स्थानसे दूसरे स्थानपर भागता फिरे, या मित्रों और हितैषियोंसे घिरा रहे, चाहे आकाशमें उड़ जाये अथवा खूब

७ मजबूत तलघरमें छिप जाये। कर्मोंके फलोंकी अटलताकी यह विधि ऐसी है कि किसी कारण अथवा योजनासे इसका प्रतीकार नहीं किया जा सकता है। यह तो जीवको ऐसा बांधती है कि वह हिल भी नहीं सकता है। ऐसी अवस्थामें मैं क्या करूं ?' उसने एकबार पुनः पूर्वकृत समस्त कर्मोंकी आलोचना की और कर्मोंकी फल व्यवस्थाको निष्प्रतीकर (अपरिहार्य) सोचकर

८ अनित्य, अशरण, एकत्व, आदि विशुद्ध भावनाओंको भाना प्रारम्भ किया। क्रोध आदि कषाय दोष ऐसे भयंकर है कि नरकादि विषम अवस्थाओंमें घसीटते तथा विविध जन्म जन्मान्तरोंमें सब दुखोंको देते हैं अतएव उन्हें छोड़कर उसने अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंको धारण किया

९ था। क्योंकि यह महाव्रत ही मोक्ष प्राप्तिके परम शक्तिशाली साधन हैं। उसने मन, वचन और कायको शुद्ध करके शुभ ध्यानमें लगा दिया था, भक्तिरूपी जलसे उसका हृदय द्रुत

हो उठा था अतएव उसने वीतराग प्रभुके आदर्शके आगे हाथ जोड़ लिये थे तथा पंच परमेष्ठीके सम्मिलित तथा पृथक् पृथक् स्तोत्रोंको पढ़कर नमस्कार कर रहा था। उसके मुखसे निकलते शब्द तथा उनके अर्थ दोनोंमें व्याकुलताकी छाया तक न थी अतएव वे बड़े मनोहर लगते थे।

मैं श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवको नमस्कार करता हूं जिनकी भक्ति आत्माको विशुद्ध करके मन चाहे फलोंको देती है। तथा जो जिनेन्द्रदेव दिव्यध्वनिके स्वामी है, सत्य और यशके उत्तम कोश हैं, पूर्णज्ञानके प्रभु हैं अपने कर्मोंरूपी ईंधनके लिए जलती ज्वाला हैं तथा 'वस्तु स्वभावमय' होनेके कारण जिसकी अनादि परम्परा परम शुद्ध है ऐसे धर्मको दिखानेवाले हैं। आठों कर्मोंके भलीभांति नष्ट हो जानेसे उत्पन्न जिनके पूर्णज्ञानमें संसारके सब ही जानने योग्य पदार्थ, विशेषकर इष्ट और हितकारी पदार्थ साक्षात् झलकते हैं। जो सम्यक् दर्शन, ज्ञान तथा चारित्रमय रत्नत्रयके सुपंथके चलानेवाले हैं तथा अन्तमें निर्वाणरूपी अनन्त सुखको प्राप्त करके शोभित हो रहे हैं ऐसे जिनेन्द्र प्रभुको नमस्कार करता हूं। धन आदि समस्त ऐषणाओं (अभिलाषाओं) तथा मिथ्यात्वमय व्रतोंकी असारताको जिन्होंने प्रकट कर दिया है, परम पवित्र शुक्ल-ध्यानके द्वारा जिन्होंने दुनियांके काले बादलोंको उड़ा दिया है, समस्त विघ्नोंकी जीत लिया है, सब प्रकारके रोगोंसे परे हैं तथा निर्वाण महासुखके स्वामी है ऐसे जिनेन्द्र प्रभुके चरणोंमें प्रणाम करता हूं। शरीरमें यौवन समुद्र लहरा रहा था तथा आंखोंको हठात् अपने ओर आकर्षित करनेवाली मूर्तिमान सुन्दरता (रूपवती स्त्रियाँ) के सदा ही आंखोंके सामने रहनेपर जिन वीतमोह जिनेन्द्र प्रभुके मेरु समान अडिग मनको कामदेवके द्वारा थोड़ा भी वासना दूषित न किया जा सका था उनके चरणोंमें त्रियोग पूर्वक प्रणाम करता हूं। नरक आदि चारों गतियोंमें जन्म मरण करके बुरे बुरे दुखोंको भरनेवाले तथा अप्रतीकार कामकी ज्वालासे भस्म किये गये संसारी जीव जिन वीतराग प्रभुकी प्रशमभावरूपी जलधारासे सिक्त होकर आत्मिक शान्तिको प्राप्त हुए हैं, उन्हीं कर्मजेता जिनेन्द्र देवकी भक्ति इस विपत्ति कालमें मेरे कल्याण-कारक सुखका कारण हो। सांसारिक दुखोंकी शान्ति प्राप्त करनेकी अभिलाषासे मैं आज उन्हीं जिनेन्द्रदेवकी शरण लेता हूं जिन्होंने शरीरी (आत्मा) और शरीरके रहस्यको तथा सम्बन्धको आत्मदृष्टिसे साक्षात् देखा था, जो सब प्रकारकी कालिमाओंसे परे हैं, पाप उनकी तरफ देखता भी नहीं है, रोगोंकी उनतक पहुंच ही कैसे हो सकती है? जिनका अनन्तज्ञान सत्य और सफल है तथा जो सब दोषोंसे रहित योगी हैं। प्राणिमात्रपर वात्सल्य करनेके कारण जो तीनों लोकोंके सगे भाई हैं, समस्त भुवनोंकी प्रजाका कल्याण चाहते हैं, तीनों लोकोंमें मुकुटमणिके समान श्रेष्ठ हैं, मिथ्या मार्गकी वंचनासे बचाकर सन्मार्ग दिखानेके कारण आप्त हैं, केवली हैं फलतः भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानको साक्षात् देखते हैं, तथा अन्तमें जिन्होंने सबसे बढ़कर गति (मोक्ष) को प्राप्त किया है उन्हीं कर्मजेता प्रभुका आदर्श मुझे भी दुखों और संकटोंसे पार करे। क्रमपूर्वक सारे संसारको अपने चक्करमें डालकर नष्ट करनेवाले जन्म महाव्याधिसे प्रारब्ध जीवनव्यापी रोग, बुढ़ापा और मृत्युको सांसारिक विषयोंकी प्यासको सुखाकर जिन्होंने अनन्तकालके लिए उखाड़कर फेंक दिया है, उन्हीं संसारजेता प्रभुकी भक्तिके प्रसादसे मैं भी घड़ियालके मुखसे मुक्ति पाऊं। विशेष तर्क प्रणालीके द्वारा जिन्होंने मिथ्या न्याय शैलीका दिवाला खोल दिया है, लोकोत्तर एक हजार

जिनभक्ति ही शरण

१० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८

आठ लक्षणोंके स्वामी हैं, क्षुधा, तृषा, आदि बाईस परीषहोंको जीत लिया है तथा जो किसी भी प्रकारके क्लेशोंके आक्रमणको व्यर्थ कर देते हैं उन्हीं दोषजेता वीतराग प्रभुका स्मरण आज नक्रके मुखसे मेरी मुक्तिका कारण हो।

१९ अत्यन्त सरल और शुद्ध अन्त:करणसे जिनेन्द्र देवकी उक्त स्तुतिमें लीन, पूर्णरूपसे जिनदेव प्रणीत धर्ममार्गमें स्थित तथा निष्काम स्तुतिके प्रभावसे तत्क्षण बढ़े हुए पुण्यके स्वामी युवक राजपुत्रपर उसी समय अकस्मात् ही किसी यक्षिणीकी दृष्टि जा पड़ी।

२० शुभभावका फल कठोरतम विपत्तिमें पड़े हुए तथा सब प्रकारसे विवश होकर भी अपने प्राणोंको धारण किये हुए राजपुत्रको देखते ही उसकी स्त्री हृदय-सुलभ करुणा उमड़ आयी फलतः दर्शनीय रूपराशिकी स्वामिनी उस यक्षिणीने अपने आपको प्रकट किये बिना ही

२१ राजपुत्रको धीरेसे ग्राहके मुखसे छुड़ा दिया था। नक्रके मुखसे छुटकारा पाते ही वह सीधा तालाबके बाहर आया और उसी क्षण सब दिशाओंमें दृष्टि दौड़ायी। किन्तु उसके आश्चर्यका तब ठिकाना न रहा था जब उसने अपने आसपास किसी भी ऐसी वस्तुको न पाया जो उसका विमोचक हो सकती थी। अन्तमें उसने समझा था कि 'जिनेन्द्रदेवकी भक्तिके प्रसादसे

२२ ही वह बच गया है'। नरक, तिर्यञ्च तथा देवयोनिमें अनेक जन्म धारण करनेके पश्चात् इस मनुष्य जन्मको पाकर तथा इसमें भी शुद्ध मातृ-पितृ कुल जाति, स्वास्थ्य, आदि श्रेष्ठ गुणोंको प्राप्त करके भी मोहनीय कर्मसे पूर्ण प्रेरणा तथा शक्ति पानेवाले आठों कर्मोंके द्वारा मैं बुरी तरह ठगा गया हूं यह स्मरण होते ही उसने निर्णय किया था कि 'इसी समयसे मैं अपने

२३ मन, वचन और काय तीनोंको अत्यन्त शुद्ध रखूंगा'। आठों दोषों रहित परिपूर्ण सम्यक्दर्शन, यथार्थदर्शी सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र लोकत्रयमें सुविख्यात ये तीनों रत्न भव भवमें जिनेन्द्रदेवकी भक्तिके प्रसादसे मुझे प्राप्त हों और मेरी संसार यात्रा तथा मुक्ति प्राप्तिमें सहायक

२४ हों। जब युवक राजा अपने आपको सम्बोधन करके उक्त वाक्य कह रहा था, तो उसका उद्धार करनेवाली देवी यह सब सुनकर मानों प्रसन्न ही हो गयी थी। अतएव अपने विक्रिया ऋद्धिजन्य सूक्ष्मरूपको त्यागकर युवराजकी परीक्षा लेनेके लिए ही अपने स्वाभाविक सुन्दर

२५ रूपमें उसके सामने आ खड़ी हुई थी। उसकी शंख समान सुन्दर ग्रीवामें लम्बाहार लहरा रहा था, कानोंमें सोनेके सुन्दर कुण्डल चमक रहे थे, विकसित पुष्पोंकी माला तथा फूलोंके गुच्छोंके ही कर्णभूषणोंकी शोभा भी विचित्र थी तथा वह अपने हाथमें माधवी लताकी मंजरी लिये थी। इस स्वाभाविक अल्प शृंगारसे उस उत्तम नारीका सौन्दर्य चमक उठा था, इसपर भी उसने वरांगसे स्मितपूर्वक वार्तालाप प्रारम्भ किया था।

२६ "हे आर्य ? मैं जानना चाहती हूं कि आप किस स्थानसे आये हैं ? यहां निवास करनेमें आपका कौनसा प्रयोजन है ? अथवा इस बीहड़ वन प्रदेशसे आप कहां जायंगे ! यदि आपके प्रारम्भ किये गये प्रकृत कार्यमें उक्त प्रश्नोंके उत्तर देनेसे कोई बाधा न आती हो तो

२७ स्पष्ट करके उत्तर दीजिये। जिसके निर्दोष एवं पूर्णरूपके साथ संसारका अन्य कोई सौन्दर्य समता न कर सकता था उस रूपवतीको देखते ही युवक राजा गम्भीर विचारधारामें बह गया था। उसने सोचा था 'क्या यह रूपराशि किसी देवकी प्राणप्रिया नहीं है ? मनुषी हो है ? अथवा किसी दारुण राक्षसीने वञ्चना करनेके लिए यह मानुषीका सुन्दर रूप धारण किया

२८ है ? सिंहादि हिंस्र पशुओंसे परिपूर्ण इस निर्जन गहन वनमें निर्भय और निशंक होकर

विचरती ही नहीं है अपितु अपनी भृकुटियोंके विलास, मुखचन्द्रकी रूपचन्द्रिकाको बिखेरती फिरती है। 'यहांपर दूर दूर तक कोई आश्रय स्थान भी नहीं है तो भी कहींसे टपककर मुझसे प्रश्न करती है, यह कौन है तथा किसकी पुत्री वा पत्नी है?' उसने उस समय अपने मनके सच्चे भावोंको छिपा लिया था, उसके मनमें कुछ था और बोलती कुछ और ही थी, उसकी एक, एक बात शंकाओंको उत्पन्न करती थी। इन परिस्थितियोंमें उसने कहा था। २९

यक्षिणीकी जिज्ञासा

'हे आर्ये मैं एक विशाल राज्यके अधिपतिकी औरस सन्तान हूं, मेरा पूर्वपुण्य समाप्त हो गया है अतएव सब कुछ भूलकर और खोकर इस निर्जन वनमें अकेली रहती हूं। पूर्व जन्ममें कोई पुण्य किया होगा उसीके प्रतापसे इस अटवीमें भटकते हुए यहांपर इस समय आपके दर्शन पा सकी हूं। क्या कहूं, आपको देखते ही मेरा मन वा शरीर आपके वशमें हो गया है। मैं सब प्रकारसे दुखी हूं, संसारमें मेरे लिए अन्य कोई आशा अथवा सहारा नहीं है अतएव मुझे स्वीकार करिये। मैंने इतने दारुण दुख सहे हैं कि एक प्रकारसे मेरी चेतना ही नष्ट हो गयी है, अब मेरा कोई ठिकाना नहीं है, मैं अपनी विपत्तियोंका स्वयं कोई प्रतीकार नहीं कर सकती हूं अतएव तुम ही मेरे भरण पोषण कर्ता हो, तुम्हारे सिवा मुझे और कोई शरण नहीं है, मेरा उद्धार तुम्हीं कर सकते हो, बोलो, क्या कारण है, अरे, उत्तर भी नहीं देते हो।' देखनेसे ऐसा प्रतीत होता था कि वह विविध ज्ञान और सकल कलाओंमें पारंगत है। साथ ही साथ वह इतनी ढीट थी कि वह उत्तर न पाकर वरांगको बारबार हिलाती थी। उसके लगातार स्पर्शके कारण और अपने बालों तथा पूर्ण शरीरकी रूक्षता, कपड़ोंकी दुर्दशाको देखकर वह लज्जासे गड़ गया था। तो भी लजाते लजाते कुछ बोला था। ३० ३१ ३२

प्रणय-प्रस्ताव

'आपके प्रिय वचन निश्चयसे मेरे लिए सुभाषित हैं अतएव ग्राह्य हो सकते हैं, किन्तु आप यह भी तो जानती हैं कि प्रियवाक्यके समान ही सत्यवाक्य भी शोभा पाता है। आप देखती हैं कि वर्तमानमें यहां मेरे निर्वाहका भी कोई मार्ग नहीं है अतएव हे आर्ये? मैं आपका सहारा कैसे हो सकता हूं, आपही बतावें! जो व्यक्ति स्वयं जागता है वही दूसरोंको जगा सकता है, जो स्वयं स्थिर है वह दूसरोंकी डगमग अवस्थाका अन्त कर सकता है। जो न तो स्वयं जागता है और जिसकी निजी स्थिति अत्यन्त डवांडोल है वह कैसे दूसरोंकी नींद तोड़ सकता है अथवा उनको स्थिर कर सकता है। ३३ ३४

स्वदारसंतोषी वराग

युवक राजा वरांगसे इस प्रकारके उत्तरको सुनकर वह फिर बोली थी,—'हे आर्य? आपको इस प्रकारका उत्तर देना शोभा नहीं देता। ऐसी बातें तो वे करते हैं जो कापुरुष है अथवा जिनकी समस्त अभिलाषाएं व प्रेमपिपासा शान्त हो गयी हैं। मैं तुम्हारी शरणमें आयी हूं और तुमपर अटूट भक्ति करती हूं इसलिये मुझे स्वीकार करो।' ३५

कटु-कोमल परीक्षा

कुमार वरांगका यौवन चढ़ावपर था, सुन्दर-सुभग तो वह थे ही, इसके अतिरिक्त सामने खड़ी सुन्दरीके प्रिय वचन भी कामको जगानेवाले ही थे, तो भी उनको सुनते ही राजकुमारको अपनी पत्नीमें ही रतिको केन्द्रित करनेवाला स्वदारसंतोष व्रत याद आ गया था। फलतः कुछ समय तक विचार करनेके बाद युवक राजाने उससे यह वचन कहे थे। ३६

३७ 'हे आर्ये ? अबसे कुछ समय पहिले मुझे परमपूज्य, समस्त पदार्थोंके साक्षात्—द्रष्टा केवलीके चरणोंमें अत्यन्त भक्तिभावपूर्वक नमन करनेका अवसर प्राप्त हुआ था। उसी समय मैंने अनेक मुनिवरोंके सामने 'स्वदार संतोष' व्रतको ग्रहण किया था। यह व्रत मनुष्यके कामाचारको नियन्त्रित करके उसे समाधिकी ओर ले जाता है। 'मैं कामी नहीं हूं' ऐसी बात नहीं है, 'तब तुम कहोगी क्या पुंस्त्वसे रहित हू" ऐसा भी मत समझो, आपको अपने विषयमें शंका हो सकती है सो हे सुन्दरी ! आप कमनीय युवती नहीं हैं ऐसा तो सोचा ही नहीं जा सकता है। सत्य यह है कि मैं स्वदार-संतोष नामके व्रतसे भूषित हूं और आप जानती हैं कि किसी भी व्रतको लेकर उसे तोड़ डालना कितना नीच काम है।'

लैङ्गिक सदाचारका आधार पत्नी

३८

३९ यह सुनकर देवीको विश्वास हो गया था कि उसकी बुद्धि स्थिर है और ग्रहीत व्रतका पालन करनेमें वह अत्यन्त दृढ़ है, तब उसका हृदय प्रसन्नतासे परिपूर्ण हो गया था। इसके उपरान्त उसने अपने वास्तविक रूपमें आकाशमें खड़े होकर ये वाक्य कहे थे "आपकी परीक्षा लेनेके लिए मैंने जो कुछ किया है वह सब क्षमा करियेगा।" देवगतिको प्राप्त हम लोगोंकी स्थिति तीनों लोकमें अनुपम केवल सम्यक्दर्शनके ही कारण है, अहिंसा आदि व्रतों, सप्तशीलों तथा मूलगुणों आदिका पालन करना हमारे लिए संभव नहीं है। किन्तु आपका जीवन सम्यक्त्वके सर्वथा अनुकूल पांचों व्रतोंसे युक्त है इसलिए हे युवराज आप देवोंसे भी बढ़कर हैं। हे नरदेव ! जहांतक धर्मका सम्बन्ध है मैं आपकी बहिन लगती हूं, क्योंकि मुनियोंके अग्रणी परमपूज्य वरदत्त केवली हमारे भी गुरु हैं। आपका सब प्रकारसे अभ्युदय हो' इत्यादि वाक्योंके द्वारा युवराजकी भूरि भूरि प्रशंसा करके एक क्षणभरमें ही वह आकाशमें अन्तर्धान हो गयी थी।

४० यक्षीपर सुप्रभाव

४१

४२ इस प्रकार युवराज वरांग दो भयों तथा संकटों से मुक्ति पा सके थे इसके उपरान्त प्रश्न यह था 'इसके आगे क्या करना चाहिये ? यहीं पड़ा रहूं ? यहांसे चल दूं ? अथवा करूं तो क्या करूं ?' इत्यादि विचारोंमें जब वह गोते लगा रहा था तो उसे यही अधिक उपयुक्त और कल्याणकर जंचा था कि 'यहांसे चल देना चाहिये।' इसके उपरान्त युवराज वहांसे चुपचाप उठा और चल दिया था। हरे तथा सुन्दर महातरुओंसे शोभायमान वह उत्तम वन पर्वतोंसे झरते हुए शीतल जलकी धाराओंसे परिपूर्ण था। उसीमें चलते चलते, कुमारने एक सुन्दर पनस (कटहल) तरु देखा जो कि फलोंके भारसे पृथ्वीको चूम रहा था। युवराजने उसके फल तोड़कर उनके भीतरसे सोनेके समान कान्तिमान कोवे निकालकर पहिले तो इष्ट देवकी उनसे पूजा की थी और फिर शेषको खाकर अपनी भूखको शान्त किया था। इसके उपरान्त अपने जीवनके उद्देश्यको सफल करनेके लिए ही श्रेष्ठ हाथीके समान पराक्रमी युवराज उस वनसे चल दिया था। अथाह नदियों कमलोंसे ढके विशाल तालाबों, सघन जंगलोंसे व्याप्त नीचे ऊंचे अतएव न चढ़ने योग्य पर्वतोंको तथा कटे टूटे वृक्षोंके ठूंठोंसे परिपूर्ण भीषण जंगली प्रदेशोंमें जीवनके लिए प्रयत्न करता हुआ वह चला जा रहा था। तथा इस अवस्थामें उसका एकमात्र साथी केवल उसकी भुजाएं ही थीं।

४३ भविष्य-चिन्ता

४४

४५

४६ इस प्रकार विना किसी विशेष उद्देश्यके पर्वतों तथा गुफाओंमें टक्कर मारते हुए

युवराज वरांगको पुलिन्द जातिके वनवासियोंने देखा था। सब ही पुलिन्दोंके कपड़े चिथड़े, चिथड़े हो रहे थे, शरीरका अंग, अंग तथा केश भूरे (धूमिल) हो रहे थे, गालों परके बाल (रोम) इतने बढ़ गये थे कि उनके मुख अत्यन्त डरावने लगते थे, आगे के सफेद, सफेद दांत चमकते थे, बड़ी बड़ी आंखोंमें रुधिर चमकता था तथा चीटियोंकी पंक्तिके समान वे हजारोंके झुंडोंमें चले जा रहे थे। युवराजको देखते ही उन्होंने अपने अपने डंडे, तलवारें, धनुषवाणोंको हाथोंमें सम्हाल लिया था और अंट संट बककर युवराज धमकाते हुए उस पर चारों ओर से आ टूटे थे। अकस्मात् ही उन सबने चारों तरफसे घेरकर कहा था 'पकड़ लो, अरे दीन जीवनको व्यतीत करनेवाले ? यहांसे किधर भी मत हिल, कहां भागता है ? इसके उपरान्त उन निर्दयोंने पकड़कर हाथोंमें जोरसे पकड़े गये कुठारोंको घुमाते हुए उसको बांध दिया था। उसके गलेको एक लताकी रस्सीमें फंसा लिया था। वे निर्दय उद्दण्ड नीच दस्यु धनुषके नुकीले भागसे बार बार उसको कुरेदते थे, यद्यपि सुकुमार युवराज वरांग ऐसे थे कि उन्हें दण्ड देना सर्वथा अनुचित था। इस प्रकार कष्ट देते हुए वे उन्हें अपनी बस्तीमें ले गये थे। वहां पहुंचते ही वे उन्हें अपनी बस्तीके राजाको झोपड़ी पर ले गये थे। इस झोपड़के चारों ओर हाथियोंके दांतोंकी बाढ़ थी, हिरणों की हड्डियों, मांस और पूरीकी पूरी लाशोंसे वह पटा था, बैठनेके मण्डप में भी चर्बी, आतें, नसें, आदि सब तरफ फैले पड़े थे तथा उसमें ऐसी दुर्गन्ध आ रही थी जिसे क्षण भरके लिए दूरसे भी सूंघना असंभव था। दुराचारी, निर्दय भीलों से नाना प्रकारके कष्ट पाता हुआ, बन्धनमें पड़ा तथा शारीरिक वेदनाके कारण अत्यन्त व्याकुल युवराज घोर घृणाको उत्पन्न करनेवाले तथा आंखोंमें शूल समान चुभते हुए उस झोपड़ेमें पहिले किये गये अपने भोग-विलासमय जीवनको सोचता हुआ किसी प्रकार पड़ा रहता था, सोना असंभव था।

पुलिन्द आक्रमण

४७ ४८ ४९ ५० ५१

ऊपरसे हितैषी मंत्रीका रूप धारण करनेवाले नीच शत्रु मंत्री के द्वारा निकालने के बाद भेंट किये गये विपरीत गामी घोड़ेपर चढ़कर ही मैंने इन एकसे एक बुरी अवस्थाओंका अनुभव किया है। हे कृतान्त ! तुम्हीं बताओ अब मैं कहां जाऊं ? फलको बिना जाने ही पापमय प्रवृत्तियोंमें लिप्त मेरे द्वारा पूर्व जन्ममें कौनसे अशुभ कर्म किये गये होंगे जिनका परिपाक होनेपर ये अत्यन्त कडुवे फल प्राप्त हो रहे हैं। इसीलिए मुझ पापी को आज भी संकटरूपी घातक तथा उन्नत लहरोंसे व्याप्त इस दुखरूपी समुद्रसे छुटकारा नहीं मिल रहा है। मेरा हृदय माता-पिता, कलत्र आदिके वियोगजन्य दुखसे यों ही अत्यधिक खिन्न था, उसपर भी सिंहका भय आ पड़ा था, किन्तु उससे भी छुटकारा मिला था, तालाबमें नक्रके मुखमें पड़कर भी बच गया था फिर उसके भी बाद यह महाविपत्ति कहांसे आ टूटी ? कुत्सित तथा पापमय कर्मोंका आचरण कितना भयंकर और दुःखद है ! कुकर्मोंका अन्त सर्वदा बुरा ही होता है। भगीरथ प्रयत्न करके भी उसे टाला नहीं जा सकता है क्योंकि उसकी शक्ति ऐसी है जिसका कोई प्रतिरोध नहीं कर सकता है। ऐसी भी संभावना नहीं की जा सकती है कि पापकर्मोंकी फल देनेकी शक्ति बन्ध्या हो जायगी। तथा इनका फल भी क्या होता है ? अत्यन्त असह्य।' मन ही मन इस प्रकारसे सोचकर वह चुप हो गया था।

मंत्रीपर क्रोध तथा आर्तध्यान

५२ ५३ ५४ ५५

जिस भागमें वह बन्दी था वह घर केवल अन्धेरेसे ही बना-सा प्रतीत होता था, ५६

उसके प्रत्येक कोनेमें चमड़ा भरा था जिससे तीव्र सडांद आ रही थी, नाना प्रकारके मच्छर, चींटी आदि कृमियोंका वह अक्षय भंडार था; यह सब लगातार काटते थे, झाडू देना, लीपना, पोतना आदि संस्कार तो उस घरके कभी हुए ही नहीं थे, उसका धरातल सीलके कारणसे चिपचिपाता था तथा वायु भी वहां ठंडी ही

भीषण कारागार

५७ मालूम होती थी, इसके अतिरिक्त भूखसे देह टूट रही थी, अपमानकी ज्वाला शरीरको जला रही थी, रस्सियोंके बंधन अंग अंगमें चुभ रहे थे, स्थानकी गंध और रक्तादिकी धारा विकट वेदनाको उत्पन्न करते थे, आंखोंके सामने जो कुछ भी आता था वह सब ही अप्रिय था तथा ऊपरसे दुख और चिन्ता भी अपरिमित थीं। इन सब कारणोंसे बिचारे सर्वथा पराधीन युवराजको एक रात बितानेमें ही ऐसा कष्ट हुआ मानों हजारों रातें बीत गयी हैं।

५८ किसी प्रकार सुबह होते ही पुलिन्दोंके अधिपतिके सेवक, जिनके अन्तःकरण इतने मलीन थे कि उनसे दया आदिकी संभावना करना ही अशक्य था—उस राजा वरांगको जबरदस्ती पकड़कर बनदेवीके मन्दिरको वैसे ही घसीट ले गये थे, जैसे यज्ञमें नियुक्त ब्राह्मण यज्ञके बकरेको बलि करनेके लिए ले जा रहे हों।

नरबलि सज्जा

५९ इसी बीचमें पुलिन्दपतिके अनुपम तथा अमित पराक्रमी पुत्रको, जो कि आखेट करनेको इच्छासे जंगलमें जा रहा था—अत्यन्त कुपित महाविषैले सांपने काट लिया था, क्योंकि

६० उसके पैरसे वह सांप कुचल गया था। काटनेके बाद विष इतने वेगसे पूरे शरीरमें फैला कि वह भीमकाय पुलिन्द क्षणभरमें ही मूर्च्छित होकर धड़ामसे पृथ्वीपर गिर पड़ा था। चारों तरफ घेरकर खड़े सगे सम्बन्धियोंने देखा कि उसकी चेतना नष्ट हो रही है और वह मूर्च्छित

६१ हो रहा है तो वे सबके सब बड़ी तेजीसे उसे पिताके पास उठा ले गये थे। जंगलके राजाने जब अपने पुत्रको पूर्ण रूपसे अचेतन देखा तो विषका प्रतीकार खोजता हुआ वह बनदेवीके मन्दिरमें जा पहुंचा उसमें घुसते ही पुलिन्दपतिकी दृष्टि महाराज वरांग पर पड़ी जो अपने बन्धनोंमें जकड़े विवश पड़े थे। दुखसे व्याकुल भीलनाथने उनसे पूछा था—"क्या तुम

६२ विषका उपचार करना जानते हो?" पुलिन्दोंके प्रभुसे उक्त प्रश्न पूछे जानेपर कुमार वरांगने उत्तर दिया था—"मैं निश्चयसे किसी भी आदमीका पूरा विष दूर कर सकता हूं।" यह सुनते ही वह बनराज अत्यन्त प्रसन्न हुआ था, उसने तुरन्त ही उनके बन्धन तुड़वा दिये थे और प्रार्थना की थी कि 'आप इस समय मुझपर अनुग्रह करें।'

६३ पुलिन्दपतिके लड़केके पास पहुंचकर राजाने (वरांगने) (विषजन्य अचेतना आदि समस्त रोगोंका शान्त करनेमें समर्थ) परम ऋषियों, श्रेष्ठ योगियों तथा सफल साधुओंके द्वारा विधिवत् जगाये गये मंत्रोंका पाठ करनेके साथ, साथ श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके स्तवनोंका उच्चारण करते हुए विषवेगसे मूर्च्छित युवक

'विषापहार मणि'

६४ पुलिन्दपर छींटे देना प्रारम्भ किया था। कलशके मुखसे बहते हुए मंत्रपूत जलके छींटे ज्यों ज्यों मूर्च्छित भील पर दिये जाते थे, त्यों त्यों उसका विष उतरता जाता था और उसके शरीरका उतना भाग विषके विकारसे मुक्त होता जाता था। इस प्रकार थोड़ी ही देरमें वह प्राकृतिक

६५ अवस्थामें आ गया था और तन मनसे प्रसन्न हो गया था। यह देखकर पुलिन्दनाथ 'कुसुम' आदि प्रधान भील बड़े आश्चर्यमें पड़ गये थे। हाथकी अंगुलियोंका मोड़ना और आंखोंका चंचलतापूर्वक घुमाना ही यह सूचित करता था कि उनके आश्चर्यका

ठिकाना नहीं था। अन्तमें उन्होंने बड़े आग्रहपूर्वक यही प्रार्थना की थी "हे नाथ! गुणोंको पहिचाननेमें असमर्थ हम जड़बुद्धियोंने आपके साथ महान अपराध किये हैं, हमारी मूर्खताका ख्याल न करके उन्हें क्षमा कर दीजिये।" जब कुमारने उन्हें सरलतासे यों ही क्षमा कर दिया तो वे इतने प्रसन्न हुये थे कि उन्होंने तुरन्त कटक (पैरोंका भूषण) आदि उत्तम आभूषणों तथा नाना प्रकारके अद्भुत वस्त्रोंको लाकर युवराजकी भेंट किया था। 'यह बढ़िया अन्न-पान आपके योग्य है इसे स्वीकार करिये आप अपनी थकान और घावोंके ठीक हो जानेपर ही यहांसे जा सकेंगे।' ६६

इस प्रकारके वाक्योंसे कृतज्ञता प्रकट करनेवाले भिल्लराजसे युवराजने केवल इतना ही कहा था—'मुझे भात दाल आदिकी आवश्यकता नहीं है, सुगन्धिमाला, सुन्दर सुगन्धित वस्त्रों तथा कटक आदि आभूषणोंसे भी मुझे कोई सरोकार नहीं है, आप किसी देशको जाने-वाले उत्तममार्गको मुझे दिखा दीजिये और बिदा दीजिये ताकि मैं जल्दी ही किसी विघ्न बाधाके बिना वहां पहुंच सकूं।' यह सुनते ही पुलिन्दपति कुसुम्भने तुरन्त आज्ञा दी थी। जिसके अनुसार कितने ही भील नरेश्वर वरांगको काफी दूर-तक अपने साथ ले गये थे। वहांपर कई देशोंको जानेवाले उत्तम मार्ग दिखाकर वनखण्ड निवासी वे उक्त भील लोग लौट गये थे। ६७ ६८

आगेके मार्गकी शोध

मार्ग दिखानेके लिए साथ आये भीलोंके लौट जानेपर नराधिप वरांगने बार, बार गम्भीरतापूर्वक भलीभांति यही सोचा था कि उसके उस समय उदयको प्राप्त कर्मोंके अनुरूप कौनसा कर्त्तव्य कल्याणकर हो सकता था। विशेषकर अपने देशको लौट जाना कैसा होगा, अथवा दूसरे दूसरे देशोंमें पर्यटन करना ही उपयुक्त होगा। ऐसी परिस्थितियोंमें जो उपाय कुशल क्षेमका बढ़ानेवाला हो उसका सोचना ही न्याय है, किन्तु यदि उद्देशकी सफलतामें साधक गति असंभव ही हो तब तो अपने हित और उत्कर्षको चाहनेवाले व्यक्तिको वही मार्ग पकड़ना चाहिये जिसपर चलकर, फिर दूसरोंके द्वारा तिरस्कृत होनेकी आशंका न हो। ६९ ७०

भावी कर्त्तव्य-द्विविधा

पुरुषार्थी श्रेष्ठ पुरुष लोकोत्तर महान् पदोंको पाकर भी अपने परम प्रियजनों तथा बन्धुबान्धवोंके दर्शन करनेकी अभिलाषा (नहीं) करते हैं। किन्तु अपनी स्त्री-बच्चोंसे बिछुड़-कर तथा सम्पत्ति, वैभव, सन्मान आदिको खोकर भी जो व्यक्ति अपने मित्रों अथवा कुटुम्बियोंके साथ रहना चाहता है वह अत्यन्त कृपण और नर है। 'मेरे पूर्वकृत कुकर्मोंके विपाकने राज्य सिंहासनपरसे खींचकर एक क्षण भरमें ही जिस प्रकार मुझे अमित वैभव और प्रभुतासे वंचित कर दिया है, यदि मेरा पुण्य शेष है तो वह ही समय आनेपर मुझे उसी प्रकार राज्यसिंहासनपर स्थापित करे। इस प्रकारकी दयनीय दुरवस्थामें पड़ा हुआ मैं यदि सहायता या उद्धारकी आशा लेकर अपने कुटुम्बियों और मित्रोंके पास जाऊंगा तो मेरे बन्धु बान्धव, मित्र तथा प्रिय लोग मेरी हीन अवस्थाको देखकर खेद खिन्न होंगे और इससे भी बुरा तो यह होगा कि शत्रुओंको मेरा उपहास करनेका अवसर मिलेगा। यदि मैं विदेश चला जाता हूं तो अपनोंके दुख तथा शत्रुओंके उपहास इन दोनोंका कारण न होऊंगा' यह सोचकर उसने दूसरे देशोंमें भ्रमण करनेका निर्णय किया था। विविध विपत्तियां झेलनेपर भी उसके आत्मबलकी सीमा न थी ७१ ७२ ७३ ७४

'न बन्धुमध्ये श्रीहीन जीवितं'

इसलिए उक्त निर्णय करनेके उपरान्त ही वह युवराज अपने इष्टकी सिद्धिके लिए एक विस्तृत लम्बे रास्ते पर चल दिये थे।

७५ कंकरीले, पथरीले कठोर स्थलों, जलहीन किन्तु समुद्रतलसे भी नीचे प्रदेशों, पर्वतों, भयंकर गुफा मार्गों, जंगलों, अत्यन्त घने दुर्गम वनों तथा कन्दराओंको पार करता हुआ वह बढ़ता जाता था। ज्यों ही सूर्य अस्ताचल पर पहुंचते थे वह किसी वृक्ष पर चढ़ जाता था और कार्य तथा घटनाओंकी शृंखलाको

वरं वनं व्याघ्र गजेन्द्र सेवितं

७६ सोचता हुआ रात काट देता था। सूर्योदय होते ही वह वृक्षसे नीचे उतरकर चल देता था। एक दिन इसी प्रकार मार्गपर चलते हुए उसे व्यापारियोंके सार्थ (काफिले) ने देखा था, देखते ही वे निर्दय उसके चारों ओर जा पहुंचे और बाधा देकर उसको रोक लिया था। यद्यपि इस संसारमें युवराजका कोई चारा (गति) न था तो भी उन सबने डांट डपटकर उससे उसका गम्य स्थान आदि पूछा था।

७७ "कहां जाते हो! क्या जांच पड़ताल करते फिरते हो? इस अन्वेषण का क्या प्रयोजन है? तुम्हारे अधिपतिका नाम क्या है? वह इस समयपर कहां है? उसका नाम क्या? उसके सैन्य-बलका प्रमाण कितना है? यहांसे कितने योजनकी दूरी पर ठहरा है? इत्यादि सब बातोंको तुरन्त बताओ।' कहकर उन लोगोंने युवक राजाको

सशंक प्रश्न

७८ बन्धनमें डाल दिया था। 'हे गुप्तचर! यदि तुम हमारे सार्थकी सम्पत्ति आदिका पता लगाने ही आये हो तो आओ (व्यंगपूर्वक कह रहे हैं) चारों तरफ घूमकर भली भांति सब बातों का अनुमान कर लो। फिर यहांसे जाकर अपने अधिपतिसे कह देना कि यह सार्थ मूंगा, मोती, मणि, चांदी, सोना आदि बहुमूल्य संपत्तियोंसे परिपूर्ण है।'

७९ इस सबके उत्तरमें युवराजने कहा था—'न तो मैं किसीका गुप्तचर हूं, न मैं धन सम्पत्तिकी खोजमें घूम रहा हूं, न मेरे मनमें ही किसी प्रकारका पाप है, न चोरी मेरी अजीविकाका साधन है और न मैं किसीके द्वारा भेजा गया किंकर ही हूं। आप इतना विश्वास करें कि भाग्यका मारा मैं केवल निरुद्देश्य भ्रमण ही कर रहा हूं।'

सार्थका समाधान

८० इस उत्तरसे उन्हें संतोष न हुआ था अतएव उन्होंने कहा था—'हम लोग कुछ नहीं जानते, दोषों और गुणों का विवेक करनेमें हमारे प्रधान सार्थवाह अत्यन्त कुशल हैं, अतएव आपके विषयमें वे ही निर्णय कर सकेंगे। क्योंकि ऐसे विषयोंमें क्या कर्त्तव्य युक्तिसंगत होगा यह वही समझते हैं।' यह कहकर वे युवराजको सार्थ-

सार्थपतिके सामने

८१ वाहके सामने ले गये थे। परिपूर्ण यौवन, सुन्दर तथा बन्धनों से जकड़े हुए राजकुमारके शुभ लक्षणोंसे व्याप्त शरीरको देखकर ही सार्थवाहको उसकी कुलीनताका विश्वास हो गया था अतएव उसने आज्ञा दी थी कि 'इसे तुरन्त ही बन्धनोंसे मुक्त करो, यह सैकड़ो सार्थोंका स्वामी है,

८२ चोर नहीं हो सकता है। यह किसी प्रबल प्रतापी राजाका पुत्र है, अथवा स्वयं ही यह कोई बड़ा राजा है, इसका शरीर और मुख आदिकी आकृति मनमोहक हैं, यह विचारा इस प्रकारकी

८३ आपत्तिमें कैसे आ फंसा है!' निम्न प्रश्नोंको सार्थपतिने स्पष्ट रूपसे पूछा था। "आप किधरसे आ रहे हैं? यहांसे कहां जाते हैं? आपके पिता, माता तथा मित्र बान्धव कहां पर निवास करते हैं? आपकी शिक्षा क्या है। आपका गोत्र क्या है? तथा आप किस आचरणको पालते हैं। हे वत्स यदि इनका उत्तर देनेसे इष्टकार्यमें बाधा न पड़ती हो तो मेरी जिज्ञासाको पूर्ण करो।'

गम्भीर राजकुमार

राजकुमार स्वभावसे बुद्धिमान और लोकाचारमें कुशल थे अतएव उन्होंने अपने पर बीते कर्मों तथा कर्त्तव्यों का आगा पीछा सोचकर इन सब प्रश्नोंके उत्तरमें यही कहा था "मेरी वर्तमान अवस्था ही सब स्पष्ट बतला रही है तब बताने का और क्या प्रयत्न किया जाय। इन सब बातोंसे क्या प्रयोजन ? कृपा करके मुझे छोड़ दीजिये।" ८४

राजकुमारके अत्यन्त सज्जनता और साधुतासे युक्त वचनोंको सुनकर सार्थपतिने अपने सब साथियोंकी गोष्ठीमें प्रसन्नता और उत्साहके साथ घोषित किया था 'अरे! इसकी परमोत्कृष्ट कुलीनताको आप लोग देखें हमारे विभिन्न व्यवहारोंसे न तो इसे आश्चर्य ही होता है और न हम लोगोंके अपमानोंके कारण यह कुपित ही हैं।' इस प्रकार से उसके क्षमा आदि गुणों, रूप, आदिकी हृदयसे श्लाघा करते हुए उसकी दृष्टि राजकुमारके दुर्बल तथा कृष कपोलों और नेत्रों पर रुक गयी थी। यह देखकर उसने आदर और स्नेह से युवराजका दांया हाथ अपने हाथमें ले लिया था और आग्रहपूर्वक उसे अपने तम्बूमें ले गया था। मार्गमें वह युवराजके हितकी प्यारी प्यारी बातें करता गया था। तम्बूमें पहुंचते ही उस सम्पत्तिशाली सार्थवाहने स्वयं पैर धोनेके लिए पानी मंगवाया था। इसके उपरान्त यात्रामें उपयुक्त वेतोंसे बने उत्तम आसन पर बैठाकर अपने सामने ही उसने शरीर मर्दन, लेपन, अभ्यङ्ग, आदि करवाया था। वणिकोंकी श्रेणीके अधिपतिके हृदयमें स्नेहमिश्रित दया कुमारके प्रति उभर आयी थी। इसकी प्रेरणा इतनी प्रबल थी कि उसने अपने सेवकोंको आज्ञा दी थी कि 'वे युवराजको सुकुमारता पूर्वक बहुत शीघ्र स्नान करावें।' इसके अतिरिक्त वह युवराजके लिए बढ़ियासे बढ़िया भोजन उनकी इच्छाके अनुकूल बनवाता था। तथा प्रारम्भके चार छह दिन पर्यन्त तो युवराजको सेठजीके साथ ही भोजन करना पड़ता था ताकि वह संकोच न कर सके। यात्राकी सुविधाओंके अनुसार वह अपनी पूर्णशक्ति भर कुमारको चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थ, उत्तम माला आदि वर प्रसंग, बढ़ियासे बढ़िया उत्तरीय तथा अधरीय वस्त्रोंको जोड़ी देता था, तो भी कहता था 'असुविधाके लिए क्षमा करें'। यह सब देखकर युवराज कुमार ने कहा था कि 'कुछ समय तकमें आप लोगोंके साथ ही चलता हूं' इसपर सेठने कहा था 'आपकी कृपा, ऐसा ही हो'। ८५ ८६ ८७ ८८ ८९

कुलीनताका भक्त सेठ सागरवृद्धि

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांग चरित नामक
धर्मकथामें सागरवृद्धि-दर्शन नाम त्रयोदश सर्ग समाप्त

चतुर्दश सर्ग

१ 'दुर्गम तथा भीषण जंगली मार्गोंपर एकाकी भटकते हुए मैंने कैसे कैसे हृदय विदारक अत्यन्त असह्य सैकड़ों दुखोंको सहा है' इसको उतने दिनोंके अनुभवका निष्कर्ष मानकर ही युवराजने अपने निरुद्देश्य भटकने को समाप्त कर दिया था और सार्थपतिके साथ ही चलने लगा था। सार्थपतिके द्वारा सादर समर्पित सुन्दर वस्त्रों वेशभूषाओंको ग्रहण करके, सुगन्धित मालाओं, अद्भुत वस्त्रयुगलों, आभूषणों आदिसे अपने आपको आभूषित करके अपने यथार्थ कुलीन आकारको प्रकट करके यथेच्छ भोगों, उपभोगोंका रस लेता हुआ वह सबका प्रिय हो गया था। उन लोगोंकी गोष्ठीमें उत्तम कथाएं कहता हुआ बैठता था। धनप्राप्ति करनेके परम इच्छुक जो नट, (स्वांग रचनेवाले) जो नर्तक, आदि अत्यन्त सम्पत्ति और समृद्धियुक्त उस सार्थके साथ चल रहे थे, उन लोगोंने भी इसे रसज्ञ समझकर अपने शरीर, वचनों तथा विशेष अंगोंकी परिष्कृत कुशलताका विधि पूर्वक इसके सामने प्रदर्शन करना आरम्भ कर दिया था। संगीत विशारद लोग मनको मोहित करनेवाले मधुर गीत गाते थे, नृत्य-कलामें निपुण दूसरे लोग विधिपूर्वक विविध नृत्य करते थे तथा अन्य लोग अपनी उत्तम शिक्षाके अनुकूल वीणा, मुरज, मृदंग, आदि बाजोंको सुचारु रूपसे बजाते थे। कथाओंके बीच-बीचमें भांड लोग संसारमें अत्यन्त प्रचलित बातोंका ही बड़ी विचित्र विधिसे स्वांग (नकल) करते थे। यह स्वांग तीव्र हंसी, नाना प्रकारकी वार्ताओं तथा हाव भावोंसे युक्त रहते थे, हास्य आदि नवरसोंमेंसे सने रहते थे तथा उनकी कल्पना व शृंगार भी शिष्ट होता था।

"बुधैरण्यपथेन-गम्यते"

२ ३ ४ ५

६ जिस समय इधर राव रंग हो रहा था उसी समय सार्थकी रक्षाके लिए सब दिशाओंमें नियुक्त रक्षकोंने शीघ्रतासे वणिकोंकी गोष्ठीमें आकर उनके प्रधान सागरवृद्धिसे निम्न संदेश कहा था। ये अंगरक्षक अपनी अपनी दिशाका तत्परतासे निरीक्षण कर रहे थे तथा भीलोंको देखकर डर गये थे। हे स्वामी अत्यन्त शक्तिशाली, निकृष्टतम निर्दय, संभवतः न रोके जाने योग्य, काल तथा महाकाल नामोंसे प्रसिद्ध पुलिन्दोंके नायक भीलोंकी तीन चार हजार प्रमाण सेनाके साथ हमारे ऊपर टूटे आ रहे हैं। ऐसी अवस्थामें जो कुछ हितकारी हो उसे करनेकी आज्ञा दीजिये।

रंगमें भंग

७

८ दिशाओंमें नियुक्त रक्षकोंके उक्त संदेशको सुनकर सार्थपति सागरवृद्धिने अपने विश्वस्त पुरुषों तथा स्वामिभक्त सेवकोंको बुलाया था। उत्साहवर्द्धक प्रशंसामय वाक्यों, भविष्यमें उन्नतिकी आशा, आदर आदि से उनका सत्कार करके उन्हें आज्ञा दी थी कि 'वे सब युद्धके लिए अति शीघ्र तयार हो जांय।' अपनी सेनाके भटोंको युद्धके लिए सजता देखकर तथा आक्रमण करनेवाली भीलोंकी दोनों सेनाओंके रण-वाद्योंक ध्वनिको सुनकर युवराज वरांगने सेठके पास पहुंचकर कहा था—'हे सार्थवाह ढालके साथ एक उत्तम खड्गको मुझे भी दिलानेकी कृपा कीजिये।'

रण आदेश

९

१० 'हे भद्रमुख सबसे पहिली बात तो यह है कि तुम सुकुमार युवक हो, दूसरे कष्टोंके

कारण अत्यन्त दुर्बल और कृश हो गये हो, तीसरे तुम; संभवत: नही समझते हो कि युद्धमें सामने जाना कितना कष्टकर और कठोर है। हे वत्स, हथियारका क्या करोगे, मेरे ही साथ तुम रहो।' इस प्रकार सार्थपतिने समझानेका प्रयत्न किया था।

सेठका स्नेह

११ सार्थपति और पुलिन्दपति दोनोंकी (ध्वजिनी) सेनाएं ऐसे तीक्ष्ण और घातक शस्त्रोंसे सज्जित थीं जैसा कि चंचला विज़लीका शरीर होता है। ज्यों ही वे एक दूसरेके सामने आयीं त्यों ही दोनों तरफसें सींगोंके बाजे, नगाड़े, पटह और शंख भीषण रूपसे बजने लगे थे। वे साधारण लोगोंको व्याकुल और भीत करनेके लिए काफी थे। १२ काल और महाकाल दोनों व्याधपति स्वयं भी अत्यन्त बलशाली और उग्र थे तथा उनके साथ [दो छह अर्थात्] बारह हज़ार निर्दय सेना थी अतएव बाणोंको अत्यन्त वेगसे मूसलाधार वर्षाते हुए वे दोनों जंगली हाथियोंके समान संहार करते हुए सार्थपतिकी सेनापर टूट पड़े थे। १३ जलती हुई दावाग्निके समान सर्वनाशक भीलोंकी उस सेनाको अपने सामने प्रहार करता देखकर ही सार्थपतिकी सेनाके सफल धनुपधारियोंने अत्यन्त तीक्ष्ण तथा विचित्र बाणोंके द्वारा भीलोंकी सेनाको भेद दिया था। क्योंकि इनके बाण अपने लक्ष्यसे थोड़ा भी इधर-उधर न होते थे। १४ इतनी देरमें दोनों सेनाओंके वीर योद्धाओंका क्रोध बहुत बढ़ चुका था फलत: वे अत्यन्त रुद्र और उद्दण्ड हो उठे थे, प्रत्येक अपने स्वाभिमान और अहंकारमें चूर था, दोनोंको सफलतासे प्राप्त होनेवाली सम्पत्तिका लोभ था, अतएव स्वार्थोंका संघर्ष होनेके कारण एक दूसरेके प्राणोंके ग्राहक बन बैठे थे, सब युद्धके लिए पूरे रूपसे सजे थे तथा हाथोंमें दृढ़तासे शस्त्र लिये थे, आपतत: एक दूसरे पर घातक प्रहार कर रहे थे।

संघर्ष समारम्भ

१५ डण्डोंके प्रचण्ड प्रहारसे, क्षपणोंके तीव्र आक्षेप द्वारा, भिन्दपालोंकी मारसे, मूसलोंकी चोटोंसे, त्रिशूलोंको भेदकर कुन्तों और टंकोकी वर्षासे, भारी गदाओंकी मारसे, तोमर (शापल) १६ शक्ति (सांग), खड्ग, कृपाण और मुद्गरोंके अनवरत प्रहारोंसे, कोई किसीका मुख चीर देते थे, शरीरको फोड़ देते थे, आंखें नोच लेते थे, भुजाएँ काट देते थे तथा बलपूर्वक एक दूसरेका शिर काटकर पृथ्वीपर गिरा देते थे। १७ सार्थपति तथा पुलिन्दपतिकी सेनाके भट क्रोध और वैरसे पागल होकर तीक्ष्णसे तीक्ष्ण तलवारों और उससे भीषण भालोंसे एक दूसरेका शिर काटकर गिरा देते थे तथा परस्परमें मर्मस्थलोंको निर्दयतापूर्वक छेद देते थे। इस प्रकारके प्रहारोंसे कितने ही योद्धा वीरगतिको प्राप्त होते थे तथा अन्य कितने ही मूर्च्छित होकर धराशायी हो जाते थे। १८ योद्धाओंकी आंखोंसे क्रोध और शक्तिके भाव टपके पड़ते थे। युद्ध उन्हें परम प्रिय था अतएव वक्षस्थलपर प्रबल प्रहार होनेपर उनके विशाल वक्षस्थलोंसे बहती मोटी तथा तीव्र रक्तधारा वैसी ही परमशोभा पाती थी जैसी कि पहाड़ोंके ढालोंपर गेरू मिले पानीकी धारा चमकती है। १९ दोनों तरफके योद्धा रुद्र तथा कठोर भट थे। उनके शरीर वीरोंके अनुरूप बड़े बड़े घावोंसे सुशोभित हो रहे थे तो भी उनके मदोन्मत्त हाथीके समान अमित बलमें कोई कमी दृष्टिगोचर न होती थी। इन्हीं कारणोंसे वह युद्ध प्रलयकालीन युद्धके समान भीषण और दारुण हो उठा था। २० उक्त प्रकारसे अत्यन्त घोर युद्ध होनेके कारण दोनों तरफके योद्धाओंके पैरोंसे उड़ायी गयी धूलके बादलोंने पृथ्वी तथा आकाश दोनोंको ढक लिया था फलत: कुछ समयके लिए दोनों सेनाएं अदृश्य हो गयी थीं। २१ उस समय

दारुण रण

रणका रूपक

वर्द्धमान वह महायुद्ध रक्तरूपी चन्दनसे भूषित (लाल) होनेके कारण, नाना प्रकारके उछलते हुए मणिमय अंगदभूषणों (विजलीके समान) की चमकसे तथा लटकती हुई चंचल आंतोंरूपी मालाके पड़ जानेके कारण, संध्या समयके रक्त तथा विद्युतमय मेघके समान प्रतीत होता था।
२२ चारों तरफ उड़ती हुई विपुल धूल हो रक्त मिल जानेपर थोड़ी ही देरमें सिन्दूरके रंगसे विभूषित होकर भूमिकी विचित्र शोभा दिखा रही थी। उस समय योद्धा किसी प्रकार एक दूसरेको देख सकते थे। देखते ही उनका क्रोध दुगुना हो जाता था फलतः परस्परमें दारुणसे दारुण
२३ प्रहार करते थे। पुलिन्द भटों और सार्थपतिके योद्धाओंका घोर युद्ध एक क्षणमें तो ऐसा मालूम देता था मानों दोनों बराबरीसे लड़ रहे हैं। किन्तु इसके बाद दूसरे ही क्षण पुलिन्दोंका वेग बढ़ा और उनसे दबाये जानेपर सार्थपतिके सैनिक भयसे आकुल होकर बुरी तरह हारने लगे थे।

२४ इस प्रकार प्राणोंका संकट उपस्थित होते ही उन्हें स्वादिष्ट मिष्ट-अन्न तथा मधुर पीनेकी वस्तुओंका ख्याल हो आया था, नाना प्रकारके विचित्र भोग पदार्थोंका स्मरण हो आया तथा अपनी प्राणप्यारियोंके वियोगके विचारने उनमें एक सिहरन पैदा कर दी थी। इन सब विचारोंसे प्रेरणा पाकर 'हम लोग न्यायमार्गसे धन कमाकर शान्तिपूर्वक जीवन बितानेवाले हैं, इन जंगलियोंसे युद्धमें पार नहीं पा सकते।' कहते हुए उन लोगोंने बुरी तरह भागना प्रारम्भ
२५ किया था। अत्यन्त शक्तिशालिनी पुलिन्दोंकी विजयी सेनाने सार्थवाहकी सेनाको तितर-बितर होकर छिन्न-भिन्न हुआ समझकर, व्यापार करनेमें सफल होनेके कारण असंख्य सम्पत्तिसे परिपूर्ण सार्थको 'इधरसे, इधरसे' कहकर लूटना, काटना, मारना प्रारम्भ कर दिया था। सम्पत्ति कमानेमें कुशल वणिकोंके वैभव और

सार्थसेनाका पलायन

२६ प्रभुताको चारों ओरसे आक्रमण करके पुलिन्दोंकी सेना एक एक करके नष्ट करती जा रही थी। इस लूटमारमें लीन भिल्लसेनाको देखकर प्रबल पराक्रमी राजपुत्रके क्षोभकी सीमा न रही थी। अतएव वह अत्यन्त ढीठ सिंहके समान आवेशमें आकर उनपर टूट पड़ा था।

२७ 'युद्धस्थलमें उतरे हुए इन नीच दस्युओंको गिन गिनकर मारके विपत्तिमें पड़े वणिकोंकी रक्षा और पालन करूंगा अथवा लड़ता हुआ इन्हीं नीच दस्युओंके समूहमें घुसकर इनके प्रहारोंसे यहीं मरकर वीरके उपयुक्त गति (स्वर्ग) को यहींसे चला जाऊंगा।' राजपुत्र यह
२८ निर्णय कर ही पाये थे कि एक पुलिन्द उनके सामनेसे निकला, उसे जोरसे लात मारकर पृथ्वीपर गिरा दिया था क्योंकि उनके पराक्रमका न तो कोई प्रतिरोध ही कर सकता था और न सह ही सकता था। इसके उपरान्त शीघ्र ही सिंहके

वरांगका पराक्रम

समान शक्तिशाली युवराजने उस गिरे हुए भीलके हाथसे ढाल सहित तलवारको छीन लिया
२९ था। फिर क्या था ? शस्त्रचालनमें कुशल राजकुमार ढंगसे उस तलवारको चलाते हुए वाणोंकी बौछारमें घुस गये थे, किन्तु अपने रणकौशलके कारण वाणोंकी मारको व्यर्थ करते जाते थे और थोड़ी ही देरमें वे पुलिन्दपतिके पुत्रके सामने जा पहुंचे थे।

३० पुलिन्दनाथके पुत्रको सम्बोधन करके उन्होंने कहा था—'पहिले तुम ही मुझपर प्रहार करो इसके बाद दोनोंका बल देखा जायगा।' यह सुनते ही दारुण पराक्रमी पुलिन्दोंका युवराज भी हाथमें शस्त्रोंको लिये हुये बड़ी तेजीसे बढ़कर राजपुत्रके सामने

पुलिन्द पुत्र और वरांग

३१ आ पहुंचा था। विचारे पुलिन्दोंका युवराज रणकलामें मूर्ख था,

व्यवस्थित युद्ध करनेकी शिक्षासे अछूता था अतएव युवराजने ज्यों ही उसे आगे बढ़नेसे रोको त्यों ही उसने कुपित होकर अशिक्षित जंगली मस्त हाथीके समान युवराज वरांगपर आक्रमण कर दिया था। प्रवीर युवराजने पुलिन्दपुत्रके इस वारको अपनी शस्त्र-शिक्षा तथा शारीरिक ३२ पराक्रमके द्वारा बचाकर 'तुम्हारा यह प्रहार वेध्यपर चुमाचुम पड़कर उसे नष्ट करनेमें समर्थ नहीं है, लो, तयार हो जाओ, अब मेरे एक प्रहारको तो सम्हालो।' इस प्रकार ललकारते हुए ३३ युवराजने ढालको सम्हालते हुए और खड्गको घुमाते हुए क्रोधके आवेशमें आकर एक लम्बी फलांग ली थी। तथा इसी अन्तरालमें एक ऐसा सच्चा सटीक हाथ मारा था कि जिसके लगते ही पुलिन्दोके युवराज कालके प्राण पखेरू उसका शरीर छोड़कर उड़ गये थे। कालका पिता ३४ पुलिन्दनाथ तो यमकी साक्षात् प्रतिमा था इसीलिए उसको लोग महाकाल नामसे जानते थे। जब उसने अपने प्रिय पुत्रको मरा देखा तो क्रोधकी ज्वाला उसके शरीरमें भभक उठी थी। काल (उसका पुत्र) क्या समाप्त हुआ था उसका काल (आयु) ही समाप्त हो गया था अतएव बलिके बकरेके समान वह स्वयं राजपुत्रके सामने उपस्थित हुआ था।

'मेरे प्राणप्यारे पुत्रको मारकर तुम कहां भागते हो, यदि वास्तवमें कुछ पराक्रम है ३५ तो ठहरो और मुझसे लड़ो। हे सुकुमार! तुम आज मेरे हाथसे यमराजके लिए अत्यन्त उपयुक्त उपायन (भेंट) हो सकोगे।'

पुलिन्दराजसे युद्ध

'उसके वचनोंको सुनकर युवराजने भी कहा था—मुझे यमके प्रति स्वतः कोई भक्ति ३६ नहीं है, और न मैं तुम्हारे कहनेसे ही यमलोक जा सकता हूं। ऐसा मालूम होता है कि तुम्हें यमपर बड़ी भक्ति है तथा तुम सब प्रकारसे इस योग्य भी हो अतएव मैं यमके लिए तुम्हें आज स्वर्गलोक भेजता ही हूं। इसके अतिरिक्त भांति भांति की बेढंगी बाते कहनेसे क्या लाभ है। ३७ अब मैं लड़ता ही हूं, मेरे प्रहारकी प्रतीक्षा करो, भागो मत' इतना कहकर लड़नेकी इच्छासे ही युवराज सन्नद्ध होकर खड़े हो गये थे। पुलिन्दपति महाकालको भी पुत्रघातक होनेके कारण युवराजसे दृढ़ तथा प्रबल वैर था अतएव वह भी इनके सामने जम गया था। द्वन्द्व प्रारम्भ ३८ होते ही वे एक दूसरेको धोखा देनेके लिए विचित्र प्रकारसे आंखे मींचते थे, परस्परमें दुर्बल स्थान तथा क्षणकी खोजमे लगे थे, आपसी प्रहारोंसे उन दोनोंको ही क्रोध तीव्रतासे बढ़ रहा था फलतः कुपित होकर किये गये प्रहार अधिक उग्र होते जाते थे। पुलिन्दनाथके अत्यन्त दृढ़ ३९ प्रहारको भी उसका शत्रु (वरांग) अपनी युद्धकलाकी निपुणता द्वारा निरर्थक कर देता था, किन्तु राजपुत्रका सटीक शस्त्रपात उसके शत्रु महाकालके अंग-भंगको बार बार करता था।

युद्धकला नैपुण्य

महाकाल जब राजपुत्र वरांगके ऊपरी भागपर ४० शस्त्र मारता था तो वे झुककर बच जाते थे, पैरों आदि अधोभागमें प्रहार होनेपर उचक जाते थे, मध्य अंगपर प्रहार होते ही किसी बगलमें घूम जाते थे। इस प्रकार शस्त्र शिक्षाके सांगोपांग अभ्यासके बलपर अपनी रक्षा कर रहे थे। इस समय तक राजपुत्र भी क्रोधके नशेमें चूर चूर ४१ हो गया था अतएव विधिपूर्वक तलवारको महाकालके सामने फैलाकर यद्यपि वह उसके निकट ही किसी भयानक स्थानपर जा पहुंचा था, किन्तु इसी समय उसने पुलिन्दनाथके बांये कंधेपर आक्रमण करके वैसा ही प्रहार किया जैसा कि सिंह-शावक मदोन्मत्त हाथीपर करता है। राजपुत्र वरांगका क्रूर प्रहार पड़ते ही उसके झटकेसे पुलिन्दनाथ महाकालकी आंखें घूमने ४२ लगी थीं, पूरा शरीर डगमगाने लगा था और वह धड़ामसे भूमिपर उसी प्रकार जा

गिरा था जिस प्रकार दावाग्निसे जलकर बहुत ऊंचा शालिमलि तरु लुढ़क जाता है।

४३ इसके उपरान्त जो जो पुलिन्द भट लड़नेके निश्चयसे आगे बढ़ते थे उन सबके सबको एकाकी राजपुत्रने संघर्षमें समाप्त कर दिया था, यह देखकर जब बाकी भीलोंने भागना प्रारम्भ

४४ किया तो उन्हें बीचमें ही रोककर युवराजने उनके नाक कान काट दिये थे। इस प्रकार राजपुत्रके द्वारा घासपातके समान मारे काटे जानेपर कितने ही पुलिन्द भट उसीकी शरणमें चले आये थे। तथा अन्य कुछ लोग मुखमें घास दबाकर

पूर्ण विजय

४५ जीवित रहनेके लिए ही उसके सामने भयसे कांपते हुए आये थे। सेनापति महाकालके मर जानेपर वह पुलिन्द सेना इतनी भीत हो गयी थी कि उसके सैनिक दूरसे ही युवराजको देखकर शस्त्रोंको फेंक फेंककर भाग गये थे। इस प्रकार शत्रु तथा शत्रुसेनाका मर्दन करके राजपुत्र वरांग भी लौटकर फिर समरांगणमें आ गये थे।

४६ विजयी युवराजके लौटकर आते ही समरभूमिमें विजय, क्षेम कुशल, तथा उपद्रवकी समाप्तिकी सूचना देनेके लिए बहुत जोरसे पटह बजा था जिसकी सिंहनाद समान ध्वनिसे पूरा प्रदेश गूंज उठा था। उसे सुनते ही सार्थके सब आदमी आकर इकट्ठे हो गये थे तथा परस्परमें एक दूसरेकी क्षेमकुशल, क्षतहीनता,

विजयी वरांगका स्वागत

४७ आदिको पूछने लगे थे। इसके तुरन्त बाद ही वे सब तोड़े गये रत्नों तथा सोनेके सन्दूकों, टुकड़े टुकड़े करके फेक दिये गये जगमगाते हुए मणियोंके भूषणों तथा फेककर इधर उधर अस्त-व्यस्तरूपमें पड़े हुए उत्तम वस्त्र, कोशाके वस्त्र, चमर आदिकी गाठोंको देखते हुए सार्थपतिने देखा था कि समरांगणमें पृथ्वीपालक युवक राजा आंखें मीचे पड़ा है, निकट जानेपर

४८ पता लगा कि वह मूर्च्छासे अचेतन है, यद्यपि थोड़ी थोड़ी सांस रह रहकर चल रही है, उसके सम्पूर्ण शरीरमें असंख्य घाव लगे थे तथा उनसे बहते हुए रक्तसे उसका शरीर लथपथ हो गया

४९ था। बाणों और खड्गोंके प्रहारसे लगे घावोंद्वारा शरीरको भूषित करके परिश्रमसे अचेतन होकर राजपुत्र पृथ्वीपर गिर गया था। किन्तु स्वभावसे लावण्यपूर्ण उसका शरीर उस अवस्थामें भी बड़ा आकर्षक था। ऐसा प्रतीत होता था मानो इन्द्रध्वज लाक्षाके रसमें भीगकर गिर गया है।

५० 'हाय वत्स! तुम्हें क्या हो गया है! हे श्रेष्ठ! बोलो, क्यों मौनधारण करके आनन्दपूर्वक पृथ्वीपर सो गये हो? हे भद्र! उठो, शीघ्र ही हम सबपर कृपा करो; हे नाथ! कृपा करके प्रतिवचन दो, उठो, चलो! अभी तुम बालक ही हो, अनेक कष्टोंको

आहत वरांग

५१ लगातार सहनेके कारण दुर्बल तथा कृश हो गये हो, कोई साथी अनुगामी भी नहीं है, पहिननेको कवच भी नहीं है तो भी साधारण कपड़े पहिने हुए ही तुमने अकेले ही शत्रुसेनाको मारकाट करके समाप्त कर दिया। जब तुम पूर्ण स्वस्थ और सबल हो जाओगे, युवावस्थाके पूर्ण विकासको प्राप्त होओ गे, अपने योग्य पदपर पहुंचोगे तथा तुम्हारा शासन

५२ चलेगा तब समस्त देशमें वध आदि पाप ही शान्त हो जायंगे। बिना किसी हीन इच्छा और विशेष प्रयत्नके बिना ही तुम मुझे अधम-ऋणी (जो उपकारका कोई प्रत्युपकार नहीं करता है) बनाकर इस लोकसे चल गये हो, तुम अत्यन्त उदार तथा कुशल हो। तुमने मेरा अपार उपकार किया है, किन्तु मैं परिवर्तनमें कुछ भी न कर सका, इस समय तुम्हारे प्राणहीन हो जानेपर

५३ मैं अभागा क्या करूं? हाय! तुमने अपने उन्नत वंश, कुटुम्बी तथा देशके विषयमें भी कभी एक शब्द न बताया था, जिन्हें याद करके किसी प्रकार वहां पहुंचकर उन्हें तुम्हारी वीरगाथा

सुनाकर संतुष्ट होता। हा! भद्र! तुम अपने देश ही क्यों न लौट गये!' इत्यादि वाक्योंको कहकर सार्थपति अत्यन्त करुण विलाप करता था।

इसी अन्तरालमें अनेक वणिक उसको हाथोंसे दबा रहे थे ठण्डे पानीके छींटे दे रहे थे, चन्दन-जल उसके मस्तक आदि प्रदेशों पर लगा रहे थे तथा धीरे-धीरे सुकुमारतापूर्वक पंखेसे हवा कर रहे थे। इन सबके द्वारा शरीरका श्रम दूर होकर उसमें शक्ति और चेतना जाग्रत हो रही थी फलतः उसने धीरेसे दोनो आंखें खोलकर और आस पास दृष्टि दौड़ायी थी। इसके उपरान्त एक मुहूर्त भरमें ही वह पूर्ण चैतन्य हो गया था तब वह आर्यकुमार धीरेसे उठकर कुछ-कुछ बोला था। धीरे धीरे थकान दूर हो जानेपर वह सुखसे बैठ सका था तब उन सब वणिकोंने उसकी पूर्ण परिचर्या की थी। 'इससे बढ़कर कोई दूसरा आश्चर्यमय कार्य इस संसारमें हो ही नही सकता है कि इसके प्राण एक बार शरीर छोड़कर भी फिर लौट आये हैं।' इस प्रकार अपने आश्चर्यको प्रकट करते हुए सार्थपति तथा सार्थके लोग अब भी आश्चर्यसे मुक्ति नहीं पा रहे थे तथा उनके उत्कट संतोषकी भी सीमा न थी। इस घटनासे सार्थपति सागरवृद्धिके हृदयमें तो हर्षका समुद्र ही लहरें मार रहा था, रह-रहकर अपने ऊपर किये गये उपकारके परिवर्तनमें कुछ करनेकी अभिलाषा उसमें प्रबल हो उठती थी अतएव उत्तम तथा अनुपम लाखों रत्न तथा कोटियों प्रमाण सुवर्ण लाकर उसने अद्वितीय पराक्रमी राजपुत्रके सामने रख दिया था।

आहतोपचार

५४ ५५ ५६ ५७

भेट रूपसे सामने लायी गयी विपुल सम्पत्तिको देखकर विवेकी राजकुमारको थोड़ा भी आश्चर्य या कौतूहल न हुआ था। कारण, वह स्वयं कुलीन था और इससे अनेक गुनी सम्पत्तिका स्वामी रह चुका था। सार्थपतिकी मानसिक भावनाका अनुमान करके उसने यही कहा था—"आप इस धनराशिको अपने इष्ट तथा प्रिय जनोंमें वितरण कर दीजिये।" उसकी सुमति लोभके द्वारा न जीती जा सकी थी अतएव उसके कथनके अनुसार ही सार्थपतिने अन्य मुखियोसे कहा था कि 'जैसा कश्चिद्भट कहते हैं उसके अनुसार काम कर दिया जाय।' इस आज्ञाको सुनकर सार्थके सब नट, विट तथा अन्य दरिद्र वहां इकट्ठे हो गये थे। उन सबने हाथ जोड़कर बड़े आदरपूर्वक उस दानको ग्रहण किया था।

वराग-कश्चिद्भट

५८ ५९

सार्थके साथ चलनेवाले उत्तम वैद्योंने सबसे पहिले घावोंके रक्तसे लथ पथ उसके शरीरका सतर्कतासे अभिषेक किया था फिर क्रमशः घावोंको भर देनेवाली उत्तम तथा अचूक औषधियोंको लगाकर सार्थपतिकी आज्ञाके अनुसार थोड़े ही दिनोंमें उसके सब रोगोंको शान्त कर दिया था।

पुनः स्वास्थ्य-लाभ

६०

इसके उपरान्त अत्यन्त शुभ मुहूर्त में सार्थने आगे आनेवाले राष्ट्रमें प्रवेश करनेके लिए विधिपूर्वक प्रस्थान किया था। उस समय नरेश्वर वरांग भी सार्थपति सागरवृद्धिके साथ एक पालकीपर चढ़कर धीरे धीरे चल रहा था। धनकी आशासे सार्थके पीछे पीछे चलनेवाले नट, विट, कन्थाधारी याचक तथा पुरोहित आदि ब्राह्मणोंने उन सब नये नये देशोंमें—जिनमेंसे इस अन्तरालमें वह सार्थ गया था—जाकर युवकवीरकी विशाल कीर्तिको प्रसिद्ध कर दिया था। "मदोन्मत्त करीन्द्रके समान दारुण प्रहार करनेवाले 'कश्चिद्भट' (किसी योद्धा) ने (द्विगुणित छह हजार) बारह हजार प्रमाण पुलिन्दोंके निर्दय समूहको युद्धमे अकेले ही जीतकर हमारे विशाल सार्थकी गहन

सार्थका ललितपुर-को प्रस्थान

६१ ६२ ६३

६४ वनमें रक्षा की थी" यह कीर्ति चारों ओर फैल गयी थी। विभिन्न ग्रामों, विविध नगरों तथा पृथक् पृथक् राष्ट्रोंमें यथा—सुविधा पड़ाव डालता हुआ सागरवृद्धिका सार्थ बिना किसी विघ्न-बाधाके मार्गमें लाभप्रद तथा उपयोगी विक्रय वस्तुओंको मोल लेता हुआ धीरे धीरे उस नगरमें जा पहुंचा था जहांसे वह पहिले चला था।

६५ 'नगरका सर्वश्रेष्ठ सागरवृद्धि सेठ अपार सम्पत्तिके अर्जन रूपी कार्यमें सफल होकर फिर नगरको लौट रहा है' यह समाचार सुनते ही पूरे नगरके स्त्री-पुरुष, बच्चे, बुड्ढे, आदि

६६ सार्थ-स्वागत

सब ही निवासी उसकी अगवानी करनेके लिए आ पहुंचे थे। सार्थपति सागरवृद्धिकी श्रीमतीजी भी सफल यात्रासे लौटे अपने पतिका स्वागत करनेके लिए अन्य स्त्रियोंके साथ गयी थीं। इस समय तक कश्चिद्भट (क्योंकि वरांगका नाम अज्ञात था) की यशोगाथा उस नगरमें भी सर्वविश्रुत हो चुकी थी, फलतः श्रीमती सागरवृद्धि भी

६७ अपनी सहेलियोंके साथ सबसे पहिले उसे देखने गयी थीं। पवित्र स्नेह आदि भावोंसे परिपूर्ण सेठानीको देखकर ही कश्चिद्भट संकोचमें पड़ गया था। अतएव उसे अपनी माताके समान पूज्य मानते हुए वह उसका आदर करनेके लिए त्वरासे उठ बैठा था। साध्वी सेठानीने भी

६८ उसे अपने पुत्रसे अधिक माना था। इसके बाद उस पतिपरायणाने अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने जीवितेशके पास पहुंचकर शालीनता, शिष्टाचार तथा विनयके अनुसार उसका स्वागत किया था। तथा दीर्घ काल पर्यन्त प्रवासमें रहनेके बाद लौटे हुए अपने प्राणप्रियसे उसकी कुशल-क्षेम तथा प्रिय बातें पूछी थीं।

६९ सार्थपति सागरवृद्धि भी बड़े उत्साहके साथ अपने बन्धु-बान्धवों, मित्रों, पुत्रों तथा पत्नियोंसे मिलकर उनकी कुशल पूछते थे। इसी प्रकार वह अपने नगर-निवासियोंसे भेंट करके

पुनर्मिलन दृश्य

उनके पुत्र-कलत्र आदिकी क्षेम-कुशल पूछता था। नगरमें विशेष पदोंपर नियुक्त लोगों तथा अपने समवयस्क, समान शील, समान कुलीन तथा

७० आचरणवाले व्यक्तियोंके प्रति भी उसका ऐसा ही व्यवहार रहा था। भेंट, कुशलवार्ताके समाप्त हो जानेपर उसने क्रमशः सबको अपनी यात्राके विवरणके प्रसंगमें पुलिन्द सेनाका आक्रमण तथा पलायन, पुलिन्दपति महाकाल और युवराजकालका कालधर्म (मृत्यु) तथा कश्चिद्भटका वह तेज और पराक्रम जिसकी कोई समानता न कर सकता था, यह सह घटनाएं लोगोंको सुनायी थीं।

७१ यात्रा विवरण सुनते ही उस नगरके शिल्पियों, कर्मकारों, वणिकों आदिकी अठारहों श्रेणियोंके प्रधान तथा सागर वृद्धिने सन्मानपूर्वक कश्चिद्भटका स्वागत किया था तथा भेंट दी

वीर (कश्चिद्भट) पूजा

थी। अन्तमें सुन्दर तथा महत्ताके अनुरूप वेशभूषाको धारण करके बड़े भारी ठाट-बाटके साथ उसने उस नगरमें प्रवेश किया था। जब

७२ सागरवृद्धि अपने घरमें पहुंच चुके थे तो उन्होंने अत्यन्त वात्सल्य और आदरपूर्वक अश्चिद्भटको बुलाकर अपने घरमें पड़ी अनेक प्रकारकी अतुल सम्पत्तिको अलग

७३ अलग करके दिखाकर उसे बताया था कि कहांपर क्या पड़ा है तथा 'यह तुम्हारी बहिनें हैं, ये तुम्हारे छोटे भाई हैं, यह तुम्हारी माताजी हैं, ये तुम्हारे सेवक आदि आश्रितजन हैं। ये पुत्र मित्र समस्त जनसमूह तथा यह समस्त सम्पत्ति तुम्हारे ही वशमें है ऐसा बिना भेदभावके समझो।'

सार्थपतिने इस प्रकार अपने आपही सदा बढ़ती हुई, अपनी स्थावर तथा जगम सपत्ति, सजीव तथा निर्जीव विभव आदिको कश्चिद्भटको दिखाकर अपने आपको कृतकृत्य माना था। तथा अपने घरमें कुटुम्बियोंके साथ उनके बीचमें रहकर सुखसे जीवन व्यतीत कर रहा था। ७४

सागरवृद्धिका सर्वस्व समर्पण

इस प्रकार पर्याप्त समय बीत जानेपर एक दिन नगरकी श्रेणियों और गणोंके प्रधान सेठ सागरवृद्धि शास्त्रके अनुकूल संयमी तथा विचारक अपने समवयस्क वृद्धोंसे मत विनिमय करके अपनी धर्मपत्नीके साथ कश्चिद्भटके गृहमें गया था। आवश्यक शिष्टाचारके वाद उन्होंने कश्चिद्भटके सामने अत्यन्त सुन्दर प्रकारसे यह प्रस्ताव रखा था। 'इस नगरमें अनेक ऐसे प्रमुख व्यवसायी हैं जिनकी सम्पति अनेक करोड़ोंसे अधिक ही नहीं है, अपितु असाधारण है। तुम्हारे स्वास्थ्य, सौन्दर्य, सुशिक्षा तथा सदाचार आदि गुणोंको देखकर वे सब अपनी सुशील संस्कृत तथा स्वस्थ कन्याओंको तुमसे व्याहनेके लिए उत्सुक हैं। हमारा आग्रह है कि वत्स! तुम भी स्वीकार कर लो।' ७५ ७६

नूतन विवाह प्रस्ताव

'जब मेरे पूर्व जन्मोंमें अर्जित भाग्यने मुझे छोड़ दिया था, मेरी सम्पत्ति और विभव नष्ट हो चुके थे तथा शारीरिक बलकी नींव भी हिल चुकी थी, इधर उधर टक्कर मारता जंगलमें फिर रहा था तब किसी पुण्यकर्मके उदयसे आपके साथ भेंट हो गयी, मेरे लिए इतना ही प्रत्याशितसे अधिक है। इस सबसे क्या हो सकता है।' इतना ही उत्तर युवराजने सेठजी को दिया था। ७७

संकोच तथा सयम

यह सुनकर सेठने पुनः आग्रह करके कहा था 'हे पुत्र हमारे पास जो कुछ भी है वह सब तुम्हारा ही है, संकोच छोड़कर इसका भोग करो, जिसे चाहो उसे दो तथा जिस प्रकारकी तुम्हारी अभिलाषा हो उसी तरहसे इसका उपयोग करो। किन्तु जैसा तुमने अभी कहा है वैसा मत कहो।' ७८

पिता तुल्य सेठजीके द्वारा उक्त वचन कहे जानेपर विनम्रतापूर्वक कुमारने कहा था 'मनचाहे खेल, कूद आदि कार्य करता हूं, शिक्षित शिष्ट पुरुषोंके साथ ज्ञानगोष्ठी करता हुआ आनन्दसे ही समय काट रहा हूं। यदि मेरे जीवनका यह ढंग ही काफी रोचक है और मैं प्रसन्न हूं तो फिर ब्याह करनेसे क्या लाभ है? इससे मुझे छुट्टी दीजिये।' ७९

इस उत्तरके आधारपर सेठ कश्चिद्भटके मनकी वातको समझ सका था अतएव उसने मन ही मन निर्णय किया कि 'जैसा चल रहा है उसी प्रकार चलने दिया जाय। फलतः सार्थपति इधर उधरकी अनेक मनोरंजक बातें करके लौट आया था और अपने धर्म तथा कर्त्तव्य कर्मोंके पालनमें सावधानीसे लग गया था। ८०

इस घटनाके कुछ दिन वाद एक दिन नगरके सब ही श्रीमान् वणिकोंकी लड़कियां वनविहारके लिए उद्यानमें गयी थीं। वहांपर उन्होंने वड़े आदर और भक्तिके साथ कश्चिद्भटको आमंत्रित किया था। जब वह उनके पास पहुंचा तो वे सब उत्तम कलशोंको लेकर उसके पास खड़ी हो गयी थीं और उससे सानुनय निवेदन करने लगी थीं कि वह भी सेठ वनना स्वीकार कर ले। यह सुनते ही उसके मनमें विचारोंका ज्वार आ गया था 'जीवनके प्रभातमें सम्मान्य राजपुत्र था, धीरे धीरे वढ़कर किशोर अवस्थाको लांघकर ज्योंही युवा अवस्थामें पदार्पण किया तो युवराज पदपर अभिषेक हुआ था, तथा ८१ ८२

राजा सेठ हुआ

धीरे धीरे विकासको करते हुए आज वणिकोंके प्रभुत्वको प्राप्त हो रहा हूं। किसी मनस्वीके
८३ लिये क्या इतना ही पर्याप्त है ? जब कोई राजा दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता है तो वह सेठ (क्योंकि उसकी सम्पत्ति-कोश-बहुत बढ़ जाता है) हो जाता है यह लोक प्रसिद्ध कहावत है। यह सूक्ति मुझपर पूरी पूरी घटती है। ठीक ही है संसार-चक्रमें पड़े जीवके अनेक नाम
८४ रखे ही जाते हैं।' इन लड़कियोंके स्नेहमिश्रित आग्रहको न मानना अनुचित ही होगा, पर यह भी देख रहा हूं कि वणिकोंके प्रभुत्वको ग्रहण करनेमें क्या सार है, अस्तु। इस प्रकारसे अपनेपर घटित हुए पहिले अभ्युदय, उत्कर्ष, विपत्ति, आदिका स्मरण करते हुए उसने सेठोंकी पुत्रियोंको अनुमति दे दी थी और स्वयं चुप हो गया था।

८५ जब सेठोंकी लड़कियोंको अनुपम पराक्रमी कश्चिद्भट‌की विचारधाराका पता लग गया तो उन सबने मिलकर हाथोंमें मंगल कलश लिये हुए श्रेष्ठीपदकी आवश्यक रीतियोंको पूरा किया था तथा ललितनगरीके सेठोंकी प्रधानताका द्योतक पट्ट उसे बांध दिया

श्रेष्ठी अभिषेक

८६ था। कश्चिद्भट (युवराज वरांग) स्वभावसे ही बड़े सुन्दर थे, इसके साथ साथ उनमें अनेक गुण थे जो उनकी कान्ति और तेजको और भी बढ़ा देते थे। इन सबके ऊपर उन्हें वणिकोंका नेतृत्व प्राप्त हो गया था। इस प्रकार उनके अन्तरंग और बहिरंग दोनों ही सौन्दर्य निखर आये थे फलतः उन्हें देखनेवाले ललितपुर निवासियोंने निम्न प्रकारसे अपने हार्दिक उद्गार प्रकट किये थे।

८७ जिन पुरुषार्थी पुरुषोंने अपने पूर्व जन्मोंमें परिपूर्ण पुण्य कमाया है उनको धन, शोभा-शक्ति और सुखसामग्री स्वयं ही घेर लेते हैं। इसके विपरीत जो प्रमादी लोग अकरणीय कार्योंमें अपनी शक्ति नष्ट करते हैं उनको वियोगकी आशंका, वियोग, दुख, विपत्ति, शोक, आदि सतत

गुणग्राही ललितपुर

८८ कष्ट देते हैं। 'कब कहांसे जाकर इसने पुलिन्दोंकी विशाल सेनाको छिन्न भिन्न कर दिया, किस पुण्य प्रकृतिके प्रतापसे सागरवृद्धिको यह पुत्रके समान प्रिय हो गया, किस प्रकार अनायास ही इस नगरके श्रेणियों और गणोंका प्रधान सार्थपति हो गया है तथा कोई नहीं जानता कि कैसे तथा क्यों इसीकी चर्चा सबके मुखोंपर
८९ है। स्पष्ट है कि परम यशस्वो कश्चिद्भट तथा शीलवती परम अनुरक्त पत्नी, गुणी पुत्र-पौत्र, स्नेहशील तथा अनुरक्त बन्धुबान्धवों सहित हमारे सार्थपति सागरवृद्धि, आदि व्यक्ति अपने पूर्व जन्मोंमें उपवास, व्रत, आदि करनेसे उत्पन्न पवित्र पुण्यको बड़ी मात्रामें संचित करके ही इस
९० संसार (जन्म) में आये हैं। कश्चिद्भटने ऐसे कौनसे शुभकर्म किये होंगे जिनके परिपाक होनेसे उसे इस भवमें सर्वांग सौन्दर्य, अविकल तथा स्वस्थ शरीर, अद्वितीय पराक्रम, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि, रोगहीनता, सर्वतोमुखी बुद्धि, संसार भरके लोगोंकी आंखोंमें समा जानेवाली सुभगता, प्रत्येक कार्यमें पटुता तथा विकारसाधक सुविधाएं होनेपर भी अडिग-शील प्राप्त हुए हैं।

९१ पहिले यह जिस नगरमें निवास करता था वहांके लोगोंका भाग्य अनुकूल नहीं था, नहीं तो इससे वियोग क्यों होता ? तब दूसरे कहते थे हमें इस सबसे क्या प्रयोजन ! हम तो इतना जानते हैं जिस किसी नगरमें जिन लोगोंको इसके साथ रहनेका

पुण्यात्माका प्रेम

९२ सौभाग्य प्राप्त होता है वे लोग निश्चयसे बड़े भाग्यशाली हैं। पुरुषार्थमें जिसकी कोई तुलना नहीं कर सकता है, गुणोंसे जिसे कोई लांघ नहीं सकता है, ऐसे इस

पुरुषसिंहके द्वारा जो नगर छोड़ दिया गया है वह सूना ही हो गया होगा ? यह नगर अपनी प्राकृतिक सम्पत्तियोंके कारण यों ही कल्प (स्वर्ग) मय समझा जाता था किन्तु अब इसके समागमके द्वारा तो सर्वथा कल्याणकारी तथा सम्पन्न ही हो गया है। अपने अनुपम पुरुषार्थ और ९३ पराक्रमके कारण यह मनुष्योंको प्रिय है, निर्दोष सौन्दर्य तथा कान्ति इसे कुल ललनाओंकी आंखोंका अमृत बना देते हैं; अपनी विनम्रता तथा शिष्टाचारके द्वारा यह विद्वानों तथा बड़ो-वृद्धोंके हृदयमें स्थान कर लेता है। इस प्रकार यह कश्चिद्भट सबके लिए परम प्रिय हो गया है। उक्त प्रकारसे उस पुण्यात्माका यश दूर दूर तक फैल गया था। अपनी वीरतासे उपार्जित ९४ कश्चिद्भट ही उस शूरका नाम हो गया था, तथा उसका प्रथम नाम वरांग उसने छोड़ ही दिया था। इस प्रकार ललितपुरमें वह वणिकोंके साथ निवास कर रहा था।

आख्यायिकाएं कह सुन कर, कथाओंको बढ़ाकर कथन तथा श्रवण, नाटक आदिका ९५ दर्शन तथा अभिनय, गाना, वीणा आदि बाजे बजाकर तथा मनोविनोद तथा प्रकृति प्रेमके कारण उद्यानको जाना इत्यादि कार्योंके द्वारा कश्चिद्भटके दिन कटते थे। जब कभी एकान्त मिलता था तो वह माता-पिता, पत्नी, आदि ९६ कुटुम्बियोंको याद करता था फलतः कभी कभी उसके अन्तरंगकी दाह भभक उठती थी। इतना ही नहीं कभी कभी वियोगके उभारके असह्य हो जाने पर वह पागलके समान स्वयं ही बोलता था और सुनता था, तथा अन्य समय जब निश्चय नयकी दृष्टि खुल जाती थी तो सर्वथा शान्त और उदासीन हो जाता था। ललितपुर निवासी सेठोंके द्वारा यह पूछे जाने पर कि 'सुख, धन ९७ तथा धर्मका क्या फल (उपयोग) है तथा यह किन कर्मोंके फल है।' उस युवक राजाने गृहस्थाश्रममें रहनेवालोंके सांसारिक किन किन प्रयोजनोंमें सुखादि कितने उपयोगी हैं यह सब उन लोगोंको पूर्णरूपसे स्पष्ट करके समझाया था। इसके अतिरिक्त नगर निवासी समस्त ९८ वणिकोंको समस्त कलाओं तथा श्रेष्ठ गुणोंकी शिक्षा देता हुआ वह महा बुद्धिमान् ललितपुरमें स्वभाव तथा शरीरसे ललितजनोंके साथ निवास करता था तथा निर्मल जिन-मतकी प्रभावना करता था।

ललितपुरकी दिनचर्या

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
ललितपुर-प्रवेश नाम चतुर्दश सर्ग समाप्त

पञ्चदश सर्ग

१ कपटी मंत्री द्वारा दु:शिक्षित घोड़ेके द्वारा उत्तमपुरसे हरण किये गये राजकुमार पर जो जो बीती, उसका पूर्ण वृतान्त हम कह चुके हैं। इसके अतिरिक्त (उत्तमपुरमें उसके कुटुम्बी
२ पत्नी आदिकी क्या अवस्था हुई) और जो हुआ उसे भी सुनिये तथा समझिये। महाराज

उत्तमपुरमें बीती

धर्मसेनके साथ साथ जो, जो राजा लोग, शिष्ट राजपुत्र, समस्त मंत्री, सेनापति तथा अन्य सैनिक कर्मचारी, भुक्तियों (प्रान्तों) के शासक तथा
३ अन्य सेवकोंका समूह युवराजको खोजनेके लिए निकले थे। इन्होंने उस घोड़ेका पीछा करना चाहा था जिसपर युवराज वरांग सवार थे। किन्तु उस घोड़ेका वेग वायुकी गतिके समान तीव्र था, अतएव पूरी शक्ति लगा कर दौड़ने पर भी वे उस घोड़ेको न देख सके, कि वह
४ किधरको भाग रहा था, फलत: इधर उधर एक जंगलसे दूसरेमें टक्कर मारते फिरते थे। अन्य कुछ लोगोंने जब समझा कि उनके युवराजको दुष्ट घोड़ा न जाने कहां ले गया है तो उन्होंने घोड़े, उसे निकालनेवाले, भेंटमें भेजनेवाले, अपने भाग्य, आदिके लिए अपशब्द कहना प्रारम्भ किया था तथा बड़े खेद खिन्न हो गये थे। वे बहुत जल्दी लौट आये थे और अपने प्रयत्नकी
५ असफलताका समाचार राजको देने आ पहुंचे थे। प्रभातके सूर्यके समान क्रोध और पश्चात्तापसे रक्तवर्ण उसके पिताको देखकर उन लोगोंने बड़ी त्वरा और भयपूर्वक निम्न वचनोंको उससे
६ कहा था। 'हे महाराज ! वह घोड़ा इतना प्रवल और हठी था कि उसे वशमें रखना असंभव था, इसपर भी उसे विपरीत आचरण करनेकी शिक्षा ही दी गयी थी, उसकी गतिका वेग वायुके समान तीव्र था तथा वायुके समान ही वह अवाध्य था यही कारण है कि वह
७ राजपुत्रको ले भागा है। हे महीपति ! हमारा तो विश्वास है कि वह साधारण घोड़ा नहीं था अपितु कोई पूर्वभवका वैरी देव, दानव या राक्षस ही घोड़ा बनकर आया था। यही कारण है कि वह हम सबके देखते ही देखते युवराज वरांग ऐसे प्रबल प्रतापी कुशल अश्वारोहीको भी लेकर भाग गया है।'

८ तुरन्त लौटकर आये लोगोंके उक्त वचनोंको सुनकर राजाने अपने सब ही बुद्धिमान तथा भक्त मंत्रियोंको बुलाया था। राजा स्वयं विपुल विवेकी थे तो भी युवराजके अपहरणके उद्देश्यों तथा उनपर क्या क्या बीत सकती है, इत्यादि बातोंका स्पष्ट विचार करनेके लिए
९ उन्होंने मंत्रियोंके साथ मतविनिमय करना प्रारम्भ किया था। आप लोग भली भांति सोचें कि

अपहरण हेतु-विमर्ष

वर्तमान राजमण्डलमें कौन ऐसा हमारा शत्रु है जिसने इस प्रकार कपट करके युवराजका अपहरण कर लिया है। बड़े आश्चर्यकी बात है, कि क्या यह अपहरण किसी ऐसे व्यक्तिने कराया है जो हमारे बीचमें घुसा हुआ है अथवा
१० किसी बाहिरीके द्वारा ही यह सब किया गया है। ऐसा भी देखा गया है कि तन्त्र मन्त्र आदि विद्याओंमें प्रवीण शक्ति तथा प्रभुता युक्त पदपर विराजमान स्त्रियोंके द्वारा उनका अपहरण कराया जाता है जिनके सौन्दर्य-स्वास्थ्य पर वे मोहित हो जाती हैं। अथवा पूर्वभवका वैरी कोई
११ देव, राक्षस अथवा पिशाच उसे हर ले गया है। इस शैलीसे प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए मंत्रियोंको आज्ञा देकर राजाने समस्त राजमण्डलोंमें युवराजका पता लगानेके लिए तथा

स्वयं यह देखनेके लिए कि इस अपहरणकी वहांपर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, अपने सुयोग्य दूतोको राजधानीसे सब दिशाओंमें भेजा था।

ये दूत लोग सतर्कतापूर्वक ग्राम, मडम्ब, नगर, नदी, वन, पर्वत तथा व्रजों (पशु-पालकोंकी वस्ती) के भीतर जाकर एक एक स्थलको सूक्ष्मरूपसे देखते थे तथा चिह्न पानेके लिए नाना प्रकारसे परीक्षा करते थे। परन्तु जब उन्हें राजकुमारका पता देनेवाली एक भी वस्तु या बात नहीं मिली तो वे निराश होकर लौट आये थे। जो लोग क्रीडास्थलीसे ही घोड़ेके पीछे दौड़े थे वे घोड़ेके पद-चिह्नोके सहारे जंगलमें बहुत दूरतक चले गये थे। इस प्रकार जंगलमें भटकते हुए उन्होने किसी वनमें यो ही देखा कि कुॅयेमे मरा घोड़ा पड़ा है। किन्तु वहां उन्हें न तो युवराज ही दिखे थे और न कोई ऐसा चिह्न ही मिला था जो उनके अशुभकी आशंका पैदा करता। आपातत वे युवराजकी खोजमें पर्वतो, गहरी नदियों तथा विशाल-जीर्ण वृक्षो, छोटे-छोटे पौधो तथा अगम्य घने वनखण्डोसे व्याप्त अरण्योंमे भटकते रहे थे। अन्तमें असफल होकर वे भी नगरको लौट आये थे। उन्हें अरण्यमें युवराजके कटक, कटिसूत्र (करधनी) कानकी लोगें तथा दोनो कुण्डल भी मिले थे। जिन्हें वे घोड़ेके साज तथा अन्य वस्तुओंके साथ वापिस लेते आये थे तथा लौटकर यह सब वस्तुएं राजाके सामने उपस्थित कर दी थीं तथा अपना समस्त वृत्तान्त सुना दिया था। १२ १३ १४ १५

गुप्तचरोंकी शोध

घोड़ेका पीछा करनेवाले इन स्वामिभक्त अनुयायियोंके वृत्तान्तको सुनकर तथा सामने पड़े युवराजके पैर, हाथ, आदिके आभूषणोंको देखकर राजा शोक सागरमे डूब गया था। उसके मुखसे उष्ण श्वास निकलती थी, दुखके आवेगसे आंखें घूम रही थी, निराशा और विवशताके कारण अपने वांये गालको हथेली पर रखकर बार-बार पुत्रके लिए शोक करता था। अरण्यसे लौटे सच्चे सेवकोंको उत्तर देनेके लिए जब उसने हाथ उठाया तो वह कंप रहा था तो भी उसने अपने आपको संभालकर उन्हें उत्तर दिया था। १६ १७

पिताकी दुश्चिन्ता

कथाओं, काव्य-ग्रन्थों तथा पुराणोंमें ही ऐसे वृत्तान्त सुने थे जिनमें घोड़ोके द्वारा पुरुषोंके अपहरणकी घटनाएं भी थीं। किन्तु जो कुछ अब तक सुना ही था वह सब भाग्यदोषसे आज प्रत्यक्ष हो गया है। पुत्रकी विपत्तिरूपी हिमके पातने सर्वदा विकसित राजाके मुखकमलको भी म्लान कर दिया था। उसके मुखको देखकर उस कमलका स्मरण हो आता था जो थोड़े समय पहिले पूरा खिला था किन्तु तुषार-पात होनेके कारण थोड़े समय बाद ही बिखरकर श्रीहीन हो गया था। १८ १९

राजाका विवेक-शोक

शरदकी पूर्णिमाका पूर्ण चन्द्रमा जिसकी कान्ति सब दिशाओंको शान्त और धवल बना देती है। यदि उसे राहु ग्रह आकर ढक ले तो जो उसकी अवस्था होती है वैसी ही अवस्था महाराज धर्मसेनकी पुत्रपर आयी महाविपत्तिकी आशंकासे उत्पन्न शोकके कारण हो गयी थी। जब नागके फण परसे मणि नोंच लिया जाता है, अथवा मदोन्मत्त गजेन्द्रका जब अग्रदन्त तोड़ दिया जाता है तो पूरा शरीर स्वस्थ बलिष्ठ रहनेपर भी उनकी शोभा नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार सहज कान्तिमान राजा पुत्रके अपहरणके बाद कान्तिहीन और निस्तेज प्रतीत होता था। २० २१

२२ इस प्रकार महाराजके शोकसागरमें डूब जाने पर कोई सर्वश्रेष्ठ प्रतीहार (सोहर्स् कर्न्के) अन्तःपुरको गया था। वहां पहुंचकर उसने इधर क्रीडास्थलीसे लेकर अबतक जो युवराज सम्बन्धी दुर्घटनाएं हुई थीं वे सब क्रमसे महारानी गुणदेवीको सुना दी थीं। इस प्रकार अचानक उपस्थित पुत्रके वियोगकी दुखमय

अन्तःपुरमें समाचार

२३ कथाको सुनते ही माता गुणदेवीकी आंखें आंसुओंके वेगसे धुंधली हो गयी थीं। शोकका आवेग इतना प्रबल था कि वे 'हा पुत्र! तुम्हें कौन ले भागा है', कहकर कटी हुई लताके समान २४ भूमिपर पछाड़ खाकर गिर गयी थी। यह देखते ही सेवकजन तथा कुटुम्बी चारों ओरसे दौड़कर आये थे। वे ठंडे पंखोंसे हवा करते थे तथा शरीरके सुकुमार संधि-स्थलोंपर चन्दनके जलसे मिली शीतल वस्तुओंको लगाते थे।

२५ इस प्रकार धीरे धीरे देवीकी चेतना वापस आयी थी। तब उसने दोनों आंखोंको खोलकर 'हा वत्स! कहां चले गये हो', आदि वाक्य कह कर भांति भांतिका करुण विलाप

माताका विलाप

२६ करना प्रारम्भ कर दिया था। 'हे बेटा! यह दुर्घटना तथा इसके कारण उत्पन्न जो पीड़ा तुम भर रहे हो गे वह, हाय दैव! मुझपर क्यों न आ टूटी। अब तो मेरा मर जाना ही कल्याणकर होगा, हे वत्स! तुम्हारे बिना जीनेसे क्या २७ लाभ? कुण्डलके चुभनेसे पड़े चिह्नयुक्त तुम्हारे गालका तथा मणिमय हारसे आभूषित तुम्हारे विशाल वक्षस्थलको देखना ही, हे पुत्र! मेरे लिए तीनों लोकोंके राज्यकी प्राप्तिसे होनेवाली २८ प्रभुता और वैभवसे भी बड़ा सुख था। समस्त विद्वान तुम्हारी सेवा करते थे तुम्हारे सुन्दर स्वस्थ शरीरमें एक भी कमी न थी तथा तुम्हारा आचरण विनय और संयमसे परिपूर्ण था, हा! मैंने ऐसे एकमात्र सुपुत्रको खो दिया। अब तुम्हें याद करते हुए मैं कैसे जीवित रहूं। २९ जब तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक हुआ था तो तुम्हारे सुन्दर विस्तृत मस्तकपर जगमगाता मणिमय मुकुट बांधा गया, तुम्हारे ऊपर धवल चमर ढुर रहे थे। युवराज पदकी प्राप्तिके ३० कारण तुम्हारा वह देदीप्यमान प्रतापी स्वरूप मैं कैसे भूलूं? मैंने अन्य जन्मोंमें मृगियों और मृगोंसे उनके बच्चोंको दूर किया होगा। यह उसी पापकर्मका साक्षात् तथा समान परिणाम है ३१ जो मेरे ऊपर आ पड़ा है। इस संसारमें देहधारी जीवोंका जन्म ग्रहण करना कितना रक्षा हीन है, कितना अनित्य है तथा कितना भयंकर सारहीन है यह मैंने आज भली भांति अनुभव ३२ कर लिया है। यह दुखमय अवस्था और किसीकी आजतक नहीं हुई है। पूर्वभवमें आत्मा जिन भले बुरे कर्मोंको करता है वे कर्म अपने फल-रूपमें उस जीवको अवश्य प्राप्त होते हैं। उसे न तो कोई रोक सकता है और न कोई वशमें ही कर सकता है, मनुष्यकी तो शक्ति ही ३३ क्या है देव भी कुछ नही कर सकते हैं।' इस प्रकार होनहार पुत्रका अकस्मात् वियोग हो जानेसे उत्पन्न दुखने राजा तथा रानीके मानसिक संतापको उसकी अन्तिम सीमासे भी आगे बढ़ा दिया था। यही कारण था कि वियोगका दुख राजा-रानीमें साकार हो गया था—उन्हें देखते ही ऐसा प्रतीत होता था कि यह प्रौढ़ जोड़ी दुखकी मूर्ति ही है।

३४ युवराज वरांगकी अनुपमा आदि धर्मपत्नियां शील तथा स्वभावमें देवोंके अधिपति इन्द्रकी इन्द्राणियोंके ही समान थीं। जब उन्हें समाचार मिला कि कोई दुष्ट घोड़ा युवराजको ले भागा है तो वियोगकी कल्पनासे ही वे अथाह भय समुद्रमें डूब गयी

भारतीय पत्नी

३५ थीं। स्वभावसे कोमल तथा चञ्चल लताको यदि अत्यन्त प्रचण्ड आंधीके

झोंके झकझोर डालें तो जो उसका हाल होता है, वही दीनहीन अवस्था; पतिपर पड़े दुखरूपी आंधीके निर्दय झकोरोंके मारे उन सब सुकुमार बहुओंकी थी, वे निढाल होकर पृथ्वीपर जा गिरी थीं। इन्हें मूर्च्छित होकर गिरते देखकर अन्तःपुरमें नियुक्त बौने, कुबड़े, धात्रियां तथा ३६ अन्य सब ही परिचारिकाएं, जो उस भयानक परिवर्तनके कारण घबड़ा गयी थीं और रो रही थीं, चारों तरफसे दौड़ीं और मूर्च्छित बहुओंको उन्होंने चारों ओरसे घेर लिया था। इस ३७ सर्वव्याप्त हड़बड़ीमें भी जिनका विवेक काम कर रहा था उन्होंने बहुओंके शिर आदि मर्म स्थानोंपर शीतल जलके छींटे देने प्रारम्भ किया था। गोरोचनके जलसे तथा चन्दनके जल आदि द्वारा सुकुमार स्थानोंको अत्यन्त त्वरा और तत्परताके साथ आर्द्र किया था। मूर्च्छित ३८ राजवधुओंकी परिचर्यामें वे इतनी लीन थीं कि उनके सुकुमार हाथ बिजलीकी तरह वेगसे चल रहे थे। कोई ताड़के पत्तोंके पंखोंसे हवा कर रही थी, दूसरी शीतल हारों या मणियोंके द्वारा उनके शरीरको छूती थी। फूलकी मालाओंको मर्मस्थलोंपर लगा रही थी, क्योंकि इन सब वस्तुओंका स्पर्श सुखद और शान्तिप्रद होता है। इस प्रकारकी परिचर्याके कुछ समय पीछे ३९ युवराजकी कुलीन प्राण-प्यारियोंको फिरसे संज्ञा (होश) वापिस आयी थी। संज्ञा आते ही उन्होंने हृदयद्रावक रुदन और विलाप करना प्रारम्भ कर दिया था तथा लड़खड़ाती हुई उठकर बैठ गयी थीं।

कर्णप्रिय तथा सुन्दर शब्दोंके द्वारा की गयी निरर्थक वाक्यरचना जिस प्रकार आकर्षण ४० हीन होती है तथा जैसे वह लता व्यर्थ होती है जिसपर फूल नहीं आते हैं उसी प्रकार शरीरसे सुन्दर तथा गुणवती युवराजकी वही बहुएं उसके बिना सर्वथा श्रीहीन ही दिखती थीं। कुछ बहुओंके मुखपर जब शीतल जलके ४१ छींटे दिये गये थे, तभी विषादकी तीव्रताके कारण वे विकसित तथा सुन्दर मुख कमलके समान म्लान दिखते थे, आंखोंसे आँसुओंकी धार बह रही थी तथा दुखरूपी झंझाके झोंकोंसे वे रह-रह-कर सिहर उठती थीं (सब ही विशेष लताके रूपकको स्पष्ट करते हैं क्योंकि हिमपातसे फूल मुरझा जाते हैं, ओसका पानी बहने लगता है और हवासे हिलने लगती हैं।) दूसरी राजवधुओंको ४२ संसारसे इतनी प्रबल निराशा हो गयी थी कि हताश होकर उन्होंने हथेलीपर गाल रख लिये थे, कृष्ण कुंचित केशोंके बंधन खुल जानेके कारण वे इधर-उधर फैल गये थे तथा वे अनित्य सांसारिक भोगोंकी खूब गर्हणा कर रही थीं। अन्य सुकुमार सुन्दरियोंके दुखकी तीव्रताके ४३ कारण मस्तिष्क ही फिर गये थे, वे पागलोंकी तरह अनजाने ही नाचती थीं, किन्तु उनके चरण सहज कोमल तथा सुन्दर थे, हाथोंकी हथेलियां लाल कमलोंके समान सुन्दर तथा आकर्षक थीं फलतः वे धीरे धीरे पैर रखकर जब हाथ हिलाती थीं तो ऐसा लगता था कि वे पागल नहीं हैं अपितु कलापूर्वक नाच रही हैं। वियोगकी ज्वालाकी लपटोंसे कुछ राजवधुएं ४४ एक क्षण भरमें ही बिल्कुल मुरझा गयी थीं अन्य बहुएं जो स्वभावसे ही बड़ी सुकुमार तथा दुबली-पतली थीं उनकी वियोगके दुखपूरके थपेड़ोंसे वही अवस्था हो गयी थी जो सहज सुन्दर तथा मृदुल लताकी जड़ें काट देनेपर हो जाती है। राजवधुओंका कण्ठ स्वभावसे ही मधुर था, ४५ रोते रोते उन्हें अपने पतिके अनेक गुण याद आते थे जिन्हें वे अत्यन्त करुण तथा हृदय-विदारक ढंगसे गा, गाकर विलाप करती थीं और उसके गुणोंको स्मरण करके और अधिक दुख पाती थीं। उनमेंसे कुछ-कुलवधुएं तो जीवनसे इतनी हताश हो गयीं थीं कि वे उद्धत ४६

पत्नियोंका शोक-सन्ताप

होकर यमराजका सम्बोधन करके कहती थी—'हे कृतान्त ! तुम इतने निर्दय तथा निघृण हो कि तुम्हें निश्चयसे स्त्रीकी हत्याका पाप लगे गा, क्योंकि हम लोगोंको प्राणनाथसे वियुक्त करके
४७ तुमने हमारी मृत्युका आह्वान ही किया है ।' यदि स्त्री हत्यासे बचना चाहते हो तो या तो हम सबको उस देशमें ले चलो जहां प्राणनाथको ले गये हो, या उनको हम लोगोंके बीचमें ले आओ । यदि इन दो में से एक भी विकल्प तुम्हें नहीं स्वीकार है तो निश्चय समझो हे कृतान्त !
४८ तुम्हारे मस्तकपर स्त्रीहत्या ऐसे अधम पातकका टीका लग ही जायगा । पूर्वोक्त प्रकारसे वे रुदन और विलाप करती थी, उनकी आंखोंसे बहती हुई आंसुओंकी नदी उमड़ती ही आती थी, एक क्षण भरके लिए भी उसमें विराम न आता था । विपत्तिका कोई प्रतीकार न देखकर वे अन्तमें ससुरके चरणोंमें गयी थी, किन्तु मार्गमें भी वे गिर गिर पड़ती थीं और उठती पड़ती चली जा रही थीं ।

४९ महाराज धर्मसेनके पास पहुंचते ही वे उनके चरणोंमें गिर पड़ी थीं युवराजके वियोगने उन वधुओंको इतना विह्वल कर दिया था कि राजाके निजी दुःखका ख्याल न करके

ससुरसे दुःख रोना

५० उन्होंने राजासे निम्न नम्र निवेदन किया था । 'हे पिताजी ! आप न्याय नीतिमें पारंगत हैं, सत्यका पता लगाकर दुष्ट पुरुषोंका कड़ा निग्रह करते हैं, प्रजामात्रका हित करनेके लिए अपने आपको भी भूले हुए हैं, दीनों और दुखियोंपर जितनी स्वाभाविक दया आपको है उतनी किसीको हो ही नहीं सकती यही कारण है कि
५१ आपको संसार धर्मराज मानता है तथा आपकी कीर्ति पूर्ण पृथ्वीपर फैल रही है । यही विशेषताएं हैं जो आपके चरणोंमें आज हम सबको ले आयी हैं । हम आपसे शरणकी याचना करती हैं, क्योंकि अपने पतिसे वियुक्त हो जानेके कारण आज हम अनाथ हो गयी हैं तथा
५२ हमारी मानसिक तथा शारीरिक सब ही वृत्तियां दीन अवस्थामें पहुंच गयी हैं । नीतिशास्त्रमें कहा है कि विपत्तिमें पड़े बालक, स्त्री तथा वृद्धोंपर सब कार्य छोड़कर दया करनी ही चाहिये । इस नीतिवाक्यको समझकर हे महाराज आप ही जानें कि हम लोगोंके विषयमें कौन सा कर्त्तव्य कल्याणकर होगा ।

५३ जैसा कि पहिले कहा है इसी प्रकारके अद्भुत तथा विविध ढंगोंसे वे कुलीन वधुएं विलाप करती थीं । ससुरके पास पहुंचकर उनके हृदयका बांध ही टूट गया था इसीलिए वे
५४ अत्यन्त करुण तथा घोर चीत्कार कर रही थीं । उन शिष्ट कुलीन वधुओंको कलपता देखकर उन लोगोंकी दासियां, कुबड़े, बौने आदि सेवक, अन्य परिचारक, अनुभवी वृद्ध कञ्चुकी तथा अन्तःपुरमें नियुक्त महामात्य तथा अन्य लोग भी बुरी तरह चीखने लगे थे । उस समयका

शोक सागर

५५ आक्रन्दन वास्तवमें बहुत विशाल और दारुण था । अपने पद, अवस्था आदिको भूलकर रोनेमें भरत स्त्रियों, बच्चों तथा बुड्ढोंके कण्ठोंसे निकली करुण ध्वनिका वैसा ही घोरनाद हो रहा था, जैसा कि समुद्रमें उस समय होता है जब वह ज्वार-भाटा या आंधी आदिसे क्षुब्ध हो जाता है ।

५६ महारानी गुणदेवी अपने पुत्रके वियोगसे यों ही गद्गद हो रही थी, उसपर भी जब सुकुमारी-सुन्दरी वहुओंको उक्त प्रकारसे रोते विलपते देखा तो उनके नयनोंमें भी आसुओंकी

पुत्रवियोगसे पागल माता

वाढ़ आ गयी तथा दुखका आवेग इतना बढ़ा कि उनके मुखसे
५७ एक शब्द भी न निकल सका था । उन्हें एक प्रकार उन्माद सा

हो गया था अतएव मुनमें सोना पिरोकर बनायी गयी करधनी। कर्णफूल आदिकी झालर, रत्नों और मणियोंकी माला, हाथोंके कड़े, करधनी, भांति भांतिकी घुंघुरुओंकी झालरयुक्त सुन्दर पाद-कटक, कर्णभूषण, कानोंकी लोंगें, कर्णपूर, केशोंके जूड़ेमें गुथे मुक्ताहार, शीर्षफल, आदि मस्तकके आभरण, रत्नोंके विविध हार, मूंगोंके आभूषण, पैरोंके सौभाग्य चिह्न नूपुर भुजाओंके आभूषण बाजूबन्ध (अंगद), गलेकी कण्ठी, श्रीवत्समणि युक्त मुक्तादाम, छोटी छोटी घंटियों युक्त रसना तथा पैरको ढक लेनेवाला चरणभूषण पायल इन सब भूषणोंको शरीरपरसे नोच, झटककर दिया, विदिशाका ख्याल किये विना ही रानियां इधर उधर फेंकती जाती थीं। शोकके आवेगमें उत्पन्न इन क्रियाओंके द्वारा रानियोंकी कान्ति तथा तेज नष्ट होता जा रहा था। उनके द्वारा शरीरपरसे उतारकर फेंके गये भूषणोंसे पृथ्वी पट गयी थी। भूषणयुक्त पृथ्वीकी शोभा वैसी ही थी जैसी कि ग्रह, नक्षत्र तथा ताराओंसे प्रकाशमान आकाशकी होती है। उस दुखकी घड़ीमें लगभग सबही अन्तःपुरकी रानियां विशेषकर युवराजकी सब ही वधुएं अपने अपने महलोंसे आकर वहां इकट्ठी हो गयी थीं। इनमें जो वधु युवराजको परम प्रिय थी वह उठकर खड़ी हो गयी थी और दोनों हाथ जोड़कर महाराज धर्मसेनसे निवेदन कर रही थी—'हे पिताजी ! पतिसे वियुक्त होकर हम सब अब और अधिक समय तक जीनेमें सर्वथा असमर्थ हैं, अतएव अब आपको हृदय कड़ा करके हमपर अनुग्रह करना ही चाहिये, मैं तो अब जलती ज्वालामें प्रवेश करती हूं।' ५८ ५९ ६० ६१ ६२

इस हताशापूर्ण निश्चयको सुनते ही राजाका पुत्रवियोगसे उत्पन्न दुख दुगुना हो गया था, शोकके आवेगसे वे पिघलसे उठे थे, अतएव उनके ऐसे स्वभावसे ही धीर गम्भीर व्यक्तिका मुख भी अश्रुधारासे भीग गया था तथापि हृदयको कड़ा करके उन्होने पुत्रवधूसे समझाया था। 'बेटी अनुपमा ! तुम इस प्रकारकी बात सोचो भी मत, आत्महत्या अत्यन्त अशोभन कार्य है, इसीलिए पुराण, आचार्यों तथा साधु पुरुषोंने इसको करनेका उपदेश नहीं दिया है अपितु तीव्रतम विरोध किया है क्योंकि ऐसा करनेमें इस भवमें आ पड़ी विपत्तिका ही उपशम नहीं होता है, इतना ही नहीं भव, भवके दुख बढ़ते हैं। ६३ ६४

"प्रवादै रेवावधार्यते"

किसी हथियारसे गला आदि काटकर मृत्युको बुलाना, गलेमें रस्सीकी पांश डालकर प्राण देना, तलवार या भालेकी नोकपर गिरकर शरीरको वेधना, पहाड़के उन्नत शिखरपरसे गिरना, पानीमें डूब मरना, लपलपाती आगकी ज्वालामें कूदकर प्राण दे देना, जंगल आदि एकान्त स्थानमें जाकर पड़ जाना और अपनी देहको गीध चील आदि पंछियोंसे नुचवाकर त्याग देना, जिह्वा काटकर फेंक देना तथा विष खा कर प्राण त्यागना इन सब आत्महत्याके उपायोंका जगत-पूज्य श्रेष्ठ महात्माओंने निषेध किया है। हे पुत्रि ! जो सच्चे देव, शास्त्र तथा गुरुको नति नहीं करते हैं, व्रतोंसे दूर भागते हैं, गुणोंकी गर्हणा करते हैं, शील सदाचारसे जिनकी भेंट भी नहीं है तथा रोगों, बुढ़ापे तथा मृत्युसे जो सदा आक्रान्त रहते हैं, ऐसे अज्ञानी लोग ही उक्त ढंगोंसे अपने प्राणोंका विध्वंस करते हैं। किन्तु तुम जानती ही हो कि श्री अर्हन्त परमेष्ठी अपनी विशाल तपस्या, सर्वांग ज्ञान तथा लोककल्याणके कारण तीनों लोकोंके पथ प्रदर्शक गुरु हैं क्योंकि वे समस्त तत्त्वोंके साक्षात् द्रष्टा हैं अतएव सर्वज्ञ हैं। उनका ही आदर्श मेरे कुल तथा मेरी दृष्टिमें पवित्र है तथा ६५ ६६ ६७ ६८

आत्महत्या हिंसा है

६९ कल्याणकारी है अतएव यदि बेटी मेरा कहना मानो तो वीतराग सर्वज्ञ प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्मके आचरणमें मन तथा शरीरको लगाओ। वीतराग तीर्थंकरोंका जैनधर्म ही नौकाके समान अपने आश्रितोंको आपत्तिरूपी महासमुद्रके पार ले जाता है।

७० धर्मनिष्ठ राजाके द्वारा उक्त प्रकारसे ढाढस दिलाये जानेपर सती साध्वी अनुपमाने अपने धर्मवत्सल ससुरसे सविनय इतना ही निवेदन किया था–'हे पिताजी! आप जिस धर्मपर श्रद्धा करनेको कह रहे हैं मेरे द्वारा भी मन, वचन, कायसे उसी धर्मकी उपासना की जाती है।

धर्म ही शरण है

७१ प्रधान पुत्रवधू अनुपमा देवीके उत्तरको सुन कर राजा मन ही मन अपनी बहूकी योग्यतापर बड़े प्रसन्न हुए थे। अतएव अपनी नवोढा पुत्रवधुओंके वियोगजन्य शोककी ज्वालाको शान्त करनेके अभिप्रायसे ही वे विषयनिर्लिप्त निर्ग्रन्थ साधुओंकी सेवामें गये थे।

७२ सब पुत्रवधुओंको साथ लेकर महाराज धर्मसेन मुनिराज यमधरके चरणोंमें पहुंचे थे, जो परमशान्त योगी थे। पहुंचते ही अपने कुटुम्बके साथ महाराजने उनकी तीन प्रदक्षिणा कीं थी तथा साष्टांग प्रणाम करनेके उपरान्त पूर्ण विनयपूर्वक महाराजसे निवेदन किया था—

७३ 'हे गुरुवर! एक दुष्ट घोड़ा युवराज वरांगको किसी अज्ञात दिशामें ले गया है अतएव उसके वियोगसे विह्वल होकर मेरी पुत्रवधुएं शास्त्रके विरुद्ध कुप्रतिज्ञाएं करके उन्हें पूर्ण (आत्मवध) करनेपर तुली हैं। आप अनुग्रह करके इनमें सन्मति जगा कर इन्हें वीतरागधर्मका उपदेश दीजिये।'

धर्मो रक्षति रक्षितः

७४ 'मुनिवरने देखा कि राजपुत्रकी सब बहुओंके चित्त शोककी ज्वालामें तप कर कर्तव्य तथा अकर्तव्यके ज्ञानसे हीन हो गये है अतएव उनके रागके रंगमें रंगे हृदयोंको शान्त तथा

७५ स्वच्छ करनेके लिए उन्होंने मधुर वाणीसे समझाना प्रारम्भ किया था–'प्राय: करके संसारमें जीव दुख ही सदा भरते हैं सुख तो इतना कम है कि कभी कभी प्राप्त होता है। पर सुख दुख ही क्या, सब ही संस्कार क्षणिक हैं आपाततः प्राणप्रिय जनोंका समागम ही कैसे नित्य हो सकता है? वह भी अन्य संस्कारोंकी भांति नष्ट होता ही है।

विवेक वृष्टि

७६ जिसका उभार आनेपर मनुष्य अपनेको सब कुछ समझता है उसी यौवनको कुछ समय बाद रोग, बुढापा आदि जरजर कर देते हैं, जिसका अभिमानरूपी नशा मद्यसे भी भयंकर होता है उस वैभवकी चंचलता कौन नहीं जानता? कौन नहीं देखता है कि यह जीवन उस ओसकी

७७ बूंदके समान है जो वायुके झोकोंसे हिलते दूबके तिनके पर जमा रहता है? प्रीतिके रहस्यको समझना है तो सन्ध्या समय बादलोंकी मनमोहक लालिमापर दृष्टि डालो, सम्पत्तिके स्वरूपको आकाशमें कौंधनेवाली विद्युत रेखा ही साक्षात् दिखा देती है। रोगोंके भेदों तथा उनकी कष्ट देनेकी सामर्थ्यको पूर्णरूपसे वताना असंभव है तथा जिस शरीरमें यह रोग उत्पन्न होते हैं

७८ वह पानीके बुद्बुदेसे भी दुर्बल है। कौन किसकी माता है? कौन किसका पिता है? किसकी कौन जीवनसहचरी है? तथा कौन किसका पुत्र हो सकता है? अरे! यह सब जन्म जन्ममें बदलते जाते हैं तथा नये नये जीव यह स्थान ग्रहण करते रहते हैं।

७९ तथ्य तो यह है कि आत्मा ही स्वयं अपना परमहितैषी बन्धु है। तथा आत्मा ही अपने आपका दारुण शत्रु है। आत्मा स्वयं जिन शुभ अशुभ कर्मोंको करता है उन सबके

८० भले बुरे परिणामको भी वही भरता है। यदि कोई आत्मा अभिरुचिपूर्वक मन, वचन तथा

कायसे किसी पापको करता है तो वह उसके परिपाक होनेपर उदयमें आये उसके फलको नहीं रोक सकता, साधारण आत्माकी तो शक्ति ही क्या है; यदि समस्त देव लोग भी इकट्ठे होकर प्रयत्न करें तो वे भी नहीं रोक सकते हैं। वन्धु बान्धवोंकी सहायताके द्वारा, सेवकों और मित्रोंके वलसे, मन्त्रोंकी शक्ति या अन्य योजनाओंके चमत्कारके कारण, अथवा असंख्य संपत्तिके वलपर भी कोई व्यक्ति ऐसा नहीं कर सकता है कि उसे पूर्वकृत कर्मका फल न भोगना पड़े। पूर्वजन्ममें जो जो भले बुरे कार्य जिस जिस शुभ या अशुभ द्वारसे किये जाते है उन उन समस्त कर्मोंके फल उत्तरकालमें उन उन व्यक्तियों या उन्हीं वस्तुओंके द्वारा ही प्राप्त होते हैं। किन्तु जिन प्राणियोंके चित्तोंको अज्ञानरूपी अन्धकारने घेर लिया है, जिन व्यक्तियोकी प्रकृति राग तथा द्वेषसे व्याप्त है, उनके लिए ही क्षणके समान अल्पकालीन पाप कर्मोंका फल अनन्तकालके समान अनेक रूपो द्वारा वढ़ता है। साधारणतया जीवोंके परिणाम तीव्र, मध्यम तथा मन्दके भेदसे तीन ही प्रकारके होते हैं, फलतः इन आधारोंके अनुसार ही पापकर्मोंका फल भी आत्माको क्रमशः तीव्र, मध्यम तथा मन्द सुख दुख आदिका अनुभव कराता है। ८१ ८२ ८३ ८४

कर्म ही विधाता है

जो स्वयं हिंसा करते हैं वे दूसरे पापी हिंसकोंके द्वारा मारे जाते हैं। दूसरोंकी बुराई करनेमें ही जिन्हें सुख मिलता है उनकी भी दूसरे खूब बुराई करते हैं। चोरोंको भी उनसे अधिक बलवान लूट लेते हैं, जो दूसरोंकी धरोहरें लुप्त कर देते हैं अन्य लोग उनके साथ भी वैसा ही करते हैं, दूसरोंको बंधनमें डालनेवाले स्वयं भी वन्धनके तीव्रतम दुख सहते हैं, अन्य पुरुषोंकी गतिविधिमें बाधा देनेवालोंको अलंघ्य वाधाओंका सामना करना पड़ता है, जिनका व्यवसाय दण्ड देना है उनपर भीषण दण्ड लगाये जाते हैं, बिना कारण ही दूसरोंको रुलानेवाले स्वयं भी शोकमें घुल घुलकर मरते हैं, क्या संसारके कुटिल ठग दूसरोंसे नहीं ठगे जाते हैं? कौन ऐसा व्यक्ति है जो दूसरोंको विरह वह्निमें झोंककर स्वयं उससे अछूता रह गया हो, दूसरोंको घेरकर लूट खसोट करनेवाला कौन ऐसा है जो स्वयं घेरेमें न पड़ा हो, संसार भरसे द्वेष करके कौन व्यक्ति किसीका प्रेम पा सका है। ८५ ८६ ८७

कानके लिए कान

सन्ध्याके समय अनेक दिशाओं और देशोंसे उड़कर पक्षी किसी वृक्षपर पहुंचते हैं, रात भर सब एक साथ वहीं निवास करते हैं किन्तु प्रातःकाल अरुणोदय होते ही वे इधर उधर अपने अपने मार्गोंपर चले जाते हैं। क्या संसार समागमकी यही अवस्था नहीं है। वैभाविक परिणतिकी प्रेरणासे दुष्कर्मोंमें लगे प्राणी पक्षियोंके समान ही किसी कुटुम्ब रूपी वृक्षका आश्रय लेते हैं, कुछ समय तक साथ साथ रहते हैं किन्तु अपने अपने कर्मोके उदय होनेपर कर्मोंके द्वारा बनाये गये मार्गोंपर चले जाते हैं। ८८ ८९

दुनिया रैन वसेरा

जैसे वहुतसे विभिन्न देशोंसे आगत यात्री एक ही नावपर सवार होकर कठिनतासे पार करने योग्य धारा या जलाशयको पार करते हैं, दूसरे किनारे पर उतरते ही वे अपनी अपनी सामग्री-को वेचनेके लिए अलग अलग अनेक नगरों तथा आकरोंको चले जाते हैं। इसी प्रकार दुखोंकी सत्तारूपी भारसे लदकर कर्मरूपी महामार्गपर चलनेवाले समस्त जीव भी अपने पापोंके भारको वेचनेके लिए (उदयमें लाकर निर्जरा करनेके लिए) इस संसारकी चारों गतियोंमें घूमते हैं। ९० ९१

पतझड़का समय आनेपर वृक्षोंके पत्ते अपने आप इधर उधर गिर जाते है, फिर वसन्तकी समीर-का एक झोंका आता है, उन सब पत्रोंका एक ढेर कर देता है, थोड़ी देर वाद दूसरा आता है ९२

९३ और न जाने उन्हें किधर किधर बिखेर देता है। सांसारिक समागम भी ऐसे ही हैं, अनादि कालसे वर्तमान जीव लोकमें इधर उधर सब स्थानोंपर व्याप्त हैं किसी एक कर्मका थपेड़ा उन्हें एक कुल, पुरा, नगर, देश आदिमें इकट्ठा कर देता है किन्तु दूसरा उन्हें यत्र, तत्र सर्वत्र बिखेर देता है।

९४ यह ध्रुव सत्य है कि जो सूर्य प्रातःकाल उदित होकर सारे संसारकी आंखें अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है वह मध्याह्नको पूर्ण प्रतापी होकर आगे संध्या तक पहुंचते पहुंचते अस्त हो हो जाता है। जो दीपक जलाये जानेपर आसपासके स्थलको आलोकित कर देता है वह भी अन्त समय आनेपर बुझ ही जाता है।

अवनति ही निश्चित है

९५ आकाशमें मेघोंके एकसे एक उत्तम आकार बनते हैं, किन्तु वे देखते देखते ही विलीन हो जाते हैं इसी प्रकार जो जीव जन्म लेकर प्रकट हुआ है वह आयु समाप्त होनेपर मृत्युके कारण अवश्य ही कहीं लीन हो जायेगा।

९६ परम प्रतापी राजा लोग, अलौकिक विद्याओंके अधिपति खेचर, अनन्त प्रभावशाली नारायण (राम, बलभद्रादि), भरत आदि पट्खंड विजयी चक्रवर्ती, शलाका पुरुष, रुद्र (शिव, द्वीपायनादि) यौगिक सिद्धियोंके अधिष्ठाता तांत्रिक मांत्रिक, इन्द्रिय निग्रही परम तपस्वी, सोलह स्वर्गोंके इन्द्र, परम उद्योतमान चन्द्रमा और सूर्य, यम, वरुण, कुबेर आदि लोकपाल तथा लक्ष्मण अर्जुनके समान महासेनापति भी जब आयुकर्म समाप्त हो गया तो ये सब क्षुद्र कीटकी तरह मृत्युके मुखमें पड़े। कोई भी शक्ति उनकी रक्षा नहीं कर सकी।

९७ मृत्युमें आश्चर्य नहीं

९८ जैसे कोई मदोन्मत्त हाथी किसी कदली बनमें घुस जावे तो वह बिना किसी संकोचके जिधर भी बढ़ता है उधर ही केलेके पेड़ोंको पैरोंसे कुचलकर, दांतोंसे फाड़कर तथा सूंडसे मरोड़कर बार बार मसलता है, उसी प्रकार मृत्यु (आयुकर्मकी समाप्ति) रूपी पागल हाथी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य तथा देवगतिरूपी कदली बनोंमें घूमता है। तथा जिन जीवोंके आयु कर्मकी इतिश्री आ पहुंचती हैं उन्हें दिन रात निर्दयतापूर्वक कुचलता जाता है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। अंत करनेवाला (यम = आयुकर्म) तिर्यञ्च, मनुष्य, अमर तथा नारकों सब ही योनियोंमें अबाधरूपसे घूमता है संसारकी कोई शक्ति उसको रोक नहीं सकती है। वह विषके प्रयोग, अनियत असंयत भोजन-पान, अग्निकाण्ड, आँधी अथवा विपाक्त वायुप्रवाह, युद्ध प्रसंग, वज्रपात, साधारण आग तथा विविध प्रकारके अनेक रोगोंके रूपमें संसारके प्राणियोंपर झपटता है।

९९ आयुकर्मकी बलवत्ता

१००

१०१

१०२ परवशंता, पराधीनता तथा उत्साहहीनतामय बुढ़ापा, किये करायेको स्वाहा करनेवाली मृत्यु गर्भावासके महा दुखोंसे पूर्ण जन्मके प्रसंगों द्वारा यह आत्मा इस संसार चक्रमें पुनः पुनः बिना रुके ही चक्कर काटता है। जहां पर किसी जीवका जन्म होता है वहांपर निरपवादरूपसे वृद्धावस्थाका आविर्भाव होता ही है, तथा जब किसी प्राणीके शरीरको बुढ़ौतीने जरजर कर ही दिया है तो उसकी यदि कोई बात अटल है तो वह मृत्यु ही है। संसारमें अनन्त दुख हैं पर कोई भी दुख प्रसवके दुखोंकी समानता नहीं कर सकता है, कष्ट भी संसारमें एकसे एक बढ़कर है पर बुढ़ौतीका कष्ट सबसे बढ़कर है, इसी प्रकार त्रिलोकमें कोई ऐसा भय नहीं है जिसकी तुलना मृत्युभयसे की जा सके। तथा सबसे बड़ी परवशता तो यह है कि इन तीनों घाट सबको ही उतरना पड़ता है। जो कर्मोंके शास्त्रके

१०३ त्रिदुःख

१०४

१०५

विशेषज्ञ हैं उनके मतसे जन्मको वीते हुए कलके समान समझना चाहिये, जो अब तक सामने नहीं आया है उस आनेवाले कलके समान जानना आवश्यक है तथा जो आत्मापर घट रहा है उस वर्तमानकी तुलना 'आज' से की गयी है। अज्ञानके गाढ़ अन्धकारसे व्याप्त रात्रि इस संसारमें सदा ही रहती है अतएव कृतान्त रूपी चोरको सदा अवसर मिलता है वह आयेगा और ले भागेगा, कोई भाई वन्धु या रक्षक उससे न बचा पायेगा, केवल उस धर्मको छोड़कर जिसका कि जीवने स्वयं आचरण किया है। १०६

वीतराग तीर्थकरोंने तपस्याके द्वारा मृत्युको जीता था, उनके उपदेशके अनुसार दयापूर्ण आचार-विचार ही धर्म है, क्योकि इस धर्मको धारण करने तथा आचरण करनेसे ही संसारके जीव सुख पा और दे सकते है। अतएव हे राजवधुओ ! तुम सब उस दयामय धर्ममें ही अपने आपको लगाओ, क्यो कि वह सब ही अभिलषित पदार्थोंकी प्राप्ति कराता है। तब कोई कारण नहीं कि उसका विधिपूर्वक आचरण करनेपर भी आप लोगोका पतिसे पुनः संयोग न हो। इस संसारमें सब अशुभोंका सफल प्रतोकार एक ही है, वह है पूर्वोक्त दयामय धर्म। यह निश्चित है कि पापकर्मोंके आनेका द्वार यदि किसीके द्वारा नियमसे बन्द हो सकता है तो वह धर्म ही है। १०७ १०८ १०९

दया धर्मका मूल

अहिंसा आदि पांच व्रतोंका पालन, सामायिक आदि सात शीलोंकी साधना, अभ्यन्तर तथा बाह्य तप, इन्द्रियोंका संयम तथा अष्टद्रव्यके द्वारा वीतराग प्रभुकी द्रव्य तथा भावपूजा ये सबके सब सांसारिक दुखोको जीर्ण करके विखरा देनेके प्रधान उपाय हैं। इसमे अणुमात्र भी संशय नहीं है। साधारणतया तीन श्रेणियोंमें विभक्त व्रतोंमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह परिमाणके भेदसे अणुव्रत पांच प्रकारके है। गुणव्रतोके दिग्व्रत, देशव्रत तथा अनर्थ दण्डत्यागव्रत ये तीन विभाग है तथा शिक्षाव्रत सामायिक, प्रोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभागके भेदसे चार प्रकारका है, इस प्रकार सब व्रतोंकी संख्या बारह होती है। ११० १११

अणुव्रतोंका पालनीय हैं

देवताओको प्रसन्न करके उनकी कृपा प्राप्त करनेके लिए घरपर आये अतिथिका सत्कार करनेके लिए (वैदिक कथा है कि जब वाल्मीकिके यहां विश्वामित्र गये थे तो स्वयं अहिंसक वाल्मीकिने राजर्षिके स्वागतके लिए गाय मरवायी थी। आजकल भी लोग म्लेच्छ अधिकारियोंकी पार्टीमें 'टिनड्' मांस आदिकी व्यवस्था करते है), मन्त्र साधनेकी लिप्सासे (सुअर आदि काटना), औषधि-रूपसे (अण्डा, सोरवा एलोपैथ डाक्टर खिलाते हैं) अथवा किसी भयके कारण संसारके किसी भी प्राणीको नहीं मारना चाहिये। इसे ही अहिसा अणुव्रत कहते हैं। ११२

अहिंसाकी सरल परिभाषा

किसी प्रकारके लोभकी प्रेरणासे, किसी विषयके उत्कट मोहके कारण, डराने धमकानेसे, वैमनस्यका प्रतिशोध करनेकी अभिलाषासे, मायाचार या चाटुकारिताके प्रसंगमे, अहंकार या किसी और दम्भके कारण किसी भी प्रकारके असत्यको जिह्वापर न लानेको ही सत्य अणुव्रत कहते हैं। ११३

सत्यका सरल स्वरूप

साधारण स्थल या खेतमें, मार्गपर अथवा खलिहानमें रक्खी हुई, प्रमादसे गिरी हुई अथवा भूली हुई किसी भी वस्तुको उसके स्वामीकी स्वीकृतिके विना न उठानेको ही अस्तेय अणुव्रत कहते है। ११४

अस्तेयका रूप

११५ अपनी विवाहित पत्नीके अतिरिक्त संसारकी सब ही देवियोंको अपनी माता बहिन तथा बेटीकी श्रेणीमें रखकर देखना, सोचना तथा चर्चा करना, साथ ही साथ अपनी पत्नियों (पत्नी) से परम संतुष्ट रहनेको स्वदार संतोष व्रत कहते हैं।

स्वदार-संतोष

११६ महल-मन्दिर-मठ आदि, बगीचा-खेत-जमींदारी-आदि, सोना-चाँदी आदि धन, व्यापार आदिकी दृष्टिसे अन्नोंका संचय, गाय-भैंस-बैल-घोड़ा-आदि पशु तथा सेवा टहल आदिके लिए आवश्यक किंकरोंके परिमाणका निश्चय कर लेना कि इतनेसे अधिक नहीं रखेंगे, इसे संतोष अथवा परिग्रह परिमाण व्रत कहते हैं।

परिग्रह परिमाण

११७ ऊपर तथा नीचे, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्खिन दिशाओंमें तथा अग्नेय, वायव्य, नैऋत तथा ईशान विदिशाओंमें आने जानेके क्षेत्रका निश्चय करके फिर किसी भी कारणसे उसके बाहर न जानेको दिग्व्रत नामका गुणव्रत कहते है। तैल इत्र

दिग्व्रत

११८ (क्रीम, स्नो, पाउडर आदि) आदि सुगन्धित पदार्थ, पान पत्ता, सुरती, (बिड़ी सिगार आदि) फूल, माला आदि वरप्रसंगों, पत्नियों, कपड़ों तथा आभूषणों आदि उपभोग भोगोंकी अपनी सात्त्विक आवश्यकताके अनुकूल तालिका बनाकर शेष सबके त्यागको भोगोपभोग परिमाणव्रत कहते हैं। डंडा, फंसानेकी पास या रस्सी,

भोगोपभोग परिमाण

११९ चूहोंकी स्वाभाविक शत्रु बिल्ली, विष, शस्त्र, आग सांकल आदि ऐसी वस्तुएं हैं जिनके द्वारा मनुष्य दूसरोंका सरलतासे वध कर सकता है। तथा उतनी ही आसानीसे आत्महत्या भी कर सकता है इन्हें किसीको न देना, दूसरोंके नाक, कान आदि

अनर्थ दंडत्याग

१२० अंग न छिदवाना, न कटवाना, किसीकी हत्या न करवाना, प्राणिमात्रको बन्धनमें डालनेका हेतु न होना तथा पशुओं तथा अन्य सब ही प्राणियोंपर उनकी सामर्थ्यसे अधिक भार न लदवाना, यह सब ही तीसरा अनर्थदण्डत्याग गुणव्रत हैं।

१२१ चित्तको एकाग्र और शान्त करनेके कारण जो सबसे उत्तम शरण हैं ऐसे वीतराग प्रभुके आदर्शको पंच नमस्कार मंत्रके उच्चारणपूर्वक प्रातःकाल तथा सन्ध्या समय अप्रमत्त होकर

१२२ मनसे सदा चिन्तवन करना, संसारके प्राणियोंके योनि, श्रेणि, कुल तथा गोत्र-कृत भेदको भुलाकर सबको एकसा समझना, इन्द्रियों और मनकी चंचलताको रोकना, स्व तथा परके लिए कल्याणकारक शुभ विचारोंको हृदयमें स्थान देना, दुख, शोक, हानिके विचारोंसे उत्पन्न आर्तध्यान, वैर, प्रतिशोध आदि भावमय रौद्रध्यानको छोड़कर पूर्ण प्रयत्नपूर्वक चित्तको जिनेन्द्रके आदर्शमें लीन करनेको ही सामायिक शिक्षाव्रत कहते हैं।

सामायिक

१२३ प्रत्येक मासमें दो अष्टमी तथा दो चतुर्दशी होती हैं। इस प्रकार कुल चार पर्व होते हैं। इन चारों पर्वदिनोंमें मनोगुप्ति (मनका पूर्ण नियन्त्रण) वचनगुप्ति (वचनका पूर्ण नियंत्रण) तथा कायगुप्ति (कायका पूर्ण नियंत्रण) का पालन करते हुए अत्यन्त सावधानीके साथ उपवास करनेको ही प्रोषध शिक्षाव्रत बताया है।

प्रोषधोपवास

१२४ निर्ग्रन्थ संयमी मुनिराज शरीरकी स्थितिके लिए ही शास्त्रमें बतायी गयी विधिके अनुसार परम पवित्रतापूर्वक तयार किये गये खाद्य, पेय आदि चार प्रकारके ही आहारको ग्रहण कर सकते हैं। अतएव उन्हें इस प्रकारके प्रासुक भोजनको श्रद्धा, भक्ति आदि दाताके आठ गुणोंके साथ देनेको अतिथि पूजन नामका तीसरा शिक्षाव्रत

अतिथि संविभाग

कहते हैं। प्रामाणिक निर्णायकाचार्यके मुखसे जीवनके अन्तको निकट समझ कर दस प्रकारके १२५
वाह्य तथा चौदह प्रकारके अभ्यन्तर; इस प्रकार चौवीसों प्रकारके परिग्रहको

सल्लेखता

पूर्णरूपसे त्यागकर पूर्ण अपरिग्रही रूपको प्राप्त करके अहिंसा आदि पांचों महाव्रतोंको धारण कर लेना तथा मृत्यु आनेपर ऐसी विशुद्ध अवस्थामें शरीर छोड़नेको सल्लेखना शिक्षाव्रत कहते हैं। इस प्रकार मैंने वारहो व्रतोंके संक्षिप्त लक्षण कहे हैं। मनुष्य १२६ भवमें जो प्राणी इन सवका विधिपूर्वक पालन करते हैं तथा अन्तमें मरण भी व्रतोंकी विधिके अनुसार ही करते है वे सच्चे व्रती श्रावक निश्चयसे अगले भवमे स्वर्ग पाते हैं।

जव वे यहांसे मरकर सौधर्म, ऐशान आदि कल्पोमें जन्म लेते हैं, तो वहां उन्हें किसी १२७ भी प्रकार दुख शोक नही होता है। इतना ही नहीं अणिमा, महिमा, गरिमा आदि आठ ऋद्धियोंसे सुलभ ऐश्वर्य भी उन्हें प्राप्त होते हैं इसमें थोड़ा सा भी सन्देह

स्वर्गसुख

नहीं है। उनकी देह तेजमय तथा वैक्रियक (जिसे मनचाहे आकारमें वदल १२८ सकते है तथा जिससे अलग इच्छानुसार आकार धारण कर सकते हैं) होती है, वड़े लम्वे अरसे तक वे अनुपम सुन्दरी अप्सराओसे रमण करते हैं, परिपूर्ण भोगो तथा अद्भुत अतिशयोंको प्राप्त करके आयुकर्म समाप्त होनेपर ही वे वहांसे आते हैं। देवायुको समाप्त करके १२९ जव वे इस पृथ्वीपर जन्म लेते हैं तो इस लोकके पूज्य· हरिवंश, सर्वप्रधान भोजवंश अथवा शलाका पुरुषोंकी खान इक्ष्वाकुवंशमें ही उत्पन्न होते हैं। यहांपर भी उन्हें इतना अधिक ऐश्वर्य और शक्ति प्राप्त होती है कि उसके कारण वे समुद्रान्त वसुधा तलपर सूर्यके समान तपते और प्रकाशित होते है। वे भोग उपभोगको असीम सम्पत्तिसे घिरे रहनेपर भी परम १३० ज्ञानी होते है। अतएव कुछ समय वाद उन्हें संसारके विषय-भोग तथा कामवासनासे विरक्ति हो जाती है तो वे स्वैराचार विरोधिनी जिन दीक्षाको धारण कर लेते है। फिर उग्र तपरूपी ज्वालाको प्रदीप्त करके उसमे कर्ममैलको भस्म करके परमपद मोक्षको प्रस्थान कर जाते हैं।' मुनिराज यमधरने इस प्रकारसे संक्षेपमें दुखके समूल नाशके कारणोंको समझाया था। १३१

युवराजकी विरहिणी पत्नियोंने यतिराजके उपदेशरूपी अमृतके प्रभावसे शोक दुख तथा आत्महत्याकी हठको छोड़ दिया था। महाराज धर्मसेनकी सव पुत्रवधुओंने उठकर -१३२ विनयपूर्वक यतिपतिके चरणोंको शान्तचित्तसे प्रणाम किया था। इसके

रागाग्नि शान्ति

उपरान्त उन सवने ही अपनी सहनशक्तिके अनुकूल अणुव्रत, गुणव्रत तथा शिक्षाव्रतोंको धारण किया था। 'यह सव होनेपर भी राजाने देखा था कि उनके हृदयोंपर जो १३३ पतिवियोगसे ठेस लगी है वह निर्मूल नहीं हुई है अतएव उनके हृदयोंमें आशा और आनन्दका संचार करनेके लिए उसने फिरसे उनसे निम्न वाक्य कहे थे—'हे पुत्रियो ! तुम सव अव खेद खिन्न मत होओ। शान्त चित्तसे धर्मके आचरणमें मनको लीन करते हुए समयको १३४ विताओ। इस वीचमें मैं भी सव दिशाओमेसे सव विधियोंसे फैलाये गये विविध उपायो द्वारा युवराज वरांगको ढूंढ़ता हूं'।

मुनिराज यमधरके धर्मोपदेशका शोकसे विह्वल वहुओंपर साक्षात् प्रभाव देखकर १३५ महाराज धर्मसेनका हृदय भक्तिके उभारसे पिघल उठा था। अतएव उन्होंने

दृढता धर्मरुचि

भक्तिभावसे ऋषिराजकी तीन प्रदक्षिणाएं करके प्रणाम किया था। तथा अपनी पुत्रवधुओं और रानियों आदि अन्तःपुरके साथ राजधानीको लौट आये थे।

एक दिन महाराज धर्मसेन निश्चिन्ततसे होकर शान्तिसे बैठे हुए थे, उनका अनुपम तेज चारों ओर छिटक रहा था किन्तु इसी अन्तरालमें पुत्रवधुओंने समाचार भेजा था कि 'हम सब श्री एक हजार आठ देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभुकी पूजा करना चाहती हैं।' बहुओंकी इस अभिलाषाका पता लगते ही महाराज धर्मसेनने एक अति विशाल जिन मन्दिरका निर्माण कराया था जिसका उत्सध और रंग शरद् ऋतुके मेघोंके समान था। विशेषता यही थी कि ऐसा विशाल जिन मन्दिर एक मासमें ही तैयार हो गया था। उस जिनालयका सबसे ऊपरी शिखर बादलोंका चुम्बन करता था, उसपर फहराये गये विशाल तथा विचित्र केतु आकाशमें लहरा रहे थे, सतत हिलते हुए घंटोंके गम्भीर नादसे वातावरण गूंजता रहता था तथा गर्भगृहमें निर्मित सोनेकी वेदीका आलोक सब दिशाओंमें जगमगा रहा था। उस महावेदीके ऊपर भांति-भांतिके वैडुर्य आदि रत्नोंसे निर्मित तीर्थंकरोंकी मनोज्ञ मूर्तियां स्थापित की गयी थीं। वेदीके चारों ओर शृङ्गार, आदर्श, पंखा, चमर, आदि अष्ट प्रातिहार्य मंगल-द्रव्योंकी स्थापना की गयी थी। जिससे गर्भगृहकी शोभा और अधिक निखर उठी थी।

१३६

जिन मन्दिर निर्माण

१३७

१३८

१३९

१४० सबसे पहिले राजाकी पुत्रवधुओंने आषाढ़, कार्त्तिक, फाल्गुनके अन्तिम आठ दिन पर्यन्त चलनेवाला नंदीश्वर द्वीपका महा विधान किया था। इसके उपरान्त मन तथा इन्द्रियोंको सन्मार्गपर लानेमें सहायक नित्य पूजा विधान प्रारम्भ किया था। वे प्रतिदिन पवित्र नैवेद्य, पांच रंगके पुष्पों, ध्वजा, माला, अभिषेक तथा अनुलेपन, रत्नोंके दीपक, चूर्ण किये गये चन्दन आदिकी बलि आदिके द्वारा वीतराग प्रभुकी पूजा करती थीं और प्रसन्न होती थीं। उन दिनों वे अपने मन, वचन तथा कायको भीतर बाहर शुद्ध रखती थीं, प्रतिदिन उपवास करती थीं जिससे शरीर दिनों दिन कृश होते जाते थे। इसके अतिरिक्त प्रतिदिन संध्यावन्दनाको जाती थीं और भांति-भांतिके स्तोत्रों और मंत्रों द्वारा जिनेन्द्र देवकी स्तुति करती थीं। इस सबसे बचे शेष समयको भी वे कुलीन वहुएं भगवान वीतरागकी धार्मिक कथा करनेमें व्यतीत करती थीं। अथवा जिन शास्त्रोंके पठन पाठनमें लगाती थीं। वे उस समय आगमके अनुकूल विधिसे दान और धर्म करती, करती थकती न थीं। कभी कभी वे शुद्धि आदि अष्टगुणोंको धारण करती हुई इन्द्रियसंयमी यतियोको उपकरण, शास्त्र आदि उत्तम दान देती थीं। युवराज वरांगकी पत्नियां उक्त प्रकारसे सत्पात्रको दान, महान व्रतोंका पालन, मन्दकषायिता आदि गुणों तथा वैराग्य आदि भावनाओंके आचरणमें लीन थीं फलतः उनका वियोगका शोक भी किसी प्रकार उपशान्त हो गया था। समस्त द्रव्य पर्यायोंके साक्षात् द्रष्टा सर्वज्ञ प्रभुओके चरणोंमें साष्टांग विनत होकर वे यही प्रार्थना करती थीं कि उनके पतिका अभ्युदय हो'। इतना होनेपर भी विरहजन्य उत्कण्ठाकी मेघमाला उनके हृदयपटलपर छा ही जाती थी, तब वे अत्यन्त हताश होकर अपनी कृश सुकुमार हथेलीपर कपोलको रख लेती थीं, उनके पलक आंसुओंसे भींग जाते थे, उनमें अश्रुधार बह निकलती थी, बार बार शीतल स्वांस लेती थीं और सब कुछ भूलकर पतिके समागमकी आशासे विचारसमुद्रमें डूब जाती थी।

अष्टह्निक विधान

१४१

१४२

१४३

१४४

१४५

धर्मकाम योग

१४६

चारों वर्ग समन्वित, सरलशब्द-अर्थ रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
अन्तःपुर-विलापनाम पञ्चदश सर्ग समाप्त।

षोडश सर्ग

ललितपुरके श्रीसान् सेठ लोग धर्म, अर्थ, काम, आदि पुरुषार्थों धन, धान्य, आदिके विभाजनमें कुशल थे, शरीर और मन दोनोंसे सुन्दर थे तथा व्यवहारमें अत्यन्त उदार थे। १

काहू उर दुचिताई

इन लोगोंके सब ही गुण इनके पुत्रोंमें भी थे। फलतः इन सबके अनुग्रहको स्वीकार करता हुआ पृथ्वीपति वरांग वहांपर आनन्दसे रमा हुआ था। जव वन्य हाथी यौवनके मदमें चूर होकर जंगल जंगल घूमता है तो युवती हथिनियां उसके पीछे पीछे दौड़ती है तथा यथेच्छ प्रकारसे वह उनके साथ रतिका सुख लेता है, किन्तु अपने असंयत आचरणके कारण बन्धको प्राप्त होकर दुख भरता है। विलकुल यही हालत युवराज वरांगकी थी। दूसरे राजाकी राजधानीमें पूर्वकृत पाप-कर्मोंका उदय होनेपर वह वाह्य सुख तथा आन्तरिक दुखके मिश्रित अनुभवको करता हुआ एक विचित्र अवस्थामें दिन काट रहा था। यद्यपि वे स्वयं निर्मल यश, अवदात गुण, अनुपम कान्ति तथा असंख्य सम्पत्तिके स्वामी थे। जिस समय युवराज वरांग ललितपुरीमें निवास कर रहे थे उसी समय वहांपर जो एक अति विशाल परिवर्तन घटित हुआ था उसका आगममें वर्णन मिलता है, मैं उसके अनुसार यहांपर वर्णन करूं गा, ज्ञान-पिपासा आदि गुणोंके भारसे नम्र आप सज्जनपुरुष उसे ध्यानसे सुने। २ ३ ४

उस समय यादवोंकी नगरी मथुरामें जो प्रतापी राजा राज्य करता था वह इन्द्रसेन नामसे पृथ्वीपर प्रसिद्ध था। महाराज इन्द्रसेनका बड़ा बेटा उपेन्द्रसेन था जिसे अपने पराक्रम ५

प्रभुताका मद

तथा सैन्य, कोश आदि बलका बड़ा अहंकार था। वह अहंकारी मथुराधिपका पुत्र इसी समय युवराज पदपर आसीन हुआ था। इन बाप बेटेको आस-पासके समस्त सामन्त राजाओंने अधिपति माना था और अपनी प्रभुताका पट्टा स्वयं सामने जाकर उनसे ग्रहण किया था। इन दोनोने समस्त सामन्त राजाओंके प्रभुताके अहंकारको चूर कर दिया था। किसी भी सामन्तमें इतना धैर्य और साहस न था कि वह उनके विरुद्ध शिर उठाता अतएव वे दोनो बाप-बेटे सूर्य और चन्द्रमाके समान चमक रहे थे। असीम वीर्य और तेजके कारण वे उद्दण्ड हो गये थे। उनके कोश और दण्ड (सैन्य आदि) की कोई समानता न कर सकता था। अपने सब सामन्त राजाओंके सार (सेना तथा कोश) को उन्होंने बलपूर्वक झटक लिया था। इनके चरोंके द्वारा इन्हें समाचार दिया गया था कि 'ललितपुरके अधिपति महाराज देवसेनके पास सर्वोत्तम हाथी है।' ६ ७

वह हाथी ऐसा हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर था कि उसे देखते ही आकर्षण हो जाता था, उसके गण्डस्थलसे सदा ही मदजल बहता था जिसके प्रवाहसे उसके दोनों कपाल स्निग्ध और ८

ललितपुरका सुन्दर हाथी

आर्द्र रहते थे, उसकी शक्तिका अनुमान करना ही कठिन था, उसका रंगरूप बरसते हुए मेघके समान था, इतना अधिक दृढ़ और विशाल था कि वह चलता फिरता पर्वत ही प्रतीत होता था, वह हाथियोंकी भद्र नामक जातिमें उत्पन्न हुआ था, हृदयसे शान्त था, भली भांति शिक्षित किया गया था, कार्य करना, विधिको समझना, ९

क्षेत्रको पहिचानना आदि गुणोंका भंडार था उसके शरीरका अनुपात तथा अंगोंका विभाग
१० आदर्श स्वरूप था, तथा उसके सुन्दर सुडौल गण्डस्थलोंका आगेका भाग ऊंचा था। इस मधुप्रभ नामके आदर्श हाथीको मथुराका राजा इन्द्रसेन प्रेमपूर्वक न मांगकर बलपूर्वक ललितपुरके अधिपतिसे छीन लेना चाहता था। वह अपनी प्रभुता और कोशके अभिमानमें इतना चूर था कि उसने जिस पत्रको लिखकर उक्त हाथीकी चाह प्रकट की थी उसमें सामनीतिका नाम ही न था। अपने बहुमान्य दूतको इस प्रकारके पत्रके साथ उसने भेजा था।

११ वह दूत भी मार्गमें भांति भांतिके वनोंको देखता हुआ, उन्नत पर्वत, गम्भीर नदी तथा पर्वतोंसे बहते हुए मनोहर झरनोंको लांघता हुआ, अनेक देशोंमें प्रवास करता हुआ तथा
१२ उत्तम ग्रामोंको देखता हुआ क्रमशः महाराज देवसेनके राष्ट्रकी सीमामें जा पहुंचा था। इसके

दूतका आना

उपरान्त धीरे धीरे वह उस राजधानीके पास जा पहुंचा था जिसका ललितपुर नाम सार्थक ही था क्योंकि वह उद्यानों, पियाउओं, अतिथि शालाओं, सभा आदिके द्वारा अत्यन्त मनमोहक थी। मथुराधिपतिके दूतने धीरेसे नगरमें प्रवेश करके राजसभाके उपयुक्त शिष्टाचारपूर्वक महाराज देवसेनके दर्शन किये थे।

१३ महाराज देवसेनने भी दूतके हाथसे लेखको लेकर खोला था तथा बाह्य शिष्टाचारके अनुसार उसको पढ़ा भी था। पढ़कर उसने देखा कि पत्रमें 'साम' का नाम ही न था और

अभिमानको ठेस

उद्धततासे भरा हुआ था। फलतः उसका क्रोध भभक उठा था, और
१४ लेखको उसने भूमिपर फेंक दिया था। क्रोधके कारण महाराज देवसेनके नेत्र लाल हो गये थे आवेशके वेगसे ओठ कांप रहे थे। क्रोधने विवेकको ढक लिया था फलतः उन्हें अपनी और शत्रुकी शक्तिका ध्यान ही न रहा था उन्होंने दूतको कठोर शब्द ही न कहे थे अपितु भर्त्सना भी की थी, इतना ही नहीं मथुराधिपके पत्रको उसके दूतके सामने ही पैरसे
१५ मसल दिया था। इतनेसे भी उनका क्रोध शान्त न हुआ था, सामने विवश खड़े दूतसे उन्होंने जो वचन कहे थे उनमें साम (शान्ति) की छाया तक न थी। उन्होंने कहा था 'बहुत कहनेसे क्या लाभ ?'

१६ तुम सुनो, हे दूत युद्धके विना इस अपमानकी शान्ति हो ही नहीं सकती है। तुम्हारे राजाने इसके पहिले आक्रमण करके अपने पराक्रमके बलपर सब सामन्त राजाओंकी जो

मथुराधिपकी भर्त्सना

विपुल सम्पत्ति छीन ली है उसे ही वह पचानेका प्रयत्न करे। उसके सिवा अब दूसरोंकी और अधिक सम्पत्ति या वैभवको अपहरण करनेका प्रयत्न न करे। कारण; ऐसा करनेमें उसका विपुल परिश्रम ही व्यर्थ न जायगा अपितु
१७ उसके अशुभ तथा अन्य अनर्थोंका होना भी बहुत संभव है। हे दूत ? तुम्हारे राजाको अब शान्त रहना चाहिये। उसे अपने राज्यके वर्तमान विस्तारसे ही संतोष करना चाहिये। जो उपयुक्त स्थान या मर्यादा है, उसके भीतर ही यदि वह न रहेगा तो मैं ही वहां आकर किसी
१८ दूसरे व्यक्तिको उसके सिंहासन पर बैठा दूंगा, इसमें थोड़ा भी सन्देह मत करो। मेरे द्वारा ही यह इन्द्रसेन मथुराके राज्य सिंहासन पर बैठाया गया है। अब यदि वह शक्तिके दर्पमें अपने कुलमें चली आयी परम्पराके अनुकूल आचरण नहीं करता है, तो इसके पहिले उसने बलपूर्वक जितना भी दूसरोंका धन छीन लिया है, उस दुष्ट, कदाचारीकी वह सबकी सब सम्पत्ति मैं
१९ दूसरोंके द्वारा लुटवा दूंगा। अथवा यदि उसे इतनी जल्दी है कि मेरे आनेकी प्रतीक्षा नहीं

कर सकता है, अथवा उसमें यदि कुछ भी पौरुष है तो वह समाचार पाते ही अपनी पूरी सेनाके साथ मुझसे युद्ध करनेके लिए चला आवे। हम दोनोमेंसे जो अधिक युद्धकुशल होगा तथा जो विजयी होगा, हारे हुएके देश, नगर, हाथी, घोड़ा आदि भी सर्वथा उसीके होगे। ललितपुरके राजा उस समय इतने कुपित थे कि भय आदि दूसरे भाव उनके पास भी न फटकते थे, अतएव उन्हें भरी सभाके सामने ही दूतको बुरी तरहसे डाटकर उक्त घोषणा की थी। उन्होंने मथुराधिपका विरोध करनेका निर्णय कर लिया था इसी कारण उसके पत्रका कोई उत्तर भी न दिया था तथा दूतका आधा शिर मुड़ा कर उसे वापिस कर दिया था। २०

आधा शिर मुड़ जानेके कारण मथुराधिपके दूतके चित्तमें बड़ा डर बैठ गया था। अतएव महाराज देवसेनने ज्योंही उसे राजसभा छोड़नेकी आज्ञा दी त्योंही अपने अधघुटे शिर पर हाथ फेरता हुआ वहांसे चल दिया था, तथा अपमानका इतना गहरा धक्का उसे लगा था कि वह चुपचाप विना कुछ कहे ही ललित-पुरसे चल दिया था। २१

दूतका अपमान

दूतके लौटनेका समाचार पाकर मथुराधिप इन्द्रसेनने उसे भरी राजसभामें अपने कार्यका समाचार देनेके लिए बुलाया था; किन्तु जब उसने देखा कि दूत विना उत्तरके ही नहीं लौटा है अपितु उसके शरीर पर अपमान की छाप (अर्ध मुंडन) भी लगा दी गयी है तो उसके क्षोभका पार न रहा था। राजसभामें विराजमान अनेक राजाओंके समक्ष ही वह देवसेनके ऊपर अत्यन्त कुपित हुआ था। स्वभावसे ही उसका अभिमान अत्यन्त बढ़ा हुआ था जिसके कारण वह किसीको कुछ समझता ही न था। दूसरेके द्वारा अपमानित होनेपर कैसा अनुभव होता है यह वह स्वप्नमें भी न सोच सकता था। अतएव क्रोधके आवेशमें वह बार-बार लम्बी श्वास खींचता था जिससे उसका सारा शरीर कांपता था, तथा प्रत्येक बार क्रोधकी छटा उस पर वैसे ही बढ़ती जाती थी जैसे कि हवा लगनेसे आगकी ज्वाला लफलफाती है। २२ २३

युद्धयागकी सज्जा

जो राजा लोग मंत्र आदि शक्तियो, सैन्य आदि बलों तथा पराक्रममें मुझसे बढ़कर हैं, मैं उनके साथ भी दारुण युद्ध करनेके लिए कटिबद्ध था। अतएव जब मैंने युद्धका आह्वान करते हुए उन्हें पत्र भेजे तो वे सब भयसे पानी पानी हो गये थे और विना मांगे ही उन्होंने अतुल सम्पत्ति मेरे चरणोंमें अर्पित की थी। तब फिर इस क्षुद्र ललितपुराधिपतिकी तो बात ही क्या है? यह नीति शास्त्रसे सर्वथा कोरा है, उसे अपने बलका भी ठीक ज्ञान नहीं तो वह महामूर्ख दूसरोंके विषयमें जानेगा ही क्या? केवल मर जानेके लिए ही यह जलती ज्वालाके समान उद्धत मेरी सेनामें पतंगकी तरह घुस कर प्राण दे देना चाहता है। फिर भी अनुपम तथा अद्वितीय हाथीके स्वामी ललितपुरेशने मुझको बहुत अद्भुत वस्तु दी है क्योंकि इस संसारमें कोई भी योद्धा ऐसा नहीं है जो मेरी समता करनेका साहस करे। तो भी बहुत लम्बे अरसेके बाद मेरी युद्ध करनेकी अभिलाषा इस स्वयं आगत शत्रुकी कृपासे पूर्ण होगी। इन वाक्योंके द्वारा उसने अपने क्रोधको प्रकट किया था। २४ २५ २६

मथुराधिपकी क्रोधाग्नि

मैं जो कहूंगा उसीको नीति मानकर यदि पालन न करेगा तो चाहे उसकी इस उद्दण्डताका कारण लोभ हो, आत्मगौरव हो या घमंड हो, मैं उसे ललितपुरीके सिहासन परसे २७

चोटी पकड़ कर नीचे खींच लूंगा। तथा किसी दूसरे ऐसे व्यक्तिको वहां स्थापित करूंगा जो
२८ मेरे वशमें रहना स्वीकार करेगा। यदि यह ललितपुरका अधिपति केवल एक हाथी के कारण अपने सुखमय राज्य तथा महत्त्वाकांक्षाओंसे परिपूर्ण जीवनको भी नहीं चाहता है तो

शत्रुपराभवकी कल्पनाएं

निश्चित समझिये कि मेरी प्रबल प्रतापयुक्त सैना उसे अपनी राजधानीसे ही नहीं अपितु अपने राष्ट्रसे भी खदेड़ कर निकाल देगी। तब उस अभागेकी समस्त आशाएं मिट्टीमें मिल जांयगी और वह मेरे चरणोंमें शरणकी
२९ याचना करता हुआ आयेगा। जब कि वह मेरे उस प्रचण्ड शासनकी अवहेलना करता है जिसका प्रभाव संसारके समस्त राजाओंमें अक्षुण्ण है तब यह निश्चित है कि वह अपनी प्राण प्रियाओं तथा पुत्रों, विपत्तिमें सहायक मित्रों वा आज्ञाकारी सेवकों तथा असीमकोश वा
३० रणकुशल सैनाके साथ सदाके लिए नष्ट हो जायेगा। बहुत अधिक निरर्थक बकझक करनेसे क्या लाभ है? मेरे द्वारा निश्चित किया गया कर्त्तव्य तो तब ही लोगोंकी दृष्टिमें आता है जब कि वे उसका फल सामने देखते हैं।' इस प्रकार अपनी अटल प्रतिज्ञाको राजसभामें प्रकट करके उस उद्दण्ड मथुराके राजाने, विना विलम्ब किये उसी समय अपनी राजधानीसे प्रस्थान कर दिया था।

३१ उसके प्रस्थान करते ही उसके सब ही राजपुत्र जिनका प्रधान उपेन्द्रसेन था, तथा सब ही आज्ञाकारी राजा लोग जो कि अपना नेता महाराज प्रवरसेनको मानते थे, इन सबने भी अपनी हाथी, घोड़ा, रथ तथा पैदल सेनाको साथ लेकर उसी मार्गसे बढ़ना प्रारम्भ किया

युद्धयात्रा

३२ था जिस पर आगे आगे इन्द्रसेन चला जा रहा था। इस महासेनामें अंग (बंगालका भाग) देश, वंग, (बंगाल) मगध, (विहार) कलिङ्ग, (उड़ीसा तथा मद्रास प्रेसीडेन्सीका गंजम जिला आदि भाग) सुह्म (दक्षि०-पश्चिम बंगाल) पुण्ड्र (सं-प०, वी० भू०,) कुरू, अश्मक (राजधानी मस्सग थी) आभीरक, अवन्ति, (उज्जैन भोपाल आदि मालवा) कोशल (उत्तर अवध दक्षिण = मध्यप्रान्तका अ-महाराष्ट्री भाग)
३३ मत्स्य, (भरतपुर आदि) सौराष्ट्र (गुजरातका भाग) विन्ध्यपाल, (विन्ध्य प्रदेशका राजा) महेन्द्र (महेन्द्र पर्वतका राजा) सौवीर, (गुजरातका भाग) सैन्धव (सिन्ध) काश्मीर, कुन्त [ल], (कर्नाटक) चरक, असित ओद्र (ड्र = बंगाल-उड़ीसा) विदर्भ (बरार)
३४ विदिशा (भेलसा) पञ्चाल (पंजाबका भाग) आदि देशोंके राजा लोग, अपनी अपनी विशाल सेनाके साथ सम्मिलित हुए थे। इनमेंसे प्रत्येककी सेना नाना प्रकारके विशेष शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित थी। सब अपने अपने देशकी ध्वजाएं फहराये चले जा रहे थे। प्रत्येक देशके राजाका छत्र भी अलग अलग रंगरूपका था। इनमें एक भी ऐसा राजा न था जो घोर युद्ध करनेके लिए लालायित न रहा हो।

३५ इन सेनाओंमें जो वीर बढ़े चले जा रहे थे उनके हृदय भेटों, स्वागत, सन्मानों, पदवृद्धि आदिके द्वारा इतने बढ़ गये थे कि वे सब कुछकी बाजी लगाकर अपने प्रभुका हित करना चाहते थे। राजाओंमेंसे कोई कोई राजा कहते थे कि इस युद्धमें

युद्ध मद

३६ हम लोग अपनी अपनी शूर-वीरताका वास्तविक प्रदर्शन करेंगे। प्रभुका कोई भी काम न करते हुए एक नहीं अनेक अगणित दिन व्यर्थ ही बीत गये हैं। बहुत समय बाद यह अवसर मिला है। महाराज इन्द्रसेनके सामने ही अपने सच्चे बल, धैर्य और रण-

कौशलका प्रदर्शन करूंगा' इस तरह उत्साह भरे वचन कहते थे। इस महायुद्धकी रणस्थलीके प्रांगणमें मैं देखूंगा कि मनुष्योंमें कितनी शक्ति हो सकती है अथवा ये मनुष्य शरीर और जीवन कितने सारहीन हैं। इसी बीचमें कोई दूसरे बोल पड़ते थे—अरे भाई आगमें (धुंआ ही जिसकी ध्वजा है) तपाये जानेपर ही सोना शुद्ध होता है तथा उसके चोखेपनको परखनेका भी यही उपाय है।' ३७

महाराज इन्द्रसेनकी सेना विशाल होनेके साथ साथ अति साहसी तथा उग्र भी है। इनका आत्मबल भी इतना पुष्ट है कि दारुण विप्लवके समय भी थोड़ासी कमी नहीं आती है। ३८

आत्माभिमान

मथुरा राज्यके विशाल विस्तारको कौन नहीं जानता है तथा कोशका अनुमान करना ही निरा पागलपन है। आजतक मथुराधिपके पराक्रमको किसीने नीचा नहीं दिखाया है, वह जिससे वैर बांध लेता है उसे कभी नहीं भूलता है। प्रत्येक विषयका विचार तथा विधान सर्वांगसुंदर नीतिके अनुसार करता है तथा उसकी बुद्धि इतनी प्रखर है कि किसी विषयको समझनेमें कही भी धोखा नहीं खाती है।

दूसरी तरफ विचारा ललितपुराधिपति है, उसमें इन गुणोंमेंसे एक भी गुण नहीं है। यदि उसकी कोई विशेषता है तो बस यही कि वह आत्म-गौरवको ही सब कुछ मानता है। ३९

शत्रुनिन्दा

जब हम मथुराधिप तथा स्वाभिमानी ललितपुरेश इन दोनोंकी योग्यताओंके अन्तरको सोचते है, तो वही अन्तर दिखायी देता है जो एक मच्छर और मदोन्मत्त हाथीमें होता है। दूसरे कुछ लोगोंका मत था कि 'यह विचारा ललितपुरेश बड़ा ही अज्ञ है जो वह अपनी सैन्य, कोश आदि शक्तियो तथा अन्य दुर्बलताओं और छिद्रोंको भी नही देखता है। वह निरा मूढ़ ही है जो महासमुद्रके समान अतिविशाल तथा अनन्तसेनाके संचालक मथुराके राजाके साथ युद्ध करनेके लिए उद्यत है। अन्य लोगोंका मत था कि देखो तो केवल एक शुभलक्षणयुक्त मदोन्मत्त हाथीके लिए अपनी प्रभुता, वैभव, राजधानी तथा सुसम्पन्न राष्ट्रको खोये देता है। फलतः केवल वही (ललितपुरेश) नीति-ज्ञानविहीन नहीं है अपितु उसके मंत्री राजनीतिके व्यवहारमें अत्यन्त अकुशल हैं। संभव है कि उसके मंत्री राजनीति में पारंगत हों किन्तु वही उनकी सम्मतिको न मानता हो, अथवा वे जानते हुए भी किसी कारणवश इसे शुभ मंत्र न दे सकते हों, अथवा यही समझिये कि उसके विनाशकी मुहूर्त आ पहुंची है इसीलिए वह इतने विपुल शक्तिशालीसे विरोध कर रहा है। क्षुब्ध समुद्रके समान विशाल तथा उग्र सेनाके साथ आक्रमण करते हुई इस मथुराधिपके समक्ष जमकर आक्रमण रोकनेकी भी सामर्थ्य विचारे ललितपुरेशमें कहांसे आवेगी? परिणाम यही होना है कि वह मदोन्मत्त हाथीको लेकर अपना देश छोड़ देगा और कहीं भी भाग जावेगा। ऐसा कुछ अन्य विचारक कहते थे। 'जो राजा कोश, दण्ड, मंत्र आदि शक्तियोंमें अपने शत्रुसे हीन होते हुए भी नीति शास्त्रके अनुसार प्रत्येक विषय पर गम्भीर मंत्रणा करते हैं और तब उसे कार्यान्वित करते है, वे बुद्धिमान केवल नीतिबलसे ही अपने शत्रुओको जीत लेते है। तथा नीतिमार्गके प्रतिकूल आचरण करनेवाले महाबली भी अपने साधारण शत्रुओंके द्वारा जीते जाते हैं। फलतः किसी एक बातको ही निश्चित नही कहा जा सकना है।' ऐसा नीतिशास्त्रके पंडितोका मत था। अन्य लोगोंका दृढ़ मत था कि 'जो सर्व शक्ति सम्पन्न है उसे भी वह जीत सकता है, जो एक क्षणके लिए भी प्रमाद नही करता है ऐसे अप्रमादी पर भी उसकी ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५

विजय होती है; जो किसी कार्यमें लग जानेपर एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देता है। शीघ्रकारीको भी नीतिमानके आगे झुक जाना पड़ता है और जिसके पक्षमें दैव होता है उसके
४६ विरुद्ध नीतिमान भी शिर पीटता रह जाता है।' इस प्रकार आपसमें वार्तालाप करते हुए इन्द्रसेनके पक्षके राजा लोगोंने विजय यात्राके मार्गको कब समाप्त कर दिया था इसका उन्हें पता भी न लगा था। उन्होंने देखा कि वे शत्रुके देशमें जा पहुंचे थे।

शत्रु-सेनाने ज्योंही ललितपुर राज्यमें प्रवेश किया त्यों ही उसने जो ग्राम आदि सामने पड़ा उसीको नष्ट भ्रष्ट कर डाला था। इस प्रकार केवल राजधानी ही शत्रुके प्रहारसे अक्षत

४७ यादवोंकी बर्बरता

रह गयी थी। शत्रुओंके सर्वग्रासी आक्रमणसे राज्यकी प्रजामें उनकी निर्दयताका आतंक बैठ गया था। लूट खसोटसे जिसके पास जो कुछ बच गया था उस धन, धान्य तथा अन्य सार पदार्थोंको लेकर सारे राज्यकी प्रजाने अपनी
४८ स्त्री बच्चोंके साथ प्रधान नगरी (ललितपुर) में शरण ली थी। किन्तु मथुराधिप इन्द्रसेनके सहायक राजाओंकी विशाल वाहिनीने उस विशाल राजधानीको भी चारों तरफसे घेर लिया था। क्योंकि वह राजधानी अपरिमित वैभवसे परिपूर्ण थी। उसके प्रधान द्वार, ऊंची ऊंची अटालिकाएं तथा तोरण आदिकी शोभा अनुपम थी। शत्रुसेनाने ऐसा घेरा डाला था कि नगरीमें घास-फूस-इंधन-पानी-आदिका पहुंचना भी दुर्लभ हो गया था।

४९ उस समय महान श्री, सम्पत्ति तथा तेज विभूषित मथुराधिपकी विशालसेना ललितपुरके द्वार खटखटा रही थी। उसे देखते ही महाराज देवसेनने अपने प्रधान मंत्रियोंको बुलाया था, वे सबके सब समय तथा नीतिके अनुकूल सम्मति देनेमें दक्ष थे। अतएव महाराजने उनके

५० संकटकालीन मंत्रणा

साथ गम्भीर मंत्रणाको प्रारम्भ करते हुए कहा था—'इसमें सन्देह नहीं कि हमारा शत्रु प्रबल है। उसे बड़ी कठिनतासे पीछे ढकेला जा सकता है, विशेषकर तब, जब कि उसने राजधानीके चारों ओर दृढ़ घेरा डाल दिया है। हमारा निजी दण्डबल ही उससे हीन है। हमारे सहायक सपक्षके मित्र राजा, कोश तथा दुर्गोंकी संख्या भी उसके सामने नगण्य ही है। हमारे प्रधान किलेमें भी अभेद्य उत्तम किलेके
५१ गुण नहीं हैं। तो भी मैं इसे अपने हस्तिरत्नको नहीं देना चाहता हूं। तब आप कहेंगे युद्ध करो, सो मैं इस शत्रुके साथ लड़ना भी नहीं चाहता हूं। ऐसी अवस्थामें पलायन ही गति हो सकती है किन्तु मैं नगरको छोड़नेकी कल्पना भी नहीं कर सकता हूं अतएव आप सब बातोंका सूक्ष्म अन्वीक्षण करके जो सर्वथा उपयुक्त हो उस मार्गको बतावें।

५२ वे सब ही मंत्री महाराज देवसेनके परमभक्त थे तथा बुद्धिके धनी थे, अतएव जब महाराजने अपनी उक्त सूझको उनके सामने उपस्थित किया तो उन लोगोंने उस समय उन परिस्थितियोंमें जो कुछ सबसे उत्तम हो सकता था, उसे अपनी बुद्धिके अनुसार सोचकर अपने

५३ प्रथम मत्रीकी सम्मति

पदके क्रमसे अपनी अपनी सम्मति प्रकट की थी। राजनीतिका यह मूलमंत्र ही है कि अपनेसे प्रबल शत्रुके साथ किसी भी प्रकार हो, वैर नहीं करे। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि समान शक्तिशालीसे युद्ध करना सरल है क्योंकि उसमें अनेक ऐसे दोष हो सकते हैं जो विजयमें बाधा दें। हां अपनेसे हीन शत्रु पर भी यदि नरेन्द्र देश और कालका विचार करके आक्रमण करता है तो निश्चित है कि उसका
५४ प्रयत्न पूर्ण सफल होता है। नीतिशास्त्रके पंडितोंकी तो यह स्पष्ट सम्मति है कि साम, दान

आदि छह उपायोंमेंसे सामका प्रयोग करके ही अपने कार्यको सिद्ध कर लेना चाहिये। कारण, इसमें किसी प्रकारके उपद्रव और हानिकी आशंका नहीं है। हे भूमिपाल? छह उपायोंमेंसे भेद तथा दण्ड यह दोनो—असंख्य प्राणों आदिका नाश, अपरिमित धनका व्यय, तथा हजारों प्रकारके क्लेशों और अशुभोंकी प्रधान जड़ ही नहीं है अपितु मौतकी खान ही हैं।

सब राजाओंमें यदि कोई पारस्परिक भेद है तो वह मानका ही तो है। जितने भी शुभ तथा उन्नतिके अवसर हैं वे सब आदर-मान बढ़नेके साथ ही प्राप्त होते हैं। आपके द्वार पर पड़ा हुआ आपका शत्रु आप जानते ही हैं स्वभावसे अपने सन्मानका बड़ा भारी लोलुप है, अतएव हमें इन्द्रसेनका स्वागत सत्कार करके बचना चाहिये। यदि आप सोचते हों कि सन्धिका उपाय ग्रहण करनेसे जहां शत्रुका मान बढ़ेगा वहीं आपका आत्मगौरव धूलमें मिल जायगा? सो यह दोष हो ही नही सकता है क्योंकि स्मृतियोंमें कहा है कि दैवी सम्पतिके एकमात्र प्रभु महेन्द्रने भी अपने इष्ट कार्यकी सिद्धिके लिए उसने अपने स्वाभिमानको भी छोड़कर इस संसारके राज्यको उपेन्द्र (नारायण) को दे दिया था जिसका लक्षण (चिह्न) रक्त (कमल) ही था। श्रेष्ठ नीति इस परिस्थितिमें यही कहती है कि धन देकर राज्यका भाग देकर नगर समर्पित करके, अलभ्य रत्नोंकी भेट भेजकर अथवा किसी भी अन्य शान्तिके उपायके द्वारा, और तो क्या यदि इस युद्धके मूल कारण हाथीको ही लेकर, अथवा जो कुछ वह चाहे वही सब देकर इस समय उससे प्राण बचाना चाहिये। ५५ ५६ ५७

आप्यायन ही उपाय है

उक्त प्रकारसे प्रणत हो जाना उचित होता यदि आक्रमण करनेवाले राजामें किसी सार्वभोम चक्रवर्तीके सब ही गुण होते। किन्तु महाराज जानते ही हैं कि इस इन्द्रसेनकी जो योग्यताएं है वे बड़ी खींचातानीके बाद उसे मध्यमकोटिका राजा बना सकती हैं। अतएव इसे किसी उत्तमकोटिके राजाकी सहायता लेकर जीतना बिल्कुल सरल है। हे प्रभो? आप इसे जो कुछ भी देकर संधि मोल लेना चाहते है, उतना ही किसी अन्य राजाको भेंट करके हम उसे (सम्पत्ति देकर सपक्ष बनाये गये राजाको) इसके ऊपर आक्रमण करनेको कह सकते हैं, क्योंकि वह इससे भी अधिक बलशाली होगा, यह सब हो सकता है यदि आपकी अनुमति हो तो. हम अयोध्याके महाराज श्रीवीरसेनकी शरणमें जावें, क्योकि वर्तमानके सब राजाओंमें जहांतक मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति तथा उत्साहशक्ति इन तीनोंका संबन्ध है, वे सबसे बढ़कर है।' दूसरे मंत्रीने बड़ी विनम्रताके साथ अपनी यही सम्मति दी थी। ५८ ५९ ६०

साहाय्य ही उपाय

तीसरे मंत्रीने कहा था 'हे महाराज उत्तरकोशलके अधिपति श्रीवीरसेन; इसमें सन्देह का लेश भी नहीं है कि सबसे अधिक बलशाली हैं। किन्तु वे सर्वदा अपने स्वार्थकी ही सिद्धिमें लगे रहते हैं अतएव उनसे हमारा क्या लाभ हो सकता है? यदि आपकी रुचि हो तो मैं एक दूसरा ही प्रस्ताव उपस्थित करता हूं जो कि अधिक युक्तिसंगत तथा कल्याणकारी है। आपकी इस राजधानीमें एक दो नहीं अनेक सज्जन परम सम्पत्तिशाली हैं (जिनका धन कोशको अक्षय कर देगा) कितने ही तालाव, वावड़ियां आदि इतने गहरे है कि उनकी थाह पाना ही असंभव है (अतएव जनताको जल आदिका कष्ट नही हो सकता) तथा असंख्य ऐसे वोर पड़े हुए हैं जिन्हें शत्रु ६१ ६२

प्रतिरोध तथा भेद

प्राण खपाकर भी नहीं पछाड़ सकता है। सबसे ऊपर आप स्वयं हैं क्योंकि आप तीनों
६३ शक्तियोंसे सम्पन्न हैं। शत्रुके प्रधान सहायकों, सामन्तों तथा सेन नायकोंमें आपसी मतभेदका अपवाद करनेवाले तथा उसकी वास्तविकतासे पूर्णपरिचित चरोंको (अथवा खूब धन देकर उसके ही सलाहकारोंको) अपना कर्त्तव्य निभानेके लिए नियुक्त कर दिया जाय। तथा उसके अपने राज्यमें किसी समर्थ राजाके द्वारा पीछेसे आक्रमण करवा कर उसे समूल नष्ट कर देना ही उचित
६४ है। इसकी सेना तथा राष्ट्रके पीछे वह पहाड़ी राज्य पड़ता है (जो आसानीसे इसके विरुद्ध उभारा जा सकता है)। इसके सिवा वर्षा ऋतु भी अति निकट आ पहुंची है फलतः इसे लौटकर आत्मरक्षा करना दुसाध्य हो जावेगा। अतएव मेरा दृढ़ मत है कि सन्धि मार्गका अनुसरण करना सर्वथा नीतिके प्रतिकूल है। अपितु कुछ समय तक घेरेमें ही पड़े रहकर शत्रुको दुर्बल करेंगे।

६५ 'हे महाराज! आपके इन तीनों प्रधान मंत्रियोंने जो क्रमशः बताया है कि संधि, आश्रय और स्थानको ग्रहण करनेसे पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है वह सर्वथा नीति शास्त्रके अनुकूल है। उसमें यदि कोई कमी है तो यही कि उक्त तीनों मार्गोंके प्रयोगका समय ही बीत

मंत्रि-विजयकी वाक्पटुता

चुका है। अब यदि असमयमें इनका प्रयोग किया जायेगा तो वह शास्त्र-
६६ सम्मत होते हुए भी अनर्थ ही करेगा। जिस समय आप मथुराधिपके दूतको वापस कर रहे थे यदि उसी समय साम, दान आदि उपायोंको व्यवहार किया होता तो वह अत्यन्त उचित होता और वह उत्तम श्रेणीकी नीतिमत्ता भी होती, किन्तु इस समय वह सुअवसर हाथसे निकल गया है फलतः नयी विकट परिस्थितियां पैदा हो
६७ गयी हैं, यही कारण है उक्त प्रयोग इस समय सदोष हैं। हे महीश! मेरे सुयोग्य सहयोगी इन तीनों कुशल मंत्रियोंने जो कार्य इस समय करनेको कहे हैं। वे इस समय सर्वथा छोड़ने योग्य हैं। वे उपाय मुझे जरा भी नहीं जंचते हैं क्योंकि उनका समर्थन किसी भी युक्तिसे होना ही नहीं है' इस प्रकार चौथे मंत्री विजयने अपनी सम्मतिको प्रकट किया था।

६८ (मंत्रियोंकी ओर दृष्टि घुमाते हुए) "आप जानते हैं कि महाराज देवसेन तथा मथुराधिप इन्द्रसेन दोनों ही बलवीर्य तथा तेजमें अपनी सानी नहीं रखते। इन दोनोंके बीचमें जो महा वैर हुआ है उसका जो मूल कारण है वही हाथी यदि इस समय आक्रमकको दे दिया

दंड तथा भेद ही उपाय

जाय, तब हमें क्या अधिकार है कि हम लोग भी अपनेको पुरुष समझें?
६९ इसके अतिरिक्त मथुराधिपतिसे राजाओंके इन्द्र चक्रवर्तीके समान विशाल और उग्र है, इन्द्रसेन स्वयं भी युद्धसंचालनकी कलामें अत्यन्त निपुण है, तथा अपमानित होनेके कारण वह हमारे राज्यका सर्वस्व ही लूटकर लौटना चाहता है, तब
७० बताइये केवल हाथी लेकर ही वह कैसे लौट जायगा? हे महाराज! इतना निश्चित मानिये कि शान्ति, दान, आश्रय तथा स्थान इन चारों उपायों के व्यवहारका अवसर सर्वथा निकल चुका है। अब हमारे सामने दो ही मार्ग खुले हुए हैं, वे हैं भेद तथा दण्ड, अतएव आप उनका प्रयोग करनेकी ही सोचिये, इसके अतिरिक्त अब और कुछ भी नहीं हो सकता है।

७१ परिवर्तनशील मनुष्यलोकमें न तो प्रभुता ही सदा रहती है, और न अपरिमित सम्पत्ति ही चिरस्थायिनी है। जब शरीर ही किसी न किसी दिन नष्ट हो जाता है तो उसके आश्रित बलवीर्य कहां रहेंगे तथा आयुका तो अन्त निश्चित ही है। किन्तु यदि कोई पुरुष

सत्कर्म करके यश कमा सके तो वह अवश्य 'काले कल्पशते' पर्यन्त ठहरेगा। अतएव यशको सामने रखकर ही हमें प्रयत्न करना चाहिये। मथुराका राजा इन्द्रसेन निसन्देह अत्यधिक बलवान है, उसका विशाल वीर्य और तेज सम्पूर्ण देशमें प्रसिद्ध है तथा हे क्षितिपाल ! जिस सेनाके आगे आगे वह स्वयं चलता है उसके लिए इस संसारमें कोई भी कार्य असाध्य नहीं है। तो भी हे महाराज ! जो अनेक राजा लोग आपके सहायक हैं वे भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं है। उन्होंने भी अनेक घोरातिघोर संग्रामोंमें सफलता पायी है। वे राजा लोग केवल आपके अनुकूल ही नहीं हैं अपितु आपपर उनका अपार स्नेह भी है। उनके पास सब प्रकारके शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित संगठित सैन्यबल ही नहीं है अपितु उनका कोश भी अक्षय है। इतना ही नहीं वे नीतिशास्त्र आदिके परम पंडित हैं। ७२ ७३

यश ही जीवन है

प्रधानमंत्रीके द्वारा उपस्थित किया गया भेद तथा दण्ड नीतिके प्रयोगका प्रस्ताव महाराज देवसेनके तेज और यशको ही बढ़ानेवाला न था अपितु आर्थिक विकासमें भी साधक था। उसकी सबसे प्रधान विशेषता तो यह थी कि उसे सब ही विद्वानोंने पसन्द किया था। अतएव हृदयको आकर्षक उक्त प्रस्तावको सुनकर महाराज देवसेन अपने मंत्री विजयपर परम प्रसन्न हुए थे। इसके उपरान्त राजाने सब ही मंत्रियोंका उनके पदके अनुसार स्वागत सत्कार किया था और विशेषकर मंत्रिवर विजयका। भरी राज-सभामें उन्होंने अपने सामन्त आदि सब ही राजाओंको युद्धके लिए संबद्ध होनेकी आज्ञा दी थी क्योंकि वे निर्णय कर चुके थे कि युद्ध अवश्य करेंगे। ७४ ७५

युद्धं देहि

मंत्री विजय चाहता था कि उसके प्रभुकी निश्चित विजय हो अतएव राजाकी स्वीकृति पूर्वक शूरों तथा राजभक्त लोगोंका उत्साह बढ़ाने तथा उन्हें अपने कर्त्तव्यका स्मरण करानेके लिए ही विशाल राजधानीमें उसने एक महाघोषणा करवा दी थी। 'हमारे महाराज देवसेन अपने कुटुम्बियों तथा मित्रोंके साथ युद्धके लिए कटिबद्ध हैं। वे शत्रुके मानको मर्दन करनेके लिए अनुकूल अवसरकी प्रतीक्षामें रुके हुए हैं। जिन लोगोंको राज सम्मान प्राप्त करनेकी अभिलाषा है, अथवा जो अपने राज्यका गौरव बनाये रखनेके लिए सम्पत्तिका मोह छोड़ सकते हैं तथा जिन्हें अपने पुरुष होनेका स्वाभिमान है वे वे सब शीघ्रतासे महाराजकी सेवामें उपस्थित हों।' इस ढंगकी उदार घोषणा राजाकी आज्ञासे बड़े ठाट बाटके साथ सारे नगरमें की गयी थी। इसके साथ साथ विशाल भेरी भी बजायी जाती थी तथा हाथीके मस्तकपर आरूढ़ (व्यक्तियोंने) इस घोषणाको नगरके एक कोनेसे दूसरे कोने तक घुमा दिया था। ७६ ७७ ७८

युद्ध घोषणा

उसी समय कश्चिद्भट (युवराज वरांग) अपनी हथेलीपर बांया गाल रखे बैठे हुए थे, उनके स्वस्थ सुन्दर शरीरसे कान्ति छिटक रही थी। वे शत्रुकी उस सेनाको देख रहे थे जिसे उनके निवास भूत नगरको नाश करनेके लिए शत्रुने चारों ओर फैला रखा था। वह मन ही मन सोचते थे कि 'मेरे द्वारा इस समय क्या सहायता की जा सकती है? प्राणान्तक रोगोंमें फंसे, किसी प्रकारकी अन्य विपत्तिमें पड़े, अनाथ, भूखसे व्याकुल, शत्रुओंके द्वारा निर्दय रूपसे तिरस्कृत हुए, राजदरबारमें बुलाये गये तथा पितरोंकी भूमि स्मशान पर जो व्यक्ति दूसरोंकी हर प्रकारसे सहायता करता है वही सच्चा बन्धु है। ७९ ८०

वरांगमें उत्साह-की बाढ

८१ परिस्थितियोंके चक्करमें पड़कर मैं किसी भी तरह सही; यहां रहता ही हूं, यद्यपि यह नहीं जानता कि इस निवाससे मेरा लाभ होगा या अलाभ। महाराज देवसेन मेरे सगे मामा ही हैं इसके अतिरिक्त यह विचारे इस समय शत्रुओंकी सेना द्वारा सताये जा रहे हैं, अतएव सम्बन्धी ही नहीं व्यसनमें भी पड़े हैं। सगे

कृतज्ञतामय भाव

८२ सम्बन्धीका कर्त्तव्य है कि यदि उसके किसी सम्बन्धी पर कोई विपत्ति पड़े तो चाहे वह कितने भी दूर हो उसे वहींसे दौड़कर उसकी सहायता करनी ही चाहिये। तब मुझे तो अपने कर्त्तव्यका ज्ञान है तथा मैं इतने निकट हूं कि सब कुछ मेरी आंखोंके आगे ही हो रहा है तब मैं अपने आपको इस कार्यसे कैसे बचा सकता हूँ ?

८३ "मैं आपका सगा भानजा हूँ, मेरा नाम वराङ्ग है, मैं उत्तमपुरके अधिपति महाराज धर्मसेनका पुत्र हूं।" यह सब बातें यदि आज जाकर ललितेश्वर देवसेनसे स्वयं कहूंगा तो विश्वास नहीं करेंगे, इतना ही नहीं बहुत संभव है कि मेरे उक्त वचन सुनकर मेरी हंसी भी करें। पूर्व पुण्यके उदयसे मैंने इन सब सेठोंको

सेवा समर्पण विमर्ष

८४ अपने धर्मबन्धुके रूपमें पाया है तथा मैं इन सबकी तरफसे इनके प्रतिनिधिके रूपमें आपकी सेनाके साथ लड़ूंगा, यह कहता हूं तो मैं वणिक् पुत्र समझा जाऊँगा, फलतः लोग मेरे उत्साह-की अवहेलना करेंगे और मैं पूरी भरी राजसभाके सामने विना कारण नीचा देखूंगा। ऐसी

८५ कौन सी युक्ति हो सकती है जिसमें कोई दोष न आता हो तथा जिसका बहाना करके मैं ससुरकी सेवा कर सकूं। "मैं एक अज्ञात योद्धा हूं तथापि यदि आप विश्वास करें तो समझिये

८६ कि मैं सब शस्त्रोंके चलानेमें अत्यन्त कुशल हूं"; यह कहनेमें कोई दोष भी नहीं है। जब मैं अद्भुत रूपसे राजाकी सेवा तथा उपकार करूंगा तो निश्चित है कि मेरी कीर्तिके द्वारा ही मेरे माता-पिता, निवास स्थान, आदि अपने आप ही प्रकट हो जांयगे।" इस प्रकार जब वह मन ही

८७ मन चिन्तामें मग्न था उसी समय उसने राजघोषणा की ध्वनिको सुना था। मदोन्मत्त हाथीके ऊपर बैठा हुआ व्यक्ति उसे कह रहा था तथा दीर्घ स्वरमें बजते हुए पटह आदि बाजे उसको और गम्भीर तथा दूर तक सुने जाने योग्य कर रहे थे। अत्यन्त शोभायमान कश्चिद्भटके कानमें जब उसकी ध्वनि पड़ी तो उसने 'क्या, क्या' करके शीघ्र ही पूरी घोषणाके विषयमें जिज्ञासा की थी।

८८ उत्तम हाथीपर सवार घोषणा करनेवालोंसे जब प्रश्न किया गया तो उन्होंने अपने स्वामीकी आज्ञाके अनुसार ही वहीं से उत्तर दिया था 'महाराज देवसेन अपने शत्रुओंका समूल नाश करनेके लिए आज ही समरभूमिको जा रहे हैं'।

घोषणाकी पुष्टि

८९ कश्चिद्भटका वीर्य और तेज ऐसा था जिसके सामने कोई टिक ही नहीं सकता था, अपने आप ही वह इस उहापोहमें पड़ा था कि किस प्रकार राजाकी सहायता करे फलतः जब उसने घोषकोंके वचन सुने तो उसका हर्ष दुगुना हो गया था, तथा आत्मोल्लासके कारण उसकी शोभा अत्यन्त विशाल हो गयी थी। यह

घोषणाका स्वागत

९० घटना निश्चयसे भविष्यमें होनेवाली मेरी श्रीवृद्धिको सूचित करती है, अथवा महाराज देव-सेनके पूर्वकृत पुण्यकर्मका उदय होनेसे ही ऐसा संयोग उपस्थित हुआ है, कि मैं इस समय यहांपर जिस कार्यको सोच रहा था वही कार्य अपने आप सामने आकर उपस्थित हुआ है।

९१ इस प्रकार सोच विचार करके उसने अपने मनमें कर्त्तव्यका निर्णय कर लिया था। इसके

उपरान्त उसने अपने पूर्वज सेठ सागरवृद्धिको बुलाकर आदरपूर्वक बैठाया था तथा उनसे निवेदन किया था कि 'मैं महाराज देवसेनके साथ समरके लिए जाता हूं आप स्वीकृति देकर मुझे विदा करें।'

कश्चिद्भटके इन वचनोंको सुनते ही उसके धर्मपिताका पूरा शरीर भयके आकस्मिक संचारके कारण कांपने लगा था। स्नेह तथा अनुरागके आवेशमें आकर सेठने उसके पैर पकड़ कर कहा था 'हे वत्स ! मुझ पर कृपा करो तथा मेरे वचनोंको भी सुनो जिन्हें मैं तुम्हारे हितकी आकांक्षासे प्रेरित होकर कह रहा हूं, यह मत सोचो कि वे प्रिय हैं या कटु। मैं तुम्हारी शूरताको जानता हूं, यह भी देख चुका हूं कि दूसरा कोई भट उसे परास्त नहीं कर सकता। यह भी मुझे ज्ञात है कि तुम्हारे शस्त्रास्त्रोंकी मारसे कोई नहीं बच सकता है। क्योंकि यह सब मेरी आंखोंके सामने घट चुका है तो भी मैं आपसे इस कार्यको कहता हूं। कितने ही रणबांकुरे सफलतापूर्वक युद्ध करके भी पूर्वपुण्य शेष न रह जानेके कारण युद्धके फलों—भोगोपभोग वैभव आदि फलों—को प्राप्त करनेके पहिले ही वीरगतिको प्राप्त होते हैं। तथा कुछ दूसरे ऐसे व्यक्ति भी हैं जो समरभूमिमें बिना गये ही अपने घर पर आनन्द और प्रसन्नतासे रहते हैं तथा विविध प्रकारके भोगोंका रस लेते हैं। मनुष्योंका स्वभाव तथा आचार अपने पूर्वकृत कर्मोंके अनुसार ही होता है, समस्त संपत्ति और वैभवका विनाश अनिवार्य है इन दोनों बातोंको भली भांति समझ कर विद्वान व्यक्तिके द्वारा वही कार्य किये जाने चाहिये जो कि इस भवमें तथा अगली पर्यायमें अभ्युदय और कल्याणकी दिशामें ले जा सकते हों। यदि तुम इस कारण युद्धमें जा रहे हो कि उसके पुरस्कार-स्वरूप पर्याप्तभोग प्राप्त होंगे, तो तुम यहीं रहो मैं तुम्हारे लिए मनचाहे भोग जुटाये देता हूं। अथवा अपनी सम्पत्ति बढ़ानेके लिए ही यदि तुम इस विकट प्रयत्नको करना चाहते हो तो हे वत्स ! तुम्हारे घरमें ही असंख्यकोटि सुवर्ण पड़ा है। जो बुद्धिमान पुरुष हैं वे देश, काल, अपना कुल तथा बलको भली भांति समझ कर ही नये नये कार्योंमें हाथ लगाते हैं। फलतः आप भी उक्त चारों बातोंको सोचिये और समझिये कारण आपकी प्रतिभा विशाल है। अतएव आप युद्धमें भाग लेनेकी इच्छाको त्याग दीजिये।

पितृत्वकी विवेकहीनता

९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७

प्रवासके समय जंगलमें दस्युओंके साथ तुमने जो दारुण युद्ध पहिले किया था उसके स्मरण मात्रसे मैं आज भी डर जाता हूं, अतएव मैं अपना शिर झुकाकर अथवा अपने शिरकी सौगन्ध खाकर प्रार्थना करता हूं कि सुखपूर्वक अपने घरमें रहो युद्धसे भला क्या लाभ है ?'

सेठकी रणभीरुता

९८

धर्मपिताके द्वारा उक्त प्रकारसे निषेध किये जानेपर युवराजने मन ही मन सोचा था 'खेदका विषय है कि यह साधु स्वभावी सेठ शारीरिक तथा मानसिक बलसे हीन है, विचार। अपनी जातिके अनुकूल संस्कारोंसे भरा है और वैसी ही बातें करता है। मुझको भी यह अज्ञानके कारण अपनी ही वर्णका समझता है।' इसके बाद उन्होंने कहा था 'हे पिताजी ! न तो मुझे सम्पत्तिका कोई प्रयोजन है और न मुझे राज्यसे ही कोई सरोकार है। लहराते हुए यौवनके अनुकूल प्रखर तथा भरपूर भोगों तथा विषयोंका मुझ पर कोई अधिकार नहीं है और न मैं यश-लिप्सासे प्रेरित होकर ही युद्धके लिए प्रयाण करना चाहता हूं। अपितु संकटके मुखमें डाले गये स्त्री, बालक तथा वृद्ध, अनाथ, स्वयं दीन, रोगग्रस्त, आक्रमणसे

९९ १०० १०१

भीत, तथा शत्रुके अनाचारके कारण विपत्तिमें पड़े आश्रमवासी साधु तथा आर्यिकाओं श्रावक तथा श्राविकाओंकी रक्षा करनेके लिए ही मैंने अपने मनमें उक्त निश्चय किया है तथा उसे
१०२ प्रयोगमें लानेके लिए ही मैं प्रयत्न कर रहा हूं। प्रजाका कल्याण करनेके लिए तथा कुशल, सुख तथा सम्पत्तिकी पूर्ण सफलताके लिए, राजा देवसेनकी परिपूर्ण विजयको देखनेकी इच्छासे, शत्रुका वध करनेकी अभिलाषाके कारण, आपका यश बढ़ानेके अभिप्रायसे तथा अपने धर्म (कर्त्तव्य) को पूरा करनेकी प्रेरणासे ही मैं समरमें जा रहा हूं। अतएव आप मुझे जानेकी स्वीकृति देवें।

१०३ यह सब सुनकर सार्थपति सागरवृद्धि अपने धर्मपुत्रके मनकी बातको जान गये थे, तथा जैसा वह बोलता था उसी भावके अनुकूल उसकी चेष्टाएं भी हो रही थीं। वह अपने सामर्थ्य और कर्तव्यको भी जानते थे फलतः वह पुत्रको उत्तर न दे सके थे अपितु चुप ही रह गये थे।

मौनं सम्मतिलक्षण

१०४ इस महायुद्धमें जो भी अश्वारोही, रथी योद्धा तथा मदोन्मत्त हाथी पर आरूढ़ वीर मेरे साथ खड्ग, वाण, आदि प्रसिद्ध पांच शस्त्रों तथा अपने पराक्रमके द्वारा मुझसे युद्ध करना चाहेगा आप इतना विश्वास रखें मैं उसका शुद्ध काल (यम)
१०५ ही सिद्ध होऊँगा और अधिक तो आपसे कहूं ही क्या? इत्यादि वचनोंको पिताके सामने कहकर उसे ढाढस दिलाया था तथा उसी समय अपनी व्यवस्थाको जमानेके लिए उसे (राज्य सभामें) भेजा था। उसने सहायकोंके द्वारा अपने धर्मपिताका समर्थन करके उसे महाराज देवसेनकी सभाको चलता किया था।

पिताकी सान्त्वना

१०६ अवस्था तथा योग्यताओंमें ज्येष्ठ मेरा पुत्र कश्चिद्भट आपके इस युद्धमें आपका सह-गामी होनेके लिए परम उत्कण्ठित है। इसी अभिलाषाको आपके सामने रखनेके लिए उसने मुझे आपके चरणोंमें भेजा है। हे देव? इस दिशामें आप जो कुछ भी उचित समझें वह समय गंवाये विना शीघ्र ही करें।'

सेठका प्रस्ताव

१०७ श्रीविजय आदि प्रधान मंत्रियोंने पहिलेसे ही सब सुन रखा था कि 'कश्चिद्भटका पराक्रम तथा सामर्थ्य अद्भुत हैं' फलतः उन्होंने कहा था 'हे महाराज निश्चयसे आपकी ही विजय होनेवाली है'। यह कहते हुए उन सबने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा
१०८ की थी। 'वह सेठका वेटा हो ही नहीं सकता क्योंकि उसके स्वभावमें वणिक् सुलभ एक भी बात नहीं है, उसे जनसाधारण भी नहीं माना जा सकता है क्योंकि उसका एक एक लक्षण राजपुत्रत्वको सिद्ध करता है। उसके आचार विचारमें ऐसे ही लक्षण
१०९ अधिक देखे गये हैं जो कि क्षत्रियोंमें ही हो सकते हैं। मदोन्मत्त हाथीके समान उद्दण्ड तथा निरंकुश भीलोंकी वारह हजार प्रमाण सेनाको केवल एकाकी कश्चिद्भटने मारकाट कर साफ कर दिया था। तब देवोंके अधिपति वज्रायुधके समान आपके साथ वह शत्रुओंको जीतेगा इसमें कौन सी आश्चर्यकी बात है।

वीरका स्वागत

११० इस प्रकार सेठ सागरवृद्धिके धर्मपुत्रके समस्त गुणोंकी प्रशंसा करके महाराज देवसेन, महामंत्री लोग, पुरोहितों, मित्र राजाओं तथा शिष्ट हितैषीजनोंने एक साथ यही कहा था कि युद्धकी तैयारीकी सूचना देनेवाली हमारी 'विज-यिनी' नामकी महाभेरी वजाय जावे, जिसके शब्दको सुनकर शत्रुओंके हृदय कांप जावें।

युद्धघोष

'महाराज देवसेनने क्षेमकुशल आदिके सूचक मंत्रियोंके वचनोंको शान्तिसे सुना था क्योंकि ११९ वे सबके सब मंत्री शास्त्रोंमे पारंगत थे तथा विनयके भारसे दबे हुए थे। उनकी अपनी मति भी शास्त्रानुकूल मार्ग पर चलती थी अतएव श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके चरण कमलोंकी पूजा करके उन्होंने शत्रु सैन्यरूपी समुद्रको पार करनेका दृढ़ निश्चय किया था।

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरागचरित
नामक धर्मकथामें राजसंक्षोभ नाम
षोडश सर्ग समाप्त।

सप्तदश सर्ग

१ उस समय महराज देवसेन समर यात्रा करनेके लिए प्रस्तुत थे अतएव कश्चिद्भटकी प्रशंसा सुननेके वाद उन्होंने परम विवेकी पूज्य पुरुषों, अपने भाई बन्धुओं, मंत्रियों तथा अन्य विश्वासास्पद पुरुषोंके साथ कश्चिद्भटके विषयमें मत विनिमय किया था। तथा उसकी समाप्ति होते ही सेठ सागरवृद्धिके परमप्रतापी धर्मपुत्रको आदरपूर्वक बुलाया था। राजाके निमन्त्रणको पाकर कश्चिद्भटके अन्तरंग हर्षकी

सविचार निमंत्रण

२ सीमा न रही थी। वह अपने समवयस्क, सुन्दर तथा सेठोंके पुत्र मित्रोंके साथ अत्यन्त त्वराके साथ राजसभामें जा पहुंचा था, जहांपर पृथ्वीके पालक राजाओंमें सिंहके समान पराक्रमी

३ महाराज देवसेनको उसने सिंहासनपर विराजमान देखा था। महाराज देवसेन तथा तथोक्त कश्चिद्भटके बीच एक दूसरेका नाम सुनते ही पारस्परिक अनुराग उत्पन्न हो गया था फलतः जब उन दोनोंने एक दूसरेको देखा तो वे बड़े संतुष्ट तथा प्रसन्न हुए थे। कश्चिद्भट (वरांग) महाराज देवसेनको वास्तवमें जानता था फलतः वह न सोच सका था कि महाराजसे क्या

४ कहे तथा कुछ समय पर्यन्त नरेश्वरकी भी यही अवस्था थी। युवराज (कश्चिद्भट) पूर्ण विनय तथा शिष्टताके साथ महाराज देवसेनके सामने खड़े थे, उनके कान्तिमान तथा तेजस्वी शरीरपर शुभ लक्षण चमक रहे थे। ललितेश्वरने श्रेष्ठतम हाथीके समान उन्हें निर्भय खड़ा देखकर निम्न प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था!

५ जो व्यक्ति भूपाल तथा उसके शासनके विरुद्ध आचरण (षड्यन्त्र) नहीं करता है, राष्ट्र या राजाके विकासमय जीवनमें उपस्थित हुए अनर्थोंको शान्त करता है, घनघोर संग्राममें सब ओरसे आक्रमण होनेपर भी जिसका धैर्य और कर्त्तव्यबुद्धि अस्त नहीं होते हैं, जो

६ अकस्मात् ही कहींसे आकर युद्धमें सहायता देता है, पथभ्रष्टों या विपत्तिके आक्रमणके कारण हित-अहित विवेकहीन व्यक्तियोंकी आंखें खोल देनेके

सस्नेह स्वागत

लिए जो व्यक्ति ऐसी नीति बतलाता है जो सर्वथा युक्तिसंगत हो तथा कल्याणकारी कार्य करनेको कहता है वही सच्चा बन्धु है, वही पुत्र है, मित्र है तथा श्रेष्ठतम गुरु भी वही है' यह

७ सारे संसारमें प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसके अतिरिक्त इस भवमें ही हम दोनोंकी बीच कोई प्राचीन प्रेम सम्बन्ध अवश्य रहा है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता है, क्योंकि मेरा अनुराग तुमपर वैसे ही बढ़ रहा है जैसा कि अपने किसी निकटके बन्धु बान्धव पर होता है। तथा उसका कारण कोई कृत्रिम संबन्ध नहीं है अपितु अकृत्रिम प्रेम ही उसका एकमात्र

८ बन्धन है। मैं अपने पुण्य कर्मोके प्रतापसे, अथवा तुम्हारे सौभाग्यसे अथवा राज्यमें बसनेवाले सज्जनोंके शुभ कर्मोंके कारण इस युद्धमें शत्रुकी सेनाको जीतकर यदि लौट आया तो अपनी पुत्रीके हाथके साथ तुम्हें अपना आधा राज्य भी दूंगा।

९ इस प्रकारसे अपने अनुरागको वचनों द्वारा प्रकट करके ललितेश्वरने रत्नोंको पिरोकर बनाया गया बड़ा तथा बहुमूल्य हार, शिरका लघु मुकुट, केयूर, कुण्डल, बहुत लम्बा सूत्र,

कुमारबन्ध तथा पदका द्योतक पट्टा उसे समर्पित किया था। कञ्चिद्भटके साथ साथ महाराजने अन्य भटोंका भी उनकी योग्यता आदिके अनुसार स्वागत सत्कार किया था। इस सबसे निवृत्त होकर वे अपने अन्तिम निर्णयकी घोषणा करना चाहते थे फलतः मंत्रियों, कोशाध्यक्षों तथा दण्डनायकोंको बुलाकर उन्होंने आज्ञा दी थी कि 'आप लोग युद्ध करनेके लिए शीघ्रातिशीघ्र सन्नद्ध हो जावें'। १०

वीरपूजा

समरयात्राके समय मदोन्मत्त उन्नत तथा दुष्ट करिवरपर विराजमान महाराज देवसेन ऐसे मालूम देते थे मानो ऐरावतपर इन्द्र बैठे हैं। अत्यन्त रमणीय मुकुट उनके शिरपर जगमगा रहा था, चमर ढुर रहे थे, हौदेपर ध्वजा फहरा रही थी तथा हाथी भी कौशलपूर्वक सजाया गया था। अप्रतिमल्ल नामके सुसज्जित हाथीपर युद्धके सब अस्त्र पहिलेसे ही यथास्थान रख दिये गये थे। इसी अनुपम हाथीके ऊपर कञ्चिद्भट आरूढ़ हुआ था। कञ्चिद्भटका अपना तेज ऐसा था कि दोनों सेनाओंमें कोई उसकी समता न कर सकता था। अतएव हाथीपर विराजमान होकर वह ऐसा प्रतीत होता था मानो प्रात-कालका सूर्य उदयाचलपर प्रकट हो रहा है। जिस हाथी पर मंत्रिवर विजयने प्रस्थान किया था उसका नाम अरिञ्जय था यौवनके मदके कारण उसका कपाल फट पड़ा था मदजलकी धारसे उसके गण्डस्थल गीले थे तथा उसकी चिंघाड़ वर्षाकालीन मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर थी अतएव उसपर चढ़े हुए विजयमंत्रीकी शोभा वही थी जो कि बादलके ऊपरसे उदित हुए चन्द्रमाकी होती है। इनके अतिरिक्त सब ही सहायक राजा, राजपुत्र तथा समस्त सेनापति अपने अपने शस्त्रोंको लेकर चुने हुए बढ़िया बढ़िया सुशिक्षित हाथियोंपर आरूढ़ होकर समर-स्थलीकी ओर चल दिये थे। यह सबके सब लड़नेके लिए व्याकुल थे क्योंकि युद्धमें इनकी प्रतिद्वन्द्विता करना अति कठिन था। ११ १२ १३ १४

समरयात्रा

योद्धाओंके वाहन होकर युद्धस्थलीमें जानेवाले यह हाथी भी अपने ऊपर पड़ी सोनेकी रस्सियोंसे चमचमा रहे थे, प्रकाशमान श्वेत चमर उनपर ढुर रहे थे उनके ऊपर लहलहाती उन्नत ध्वजाओंपर मोरकी पूंछके शिखर खड़े किये गये थे अतएव वे सबके सब हाथी चलते-फिरते पर्वतोंकी शोभाको आंखोंके सामने प्रकट कर देते थे। ललितेश्वरकी सेनाके सब ही रथोंमें उत्तम रत्न तथा सोनेका जड़ाव था, चमकती हुई छोटी छोटी ध्वजाएं चारों ओर लगी थीं उनपर लगे छत्रोंकी द्युति भी अनुपम थी तथा शिखर पर लहलहाती ध्वजाओंका प्रकाश तो अनुपम ही था। इस बाह्य शोभाके अतिरिक्त उनपर एक एक महारथी (जो अकेले ही दश हजार भटोंसे युद्ध करता है) योद्धा विराज-मान था। इन सब कारणोंसे वे रथ प्रलयकालमें उदित हुए अनेक सूर्योंके विमानोंकी समता करते थे। १५ १६

हस्तिरथ सैन्य

युद्धयात्राके लिए महाराजकी अन्तिम आज्ञा होते ही वायुके समान द्रुत गतिसे दौड़ने-वाले श्रेष्ठ घोड़ोंकी सेना बाहर निकल पड़ी थी। इस सेनाके प्रत्येक घोड़ेमें युद्धमार्गके परिश्रम तथा भारको सह सकने योग्य शक्ति तथा शिक्षा थी, सब ही घोड़ोंकी जाति (नस्ल) तथा वंश उत्तम थे तथा उनके विचित्र रंग तो देखते ही बनते थे। इस हस्ति, अश्व तथा रथमय महासेनाके आगे आगे पदाति (पैदल) सैना चल रही थी। अपने अपने राष्ट्र आदिके द्योतक उनके वेश नाना प्रकारके थे, वे अनेक देशोंसे १७ १८

अश्वारोही-पदाति

आये थे अतएव उनकी भाषाएं भी बहुत थीं तथा युद्धके उत्साहमें वे अपने अपने शस्त्रोंको घुमाते थे, जो कि बिजलीके समान जगमग तथा चंचल थे।

१९ पदाति सेनाके कुछ भट केवल महाराज देवसेनकी आज्ञाको पालन करनेके लिए ही लड़ना चाहते थे, दूसरे कुछ सैनिक स्वभावसे ही स्वाभिमानी थे फलतः ऐसे अवसरों पर शान्त रह ही न सकते थे, अन्य अधिकांश सैनिक ऐसे थे जिनको शत्रु राजाने कष्ट दिया था तथा अपमान किया था अतएव उसके विरुद्ध लड़ना उनका धर्म हो गया था। 'विशाल भूभागोंका अधिपतित्व देकर अथवा उत्तम नगरों, सम्पत्ति बहुल आकरों तथा सम्पन्न ग्रामोंका शासक नियुक्त करके, उतम वस्त्र, आभूषण, भोजन, पान-पत्ता आदिको सुलभ करके जिस राजाने हमें ही नहीं हमारी स्त्री तथा बच्चोंका उदासीनतासे नहीं अपितु सन्मानपूर्वक भरण-पोषण किया है, तथा राज्यका शासन अथवा शासनकी मान्यतामें कोई अन्य नृपति जिसकी समता नहीं कर सकता है, आजके युद्धमें उस ही धर्मराजके समक्ष अहंकारके नशेमें चूर फलतः उद्दण्ड शत्रुओंके शिरोंको घासके समान काटकर उनके चरणोंमें बलि कर देंगे और इस प्रकार महाराजके महा ऋणसे ऊरण होनेका प्रयत्न करेंगे।

युद्धके हेतु

२०

२१

२२ जो अधम शत्रु अपने सगे संबन्धियोंकी नहीं अपने परमप्रिय जीवनको भी बलि करके ललितेश्वरके 'अप्रतिमल्ल' नामक हस्ति रत्नका अपहरण करनेके लिए उद्यत हैं, आज समर-स्थलीमें बलपूर्वक उनके उत्तम वाहनोंको ही नहीं ले लिया जायगा अपितु तिरस्कृत करके उन निर्लज्जोंको यहांसे खदेड़ दिया जायगा। जो अत्यन्त दयाहीन तथा निर्दय हैं, नीतिमार्गसे योजनों दूर हैं, हमारे देशके ग्रामों, आकरों आदिका जिन्होंने विनाश किया है तथा हमारे देश बन्धुओंका निर्घृण वध किया है, आज उन दुष्टोंकी पापमय देहोंको गदाओंकी मारसे चूर चूर करके समरस्थली रूपी आंगनमें सुखा देंगे। जिन अर्थलोलुपोंकी प्रवृत्तियोंका लोभ ही नियन्त्रण करता है, फलतः हमारे नीति-निपुण महाराजका तिरस्कार करके जो नरकीट प्रसन्न हुए थे आज समरक्षेत्रमें उन सब दुरात्माओंकी ऐहिक लीला समाप्त करके उनके शरीरोंको मांसलोलुप काक-गीध-आदि पक्षियोंको तर्पण कर देंगे।' रणरंगमें मस्त योद्धा लोग पूर्वोक्त प्रकारसे अपने उत्साहको प्रकट करते हुए घोड़ों, हाथियों तथा रथोंपर सवार होकर महाराज देवसेनके साथ ही भूपतिके प्रसाद (राजभवन) से निकले थे। उन सबके हथियार प्रहारके लिए सुसज्जित ही नहीं थे अपितु वे उन्हें निकालकर हाथमें लिए जा रहे थे।

वीरोंके उद्गार

२३

२४

२५

२६ शत्रुकी युद्धकी खाज मिटानेके लिए ही समरयात्रा पर जानेवाले कश्चिद्भटको देखकर ललितपुरके नागरिकोंके मनमें जो भाव उत्पन्न हुए थे विशेषकर राजाओंके उपयुक्त वेशभूषाके कारण बढ़े हुए उसके मनोहर रूपको देखकर, उन सबको उन्होंने आगे कहे जानेवाले वाक्यों द्वारा प्रकट किया था।

वरांग का राजरूप

२७ विशेषरूपसे कोई तुम्हारे हित तथा शुभकी चिन्ता करनेवाला नहीं है। न कोई ऐसा ही है जो तुम्हें हितका उपदेश दे सके? क्या तुम नहीं समझते हो कि इस प्रकार युद्धमें भाग लेना वणिकोंको शोभा नहीं देता है। अथवा हे आर्य? यह तुमने क्या विचित्र निर्णय कर डाला है जिसे तुम्हारे वंशमें कभी किसीने मनसे भी न सोचा होगा। महाराज

२८

देवसेनकी यह विस्तृत सेना, जिसमें असंख्य अश्वारोही और गजारूढ़ योद्धा है, रथोंकी भी संख्या कम नहीं है तथा हजारों अनुपम महायोद्धाओंसे पूर्ण है, ऐसी यह सेना भी संभव है कि शस्त्र प्रहार करके विजय करनेमें समर्थ न हो

नागरिकोंका मोह

अतएव तुम (कश्चिद्भट) अतिसाहस मत करो, शान्त होओ और अब भी रुक जाओ। किसी अज्ञात स्थानसे आकर तुम अपने शुभ लक्षणों के कारण सार्थपतिके धर्मपुत्र हो गये थे, इसी प्रकार अकस्मात् अपनी योग्यताओंके कारण वणिकोंकी प्रधानताको पा सके थे तथा कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात कारणोंसे ही तुम जनसाधारणके स्नेहभाजन हो गये थे। अतएव हे वत्स! यों ही मृत्युके मार्गपर क्यों चले जा रहे हो। २९

इसमें सन्देह नहीं कि इसके पहिले तुमने अकेले ही पामर पुलिन्दोंको जीता था किन्तु वे जंगल जंगल भागनेवाले रणकलामें सर्वथा अशिक्षित थे तब रणनीति तथा योजनाको तो जानेंगे ही क्या? इसके अतिरिक्त उस विजयमें सेठ सागरवृद्धिका पुण्य तुम्हारा प्रधान सहायक भी था। अतएव इस महासमरको भी मन ही मन वैसा ही मत समझो? राजपुत्री सुनन्दा को पाकर ही तुम्हारा कौन सा बड़ा हित हो जायगा, क्या तुम नहीं जानते हो कि वह तुम्हारे लिए कितने अपरिमित संक्लेश तथा अमिट वैरका कारण होगी? जो कोई भी सेठोंकी पुत्री तुम्हारे योग्य तथा उचित होगी वही तुम्हें विना किसी परिश्रम या भयके सरलतासे ही प्राप्त हो जायगी। ३० ३१

जनसाधारणकी कल्पना

सार्थपतिके पुत्रका प्रभुताके वातावरणमें पली राजपुत्रीसे सम्बन्ध ही कैसा? तुम्हारा यह (युद्ध विजय) प्रयत्न तो हाथों, हाथों प्रबल उन्नत लहरोंसे आकीर्ण समुद्रके उस पार जानेके समान है। जब समरभूमिमें तुम्हें मदोन्मत्त हाथियोंके झुण्ड रोंदते हुए निकल जांयगे उस समय क्या वह सुनन्दा तुम्हें उस संकटसे बचा लेगी। ३२

इन उद्गारोंको प्रकट करनेमें लीन मोहप्रवण व्यक्तियोंको कुछ समझदार सज्जन रोक देते थे तथा उनको समझानेके लिए यथार्थ बातोंको कहते थे। 'जिसे आप लोग सार्थपतिका पुत्र समझे बैठे हैं वह वणिक् पुत्र नहीं है अपितु राजकुमार ही है। देखते नहीं है उसका तेजोमय शरीर ही उसके राजवंशको प्रकट कर रहा है। अपने प्रचण्ड भुजदण्डोंके प्रबल पराक्रम द्वारा शत्रुओंकी सेनाको जीतो, शीघ्रसे शीघ्र ही राज्यप्राप्ति, आदि कल्याणोंको प्राप्त करो तथा हे आर्य! सब प्रकारसे तुम्हारा शुभ हो। इस विधिसे नागरिक पहिले उसकी विजयकी शुभकामना करते हुए आशीर्वाद देते थे और उसका गुणानुवाद करते थे। तुम्हारे प्रताप और प्रभावकी सीमा नहीं है, शत्रुओंका मानमर्दन करके ललितेश्वरके पराभवजन्य मानसिक तापको शान्त करो, इसके पीछे सन्मानमें आधे देशका राज्य प्राप्त करो, राजदुलारीके पति बनो तथा सबके पूज्य होते हुए अपनी यश-पताकाको देशदेशान्तरोंमें फहरा दो।' ३३ ३४ ३५

विवेकियोंकी बातें

कश्चिद्भटको देखकर नागरिक लोग उक्त प्रकारसे अनेक वचन कहकर उसकी प्रशंसा ही नहीं करते थे अपितु स्तुतिके साथ साथ उसके लिए मंगल कामना भी करते थे। इस प्रकार प्रशंसित होता हुआ वह महाराज देवसेनके साथ ही नगरके बाहर निकल गया था। उस समय उसका तेज तथा कान्ति दोनों ही अत्यन्त उज्ज्वल हो रहे थे। ३६

वीरानुराग

३७ समरस्थलीके प्रांगणमें इकट्ठे हुए दोनों पक्षोंके राजाओंके किरीट, अंगद तथा सुन्दर मणिमय हार चमचमा रहे थे, उनके वाहनोंके ऊपर लहराती हुई ऊंची ऊंची पताकाओंको देखकर ही यह पता लगता था कि 'कौन कहांका राजा है'। उनमेंसे प्रत्येकको अपने शत्रुके ऊपर बहुत तीव्र क्रोध था जिसे शान्त करनेके लिए ही अपनी अपनी सेनाओंको साथ लिये

३८ रणरंगका प्रदर्शन

हुए वे एक दूसरेको देख रहे थे। भयंकर वेगयुक्त आंधीसे चंचल होने पर जब समुद्रमें ऊंची ऊंची लहरें उठती हैं तथा वह मेघोंकी गर्जनासे भी भयावह रोर कर उठता है। ऐसे ही क्षुब्ध समुद्रके समान क्रोधरूपी आंधीसे बौखलाया

३९ हुआ वह सेनासमुद्र भी अकस्मात् बड़े वेगसे उफन पड़ा था। हाथी चिंघाड़ रहे थे, घोड़े जोरोंसे हिनहिना रहे थे, रथोंपर आरूढ़ योद्धाओंके धनुषोंकी ज्याका तीव्र शब्द हो रहा था, पैदल सैनिक भी सिंहके समान हृदयको हिला देनेवाला नाद कर रहे थे—तथा ऐसा मालूम

४० हो रहा था कि पृथ्वीकी सब दिशाएं रुद्र कर्णोद्वेजक रोरसे भरी हुई हैं। एक ओर शंख फूंके जाते थे तो दूसरी ओर भेरियां पीटी जाती थीं, कोई पटह बजाते थे तो दूसरे घंटाको ठोक रहे थे, अन्य लोग बांसके भोंपू, मर्दल (मृदंग सा बाजा) काहल, आदि बाजोंको मस्तीसे पीट रहे थे। इन सब युद्धके बाजोंकी सम्मिलित ध्वनिसे आकाश वैसा ही गूंज रहा था जैसा कि वर्षाकालीन मेघोंकी गर्जनासे भर जाता है।

४१ दोनों सेनाओंके युद्धस्थलीमें खड़े हो जानेके बाद सैनिकोंने चार प्रकारके स्थानोंको बनाया था। पहिले दोनों भुजाओंसे फैलाकर सुन्दर धनुषोंपर डोरियां चढ़ायी थीं इसके पश्चात् बाण चढ़ाकर हाथसे डोरीको कानतक खींचकर दोनों सेनाओंके वीर सैनिकोंने परस्परमें

युद्धारम्भ

प्रहार करना आरम्भ कर दिया था। बाणोंके पंखे (पिछले भाग) सोनेके

४२ बने थे। वीर सैनिकोंके द्वारा बलपूर्वक फेके गये ऐसे बाण मनकी गतिके वेगसे छूटते थे तथा सामने खड़े शत्रुओंके विशाल तथा दृढ़ वक्षस्थलोंको उसी प्रकार भेद देते थे जैसे आकाससे गिरती हुई बिजली पर्वतोंके उन्नत तथा विस्तृत शिखरोंको खंड खंड कर देती है।

४३ मथुराधिपतिकी अत्यन्त कुपित सेनाने बड़ी दृढ़ता तथा धृष्टताके साथ एकाएक आगे बढ़कर ललितेश्वरकी सेना पर आक्रमण किया था, जिसे घेरा डालते हुए देखकर ही महाराज देवसेनकी सेनाने मियानसे तलवारें निकाल कर शत्रुसे अधिक वेग और दृढ़ताके साथ

प्रत्याक्रमण

प्रत्याक्रमण किया था। ललितेश्वरके सैनिकोंके हाथोंसे चलाये गये खड्गोंकी

४४ ज्योति बिजलीके समान प्रकाशित हो रही थी। दोनों ही सेनाओंके भट स्वामिभक्त थे, प्रभुकी विजयके लिए प्रतिज्ञा कर चुके थे, अपने प्रभुके प्रति राग तथा शत्रु राजाके प्रति द्वेषसे पूर्ण थे, युद्ध करनेके लिए लालायित थे, उन्हें अपनी शक्तिपर विश्वास था, बड़े अभिमानी थे तथा करने-मरनेके लिए कटिबद्ध थे। अतएव बड़े वेगके साथ परस्परके अंग काट काट कर फेकते जाते थे।

४५ पदाति योद्धाओंने पहिले ही आक्रमणमें ईली शस्त्रका प्रयोग करके शत्रुओंके शिर,

पदातियुद्ध

वक्षस्थल, जंघा, कमर आदि अंगोंको अकस्मात् ही काट डाला था। क्योंकि ईलियोंकी धार अत्यन्त तीक्ष्ण थी। शत्रुओंके रक्तमें रंगकर वे बिल्कुल लाल हो गयी थीं तथा उनका गहरा लाल रंग खूब चमक रहा था। कुछ शूर योद्धा अपने प्रतिद्वन्द्वीके

शस्त्रोंको बाणोंकी मारसे ही बेकाम कर देते थे। दूसरे कुछ वीर सन्मुख आये शत्रुकी भर्त्सना करते हुए उचक कर उसकी छातीपर पहुंच जाते थे। इसके बाद लांघे गये शस्त्रहीन सैनिक अवसर पाकर उन आक्रमणकारियोंको बलपूर्वक घूंसे मारकर समाप्त कर देते थे। अन्य महा- ४७ शक्तिशाली योद्धा अत्यन्त विशाल तथा भारी लोहेकी गदाओंको घुमाते थे जिनके प्रहारोंसे अपने चारों ओर आये शत्रुओंको ऐसा चकनाचूर कर देते थे जैसे कि आकाशसे गिरे वज्रका अभिघात साधारण पर्वत नहीं महापर्वतोंको चूर चूर कर देते हैं। साक्षात् संघर्षमें कुछ ४८ योद्धा शत्रुके बालोंको पकड़ कर झटकेसे पृथ्वी पर पटक देते थे। फिर कृपाणका निर्दय प्रहार करके उनके पेटको फाड़ देते थे वक्षस्थलोंको चीर डालते थे तथा इन सब उपायोंसे शीघ्र ही उनके प्राणोंको चुनकर फेंक देते थे। किन्हीं योद्धाओंके शिर पर ही शत्रुका प्रबल प्रहार ४९ पड़ता था, मस्तक फट जाता था और रक्तकी धार बह निकलती थी जिससे उनका मुख आदि बन्द हो जाता था। फलतः वे अपने शत्रुओंको नहीं देख पाते थे, तो भी शत्रुओंके शब्दसे उनकी दिशाका पता लगाकर अपने आसपासके शत्रुओं पर स्वयं शक्ति क्षीण न होनेके कारण आक्रमण करते ही थे।

शत्रुके अत्यन्त निकट आ जानेपर कुछ योद्धा शस्त्रोंका प्रहार छोड़कर एकदम आगे ५० बढ़कर मल्लयुद्ध करने लगते थे। दूसरे भट अपने शत्रुओंके शस्त्रोंको छीनकर उन्हें मारनेके लिए कटिबद्ध हो जाते थे, किन्तु उसी समय युद्धनीतिका स्मरण आ जानेके कारण छोड़ देते थे। कुछ ऐसे भी शूरवीर थे जो भालोंकी मारसे शत्रुओंकी आंखें फोड़ देते थे। तब वे ५१ नेत्रहीन हो जानेके कारण कुछ कर न सकते थे, फलतः उनके अन्तरंग क्रोधकी ज्वाला भभक

मल्लयुद्ध

उठती थी और वे अपशब्दोंरूपी कटु तथा तीक्ष्ण बाणोंसे अपने शत्रुओंपर आक्रमण करते थे, किन्तु आंखें फोड़नेवाले योद्धा तिरस्कारपूर्वक उन्हें पीछे छोड़कर आगे बढ़ जाते थे। प्रहार करनेकी इच्छासे कुछ योद्धा शस्त्र सहित हाथोंको ऊपर ५२ उठाये हुए ही अपने शत्रुको हर तरफसे घेरते थे। किन्तु उन्हें ऐसा करते देखकर वे अपनी युद्धकलाकी कुशलतासे उनकी युक्तिको विफल कर देते थे। इतना ही नहीं उनपर कुशलतासे पाश फेंककर उन्हें बांध लेते थे। कितने ही ऐसे रणबांकुरे थे जो इस युद्धके पहिलेसे ही एक ५३ दूसरेके पक्के वैरी थे, फिर इस समय तो कहना ही क्या था? वे परस्परमें नामसे सम्बोधन करके अपने शत्रुको अपने सामने बुलाते थे और शस्त्रोंके द्वारा निर्दयतापूर्वक छेद डालते थे।

कुछ क्रुद्ध तथा उग्र भटोंके दण्डे लोहेकी मूठसे मढ़े थे। ये लोग अपने शत्रुओंके ५४ विधिपूर्वक शिरस्त्राण आदिके द्वारा सुरक्षित शिर पर एक ऐसा दृढ़ तथा सटीक प्रहार करते थे

युद्धकी भीषणता

कि उनके शिर एक ही चोटमें वैसे ही फट जाते थे जैसे तुम्बी पत्थरकी चोटसे खंड खंड हो जाती है। तीक्ष्ण परशुके प्रहारोंसे अनेक योद्धाओंके ५५ शरीर फट गये थे, कुछ लोग भारी मुद्गरों तथा तेज धारयुक्त टंकोंकी मारसे छिन्न भिन्न हो गये थे, अन्य कितने ही गदाकी सतत मारसे पिस गये थे और वे सब तेजस्वी देखते देखते इस लोकसे प्रयाण कर गये थे। इन समस्त योद्धाओंको रण अत्यन्त प्रिय था, अतएव उसकी सफलताके ५६ लिये इन्होंने परिपूर्ण पुरुषार्थ किया था। अपने अहंकारके उद्रेक तथा रक्त आदि लग जानेके कारण उनकी आकृतियां हाथियोंके समान हो गयी थीं। वीरोंके उपयुक्त घावोंके द्वारा उनके पूरे शरीर भूषित हो गये थे, तो भी उनके चलते हुए दृढ़ तथा सटीक प्रहार और भी तीव्र और भयानक होते जा रहे थे।

५७ कुछ श्रेष्ठ योद्धा जिनकी शक्ति और पराक्रम थोड़ा भी न कमा था वे युद्धक्षेत्रमें दौड़ दौड़कर आक्रमण कर रहे थे। इसी उपक्रममें उनके पैरोंमें मृतकोंकी आंतें फंस गयी थीं तो भी उनकी गतिमें कोई अंतर न आया था। अतएव वे ऐसे प्रतीत होते थे मानो

रणरति

५८ पाशसे बंधे हुए मत्त हाथी ही रणभूमिमें इधर, उधर दौड़ रहे हैं। कितने ही ऐसे पुरुषसिंह (श्रेष्ठ पुरुष) थे जिनके शस्त्रास्त्र शत्रुके रक्तसे लथपथ हो गये थे तथा शत्रुओं पर प्रहार करते करते थकनेकी अपेक्षा उनका बलवीर्य और बढ़ सा गया था फलतः वे शत्रुओंको मारनेमें ही लीन थे। उनका यह घोररूप देखकर उन सिंहोंका स्मरण हो आता था

५९ जो क्रोधके आवेशमें मत्त गजोंपर आक्रमण करते हैं। शस्त्रोंकी मारसे किन्हीं किन्हीं योद्धाओंके पेटकी आंतें बाहर निकल आयी थीं। किन्तु उन शूरोंने उन्हें बांयें हाथसे दबा लिया था और दांयें हाथसे दृढ़तापूर्वक खड्ग पकड़ कर वे जब प्रहार करते थे तो साक्षात् राक्षसोंकी भांति

६० भयंकर दिखते थे। हार्दिक क्रोधका आवेश बढ़ जानेके कारण कितने ही योद्धाओंकी आंखें घूम रही थीं, इस पर भी जब शत्रुका निर्दय प्रहार हुआ तो उनके प्राण पंखेरू भी उड़से ही गये थे तथापि अन्तमें जब सहस्रकोटी (हजार दारतोंकी गदा) का प्रहार पड़ा तो वीरतापूर्वक व्यथाको सहनेके लिए ही उन्होंने ओंठोको दांतोंसे चबा लिया था और आह निकाले विना ही धराशायी हो गये थे।

६१ समरके रागमें मस्त कितने ही योद्धाओंके वक्षस्थलपर कोई कोई शत्रु सर्वलोह (पूराका पूरा लोहेसे बना अस्त्र) आयुधसे पहिले प्रबल प्रहार करते थे। किन्तु जब वे आगेको बढ़ने लगते थे तब उसी सर्वलोह आयुधको निकाल कर वे उन्हें रोक लेते थे और उसीका प्रहार करके

६२ मार डालते थे। आपसमें सतत प्रहार करते रहनेपर जब भटोंके अस्त्र

रणकला प्रदर्शन

टूट जाते थे तो एक दूसरेको अपनी अपनी पुष्ट तथा बलिष्ठ भुजाओंसे दबाकर पृथ्वी पर पटक देते थे। क्रोधसे अत्यन्त उग्र हो कर वे लड़ते लड़ते अपने प्रतिद्वन्दियोंके पैर ऊपरकी ओर और शिरको नीचे कर देते थे।

६३ जो लोग स्वभावसे भीरु और दुर्बल थे वे योद्धाओंको खड्गों द्वारा आपसमें जूझता देखकर भयसे विह्वल हो गये थे। जो न तो भीरु थे और न प्रथम श्रेणीके योद्धा थे, उन्हें

६४ संग्राम करनेवालोंके प्रति समान अनुराग हो गया था। तथा जो स्वयं

रणदर्शनकी प्रतिक्रिया

शूरवीर थे उनका उत्साह दुगुना हो गया था। आतंक तथा भयसे जिनके चित्त सहज ही सन्न हो रहे थे, वे लोग एक घाव लगते ही अत्यन्त शिथिल हो गये थे, कष्टसे रोते थे, प्याससे उनके गले सूख गये थे; शीतल जल पीनेके लिए वे आतुर थे, किसी भी प्रकार जीवित रहना चाहते थे अथवा लोकलाजको छोड़कर वे भागे जा रहे थे।

६५ मदोन्मत्त हाथियोंके भारी पैरोंसे लगातार रौंदे जानेके कारण, हृष्टपुष्ट तथा फुदकते हुए बढ़िया घोड़ोकी टापोंकी मारसे, पदाति सेनाकी दौड़ धूपके कारण तथा विशाल रथोंके पहियोंके द्वारा कूची गयी समरस्थलीसे उड़ी हुई धूलने समस्त दिशाओंको ढक लिया था। इस

६६ समयतक दोनों सेनाएं इतनी निकट आ गयी थीं कि दोनों पक्षोंके सिपाही

समरस्थली

आपसमें मिल गये थे, इस कारणसे, धूलके सर्वदिक फैलावके कारण अथवा बुद्धिभ्रष्ट हो जानेके कारण ही सैनिक प्रहार करनेकी अभिलाषासे जब शस्त्र उठाकर बढ़ते थे

६७ तो अपने सपक्षी और विपक्षीको भी नहीं पहिचान पाते थे। इस प्रकारसे अत्यन्त भयंकर

और घोर युद्ध चलते रहने पर; शूरोंके पारस्परिक आघातोंसे अत्यन्त भीत तथा धूलरूपी साड़ीसे अपने शरीरको ढंकनेवाली पृथ्वी उसी प्रकार शोभित हो रही थी जैसी कि कोई डरी हुई कुलांगना प्रतीत होती है। योद्धाओंके मुख तथा आंखें धूलसे भर गयी थीं फलतः न वे बोल सकते थे और न देख सकते थे। केवल एक दूसरेका हाथ छूनेसे ही उन्हें किसीका ज्ञान होता था। फलतः वे दीर्घ प्रवासके पश्चात् मिले हुए घनिष्ठ बन्धु बान्धवोंके समान एक दूसरे-को गाढ़ रीतिसे वाहुपाशमें बांध लेते थे और उससे छूटनेमें असमर्थ हो जाते थे। ६८

मनुष्य, घोड़े तथा हाथियोंको इस संग्राममें बड़े बड़े घाव लगे थे जिनसे रक्त ही नहीं निकला था अपितु रक्तकी विशाल धारा भभक भभक कर बह रही थी। जिसके द्वारा समरांगनकी समस्त धूल वैसे ही बैठ गयी थी जैसे वर्षाकालीन मेघोंकी मूसलाधारसे पृथ्वी पर उड़ती धूल जम जाती है। पहिले जो धूल खूब बढ़ी हुई धूम्रराशिके समान मलिन रंगको धारण करती हुई आकाशमें उड़ती दिखायी देती थी। वही धूल बादमें रक्तसे मिल जानेके कारण आकाशकी ओर उठती हुई ऐसी प्रतीत होती थी मानों सैन्दुरकी आंधी उड़ रही हो। उक्त रीतिसे धूलके बैठ जानेपर फिर युद्ध प्रारम्भ हो गया था। इस समय दोनों सेनाओंके शूर एक दूसरेको देख सकते थे, अतएव इस दर्शनने उनकी क्रोधज्वालामें आहुतिका काम किया था। इसी कारण वे उस समय पहिलेसे बहुत बढ़कर शूर हो गये थे। पदाति क्रोधमें उन्मत्त होकर एक दूसरेको नाम लेकर बुलाते थे और मारक प्रहार करते थे। ६९ ७० ७१

संहारमें कवित्वकी अठखेलियां

योद्धा उत्तम जातिके सुशिक्षित ऐसे घोड़ोंपर आरूढ़ होते थे जो उनकी उस समयकी लड़ाईको सफल करने योग्य थे, फिर वे भालोंकी मार, तलवारकी काट पाशोंके फन्दोंको काटते हुए आगे बढ़ते जाते थे और शत्रुओंकी सेनाको निर्दयतापूर्वक कुचल देते थे। किन्तु दूसरे कुछ योद्धा युद्धकला तथा शस्त्र संचालनमें इनसे भी अधिक दृढ़ तथा कुशल थे। फलतः जब शत्रुके अश्वारोहियों द्वारा उनका अपमान होता था तो वे दूसरे ही क्षण हजारों घोड़ोंपर सवार होकर उन सब पर प्रत्याक्रमण करते थे और क्षणभरमें ही उन्हें ऐसा घेर लेते थे कि उन्हें निकल भागना असंभव हो जाता था। ७२ ७३

पुनः संघर्ष

रथोंपर आरूढ़ योद्धाओंके शिरोंपर बंधे मुकुट जगमगा रहे थे। उनकी पूरीकी पूरी तेजोमय देह अत्यन्त चमचमाते हुए कवचसे सुरक्षित थी। उनके धनुषोंकी दृढ़ता आदि गुण इन्द्रधनुषकी ही कोटिके थे। इन धनुषोंके द्वारा वे निरन्तर बाण फेककर शस्त्र-क्रीड़ा कर रहे थे। बाण क्या छूट रहे थे मानों वर्षामें मूसलाधार पानी बरस रहा था। मंदजलके स्रावके कारण अत्यन्त उद्धत तथा चलते फिरते महापर्वतोंके समान विशाल ढीठ हाथियोंपर आरूढ़ योद्धा परस्परमें एक दूसरे पर करनेके लिए अपने अपने मस्त हाथियोंको शत्रुओंके निकट लिये जा रहे थे। उक्त प्रकारसे दारुण और घोर संघर्ष चल रहा था इसमें पुरुषोंके शौर्य तथा साहस दोनोंका उत्कृष्ट उपयोग हो रहा था। कोशसे बाहर खींचकर चलायी जानेवाली तलवारोंकी द्युतिके सामने सूर्यकी किरणोंका उद्योत मन्द पड़ गया था, फलतः विचारा सूर्य उस समय प्रभाहीन ही दिखायी देता था। ७४ ७५ ७६

रथयुद्ध

इस समय तक प्रधान-प्रधान योद्धा संग्राममें उतर चुके थे। वे कवच, गदा, तोमर, पट्टिस (एक प्रकारका फरसा) भिण्डिपाल (हाथसे फेंका जानेवाला बाण) चक्र, बरछी ७७

तथा बड़े बड़े लोहेके भालों द्वारा परस्परमें ऐसे प्रहार करते थे जिनका लक्ष्य कभी चूकता ही

७८ युद्धकी चरम-सीमा

न था। शत्रुके द्वारा फेंके गये बढ़ियासे बढ़िया शस्त्रोंको कुछ योद्धा अपनी रणकुशलताके कारण आकाशमें ही कांट-छांट देते थे और वे उनतक पहुंच न पाते थे। दूसरे इनसे भी अधिक कुशल थे वे उन्हें बीचमें ही रोककर पकड़ लेते थे और दूसरे ही क्षण उन्हें उनके चलानेवालोंपर ही चला देते थे।

७९ पर्वतके समान विशाल होते हुए भी वेगसे बढ़ते हुए गज, गजोंके साथ टकरा रहे थे। चारों तरफसे वेगपूर्वक बढ़ते हुए धवलिमासे व्याप्त रथ, रथोंसे भिड़ रहे थे। अश्वारोही, अश्वारोहियोंके साथ तुमुल युद्ध करते थे तथा पैदल सैनिक पैदल सैनिकों पर

८० टूट रहे थे। जब हाथियों और घोड़ोंके शरीर क्षत विक्षत हो जाते थे तो वे पर्वतकी शिखरोंकी भांति पृथ्वीपर गिरते थे और अत्यन्त करुण चीत्कार करते थे। तथा कितने ही क्षुद्र प्राणी जो स्वभावसे भीरु थे वे अपनी लड़नेकी अभिलाषा तथा उसके उत्तरकालीन फलोंको बिना

८१ पाये ही अकारण ही मौतके घाट उतर गये थे। कितने ही वीर प्रकृतिसे ही भयंकर रूपके कठोर योद्धा थे, उनके ऊपर घाव पर घाव पड़ रहे थे। उनके सुदृढ़ विशाल वक्षस्थलोंसे रक्तकी नदी बही जा रही थी किन्तु वे तब भी साहसपूर्वक लड़ते हुए खड़े थे। उस समय उनकी वही शोभा थी जो कि किसी विशाल-उन्नत पर्वतकी तब होती है जब कि उससे गेरू घुले जलकी धार बहती है।

८२ इस महासमरकी पूरीकी पूरी रणस्थली रुधिरकी धारसे आर्द्र हो गयी थी, उसपर टूटे फूटे रथ, खण्डित अश्व और कटे छटे हाथियोंके शव पड़े थे, मृत शूरों तथा जन्तुओंके

बीभत्सतामें कवित्व

शरीरोंसे बाहर निकली आंतोंकी मालाएं उसपर पड़ी थीं अतएव उसकी पूरीकी पूरी छटा संध्याकालीन मेघोंके समान हो गयी

८३ थी। किसी स्थान पर मरे हुए हाथियोंकी इतनी देहें इकट्ठी हो गयी थीं कि वहां निकलना भी असंभव हो गया था, कहींपर घोड़ोंके अंगोंके ढेर हो गये थे, कहीं कहीं पर 'छिन्न मस्तक शरीर (कबन्ध) जोरोंसे नाच रहे थे। इन सब कारणोंसे समरभूमिकी

८४ भीषणता चरमसीमा तक पहुंच गयी थी। कहींपर लोग मूर्च्छित होकर शान्त पड़े थे, कहींपर भग्न शरीर लोगोंके ढेर थे, किसी अन्य समयपर लोग लगातार वीरगतिको प्राप्त हो रहे थे। कहींपर समरभूमि गहरी मालूम देती थी तो दूसरी ओर शवों आदिके ढेरसे पर्वत समात उन्नत हो गयी थी कहीं पर लोग विजय होनेके कारण आनन्द

८५ विभोर हो रहे थे। इस प्रकार दोनों ओरसे उद्धत तथा मत्त हस्ति, अश्व, रथ तथा पदाति चारों प्रकारकी विशाल सेनाएं मथुराधिप और ललितेश्वरके यशरूपी शिरोभूषणके समान हो रही थीं। इनके अविरत घोर संघर्षके कारण वह युद्ध मिला हुआ-सा (अर्थात् कौन जीत रहा है इस अनुमानके अयोग्य) प्रतीत होता था।

८६ प्रजाओंको परमप्रिय ललितेश्वर तथा प्रसिद्ध नीतिपटु मथुराधिप इन दोनोंके बीच जो विशेष वैयक्तिक युद्ध हुआ था उसे मैं इसके आगे विस्तृत रूपसे कहता हूं।

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित

नामक धर्मकथामें मिश्रकयुद्ध नाम

सप्तदश सर्ग समाप्त।

अष्टादश सर्ग

मथुराधिप इन्द्रसेनके साथ जो अनेक राजा आये थे वे तथा उसके अधिकांश सेवक स्वभावसे ही अर्थलोलुप थे। उन्हें अर्थसंचयकी अभिलाषा ही ने इन्द्रसेनके अनुगामी बननेके लिए बाध्य किया था। फलतः महाराज देवसेनने वे साम, दान आदि उपायोंका प्रयोग करके उन सबको मथुराधिपसे फोड़कर अपने वशमें कर लिया था। विजयकी सदिच्छासे प्रेरित होकर कूटनीति तथा पराक्रमके द्वारा उक्त प्रकारसे शत्रुके महत्वको घटाकर महाराज देवसेनने स्वयं लड़नेका निश्चय किया था। वे अहंकारी इन्द्रसेनके साथ साक्षात् युद्ध करके उसे व्यक्तिगत युद्धमे ही हराना चाहते थे। महाराज देवसेन रणनीतिके पंडित थे और शत्रुको सर्वथा परास्त करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा कर चुके थे अतएव उन्होने अपनी विशाल सेनाकी फिरसे इस प्रकार व्यूह रचना की थी, कि उस व्यूह रचनाके कारण उसकी पंक्तिको किसी दिशासे तोड़ देना असंभव ही था। जिस ओर सैनिकोका उत्साह शान्त होता दिखता था उस ओर पुरस्कार आदिकी घोषणाके द्वारा वे उत्तेजित किये जाते थे तथा जिधरके सैनिक उत्तेजित होकर व्यूहको शिथिल करना चाहते थे उन्हें उचित उपायोसे शान्त किया जाता था। विश्राम करके लौटे हुए प्रधान योद्धा उस समय खूब पुष्ट थे। मृत्युके भयको तो उन्होंने विना किसी प्रलोभनके यों नष्ट कर दिया था। इनके अतिरिक्त राजभक्त तथा राष्ट्र और कर्त्तव्यके समर्थक लोग स्वेच्छासे ही अपने अपने वाहनो पर आरूढ़ होकर सेनाके साथ चले आये थे महाराज देवसेनने इन सबको भी उस अन्तिम युद्धमें भाग लेनेके लिए आज्ञा दी थी। १ २ ३ ४

नीतिसे रणसंचालन

शस्त्रकलाके विशेषज्ञ महावीरोंको स्वभावसे ही युद्धमें आनन्द आता था, इसपर भी उस समय तो उन्हें महाराजकी आज्ञा प्राप्त थी। परिणाम यह हुआ कि वे अपने तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रोंके द्वारा शत्रुसैन्यको मारते हुए इधर उधर दौड़ते फिरते थे। उस समय वे संग्राम भूमिमें घूमते हुए साक्षात् यमोके समान मालूम देते थे। तूफान आने पर समुद्र क्षुब्ध हो जाता है तथा उसमें ऊंची, ऊंची भीषण लहरें उठनेपर जो दृश्य होता है, वही उस समय चलते हुए घोर तथा दारुण संग्रामका भी हाल था। शस्त्र इतने वल तथा वेगसे चल रहे थे कि उनके आपसमें टकराने पर आगके तिलंगे निकल पड़ते थे। ५ ६

ललितपुरके देशभक्त वीर

इनको देखते ही मथुराधिप इन्द्रसेनने स्वयं शस्त्र उठाया था, एक क्षण भी नष्ट किये विना वह बड़ी शीघ्रतासे वलाहक नामके अपने उत्तम हाथीपर चढ़ गया था। 'मैं अब भी क्यों बैठा हुआ हूं।' यह कहकर उसने प्रयाण कर दिया था तथा उसे चारों ओरसे घेरे हुए छह हजार हाथियोकी विशाल सेना चल रही थी। इन्द्रसेनके शारीरिक वीर्यका पार न था वह महेन्द्रके समान पराक्रमी था अतएव ज्यो ही अपनी सेनाके साथ उसे अपने ऊपर आक्रमण करते देखा त्यो ही सुशिक्षित उत्तम हाथियोंकी विपुल सेना लेकर महामंत्री विजयने आगे वढ़ती हुई मथुराकी सेनाको रोक दिया था। ७ ८

मथुराधिपका आक्रमण

९ शस्त्र-संचालनमें अत्यन्त पटु दोनों ओरके सैनिक अपने अपने लक्ष्यों पर एकटक आंख गड़ाकर शरासन (धनुप) को कानके पासतक खींच ले जाते थे, तब बाण छोड़कर अकस्मात् ही एक दूसरेको वेध देते थे। यह दृश्य सारे समरांगणमें उस समय लगातार

१० दृष्टिगोचर होता था। हाथियों पर आरूढ़ योद्धाओंके द्वारा शत्रु हाथियों पर ही चलाये गये पूंछ युक्त शंकु (विशेष प्रकारके भाले) उनकी विशाल देहोंमें धंस जानेपर ऐसे मालूम देते थे मानो पर्वतोंके ऊंचे ऊंचे शिखरोंमें मोर घुस गये हैं और उनके पंखे ही बाहर रह गये हैं।

विजयमंत्रीका प्रतिरोध

११ युद्धमें लिप्त हाथियोंके शरीर भी संनाह (कवच) से ढके हुये थे तो भी जब वे कुशल महावतोंके द्वारा आगेको हांके जाते थे तो वे एक दूसरेसे भिड़ जाते थे तथा संनाहके कारण शरीरमें कहीं भेद्य स्थान न मिलनेके कारण लोहेसे मढ़े हुए उनके विशाल दांत एक

१२ दूसरेके मुखोंमें पूरेके पूरे धंस जाते थे। तोमर आदि तीक्ष्ण तथा विशाल आयुधोंके आघातसे हाथियोंकी देहें फट जाती थीं, घांवोंमेंसे रक्तकी मोटी मोटी धाराएं वेगके साथ बह निकली थीं। किन्तु वे मादक द्रव्य पिलाकर उन्मत्त किये गये थे फलतः वे भीमकाय पशु उस युद्धमें शत्रुओंके लिए प्रलयकालीन मेघोंके समान भयंकर

हस्तियुद्ध

१३ और घातक हो रहे थे। महा बलिष्ठ प्रधान योद्धाओंके द्वारा उस समय भारी और विशाल गदाएं, बड़े बड़े परिघ (चक्रके आकारका शस्त्र) तथा अत्यन्त तीक्ष्ण धारयुक्त और उससे भी बढ़कर दृढ़ शक्तियां हाथियोंके ऊपर बरसायी जा रही थीं। जिनकी मारसे विचलित

१४ होकर हाथी ही नहीं हारते थे अपितु अपने महावतोंको भी परास्त कर देते थे। हाथी इतने उत्तेजित हो गये थे कि वे क्रोधसे पागल होकर मृणालकी भांति एक दूसरेके दांतोंको सूंडसे बलपूर्वक उखाड़ लेते थे और रक्तसे लथपथ अतएव तेज लाल रंगयुक्त उन्हीं दांतोंको तुरन्त ही दूसरोंपर दे मारते थे। उनके द्वारा दांतोंका फेंका जाना आरतीके समय फेंकी गयी

१५ फुलझरियोंका स्मरण कराता था। कितने ही धीरवीर योद्धा हाथियोंके ऊपर हौदेमें बैठे हुए शत्रुओंको अथवा आगे, बीचमें या पीछेकी ओर बैठे हुए शत्रुके भटोंको एक ही साथ, भलीभांति कसे गये तीक्ष्णधारयुक्त वाणोंसे भेदकर पृथ्वीपर गिरा देते थे।

१६ महामंत्री विजयके सैनिक लक्ष्यभेदमें सिद्ध थे अतएव वे अपने धनुषोंसे फेंके गये वाणोंको बिल्कुल सटीक रूपसे शत्रुओंपर बरसा रहे थे। फल यह हुआ कि मथुराके युवराज उपेन्द्रसेनकी सेना संख्यामें विशाल होते हुए भी अनुपम पराक्रमी विजयकी सेनाके द्वारा

१७ पराङ्मुख कर दी गयी थी। युद्ध यात्रापर आनेके पूर्व विदाके समय कान्ताओंके मनोहर नेत्रोंके द्वारा देखी गयी पीठोंपर ही उस समय विजयके सैनिकोंके वाण पड़ रहे थे क्योंकि शत्रु-सैनिक पराङ्मुख होकर अत्यन्त अस्त-व्यस्त होकर भाग रहे थे। सैनिकोंके समान ही मत्त कुञ्जरोंकी देहके पिछले भाग पर शस्त्र पड़ रहे

शत्रु पराभवका प्रारम्भ

१८ थे। जिस समय वे विमूढ़ होकर भाग रहे थे उसी समय उनकी ध्वजाएं अपने आप गिर गयी थीं, उत्तम सोनेसे बने डंडोंसे युक्त छत्र लगातार गिर रहे थे, पहिले जो सुन्दर विजने हिलाये जा रहे थे अब उनको कोई सम्हालता ही न था तथा वैजन्ती मालाओंसे वेष्टित पताकाएं भी भूमिको चूम रही थीं।

१९ जब उपेन्द्रसेनने देखा कि विजयमंत्रीके सेनापति उसकी सेनाको खंड खंड करके

खदेड़े दे रहे हैं तो उसके क्रोधकी सीमा न रही थी। क्रोधके आवेशमें उसने लौकिक लाज तथा मर्यादाको भुलाकर अपने सैनिकोंपर बुरी तरह बिगड़ना प्रारम्भ कर दिया था। संनाहोंके २०

शत्रुकी विवेकहीनता

द्वारा सुरक्षित होनेके कारण साधारणतया उसकी सेना कठिनाईसे जीती जा सकती थी। किन्तु क्रोधके आवेशमें उसने गजसेनाकी उपेक्षा करके अपने प्रबल धनुषको ही खीचा था। विजय मंत्रीकी विजयी सेनाका संहार करनेकी अभिलाषासे प्रेरित होकर उपेन्द्रसेन उक्तरूपमें ही शीघ्रतासे बढ़ रहा था।

अपने विशाल तथा दृढ़ धनुषपर बाण चढ़ाकर शत्रुकी सेनापर मूसलाधार इषुवर्षा २१ करता हुआ वह बड़े वेगके साथ बढ़ा आ रहा था, उसका उस समयका उग्र तेज मध्याह्नके सूर्यके उद्योतके समान चमक रहा था फलतः विजयके सैनिकोंको वह यमके समान भयंकर लगता था। उसके जिन सैनिकोंको विजयश्रीके प्रति दृढ़ अनुराग था २२

उपेन्द्रका प्रत्याघात

वे सबके सब उसको घेरे हुए व्यूहरूपसे उसके साथ, साथ आगे बढ़ रहे थे फलतः युद्धके मदसे अभिभूत होकर वह एक मुहूर्त भरके ही लिए रणनीतिपटु शत्रुके सामने समरभूमिमें जम सका था। उस समय वह अपने साथ बढ़नेवाले प्रधान सैनिकोंको २३ आगे बढ़नेके लिए प्रोत्साहित कर रहा था अतएव कुशल शस्त्रसंचालक वे योद्धा भी अपने धनुषोंसे बाणोंकी महाधारा ही बहा रहे थे, मानो वर्षाकालीन मेघ विना रुके ही मूसलाधार जलवृष्टि कर रहे हैं। उपेन्द्रसेनके शौर्य तथा वीर्यके पूरमें महामंत्री विजयको कोई काम करना २४ ही कठिन हो गया था, उसके उद्धत सैनिकोंने उसे चारों ओरसे घेरकर सर्वथा निस्तेज कर दिया था। इतना ही नहीं उपेन्द्रके बाणोंकी मारसे उसका शरीर भी क्षत विक्षत हो गया था। इन सब कारणोंसे महाराज देवसेनने स्वयं बढ़कर उसे अपनी आड़में ले लिया था।

उसी समय अद्वितीय योद्धा कश्चिद्भटने देखा कि महामंत्री विजयकी सेना शत्रुके २५ आक्रमणसे छिन्न भिन्न हो गयी है तथा मंत्रीका निजी प्रताप (सूर्य) भी उपेन्द्रसेनके रण-

कश्चिद्भटका आक्रमण

कौशल (राहु) के द्वारा ग्रस लिया गया है। तब वह बड़े वेगसे आगे बढ़ा था और मंत्रीके आगे जाकर शत्रुके सामने जम गया था क्योंकि उसका सामर्थ्य तो महायुद्ध करके भी न घटा था। वह अप्रतिमल्ल नामके गजरत्न पर आरूढ़ २६ था जिसके घंटाका धीर गम्भीर आराव तूर्य आदि बाजोंकी ध्वनिसे भी ऊंचा था, उसके गण्डस्थलों आदि अंगोंपर पड़े रत्नोंकी कान्ति सूर्यकी प्रभाको भी मन्द कर देती थी, वह अपने ऊपर फहराते हुए ऐरावतके चित्रयुक्त केतुके द्वारा दूरसे पहिचाना जा सकता था तथा उसकी काया नीलगिरि पर्वतके विस्तारके समान थी। इसपर विराजमान २७ महावीर कश्चिद्भट प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहे थे। वे निर्दयतापूर्वक शत्रुकी सेनाका संहार कर रहे थे। उन्हें ऐसा करता देखकर मथुराधिप इन्द्रसेनके पुत्रने जोरसे हंसते हुए उनको ललकारा था।

हे भद्रपुरुष! ललितेश्वरके आधे राज्यसे तुम्हें क्या लाभ होगा? राज करना तुम्हारे वंश २८ (वणिक्) में अनुचित ही है (वणिक स्वभावसे नम्र होता है अतएव शासन नहीं कर सकता

उपेन्द्रकी दर्पोक्ति

है) क्योंकि शासन तो सीधा मृत्युका मुख ही है। इसी प्रकार सुनन्दाको पाकर भी तुम्हें क्या रस मिलेगा? वह भी कालरात्रिके समान है। प्राण बचाओ, मनुष्य जियेगा तो अनेक अभ्युदयोंको पायेगा। यहांपर राजा लोग राजाओंके २९

साथ लड़ रहे हैं फलतः तुम इस संग्राममें सम्मिलित होनेके अधिकारी नहीं हो, कारण तुम एक सार्थपतिके पुत्र हो। अतएव हे क्षुद्रबुद्धि ? मेरे सामनेसे शीघ्र ही हट जाओ, क्यो कि हम
३० योद्धा लोग अपनेसे नीच पर हाथ नहीं उठाते हैं। 'मैं पृथ्वीपति देवसेनकी राजकुमारीसे व्याह करूंगा।' ऐसी दुराशासे प्रेरित होकर तुम अकारण ही महान कष्टोंको क्यों उठा रहे हो। तुम्हारे ऐसे अशक्य अनुष्ठान करनेवाले अकुशल तथा निर्लज्ज व्यक्तिको मैं विना किसी
३१ विचारणीय कारणके नहीं मारता हूं; जल्दीसे भागो। मेरे बार बार कहने पर भी यदि तुम संघर्ष होनेके पहिले नहीं भागना चाहते हो, तो लो एक मुहूर्त भरके लिए रुक जाओ ताकि मैं वाणोंकी मारसे तुम्हारे एक, एक अंगको काटकर आज ही महाराज देवसेनकी पुत्रीके पास
३२ भेजता हूं, ठहरो, अब शीघ्रता मत करो।' उपेन्द्रसेन अपने यौवनके बल और तेजके अहंकारसे उन्मत्त होकर जिन अकथनीय वचनोंको कह रहा था उन्हें सुनकर महावीर कश्चिद्भटका हृदय क्षत विक्षत हो गया था अतएव क्रोधसे तमतमा कर ही उन्होंने उस अहंकारी मथुराके युवराजको उत्तर दिया था।

३३ 'मैं जो कुछ भी हूं, अथवा; वही हूं जो तुम कहते हो, पर इससे तुम्हें क्या ? मैं आज इस समरस्थलीमें उसी हाथीपर आरूढ़ हूं जो तुम्हारे उत्कट मनोरथोंका विषय है। इतना ही

कश्चिद्भटकी धीरोक्ति

नहीं आज मैं ही इसपर आरूढ़ रहकर इसे तुम तथा तुम्हारे पिताके ऊपर छोड़ूंगा और यह तुम दोनोंको निश्चयसे यमका अतिथि वना
३४ देगा। तुम अपनी जातिके ही कारण धीर वीर हो; तुम्हें अपनी प्रभुता तथा सम्पत्तिका अहंकार है तो भी पहिलेसे कोई वैर न रहते हुए भी तुम दूसरे राजाके हस्तिरत्न, राज्य तथा राजधानीको बलप्रयोग करके छीनने आये हो ? यदि इतनेपर भी लज्जा नहीं आती है तो
३५ बको ? जो व्यक्ति वास्तवमें विक्रम दिखाता है, तो भी नीति तथा विनम्रताका गला नहीं घोंटता है, शस्त्र परिचालनमें कुशल होनेके साथ, साथ हृदयसे भी शूर होता है तथा मृत्युसे नहीं डरता है वही धीर युद्ध उपस्थित होनेपर शत्रुओंका पराभव करता है, कोई भी व्यक्ति
३६ घसीटे जानेपर ही नहीं मरता है। यदि किसी भी प्रकारसे तुम आज मेरे सामनेसे उपद्रवमें विना पड़े ही अपने प्राणोंको बचाकर आगे बढ़ गये तो महाशय ! तुम्हें उस महा पराक्रमीका सामना करने पड़ेगा जो कि महातेजस्वी और पुरुषार्थी है तथा तुम्हारे लिए साक्षात् मृत्यु है, वे हैं ललितेश्वर महाराज देवसेन।

३७ अपनी क्षणिक उन्नतिके अहंकारसे अन्धा होकर जो व्यक्ति दूसरोंकी अवज्ञा करता है तथा जो कुछ भी मनमें आता है उसे खूब विकृत करके कहता है पदार्थोंके विशेष ज्ञान तथा शिष्टता आदि गुणोंकी सम्पत्तिसे हीन वह व्यक्ति जब सज्जनोंके सामने आता है तो उसका
३८ पतन अवश्य होता है। इसके सिवा केवल वाचनिक युद्धसे क्या लाभ है, वह तो सर्वथा निरर्थक है। आजके घोर संघर्षमें ही हम दोनोंका पुरुषार्थ उसी प्रकार संसारके सामने आ जायेगा जिस प्रकार कसौटीपर कसते ही सोनेका सार (शुद्धि) तुरन्त व्यक्त हो जाता है।
३९ लो, सामने आओ और सार्थपतिके पुत्र वणिक्के प्रहारोंकी और प्रशंसा करो क्योंकि वे (प्रहार) तुम्हारे प्राणोंका नाश तो करना ही नहीं चाहते हैं।' इस प्रकारसे शिष्ट शैलीमें शत्रुको उत्तेजित करते हुए ही कश्चिद्भटने अपने सर्वोत्तम हाथीको टक्कर लेनेके लिए आगे बढ़ा दिया था।

कश्चिद्भटकी सौम्य भर्त्सनाने उपेन्द्रसेनको इतना कुपित कर दिया था कि उसकी पूरी आंखें लाल हो गयी थीं। इसी अवस्थामें उसने कश्चिद्भटको अपने निकट आता देखकर ताम्बेके पर्वतके समान विशाल तथा दृढ़ अपने वलाहक नामके हाथीको उसके सामनेकी ओर ही बढ़ा दिया था। उस समय कश्चिद्भट तथा उपेन्द्रसेन यह दोनों ही सिंहके किशोरोंके समान कुपित थे, युद्धकलामें सर्वोपरि दक्ष; वीरोंके उपयुक्त एक दूसरेकी भर्त्सना कर रहे थे, परस्परमें एक दूसरेके प्रति उनके हृदयोंमें गाढ़ वैरभाव बंध चुका था अतएव एक दूसरेको छेद भेद देनेके लिए उन्होंने लोहेके तीक्ष्ण बाणोंकी बौछार प्रारम्भ कर दी थी। ४० ४१

क्रोधोन्मत्त उपेन्द्र

पहिले उन्होने बड़े बड़े बाणोंकी वृष्टि की थी उसके उपरान्त वत्सदन्त (दांतीयुक्त बाण) द्वारा प्रहार किये थे। कभी वे सुईकी नोकके समान तीक्ष्ण मुखवाले बाणोंको फेंकते थे तो दूसरे ही क्षण अर्धचन्द्र समान मुखके बाणो द्वारा आघात करते थे। अत्यन्त तीक्ष्ण तथा उत्तम विधिसे बने बाणोके द्वारा कानोपर मार करते थे। इस प्रकार वे एक दूसरेको छलनीके समान छेदते जा रहे थे। वे दोनों ही युवराज धनुष विद्याके पंडित थे फलतः जब वे अपने दृढ़ धनुषोंके द्वारा वेगसे बाणवर्षा करते थे, तो वे सब बाण धारावाही रूपसे उनके बीचके आकाशमण्डलको वैसे ही ढक लेते थे जैसे कि वर्षाऋतुमें मूसलाधार बरसती हुई वृष्टि व्याप्त कर लेती है। दोनों ही एक दूसरेके मर्मस्थलों तथा छिद्रोंको लक्ष्य बना रहे थे। इससे भी अधिक तत्परतासे आपसी आघातों और शस्त्रोंकी मारको कुशलतासे बचा जाते थे। अपने अपने शरीरोंकी संधियों तथा सुकुमार स्थान नेत्र आदिकी पूर्ण रक्षा कर रहे थे, सिंहके किशोरोके समान एक दूसरेपर गुर्रा रहे थे। नीचेसे ऊपर तक लोहे, लोहेसे बनाये गये बढ़िया प्रास (फरसेका भेद) शूल (विशेष भाला) चक्र तथा गोलाकार लोहेकी ही विशाल वरछियोंके द्वारा परस्परमें प्रहार करते थे, तथा भिन्दिपाल (दण्डाकार अस्त्र) कणप (वरछा-भाला) आदि अत्यन्त धाराल शस्त्रोके द्वारा वैसे हो आघात कर रहे थे जैसे एक पर्वतपरसे दूसरेपर आक्रमण कर रहा हो। ४२ ४३ ४४ ४५

युवराज-द्वन्द्व

मथुराके युवराज उपेन्द्रके द्वारा चलाये गये सब शस्त्रास्त्र अप्रतिमल्ल हाथीके मस्तकसे टकराकर बिल्कुल कुण्ठित हो जाते थे। किन्तु तथोक्त वणिक् पुत्रके हाथोंसे मारे गये अस्त्र इन्द्रसेनके सुतके हाथीके मुखमें लगातार धंसते जाते थे। इसके बाद ही उपेन्द्रसेनके द्वारा फेकी गयी महाशक्ति हस्तिरत्न अप्रतिमल्लके शिरमें आकर चुभ ही गयी थी। किन्तु जब वेगके साथ कश्चिद्भटने शक्तिको चलाया तो उसने मथुराके युवराजके हाथी बलाहकके उन्नत कुम्भोको फोड़ ही डाला था। तब उपेन्द्रसेनने पूरे बलके साथ अप्रतिमल्लपर शंकुओंको मारा था जो कि उसके सुदृढ़ मस्तकपर लगकर नीचे गिर गयी थी, किन्तु जब इसका उत्तर देते हुए कश्चिद्भट-ने तोमरोंको फेकना प्रारम्भ किया तो उनके द्वारा बलाहकके अंग और अवयवही कटने लगे थे। ४६ ४७ ४८

उस दारुण संग्रामके बीच उन दोनों श्रेष्ठ हाथियोको अनेक घाव लगे थे जिनमेंसे रक्तकी मोटी धारें बह रही थीं। अतएव वे ऐसे लगते थे मानो उल्कापातके आघातसे पहाड़ फट गये हैं और उनमेंसे गेरू घुले हुए जलके झरने फूट पड़े हैं। घावोंसे बहते हुए रक्तके लेपसे उनके पूरेके पूरे शरीर खूब लाल हो गये थे, उनकी ग्रीवाओं-पर अत्यन्त चमचमाती हुई सोनेकी शृंखलाएं बंधी हुई थीं। अतएव उन्हें देखनेपर ऐसा आभास ४९ ५०

कविकी पिनक

५१ होता था मानो सन्ध्याके रागसे लाल हुए वारिधरों (मेघों) में विजली चमक रही हो। वे दोनों ही एक दूसरे पर तोमरोंका प्रहार कर रहे थे, ये पूरेके पूरे लोहेसे बने थे तथा स्वच्छता और मांजनेके कारण उनकी चमक अनुपम हो गयी थी। फलतः छोड़नेके उपरान्त जब वे आकाशमेंसे उड़कर गिरते थे तो चमकती विजली युक्त वज्रके गिरनेकी भ्रान्ति हो जाती थी।

५२ इसी समय उपेन्द्रसेनने पूरे बलके साथ कश्चिद्भट पर शक्तिको चलाया था, जिसे उन्होंने अपने बांये हाथसे रोककर पकड़ लिया था तथा अपने दांये हाथके द्वारा तुरन्त ही सर्व-

५३ शक्ति आयुधको चलाकर उपेन्द्रसेनके हृदय पर प्रबल प्रहार किया था। कश्चिद्भटकी तीक्ष्ण शक्तिके आघातसे तिलमिला कर उपेन्द्रसेनने चक्रके द्वारा प्रहार किया था जो कि संध्या कालीन सूर्यके समान विशाल और भयंकर था। उस चक्रने कश्चिद्भटके पीछे बैठे योद्धाको शीघ्र ही पृथ्वी पर गिराकर उसके उन्नत केतुको काट डाला था।

५४ 'किसी प्रकारसे शस्त्र परिचालनकी शिक्षाको प्राप्त करनेवाले तुम्हारे ऐसे वणिक्सुतके साथ मेरा ऐसा योद्धा अब और अधिक कालतक लड़ कर क्या करेगा ?' इस प्रकार बकते हुये कश्चिद्भटकी भर्त्सना करनेके उपरान्त ही इन्द्रसेनके अहंकारी पुत्रने नीति (शस्त्र विशेष) नामके

५५ घात-प्रत्याघात

घातक चक्रको अपने शत्रुपर चला दिया था। काल-चक्रके समान अपने ऊपर आते हुए उपेन्द्रसेनके नीतिचक्रको देखकर भी उसकी बुद्धि जरा भी नहीं घबड़ायी थी अतएव वह उसे सहज ही व्यर्थ कर सका था। इतना ही नहीं इसी अन्तरालमें उसने एक सर्वोत्तम चक्रको जिसका गोलाकार आघात कभी व्यर्थ न जाता था शीघ्रतासे उठा कर उपेन्द्रसेनपर मारा था और उसके कटक भूषित बांहको काटकर फेंक दिया

५६ था। इसके पश्चात् लगातार शस्त्रवर्षा करके उसने उपेन्द्रके आस-पासके योद्धाओंको मार डाला था। वह विद्युत् वेगसे कणपोंका प्रहार कर रहा था जिनके द्वारा उसने उपेन्द्रकी ध्वजा,

५७ आतपत्र, शुभ्र तथा निर्मल चमर आदि काट काट कर पृथ्वीपर बिखेर दिये थे। इन्द्रसेनके पुत्रका यद्यपि एक हाथ कट चुका था तो भी उसकी आयुधशिक्षा तथा पराक्रम इतने परिपूर्ण थे कि उनके बलपर ही वह अतिवीर एक मुहूर्त पर्यन्त अपने शत्रुसे वैसे ही भिड़ता रहा था जैसे

५८ कि मत्त हाथी एक दांत टूट जानेपर भी अपने प्रतिद्वन्द्वीसे टक्कर लेता रहता है। इस अवस्थामें आपाततः कश्चिद्भट निशंक हो गया था तथा शीघ्रतासे चलती हुई अपनी दोनों विशाल बाहुओंके द्वारा शत्रुपर सतत शस्त्र बरसा रहा था। वे सब शस्त्र वेगसे शत्रुतक पहुंचकर उसके

५९ शरीरमें ऐसे धंस रहे थे जैसे कि पर्वतके छिद्रोंमें बड़े-बड़े सांप घुसते हैं। उपेन्द्रसेन भी अपने बांये हाथके द्वारा उत्तमसे उत्तम शस्त्र चला रहा था किन्तु एक हाथके बलसे पर्याप्त प्रेरणा न मिलनेके कारण वे शस्त्र धीरे धीरे जाते हुए ऐसे लगते थे मानो एक, एक पंखा कटे पक्षी ही उड़े जा रहे हैं।

६० कुशल तथा सुन्दर योद्धा कश्चिद्भटको इन्द्रसेनके राजपुत्रकी वीर्यहीनताको समझनेमें देर न लगी, उसे अकर्मण्य जानकर उसने हस्तिराज अप्रतिमल्लको शत्रुके वलाहक नामके

६१ हाथीपर बढ़ा दिया था जो कि वायुके समान वेगसे उसपर जा टूटा था। विचारे बलाहकका

द्वन्द्वका चामोत्कर्ष

एक दांत पहिले ही टूट चुका था वह तो किसी प्रकार वीरगतिकी कामना कर ही रहा था। ऐसी अवस्थामें हस्तिराज अप्रतिमल्लने सूंड़, पैर तथा

६२ दांतोंके प्रहारोंकी मार देकर उसकी सूंडको ही अपनी सूंडके द्वारा उपार लिया था। इसी

समय कश्चिद्भटने अति तीक्ष्ण शक्तिको पलक मारते भरमें उठाकर उपेन्द्रसेनके वक्षस्थलमें भोंक दिया था। उस शक्तिका वेग इतना दारुण था कि वह राजपुत्रके दृढ़ वक्षस्थलको पार करती हुई जाकर पृथ्वीमें धंस गयी थी। शक्तिके मारक आघातसे शरीर भिद जानेपर विचारे ६३ उपेन्द्रसेनकी आंखे घूमने लगी थी। उसे इस अवस्थामें देखते ही तथोक्त वणिक्पुत्रने विजलीके समान चमकते हुए खड्गको निकालकर वीरोचित ढंगसे उसके शिरको काट लिया था।

मथुराके युवराजका सुलक्षण मुख चंचल तथा प्रकाशमान कुण्डलोंसे भूषित था तथा ६४ विशाल शिरपर बंधे हुए उत्तम मुकुटमें जड़े हुए मणियोंकी प्रभासे मुख, मस्तक, आदि सब ही अंग रक्तवर्ण हो गये थे, ऐसी शुभ छटायुक्त शिर जब कटकर भूमिपर लुढ़क गया तो

उपेन्द्रकी वीरगति

ऐसा मालूम हुआ था कि मानो अस्त होता हुआ रक्तवर्ण सूर्यमण्डल ही अस्ताचलपर जा पड़ा था। वह शिर अहंकारके मदमें सदा ऊंचा ही रहा ६५ था, कभी किस विरोधीके सामने न झुका था किन्तु समयके फेरसे वाध्य होकर उस समय जोरसे ध्वनि करता हुआ पृथ्वीपर जा गिरा था। उस समय भी हिलते हुए घुंघराले वालोंरूपी भ्रमरोंकी पंक्तियां उसपर गूंज रही थीं अतएव उसकी वह आकृति पूर्ण विकसित कमलकी आशंका उत्पन्न कर देती थी।

जब जोरोंसे हवा (आंधी) बहती है तो उसके झोंके मेघोंको देखते ही देखते कहींसे ६६ कहीं उड़ा ले जाते है तब ग्रहोंका राजा चन्द्रमा आकाशमें प्रकाशित हो उठता है तथा उसकी कान्ति देखते ही बनती है। इसी प्रकार कुशल योद्धा कश्चिद्भटने शत्रुओंरूपी मेघोंको तितर-

संहारमय युद्धका आरम्भ

बितर कर दिया था फलतः उसकी पराक्रम-श्री अत्यन्त प्रखर रूपमें उदित हो उठी थी। उस महासमरमें उसने विजयके मुकुटको अपने ६७ पराक्रमसे प्राप्त किया था। अपने नेताकी विजयके कारण उसके सैनिकोंके आनन्दकी भी सीमा न थी। उसने स्वयं भी विजयोल्लासमें अति उन्नत स्वरसे नाद किया था जिसे सुनकर शत्रुओंके हृदय कांप उठे थे। इस घटनाके होते ही दोनों राजाओंकी सेनाओंके सिंहसमान ६८ पराक्रमी योद्धाओंने कवच आदिको धारण करके पूरी तैयारी की थी तथा अपने अपने वाहन, सुशिक्षित दृढ़ हाथियोंपर आरूढ़ होकर संघर्षके प्रधान केन्द्रकी ओर चल दिये थे। क्योंकि वे सब महा पराक्रमी थे। उन्हें आत्मविश्वास था और अपने सन्मानको सबसे बढ़कर मानते थे। इसके उपरान्त ही देखा गया था कि भयंकर रूपसे चिंघाड़ते हुए हाथी बढ़े जा रहे है। ६९ वे गम्भीर गर्जनाके साथ उमड़ते हुए भीषण मेघोंके समान प्रतीत होते थे। वे सब हाथी उस समय इतने क्रूर और कुपित हो गये थे कि आपसमें पैर, शुण्डा तथा अग्रदन्तोंके द्वारा दारुण आघात कर रहे थे। ऐसे कराल रूपसे टकराते थे कि योद्धा सहित शत्रु हाथीको समाप्त कर देते थे। हाथियोंपर आरूढ़ योद्धा भी शिखण्डियों (सपक्ष वाण) शक्तियों, खड्गों, दण्डोंके ७० द्वारा आघात करके, चक्र, गदा, कणप तथा टांकियोंकी चोटोंसे तथा पूरेके पूरे लोहनिर्मित मुद्गर तथा तोमरोंकी वर्षाके द्वारा एक दूसरेको वड़ी त्वरा तथा निर्दयतासे मारते जाते थे।

कानोंमें शोभायमान कुंडलोंके साथ ही किन्हींके शिर कटकर पृथ्वीपर लोट जाते थे, ७१ दूसरोंके लाल कमलोंके तुल्य सुन्दर तथा सुकुमार पैर कटकर उचटते थे तथा अन्य लोगोंके हाथ जिनमें स्वच्छ शुद्ध सोनेके आभूषण चमकते थे, वे ही तीक्ष्ण शस्त्रके लगते ही कटकर भूमिपर गिर जाते थे। पूरीकी पूरी समरस्थलीमें मुकुट, कटि तथा पदके पट्टे चमचमाते हुए ७२

मणि-मुक्तामय हारोंकी लड़ें, छत्र, ध्वजा, चामर, मालायुक्त केतु, हाथियोंके बड़े बड़े घंटे, तथा घोड़ोंकी छोटी छोटी मधुर शब्द करनेवाली घंटियां (घुंघरू) फैली हुई थी। ऐसा मालूम होना था कि योद्धाओंने भेंटमें यह सब वस्तुएं समरस्थली पर चढ़ायी थीं।

७३ इस प्रकार घोर संग्राम होते होते मथुराधिप इन्द्रसेन तथा ललितेश्वर देवसेन भी एक दूसरेके सामने जा पहुंचे थे। वे दोनों ही अभेद्य युद्ध-वेशमें थे। दोनोंका पारस्परिक वैर-भाव भी चरम सीमापर पहुंच चुका था। वे असुरोंके सम्राटोंके समान एक दूसरेका नाश करनेकी

नायकोंका द्वन्द्व

७४ प्रतिज्ञा किये हुए थे। जब इन दोनों वीरोंने अपने समक्ष शत्रुको देखा, तो क्रोधके उत्कट उभारके कारण उनकी भृकुटियां टेढ़ी हो गयी थीं, मुख-मण्डल अत्यन्त विकृत हो गये थे। उन्होंने अपने अपने गोत्र तथा नाम कहकर अपना परिचय दिया था, प्रतिशोध लेनेकी अभिलाषासे उत्तमसे उत्तम शस्त्रोंको हाथोंसे उठाकर बाहुओं

७५ द्वारा तौल रहे थे तथा अभिमानके पूरमें बहते हुए कह रहे थे—'हमारे ग्राम, आकर, नगर तथा जितने भी देश हैं तथा दोनों सेनाओंके पास जो नानाविधकी सम्पत्ति तथा वैभव है, यह सब उसीके होवें जो हम दोनोंमेंसे घोर संघर्षके बाद भी बचा रहेगा।'

भर्त्सना

७६ 'तुम्हीं पहले एक प्रहार करो, अच्छा देखो, तुम देखो।' आदि अनेक कटु वाक्यों द्वारा परस्परमें भर्त्सना करते हुए; जंगलमें यौवनके उन्मादसे मत्त दो भीमकाय हाथियोंके समान समरमें भिड़ जानेकी अभिलाषासे वे दोनों एक दूसरेके अति निकट चले आ रहे थे।

७७ वज्रके समान अभेद्य, अग्निके तुल्य दाहक तथा विषके सदृश मारक अनेक आकृतियों तथा मापके शस्त्रोंको अत्यन्त त्वराके साथ उठाकर उन्होंने एक दूसरेके आंख, कान, आदि अंगोंपर कुशलतासे लक्ष्य साधे थे, तथा निर्भय और निर्दय होकर पलक मारते, मारते आघात

घात-प्रत्याघात

७८ भी प्रारम्भ कर दिये थे। रणरंगमें मस्त महाराज देवसेनका क्रोध, सत्त्व, कान्ति तथा तेज और अधिक बढ़ रहे थे। उन्होंने अतिशीघ्रतासे उत्तम चक्रको उठाकर बड़े वेगसे महा बलवान् मथुराधिप पर चला दिया था और देखते देखते ही

७९ उसके भासमान मुकुट और केतुको काटकर फेंक दिया था। इस प्रहारने इन्द्रसेनके क्रोधको सीमाके बाहरतक बहा दिया था, फलतः उसने बड़ी त्वरासे शक्ति तथा अर (लम्बा लम्बा शस्त्र) को उठाकर बलपूर्वक देवसेनपर चला दिया था, किन्तु सटीक प्रहार न होनेके कारण यह

८० प्रहार देवसेनके मुकुटके एक ही भागको नोच सका था। इस प्रहारके उत्तरमें महाराज देवसेन के द्वारा भी शक्ति चलायी गयी थी। यह प्रहार ऐसा सटीक लगा था कि इसकी मारसे मथुराधिपका महावत ही धराशायी न हुआ था अपितु उसे वेधती हुई वह शक्ति शत्रुके गले पर पहुंची थी, जहांसे जाज्वल्यमान किरणों युक्त रत्नमालाके साथ साथ उसके श्वेत छत्रको लेती देती हुई उस पार निकल गयी थी। राज-चिह्न छत्रके नष्ट हो जानेपर मथुराधिप इन्द्रसेन

८१ वैसे ही झुंझला उठा था जैसे कि एक अग्रदन्त टूट जाने पर उत्तम हाथी उद्भ्रान्त हो जाता है। अतएव क्रोधसे पागल होकर उसने शत्रु पर अत्यन्त वेगके साथ कणप दे मारा था। इस

८२ प्रहारने महाराज देवसेनके सिंह चिह्न युक्त केतुको काटकर गिरा दिया था। अपनी ध्वजा कट जानेपर महाराज देवसेनके रोष तथा उग्रताका पार न रहा था, उन्हें अपने कटु कर्त्तव्यका स्मरण हो आया था अतएव उन्होंने अपने लम्बे तथा पुष्ट बाहुओंसे एक चक्रको उठाकर

मथुराके राजा पर छोड़ दिया था। इस प्रहारसे महावीर ललितेश्वरने शत्रुके उस हाथको ही काट डाला था जिससे वह उनपर गदा चला रहा था।

इस समय तक दोनों ही राजाओंके केतु कट छट कर गिर चुके थे, दोनोके हाथी तथा उनके सुयोग्य संचालक एक दूसरेके अतिनिकट आ धमके थे। इतना ही नहीं दोनोंके हस्तिपक हाथियोंके पैरोंके तले कुचले जा चुके थे तथा दोनों हाथी भीषण रूपसे जूझ गये थे। ८३

युद्धकी पराकाष्ठा

एक क्षण भर तो ऐसा लगता था कि दोनों ही बराबरीके हैं। किन्तु इसी समय जब यह भयंकर संघर्ष और अधिक दारुण होता जा रहा था उसी समय कश्चिद्भटके अप्रतिमल्ल गजेशने मथुराधिपके पुत्र उपेन्द्रसेनके बलाहक गजराजको दबा दिया था। अप्रतिमल्लके प्रबल प्रहारको न सम्हाल सकनेके कारण जोरसे चिघाड़ता हुआ बलाहक उसी प्रकार लड़खड़ाकर गिरा था जिस प्रकार युगके अन्तमें, बहते प्रभञ्जनके झकोरों से विन्ध्यगिरिके शिखर लुढ़क जाते हैं। अपने संग्राममें लीन दोनो राजाओंने देखा था कि 'वज्रके महाप्रहारसे जैसे पर्वतका उन्नत शिखर ढह जाता है उसी प्रकार कश्चिद्भटके आघातोंसे छिन्न-भिन्न शरीर होकर मथुराका युवराज अपनी इहलीला समाप्त करके धराशायी हो गया है'। गजराज बलाहकके गिरनेसे जो महानाद हुआ था वह एक भीषण प्रणाद था, वह कल्पान्तके मेघोंकी भीमगर्जनाके समान था। यद्यपि दोनो पृथ्वीपति पारस्परिक संग्राममें अत्यन्त लीन थे तो भी उक्त नादको सुनकर उनकी मानसिक प्रवृत्ति दो धाराओंमें बट गयी थी (अपने संग्रामको चालू रखना चाहते थे तथा ध्वनिका कारण भी जानना चाहते थे)। ८४ ८५ ८६

शत्रुओंके दमन करने योग्य प्रभुताका स्वामी ललितेश्वर मथुराके युवराजकी विपत्ति तथा मृत्युको देखकर और उसीके सामने महा विजयको प्राप्त करके शोभायमान कश्चिद्भटको ८७

उपेन्द्रकी मृत्युका परिणाम

देखकर इतना अधिक प्रसन्न हुआ था कि उसकी प्रसन्नताकी सीमा न रही थी। दूसरी ओर मथुराधिप था जो स्वभावसे ही जाति, प्रभुता आदिके अहंकारमें चूर था, फिर उस समय प्राणप्रिय पुत्रकी मृत्यु तथा शत्रुके बलको बढ़ता देखकर उसका रोष दूना हो गया था। उसका वही हाल था जो नया ईंधन पड़ जाने पर धधकती हुई ज्वालाका होता है। 'शूरसेन (मथुराराज) देशके एकच्छत्र अधिपतित्वको धिक्कार है, मेरा इन्द्रसेन होना भी व्यर्थ है तथा मेरे प्रताप और पुरुषार्थको भी धिक्कार है, यदि मैंने आज ही इस विशाल पृथ्वीको जो विशाल महासागररूपी बन्धनसे वेष्टित है, इसे यदि देवसेन रहित न कर दिया तो?' क्रोधके आवेशमें पूर्वोक्त वचनोंको कहते कहते उसने अपने अन्तिम कर्त्तव्यका निश्चय कर लिया था अतएव वह सूंड़कटे हाथी परसे उतरकर एक दूसरे सुसज्जित गजराज पर आरूढ़ हुआ था। जो कि मदसे अन्धा हो रहा था तथा नाम और काम दोनोंके ही द्वारा एककाल था। ८८ ८९ ९०

इसके उपरान्त रणमें अत्यन्त कर्कश मथुराधिपने अपनी उन सब रणकुशलताओंका प्रदर्शन किया था जिन्हें उसने भलीभांति सीखा था तथा अभ्यास किया था। उस समय उसका यह हाल था कि जो कोई भी शत्रु उसके दृष्टिपथपर आता था वह एक क्षण भर भी जीवित ९१

हा अन्तिम संघर्ष भूमि

न रह पाता था। इन्द्रसेनके इस भीषणरूपने महाराज देवसेनकी विजयी सेनामें कुछ समयके लिए एक गम्भीर आशंकाको उत्पन्न कर [दि]या था। उस समय तो कुछ क्षणतक ऐसा प्रतीत होने लगा था कि उस एकाकी ९२

वीरने ही भग्न मुकुटधारिणी विजयलक्ष्मीको अपनी बना लिया है।

९३ युवराज उपेन्द्रसेनका युद्धमें संहार करके हर्षोन्मादमें मस्त कश्चिद्भटको एक क्षणभर बाद ही अपने शेष कर्त्तव्यका ख्याल हो आया था। अतएव अबतककी विजयसे उत्पन्न कीर्ति-रूपी शिरोभूषणको भलीभांति धारण करता हुआ वह उदारचित्त योद्धा पुनः सिंहके समान युद्धभूमिमें विचरने लगा था। शत्रुसेनामें

कश्चिद्भटका प्रवेश

९४ उसके पराक्रमका आतंक बैठ गया था अतएव मूर्तिमान यमराजके समान शत्रुसेनापर टूटते हुए मनस्वी कश्चिद्भटने देखा था कि 'महा बलवान ललितेश्वरको मथुराधिप इन्द्रसेन अपने

९५ सफल प्रहारोंसे दबाता चला जा रहा है'। वह विजय प्राप्त करनेके लिए व्याकुल था तथा उसने देखा था कि 'शत्रु (इन्द्रसेन) भी काफी निकट आ पहुंचा है' फलतः उसने शत्रुके दक्षिण तथा वाम दोनों पार्श्वोंपर अंधाधुन्ध बाणोंकी वृष्टि प्रारम्भ कर दी थी। मथुराधिपके साथ लड़नेके लिए उसके अंग खुजला रहे थे अतएव उसने ऐसा संघर्ष पैदा कर दिया था जिसकी तुलना ही नहीं हो सकती थी।

९६ मथुराधिप इन्द्रसेनने देखा कि प्राणप्रिय पुत्रका काल कश्चिद्भट उसके अति निकट आ पहुंचा था। अतएव पुत्रकी मृत्युका प्रतिशोध लेनेकी भावनासे उसने अपने धनुषको पूरे बलसे खींचकर तीक्ष्ण विषाक्त बाणोंको उसपर बरसाना प्रारम्भ कर दिया था। रणकुशल कश्चिद्भट अपने धनुष द्वारा अर्धचन्द्राकार

कश्चिद्भट-इन्द्रसेन युद्ध

९७ मुखयुक्त अत्यन्त धाराल बाणोंको छोड़कर शत्रुके बाणोंको आकाशमें ही काट छांट डालता था। इतना ही नहीं इसी अन्तरालमें वह बड़े बड़े तीक्ष्ण बाणोंको चलाकर शत्रुके वक्षस्थलको भी भेदता जाता था। क्योंकि वह शत्रुको मृत्युके मुखमें ठूंसनेके लिए प्रतिज्ञा कर चुका था।

९८ कश्चिद्भट अपने धनुषके द्वारा धाराप्रवाह रूपसे शत्रुके ऊपर बाणवर्षा कर रहा था अतएव इन अनेक बाणोंकी मारसे उसने इन्द्रसेनके हस्तिपकको नीचे गिरा दिया था। इसके बाद अत्यन्त कुपित होकर उसने शत्रुपर चमचमाता हुआ भाला चलाया था जिसके आघातसे इन्द्रसेनका धनुष ही कटकर टूक टूक हो गया था।

९९ वह दूसरे धनुषको उठा भी न पाया था कि इस सूक्ष्म अन्तरालमें ही उसने मथुरा-धिपकी विशाल बाहुको ऊंचे कंधेसे ही काट दिया था, तथा भीषण बाण चला रहा था जो हाथीके उन्नत कुम्भोंको भेदते जा रहे थे। वे बाण क्या थे साक्षात् वज्र ही थे जो विना बादलोंके ही भीम आकारको धारण करके गिर रहे

इन्द्रसेन आहत

११० थे। तबतक मथुराकी विशाल सेना अस्तव्यस्त होकर इधर-उधर भाग रही थी। राजा इन्द्र-सेनका स्वयं अपना शरीर भी बाणोंकी बौछारसे छिद्-भिद गया था, इसके अतिरिक्त वास्तविक संघर्षके समय उसका धनुष भी टूट गया था। यह सब देखकर विचारेकी बुद्धि ही कुण्ठित

१११ नहीं हुई थी अपितु उसके अस्त्रों तथा शरीरकी लगभग वैसी ही अवस्था थी। उसका मेघ-नाद नामका गजराज भी इतना क्षतविक्षत हो गया था, कि उसके सब घावोंसे रक्तकी धाराएं बह रही थीं। उसका (इन्द्रसेन) साहस गल चुका था, भयसे कांप रहा था। अतएव अपने हाथीसे उतरकर वह शीघ्रतासे एक घोड़ेपर आरूढ़ हुआ और वेगके साथ पीछेको भाग गया था।

११२ मथुराधिप इन्द्रसेनको भीरुओंके समान पलायन करनेसे शूरसेनकी सेना नायकहीन हो

गयी थी। सारी सेना भयसे व्याकुल थी और भयके प्रवाहमें उसका पराक्रम न जाने कहाँ वह गया था। उस समय उस विशाल सेनाको देखनेपर वही दृश्य दृष्टिगोचर होता था जो कि वायुके प्रबल प्रवाहसे उड़ी हुई रूईका होता है। विजय पर विजय प्राप्त करनेके कारण कश्चिद्भटका तेज और भी निखर आया था, वह शेप बचे हुए शत्रुबलको भी नष्ट कर देना चाहता था। इसी अभिलाषासे प्रेरित होकर वह बाणोंकी मूसलाधार वृष्टि कर रहा था। उसे देखकर लोगोंको यही भ्रम हो जाता था कि 'क्या कोई सशरीर यम प्रजाओंका संहार कर रहा है?' १०३

इन्द्रसेनके भागनेका फल

धाराल असिके द्वारा वह किन्हीं शत्रुओंके अंग अंग काट डालता था, दूसरों पर गदा चलाता था जिससे उनके शिर चूर चूर हो जाते थे, तथा अन्य कितनोंके ही दृढ़ वक्षस्थलोंको चक्रसे चीरकर उन्हें पृथ्वीपर गिरा देता था। शत्रुके कितने ही मांडलिक राजाओंपर अब भी निर्मल चमर ढुर रहे थे तथा चन्द्रमाकी कान्तिके समान धवल छत्र उनके मस्तकोंपर लगे हुए थे, किन्तु कश्चिद्भट इन सबको अपने बाणोंकी मारसे घासके समान काट रहा था, वैजयन्ती मालाओंसे भूषित दूसरोंकी केतुओं तथा बाण चढ़े हुए धनुषोंको भी अचूक लक्ष वेधक वह योद्धा नष्ट कर रहा था। अपने कर्त्तव्यके प्रति उसकी मति स्थिर थी अतएव शंखकी गोलाईके समान अत्यंत गोल, पुष्ट तथा सुंदर बाहुओं द्वारा वह विशाल तोमरको उठाता था और उसके सटीक आघातोंसे शत्रुओंके उन कवचोको भेद देता था जिनपर लगकर वज्र भी वापस ही जाता था तथा दृढ़ता और अभेद्यतामें जिनकी तुलना ही नहीं हो सकती थी। १०४ १०५ १०६

विजयपूर्णताकी ओर

कितने ही योद्धाओंके हाथ कट जाते थे तो विचारे प्राण लेकर भागते थे। कुछ इतने अधिक डर गये थे कि प्रतिरोध किये बिना ही वे उसके आगे झुक गये थे और हाथ जोड़े खड़े थे। दूसरे कुछ उसे देखते ही मूर्च्छित होकर धराशायी हो गये थे, तथा अन्य कितने ही हाथियोंकी गर्दनोंपर लटक रहे थे। कितने ही सैनिक झाड़ियों तथा लताओंमें जा छिपे थे। कुछ भाग कर सांपोकी बामियोंपर जा चढ़े थे। अन्य कितने ही बाल खोलकर मुखमें तृण दबाये खड़े थे तथा शेप कितने ही प्राणोंसे वियुक्त होकर पृथ्वी माताकी गोदमें सो रहे थे। कश्चिद्भट अपने हाथी अप्रतिमल्लको साधारण सी छलांगे लिवाता हुआ जिधर जिधरको बढ़ा देता था, तो वह स्वयं तो उसकी गतिविधिसे प्रसन्न होता था किन्तु शत्रुकी सेना उस उस दिशाको छोड़कर भागती थी। बुद्धिमान् तथा रणनीतिमें चतुर कश्चिद्भटने थोड़े ही समयमें पूरेके पूरे शत्रु सैन्यको घेरकर अपने वशमें कर लिया था, वह उसका अनुसरण कर रही थी। इस सबसे निवृत्त होकर उसने अपने पक्षको बलिष्ठ बनाने तथा शत्रुपक्षको अत्यन्त भीत कर देनेके लिए ही जोरसे महाशंखको बजवाया था। महा मतिमान कश्चिद्भट समस्त शत्रुओंको पूर्ण पराजित करनेके पश्चात् अपने तेजके कारण मध्याह्नके सूर्यके समान चमक रहा था। युद्धसे अवकाश पाते ही वह महान् यशके स्वामी महाराज देवसेनके सामने पहुंचा था और उनके कमलोंके समान शुद्ध तथा मधुर चरणोंमें उसने मस्तक झुका दिया था। १०७ १०८ १०९ ११० १११

कश्चिद्भटका रणरंग

महाराज देवसेनने ज्यों ही कश्चिद्भटको पैरोंपर झुकता देखा त्यों ही उसे उठा लिया था। अपने हाथीपर उसे अपने सामने बैठाकर अपने दोनों विशाल बाहुओंको फैला दिया था ११२

तथा उनके द्वारा उसे आवेष्टित करके बार बार अपनी छातीसे लगाया था। उस समय उनका हृदय प्रसन्नताके समुद्रमें गोते लगा रहा था। 'हे आर्य ? मैंने अपनी आंखोंसे तुम्हारे उस महा पराक्रमको देखा है, जिसकी कोटिका दूसरा इस पृथ्वीपर हो ही नहीं सकता है। हजारों प्रयत्न करके कोई तुम्हारे पराक्रमको कुण्ठित भी नहीं कर सकता है। इस संसारमें तुमसे बढ़कर मेरा बन्धु कोई भी नहीं है तुम्हीं सबसे बड़े हो।' महाराज देवसेन जब यह वचन कह रहे थे उस समय उनका मुख प्रसन्नताके कारण विकसित हो उठा था। ललितेश्वरके मंत्री, कोशाध्यक्ष श्रेणियों तथा गणोंके प्रधान, आदि जिन्होंने अपने समक्ष ही कश्चिद्भटका पराक्रम देखा था, और देखकर परम प्रमुदित हो उठे थे, उन सबने भी उसे घेरकर यही कहा था 'हे कश्चिद्भट आज आपने बहुत ही सुन्दर काम किया है, आप धन्य हैं, आपके कार्य सर्वथा आपके नामके अनुकूल हैं। महाराजने सेठ सागरवृद्धिका वहीं पर विपुल स्वागत सत्कार किया था तथा अनुपम प्रभावशाली कश्चिद्भटकी तो पूजा ही की थी। इसके उपरान्त उसे हस्तिरत्न पर विराजमान करके उसके शिरपर राजाओंके उपयुक्त छत्र लगवाया था तथा समस्त ठाट बाटके साथ उसका राजधानीमें प्रवेश कराया था।

११३ विजयी कश्चिद्भटका स्वागत

११४

११५

११६ महाराज देवसेनकी विजयको घोषित करनेके लिए उनके नगर प्रवेशके अवसरपर पूरे नगरमें आनन्दकी सूचक भेरियां, पटह, मृदंग, वीणा, विशेष प्रकारकी बांसुरी, कांसताल आदि बाजे बज रहे थे तथा नगरके प्रत्येक कोनेमें आशिष वचनोंकी ध्वनि सुनायी देती थी। नगरके प्रत्येक ग्रहके द्वारपर चन्दनके उत्तम चौक पूरे गये थे, उनकी छतोंपर पांच रंगकी अद्भुत तथा आकर्षक पताकाएं फहरायी गयी थीं। प्रभञ्जनके झकारे उन्नत पताकाओंके चीनांशुकको जब उड़ाते थे तो वे समुद्रकी लहरोंकी शोभाको भी परास्त कर देते थे। विजयी वीरोंको देखनेके लिए कुलीन ललनाओंके मुख उनके घरोंके वातायनोंसे बाहर निकल आये थे। वे कमलोंके समान सुन्दर तथा सुगन्धित थे अतएव उनके ऊपर भौंरे गूंज रहे थे। फलतः वे नारी-मुख ऐसे मालूम देते थे मानो बन्धन (डंठल) युक्त कमल खिले हैं। वे श्रेष्ठ कुल ललनाएं खिड़कियोंमेंसे लताओंके समान सुकुमार बाहुओंको बाहर निकालकर लीलामय विधिसे विजयी वीरोंपर पुष्प तथा सुगन्धित चूर्ण (अबीर) को बरसाती थी। इस कार्यमें व्यस्त उनकी बाहुओंको देखकर हवासे हिलायी गयी कामलताका स्मरण हो आता था। महाराज देवसेनके साथ साथ ही कश्चिद्भटको नगरीमें प्रवेश करता देखकर उन नागरिक ललनाओंके मनमें जो भाव उठे थे उन्हें उन सबने प्रसन्नताके आवेशमें निम्न वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त किया था।

विजयीका नगरप्रवेश

११७

११८

११९

१२०

१२१ 'देखा, देखो इस कश्चिद्भटको तो देखो, अपनी शोभासे कैसा प्रकाशित हो रहा है, देखो तो इसकी चेष्टाएं बिल्कुल देवोंके अधिपति इन्द्रका स्मरण करा देती हैं।' दूसरी कहती थी 'ज्ञात है इसने अकेले ही अनेक शत्रुओंको जीता है, शत्रु भी साधारण न थे, अपितु अपने बल और पराक्रमके दर्पमें चूर थे।' उनका वाक्य पूरा न हो पाता था कि दूसरी कहती थी—'मथुराका राजा केवल हाथीको लेनेके लिए उतनी दूरसे आया था, पर हुआ क्या ? अपने कोश, सैन्य, हाथियों, स्त्रियों, पुत्रों तथा सारभूत सब ही वस्तुओंको छोड़कर शिरपर पैर धरके भाग गया है।' अन्य देवियोंका तर्क

कुतूहल प्रिय नारियाँ

१२२

१२३

था 'हमारे राज्यकी जनता तथा ललितपुर निवासियोंके पुण्यके प्रतापसे ही इस कश्चिद्भटने अकेले बिना विशेष परिश्रमके शत्रुओंको जीत लिया है। नहीं तो, सोचो भी, बिना दैवी सहायताके अकेले मनुष्यके द्वारा क्या ऐसी जय प्राप्त की जाती है ?' कुछ ललनाओंका निश्चित १२४ मत था 'कि महाराज देवसेनके पुण्यकी प्रबलताने विजय दिलायी है।' दूसरी इससे सहमत न थी 'उनके मतसे सुनन्दाके सौभाग्यके बलपर ही कश्चिद्भट विजयी हुआ था, तीसरी अधिक अनुरक्त थी अतः उनकी दृष्टिमें कश्चिद्भटका पराक्रम ही विजयका कारण था। 'यह १२५ कश्चिद्भट कहांसे आया था ? इतना बुद्धिमान् क्यों है ! यह वैश्य क्यों हुआ ? यह केवल मनुष्य ही है ? इसमें वणिक्पना कैसे सिद्ध हो सकता है ? यह प्रभुताका पात्र क्यों नहीं है ? हमें तो सखि यही आश्चर्य है ?' कहकर अपने विचार व्यक्त करती थीं।

सार्थपति सागरवृद्धि महाराज देवसेनके साथ साथ श्रेष्ठ गजराज पर आरूढ़ होकर १२६ चले आ रहे थे। इन्हें देखकर ही उन्होंने आपसमें कहना प्रारम्भ किया था 'हे सखि इस दर्शनीय पदार्थको तो देखो, सार्थपति भी खूब है, कश्चिद्भटके सौभाग्यका आनन्द यह सीधा-सादा वणिक् लूट रहा है। शास्त्र तथा लोकोक्ति १२७ यही बताती है कि जो इस संसारमें पुण्य पुरुषार्थ करता है वही उसके फलोंका उपभोग करता है। किन्तु आज इस व्लोम (उल्टी रीति) को भी देख लो, करता कोई (कश्चिद्भट) है और भोगता दूसरा (सागरवृद्धि) ही है। अवश्य ही इन दोनोंने किसी पूर्व पर्यायमें एक ही १२८ साथ तप आदि पुण्य कार्य किये होंगे। इसमें सन्देह नहीं; हैं तो दोनों ही उदार कार्यकर्ता, उसीका यह परिणाम है जो ये दोनों इस विचित्र ढंगसे उदयमें आये पुण्य फलको इस प्रकार भोग रहे हैं, यह बात सर्वथा स्पष्ट है।' इस प्रकार शेप देवियोंने अपनी सम्मतिको प्रकट किया था। गुणोंके अनुरागसे प्रेरित होकर ललितपुरकी कुल ललनाएं उक्त विधिसे सार्थपति १२९ तथा कश्चिद्भटके विषयमें चर्चा कर रही थीं। उसे सुनते हुए ही वे दोनों महाराजके साथ साथ प्रधान राजमार्गसे चलते हुए राजभवन पर जा पहुंचे थे जो कि अपनी सम्पत्ति तथा विशाल शोभाके कारण चमक रहा था। कामदेवके रसको बढ़ानेवाली महारानियों तथा उन १३० देवियोंके द्वारा जिनकी स्वाभाविक चंचलताके कारण उनके सुन्दर अलंकार चल रहे थे, तथा जो सब युद्धके समाचारोंकी ही बात करनेमें लीन थीं ऐसी रानियों और अन्य देवियोंके द्वारा देखे गये महाराज देवसेनके साथ ही कश्चिद्भटने राजमहलमें प्रवेश किया था।

पुत्रकी प्रेयता

चारों वर्गसमन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित
नामक धर्मकथामें कश्चिद्भट-विजय नाम
अष्टादश सर्ग समाप्त।

एकोनविंश सर्ग

१ संग्रामसे लौटनेके एक दिन बाद ज्ञानी वृद्ध पुरुषोंके साथ शान्तिपूर्वक बैठे हुए महाराज देवसेन अपनी राजदुलारीके विवाहके विषयमें चर्चा कर रहे थे। निर्णय हो जानेपर उन्होंने कश्चिद्भटको बुला भेजा था। जब वह आ गया था तो सस्नेह निकट बैठाकर उससे

२ कुल प्रश्न

अपने वंश तथा कुल-क्रमसे चली आयी प्रवृत्तियोंके विषयमें पूंछा था। 'हे वत्स! तुम कान्तिमान हो, तुम्हारे तेज तथा सामर्थ्य तो असीम हैं तथा विज्ञानके साक्षात् भाण्डार हो। अपनी इन योग्यताओंके कारण ही तुम्हारी विशाल कीर्ति सब दिगन्तोंमें फैल गयी है। इन सद्गुणोंका ध्यान आते ही मुखसे निकल ही पड़ता है कि तुम्हारे माता-पिता धन्य हैं। यदि बतानेमें तुम्हें विशेष विरोध न हो तो मैं उनके विषयमें जाननेके लिए उत्सुक हूं, बताओ वे दोनों किस वंशकी शोभा बढ़ाते हैं।'

३ कश्चिद्भट दूसरोंके मनके अभिप्रायोंको सरलतासे समझ लेता था अतएव वह राजाके भावोंको जान गया था, किन्तु अपने मुखसे अपनी प्रशंसा करनेमें उसे संकोच होता था। इस कारणसे उसने अपने विषयकी वास्तविक बातोंको किसी प्रकार छिपाते (सीधे रूपसे न

कश्चिद्भटकी कृतज्ञता

कहते हुए) हुए युक्तिपूर्वक राजासे कुछ ऐसे वचन कहने प्रारम्भ

४ किये थे, जो प्रकृत विषयमें सर्वथा अनुपयोगी थे। 'महा यशस्वी अनुपम वीर कश्चिद्भट ललितपुरके सार्थपति सागरवृद्धिका ज्येष्ठ पुत्र है इस तथ्यको सारा संसार जानता ही है। मेरा भी यही कहना है कि वे (सार्थपति) ही मेरे सर्वोत्तम सगे सम्बन्धी है तथा पूज्य पिता हैं। हे महाराज! उनके अतिरिक्त कोई दूसरा मेरा पिता इस

५ धरातल पर नहीं है, आप ऐसा ही समझें। आपके वार्तालापकी शैलीके आधारपर मैं आपके हृदयके भावोंको कुछ कुछ समझता हूँ, आप जिस कार्यको करना चाहते हैं उसका भी मुझे आभास हो ही रहा है। आप यही सोचते हैं कि यह कहांका निवासी होगा? इसका कुल कौन-सा है? क्योंकि कन्याका विवाह करते समय इन सब बातोंका विमर्ष करना ही पड़ता

६ है। किन्तु आपकी रूप-गुणवती तथा सुशील कन्या आपके ही घर रहे, हे महीपाल मैं वर्तमान परिस्थितियोंमें उसे नहीं व्याह सकता हूं। आप ऐसा निश्चित ही समझिये कि वणिक्पुत्र ही हूं। इसी बातको मनमें रखकर आप मुझपर प्रसन्न हों, कारण आपके इस अनुग्रहका परिणाम

७ बड़ा मधुर होगा। भरी सभामें कश्चिद्भटके उक्त वचनोंको सुनकर; उतना बड़ा शुभ अवसर त्यागकर भी उसकी आन्तरिक तथा बाह्य दोनों प्रसन्नताओंको लक्ष्य करके अद्भुत विनम्रताको दृष्टिमें रखते हुए तथा इन सबकी अपेक्षा अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अपने अभिप्रायको ध्यानमें रखकर महाराज देवसेनने अत्यन्त समझदारीके साथ निम्न वक्तव्य दिया था।

८ युद्धके पहिले आजके समान ही भरी हुई पूर्ण सभाके समक्ष मैंने स्पष्ट घोषणा की थी 'यदि महासमरमें मथुराधिप इन्द्रसेन तुम्हारे द्वारा पराजित किया जायगा तो मैं अपनी प्राणोंसे भी प्यारी पुत्री सुलक्षणाको तुमसे व्याहूं गा और इसके साथ, साथ आधा राज्य

दहेज़में समर्पित करूंगा।' इस प्रकारकी घोषणा करके अब उसपर तुम्हारी इच्छाके अनुसार विचार करना किसी भी दृष्टिसे उचित नहीं है। राजसभामें पहले जो घोषणा की थी बादमें उसके विपरीत ही नहीं उससे थोड़ा भी कम कार्य करना राजाओंको शोभा नहीं देता है, उसका किसी युक्तिसे समर्थन भी नहीं किया जा सकता है तथा वह धर्मके सर्वथा प्रतिकूल है। अतएव ऐसा कार्य होनेसे सज्जन पुरुष भी परिहास ही करते हैं। आंखका रंगरूप ही मनुष्यके मनमें उठनेवाले विचारों और भावोंको व्यक्त कर देते हैं, शरीरकी कान्ति ही मनुष्यके सुखी जीवनका विज्ञापन करती है, इसी प्रकार मनुष्यके कुलकी महत्ताको उसकी आचार-विचार सम्बन्धी विनम्रता ही खोल कर दिखा देती है। राज्यके प्रधानोंने इस प्रकारसे कञ्चिद्भटके साथ आग्रह किया था। राजाके कल्याण तथा अभ्युदयकी सम्मति देनेवाले अपने मंत्रियोंकी उक्त प्रकारकी अनुमतिको देखकर महाराज देवसेनने कहा था 'मेरे द्वारा भी आप लोगोंका पूर्ण समर्थन किया जाता है।' इसके उपरान्त लोकाचारके विशेषज्ञ तथा विवेकी महाराजाधिराजने प्रसन्नतापूर्वक कन्याको समदत्ति रूपसे देनेका निश्चय किया था।

वचनके धनी देवसेन

९ १० ११

इस निर्णयपर पहुंचते ही ललितेश्वरने विजय आदि महामंत्रियों, श्रेणी, गणोंके प्रधान अनुभवी वृद्ध नागरिकोंके साथ महोत्सवके विषयमें विगतवार विमर्ष किया था। अपनी प्रतिज्ञाको पूर्ण कर सकनेके कारण अत्यन्त प्रमुदित महाराजने नगर तथा राज्यके सब ही अधिकारियोंको विवाह-मंगलकी तयारी करनेका आदेश दिया था। महाराजके आज्ञा देते ही पूरे नगरमें प्रतिदिन नूतन पताकाएं खड़ी की जाती थीं जो वायुके झोंकोंके साथ लहलहाती थी, प्रत्येक दिशामें प्रतिदिन नये, नये विचित्र तोरणद्वार बनाये जाते थे, ऐसा एक भी दिन न वीतता था जिस दिन कोई नया उत्सव धूम-धामके साथ न मनाया जाता हो। इस प्रकार प्रतिदिन ही इस प्रकारके मंगल कार्य ललितपुरमें होते थे, जिनके कारण उसका महत्व दिन दूना और रात चौगुना हो रहा था।

विवाह निश्चय

१२ १३

नगरकी सब गलियों तथा उनके दोनों ओरके प्रदेशों, बड़े-छोटे राजमार्गों तथा प्रधान मार्गों, तिमुहानियों, चौराहो तथा सब ही चत्वरों (चौपाले) को भलीभांति पूर्ण स्वच्छ किया गया था। उनपर सुगन्धित स्वच्छ चन्दन जल छिड़का जाता था। इतना ही नहीं नगर सजानेकी शैलीके विशेषज्ञ पुरुष इन स्थानोंकी शोभा बढ़ानेके लिए इनपर फूलों तथा रत्नोंको विधिपूर्वक विखेर देते थे। समुद्रान्त पृथ्वीके पालक महाराज देवसेनके राजप्रासादके द्वारसे आरम्भ करके सार्थपतियोंके अधिपति सेठ सागरवृद्धिके महलके द्वारतक जितना प्रदेश था उनका साधारण संस्कार ही न हुआ था। अपितु उस पूरे अन्तरालमें महाऋद्धिसे परिपूर्ण प्रदर्शनालय (प्रेक्षागृह) तथा विविध चित्र आदिसे भूषित महाविभवपूर्ण मंडप बनाये गये थे। कहींपर वहुमूल्य अनुपम कान्तियुक्त मोतियोंकी राशि चमक रही थी उसे देखकर लहराते जलकी आशंका हो जाती थी, कहींपर उत्तमसे उत्तम मूंगोंकी मालाएं लटक रही थीं, किसी दूसरे स्थलपर सोनेसे वनाये गये सुन्दर कमल शोभा दे रहे थे, तीसरे स्थलपर अनुपम शोभाके भंडार इन्हीं कमलोंकी मालाएं लटक रही थीं। किसी स्थलपर युवती स्त्रियां अद्भुत-अद्भुत नृत्य कर रही थीं, दूसरी ओरसे

नगरकी शोभा

१४ १५ १६ १७

मधुर मोहक गीतकी ध्वनि आ रही थी, अन्य स्थलोंपर भांड जोर-जोरसे तालियां पीटकर इधर-उधरकी नकलें तथा स्वांग भरनेमें मस्त थे।

१८ श्रीमण्डपकी शोभा लोकोत्तर थी उसमें कोई ऐसा स्थल ही न था जहांपर सुन्दर सुगन्धित पुष्पोंकी मालाएं न सजायी गयी हों, स्थान, स्थानपर चौक पूर कर विपुल अर्घोंको चढ़ाया गया था। वर-वधूके लिए जो सिंहासन रखा गया था उसके पाये आदि सब ही भाग विशुद्ध स्वर्णसे बने थे। इस सिंहासनपर महाराज

विवाह-मडप

१९ देवसेनकी पुत्रीके साथ कश्चिद्भट बैठाये गये थे। सिंहासनके पास सोनेके कलश रखे थे, उनमें सुशीतल तथा उत्कट सुगन्धयुक्त तीर्थजल भरा था, वे मनोहर कमलोंसे ढके हुए थे।

इन्हीं कलशोंको उठाकर परमप्रसन्न ललितेश्वर, मंत्रि, राज्यके प्रधान तथा श्रेणी और

२० गणोंके मुखियोंने वर-बधूका अभिषेक कराया था। इसके उपरान्त महाराजने स्वयं ही कश्चिद्भटके शिरपर मुकुट पहिनाया था जिसका प्रकाश चारों ओर फैल गया था और स्वयं ही उन्होंने जामाताको पट्टा बांधा था। इस क्रमसे विवाहके संस्कारोंको करते हुए महाराज देवसेनने धर्म, अग्नि तथा जलको साक्षी करके कश्चिद्भटसे अपनी पुत्रीको व्याह दिया था।

वर-वधू अभिषेक

२१ दहेजमें दिये गये मदोन्मत्त हाथियोंकी संख्या एक हजार थी, सुशिक्षित घोड़ोंका प्रमाण भी (दो छह) बारह हजार था, एक हजारसे गुणित सौ अर्थात् एक लाख प्रमाण ग्राम दिये थे तथा चौदह कोटि प्रमाण सुवर्ण मुद्राएं समर्पित की थीं। इसके अतिरिक्त बत्तीस नाटककी आयोजना करनेवाले (ललित-कला वेत्ता)

यौतुक

२२ दिये थे, अन्तःपुरमें रहने योग्य अनेक वृद्ध पुरुष, किरात, सब प्रकारकी दासियां, सब तरहके शिल्पकार तथा विनीत कर्मचारी पिताने आवश्यकताका विचार करके अपनी प्रिय

२३ पुत्रीको दिये थे। इतना ही नहीं संसारमें महत्ता तथा सुसंस्कृत आदर्श जीवनके लिए आवश्यक सब ही प्रकारके पदार्थ, मनोविनोद, क्रीड़ा आदि प्रसंगोंके उपयुक्त सामग्री तथा विभव-प्रभावके प्रदर्शक सब ही उपकरणोंको महाराज देवसेनने बड़ी प्रीतिके साथ लड़कीको समर्पित किये थे।

२४ इस विधिसे विवाह संस्कार समाप्त हो जानेपर वर-वधुको विदाके लिए महा मूल्यवाली पालकीमें बैठाया गया था। उत्तम-उत्तम रत्नोंके जड़ावके कारण पालकीकी शोभा मनोहारि हो गयी थी। वह सूर्यके किरणोंके समान जगमगा रही थी। इसके उपरान्त विशाल वैभव और पूजाके साथ उन दोनोंने सागरवृद्धिके घरमें प्रवेश किया था।

वधूकी विदा

२५ वहांपर पहुंच जाने पर महा ऋद्धिशाली श्रेणी तथा गणोंके अठारह प्रधानोंने लगातार अठारह दिनतक कश्चिद्भट तथा राजाकी बेटीका बड़े समारम्भपूर्वक स्वागत किया था तथा

२६ बड़ी-बड़ी विभूतियां भेंट की थीं। इन दिनों ही महाराज देवसेनकी सब रानियां भी प्रति दिन वस्त्र, उत्तम-भूषण, स्वादु भोजन, श्रेष्ठतम मालाएं, विलेप, पान आदि भोग-परिभोग सामग्री भेजती रहती थी। एक रानीकी अपेक्षा दूसरीके उक्त पदार्थ बढ़कर होते थे, मानो लड़कीपर स्नेह प्रकट करनेमें वे एक दूसरेको हराना

नवदम्पतिका स्वागत

२७ चाहती थीं। कश्चिद्भटने अपने बाहुबलके द्वारा ही समस्त भोगोंकी खान राजलक्ष्मीको प्राप्त किया था। उसकी प्राप्ति हो जानेसे उसका तेज व कान्ति विकासकी चरमसीमाको प्राप्त हुए

थे। उस समय उसे तथा गुणवती राजपुत्रीको देखकर लोग अपने-आप प्रसन्नतासे कह उठते थे।

राजपुत्री तथा कश्चिद्भटकी यह अनुपम जोड़ी क्या किन्नर देवोंका युगल है? २८ अथवा पर्यटन करती हुई कोई देव-देवाङ्गनाकी जोड़ी स्वर्गसे पृथ्वीपर चली आयी है। वे सोचते थे, क्या विद्याधर लोकको छोड़कर ये दोनों यों ही मनुष्य-लोकके पर्यटनको तो नही चले आये हैं। कोई कश्चिद्भटके जन्म २९ तथा कुलको भी नहीं जानता है, किसी दूर देशमें उत्पन्न हुआ होगा। किन्तु यह धन्य है जो हमारी राजपुत्रीका पति हो गया है। सत्य ही है—जो पुरुष पुण्यलक्ष्मीके भर्ता हैं इस संसारमें उनकी पत्नियां वे ही हो सकती हैं जिन्होने पूर्व जन्ममें विपुल पुण्यराशिको कमाया है। यदि मध्यलोकमें उत्पन्न स्त्री और पुरुष इतने अधिक रूपवान हो सकते हैं तो स्वर्ग- ३० वासियोंकी रूपलक्ष्मी कैसी होती होगी। यदि मनुष्य गतिमें उत्पन्न युगल इतना अधिक ललित है तो देवताओंके स्वर्गीय लावण्य और देवी कान्तिके विषयमें तो कहा ही क्या जा सकता है? इन दोनोने पूर्व जन्ममें कौन-सा दुर्द्धर तप किया होगा? अथवा किस देवताके अनुपम ३१ आदर्शकी इन दोनोंके द्वारा आराधना की गयी हो गी। अथवा इन लोगोंने कौनसे व्रतोंका निरतिचार आचरण किया होगा? इस प्रकार जब लोग कहते थे तब उनके नेत्र आश्चर्यसे फैल जाते थे। उनके मनमें धार्मिक आस्था तथा नूतन युगलके प्रति आदरका भाव बढ़ता ही जाता था। ३२

लोकका नवदम्पति-अनुराग

पूर्वभवमें उपार्जित पुण्यके फलोंको भोगनेवाला कश्चिद्भट भी इन सब व्यासंगोंमें फंसकर अपने प्रथम बन्धु बान्धवोंको भूल गया था तथा नूतन सगे संबन्धियोंसे घिरा हुआ प्रसन्नतासे समय काट रहा था। युवराजकी नूतन पत्नी, ललितपुरकी ३३ राजकन्याका रूप सर्वथा खोटहीन था उसकी अपनी कान्ति, तेज तथा सुकुमारताका आकर्षण भी ऐसा था कि उसके सामने स्थिर रहना असंभव था, फलतः वह गुणी राजपुत्र दिनके विहारमें अपने गुणोंका अनुकूल प्रवाह करके पत्नीको प्रसन्न रखता था। वह युगल कभी गान्धर्वोंके गीत सुनता था, तो दूसरे समय परस्परका वर प्रसंग (फूलों, ३४ इत्र, आदिसे सजाने) करते थे। किसी समय काव्य निर्माण तथा विवेचनको रस लेते थे और कथाएं कहकर मन बहलाते थे, अन्य समय रसमय नाटकोंका अभिनय देखकर अथवा विशेष गल्प कहकर नवोढ़ा पत्नीके चित्तको वह अपनी ओर जोरोंसे खींचता रहता था।

"डूबें अरु उतरायें"

उस वधूका ज्ञान, गुण, ललित कलाओंका अभ्यास तथा वार्तालापकी शैली अति ३५ अधिक रसमय, उदार तथा आकर्षक थे, वेशभूषा शिष्ट किन्तु उद्दीपक थे, तथा समस्त आचार विनम्रतासे ओतप्रोत था। फलतः पतिके मनको उसने पूर्णरूपसे अपने वशमें कर लिया था। उसपर परम अनुरक्त कश्चिद्भट भी उद्यान विहार, नदियोंमें ३६ जलक्रीड़ा, वनके रम्य प्रदेशोंका पर्यटन, पर्वतोंकी प्राकृतिक शोभाका निरीक्षण, विशाल, तथा वैभव सम्पन्न राजमहलोंमे रतिकेलि आदि कार्योंके द्वारा पत्नीका मनोविनोद करता था। आपसमें वार्तालाप करते, करते उनके मन कभी अघाते ही न थे, एक दूसरेको निर्निमेष ३७ देखते रहनेपर भी उनकी आंखें कभी थकती ही न थीं, उन दोनोंको ही एक दूसरेके अंग अंगसे गाढ़ प्रीति थी अतएव इस क्रमसे वे एक दूसरेमें लीन होते जाते थे। उनके भोग और ३८ रति एक दूसरेका आश्रय पाकर द्वितीयाके चन्द्रमाके समान बढ़ रहे थे, चेष्टाएं भी पारस्परिक विश्रम्भ और भावगाम्भीर्यको बढ़ा रही थीं। पुण्यकी ख्यातिके समान उनकी प्रीति

गाढानुराग

-गाथाकी कीर्ति भी खूब फैल रही थी। यह जोड़ी ललितपुरके पुण्यकी मूर्तिके समान थी। परस्परानुकूल आचरणसे उनका समय आनन्दपूर्वक बीत रहा था।

३९ एक दिनकी घटना है कि नृपति कञ्चिद्भट महाराज देवसेनके साथ बैठकर योग्य सेवा आदि जाननेके लिए अन्तःपुरमें प्रवेश कर रहे थे। संयोगवश उसी समय अतुल्य पराक्रमी राजा कञ्चिद्भटको सहजभावसे मनोरमा नामकी किसी

मनोरमाका मोह

४० राजपुत्रीने देखा था। कञ्चिद्भटके शुद्ध रूप और परिपूर्ण यौवनको देखकर उस राजपुत्रीका मन उसपर उलझ गया था, फिर क्या था! कामदेवको शुभ अवसर मिला और उसने तुरन्त ही मनोरमाके अनुभवहीन हृदयको अपने पुष्प बाणोंसे वेध दिया था।

४१ जगज्जेता कामदेवके द्वारा छोड़ा गया अति तीक्ष्ण बाण अत्यन्त वेगसे मनोरमाके हृदयरूपी सुकुमार लक्ष्यमें जा धंसा था और उसके शरीरको उसी प्रकार तपाने लगा था जिस प्रकार वृक्षके अन्तरंगमें प्रज्वलित आग स्वाभाविक अवस्थामें भीतरसे अत्यन्त शीतल वृक्षको भस्म करने लगती है।

४२ प्रेमपीड़ासे अनभिज्ञ वह भोली राजकुमारी न तो अपना शरीर संस्कार व श्रृंगार करती थी, न सब सखियोंके साथ बैठती, खेलती थी, बार, बार पूछे जानेपर भी उत्तर न देती थी, न तो कुछ खाती और न कुछ पीती ही, कामदेवकी शक्तिसे परपीड़ित सुकुमारी सुन्दरी

विरह व्यथा

४३ राजपुत्रीको नहाने-धोने तक का भी ख्याल न था। उद्यानमें जाकर वह किसी एकान्त कोनेमें जाकर बैठ जाती थी और अपने प्रेमीके ध्यानमें मग्न होनेपर उसके सुन्दर विशाल नेत्र सर्वथा निश्चल ही न होते थे अपितु मुखमण्डलपर एक अकारण स्मित भी खेलता रहता था। वह राजपुत्री चित्रकलामें दक्ष थी अतएव शिलाके ऊपर कञ्चिद्भटका

४४ रेखाचित्र बनाती थी। अत्यन्त सफल चित्रमें कञ्चिद्भटको देखकर तथा उसकी दुर्लभताको सोचकर विचारी हताश हो जाती थी। मुखसे निराशासूचक दीर्घ निःश्वास निकलता था और आंखोंसे आंसूकी धार बह पड़ती थी उस समय उसका मुख देखनेपर उस विकसित कमलकी श्री स्मरण हो आती थी जिसपर पाला पड़ जाता है।

४५ उसी समय कोई सखी आड़मेंसे बढ़कर उसके निकट पहुंचकर बड़ी युक्तिपूर्वक उसकी अन्य मनस्कताको भांप लेती थी। फिर धीरे, धीरे पीछेसे उसके अति निकट पहुंचकर अपने

'छिपाये न छिपे'

४६ कोमल हाथोंसे उसकी आंखोंको दबा लेती थी। सखीकी हथेलियोंके स्पर्श द्वारा चैतन्य होकर वह भोली राजकुमारी वन्य हिरिणीकी भांति डर जाती थी। वह सखीकी बातोंसे यह अनुमान करके कि इसने सब जान लिया है कुछ

४७ थोड़ा हंसनेका प्रयत्न करती थी, किन्तु अन्तमें अत्यन्त लज्जित हो जाती थी। इतने पर शेष रहस्यको छिपा लेनेके अभिप्रायसे वह त्वरापूर्वक दोनों हाथोंसे चित्रको पोंछ देती थी। सखी भी उधर देखकर कहती थी 'यह किसका चित्र है, मुझे निशंक होकर बताओ।' तुरन्त ही सखी

४८ ध्यानपूर्वक मनोरमाके मुखको देखती थी और उसपर भय तथा आशंकाकी छाया ही नहीं अपितु कामव्यथाकी स्पष्ट छापको देखकर उससे आग्रहपूर्वक पूछती थी—'इस बनमें भी तुम किस विशेष प्रयोजनसे बिल्कुल अकेली बैठी हो?'

प्रेम छिपानेका प्रयत्न

४९ ललितेश्वरकी राजनन्दिनी सखीके द्वारा उक्त विधिसे पूछे जानेपर उसकी ओर देखती थी तथा उसके आचार और गुणोंका

अनुमान करके इतना ही कहती थीं 'हे आलि ? यहां बैठनेमें मेरा कोई अवश्यंभावी प्रयोजन नहीं है, सहज ही मनोविनोद करती हुई यहां आ बैठी हूं।'

अस्पष्ट उत्तर देकर मनोभावको छिपानेवाली राजपुत्रीके मनके वास्तविक भावोंको वह चतुर सखी अनुमानसे जान गयी थी, अतएव उसके हृदयको कुछ हल्का करनेकी इच्छासे किसी दूसरी उत्तम बातको उसके आगे छेड़ देती थी। 'हे कान्ति ? तुम्हारे स्वाभावकि परम सुन्दर मुखकी कान्ति बिल्कुल बदल गयी है। हे कृपाङ्गि ! तुम्हारा दुबला पतला शरीर अत्यन्त थक गया है। हृदयमें जो ज्वारभाटा उठ रहा है उसे झूठ ही क्यों छिपाती हो, अकेले अकेले कहां तक सहोगी ? 'हे आलि ! प्रेम प्रपञ्चमें पड़ी रतिविलासकी इच्छुक युवतियोंके लिए सखियां माता तथा पितासे भी अधिक विश्वासपात्र तथा सहायक होती हैं। इसलिए तुम अपनी मनोव्यथाको मेरे साथ बांट लो, मुझे विश्वास है कि मैं तुम्हारे हार्दिक तापको सम्भवतः दूर कर सकती हूं। मैं भांति भांतिकी आश्चर्यजनक विद्याओंको जानती हूं, मैं अदृश्य मायाके प्रयोगके साथ कामदेव सम्बन्धी वशीकरण प्रयोग भी कर सकती हूं। दूसरेको उद्दीप्त करना और भूतप्रेतको वशमें करना तो मेरे लिए अति सरल है। यदि तुम्हारी इच्छा हो तो अपने मनोभाव कहो।' इतना कहकर वह चुप हो गयी थी।

५०

५१

मनोभाव लेनेका प्रयत्न

५२

५३

चतुर सखीके लगभग सत्य वाक्योंको सुनकर प्रेम-प्रपञ्चसे अनभिज्ञ राजपुत्रीको मनोभावोंको चरितार्थ करनेका शुभ अवसर मिल गया था। अतएव अपने मनकी वास्तविक अवस्थाको स्पष्टरूपसे बतानेके अभिप्रायसे आदरपूर्वक राजपुत्रीने निम्न वाक्य कहे थे। 'मेरी तुमसे अधिक प्यारी सखी और कौन है। तुम्हीं तो मुझे हितकी बात कहती हो। तुम्हारे सिवा और कौन दूसरी मेरे मनको प्रफुल्लित कर सकती है ? मेरे लिए तुम साक्षात् देवता हो, कौन सगा-सम्बन्धी तुमसे बढ़कर अनुकूल हो सकता है ? और क्या कहूं तुम्हें छोड़कर कोई दूसरा मुझे शरण नहीं है। महाराजकी सेवा करनेके लिए एक दिन कश्चिद्भट अन्तःपुरमें आये थे, जिस समय मैंने उनको देखा, उसी समय मेरा हृदय उनपर लग गया। तुमसे क्या छिपाऊं, तुमही हितका मार्ग दिखाओ। हिरणोंके राजा सिंहके समान पराक्रमी और कामदेवके समान परम रूपवान उस कश्चिद्भटको जितना-जितना मनोमन सोचती हूं, कामदेव निर्दय होकर मुझे उतना-उतना अधिक तपाता है। हे सखि ! शीघ्रसे शीघ्र इस दाहको शान्त करो।'

५४

मुग्धाकी आतुरता

५५

५६

५७

इन वाक्योंके द्वारा प्रकट किये गये, कमलाक्षि राजदुलारीके मनोभावोको भलीभांति समझकर उस कुशल सखीने कहा था—'हे आर्ये ! जितने भी संभव उपाय हैं उन सबके द्वारा मैं तुम्हारे मनोगत कार्यको पूर्ण रूपसे सिद्ध करूंगी।

५८

सखिका आश्वासन

कुछ समय बाद ही वह कुशल सखी किसीको थोड़ा-सा भी आभास दिये बिना चुपचाप ही एकान्त स्थानपर अमित पराक्रमी कश्चिद्भटके पास जा पहुंची थी। वह वार्तालाप करनेकी कलामें दक्ष थी अतएव उसने मनोरमाकी पूरीकी पूरी प्रेमगाथा उसको सांगोपांग बता दी थी।

५९

नवप्रेमिकाकी शिष्ट दूती

परम सुन्दर तथा लक्ष्मीवान् कश्चिद्भटने सखीके वचनोंको सुनकर ही समझ लिया

६०

था कि उसका प्रस्ताव नैतिकतासे हीन तथा अनेक दोषोंसे परिपूर्ण था। वह व्रती था अतएव इस प्रकारके विषयोंमें मेरुके समान अडिग था फलतः उसने अत्यन्त विनम्रताके साथ उससे

६१ वरांगकी स्थिरता

कहा था कि 'आपका प्रस्ताव सर्वथा अयुक्त है। देविजी! आपका प्रस्ताव किसी भी दृष्टिसे युक्त नहीं है, वह कार्यरूप दिये जाने पर बिल्कुल शोभा न पाय गा। इसके अतिरिक्त ऋषिराज वरदत्तकेवलीने अनुग्रह करके मुझे स्वदार (संतोष) व्रतकी दीक्षा भी दी थी।'

६२ अनवद्य सौन्दर्यके भंडार कश्चिद्भटने जब उसे उक्त उत्तर दिया तो वह कुशल सखी चुप न रही, उसने पूछा था 'क्या आप अनुपम सुन्दरी मेरी उस सखी पर इसीलिए अनुग्रह नहीं ६३ कर सकते हैं, कि आपने केवलीसे स्वदार-अणुव्रतकी दीक्षा ली थी? यदि यही बात है तो मैं आपको बुद्धिमान नहीं मान सकती हूं। हे वीरवर! प्रत्यक्षरूपसे सामने उपस्थित फलको छोड़कर तुम परोक्ष फलकी खोज करते हो, जो संभवतः कहीं है भी नहीं, अतएव मेरी दृष्टिमें ६४ तो आप मूर्ख ही हैं, कारण, आप संदिग्ध वस्तुको अत्यधिक महत्त्व देते हैं। इसके सिवा व्रतोंका पालन करनेसे स्वर्ग ही तो प्राप्त होता है और स्वर्गका सार भी तो सुकुमार सुन्दरी अप्सराएं ही हैं। यदि कठोर व्रतोंका पालन करने पर देवकन्याओंका संगम ही प्राप्त होता है,

६५ सखीकी युक्तियां

तो सोचो, हमारी सखी मनोरमा देवियोंसे किस योग्यतामें कम है? हे प्रभो! सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह तन्वी भी अपने हृदयको तुम्हारे चरणोंमें अर्पित कर चुकी है, अतएव अनुग्रह करिये, उस साध्वी पर कृपा करिये। इस प्रकार कहकर जब वह चुप हो गयी, तो कश्चिद्भटने मर्यादापूर्वक उससे निवेदन किया था क्योंकि उसकी मति पूर्णरूपसे शुद्ध थी।

६६ इस संसारमें जो शुद्ध आत्मा शीलव्रतको पालन करनेवाले हुए हैं तथा जो किन्हीं परिस्थितियोंमें पड़कर भी धारण किये गये व्रतोंसे नहीं डिगे थे वे समस्त संसारके आज भी

शीलव्रत-महिमा

पूज्य हैं। ऐसे चरित्रनिष्ठ आत्मा ही अगले जन्मोंमें देव, असुर तथा मनुष्य योनियोंमें जन्म ग्रहण करके निरन्तर, सतत तथा सम्पूर्ण लौकिक ६७ सुखोंको प्राप्त करते हैं। जो शीलव्रतसे नहीं डिगे हैं वे समुद्रमें गिर जाने पर भी नहीं डूबते हैं, भयंकर रूपसे जलती हुई ज्वालाकी लपटें भी उन्हें जलानेमें समर्थ नहीं होती हैं, देवोंमें भी यह सामर्थ्य नहीं है कि वे उनका अपमान कर सकें, तथा संसारके सब ही विघ्न उनके मार्गमें आकर अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं।

६८ दूसरी ओर देखिये, जिन्होंने अपने शीलको खो दिया है वे इसी भवमें स्थान, स्थान पर अपमानित होते हुए नाना प्रकारके अनेक दुखोंको भरते हैं। इस जन्मके उपरान्त

व्यभिचारका कुपरिणाम

अगले भवमें वे मूर्ख नरकोंमें उत्पन्न होते हैं तथा हे भद्रे! वहांपर भयंकरसे भयंकर दुखोंको पाते हैं, इसमें जरा भी सन्देह नहीं है। ६९ हमारी व्यवस्थित समाजमें जो कोई भी शीलकी मर्यादाको तोड़ते हैं वे शासकोंके हाथों बड़ा भारी दण्ड पाते हैं। यह सब सहकर भी यदि किसी प्रकारसे यहांपर वे अपने मुखको दिखानेमें समर्थ होते हैं तो उससे क्या? क्योंकि दूसरा भव तथा यश दोनों ही मनुष्य जन्मके ७० चरम साध्य हैं। मुझको ही लीजिये; स्वयं मैं ही इसके पहिले शीलव्रतके प्रतापसे ही एक भयंकर शापसे बचा हूं। यही सब कारण हैं जो मुझे ग्रहण किये गये व्रतको भंग करनेमें

सर्वथा असमर्थ कर देते हैं। फिर यह भी न भूलिये कि मैंने किसी असाधारण व्यक्तिसे व्रत ग्रहण किये हैं। साक्षात् केवलीके समक्ष ग्रहण किये थे।

अधिकसे अधिक इतना कर सकता हूं कि यदि राजकुमारीके पिता महाराज देवसेन आज्ञा दें तो उनकी पुत्रीको धार्मिक विधि विधानके साथ ग्रहण कर सकता हूं। ऐसा न होनेसे सर्वसाधारणमें होनेवाले सुविदित अपवादको मैं कदापि सहन नहीं कर सकता हूं, क्योंकि वह यहीं नहीं परलोकमें भी हितकारी न होगा।' ७१

विवाह ही वासना-शान्तिका एकमात्र उपाय

जब कश्चिद्भटने इन युक्तियोंके द्वारा मनोरमाकी सखीको समझाया तो उससे इनमेंसे एकका भी उत्तर न बन पड़ा था। अतएव उसके पाससे लौटकर वह सीधी राजपुत्रीके पास पहुंची थी। कामदेवकी पाशमें फंसी आपततः अत्यन्त विकल मनोरमाको ढाढस बंधानेकी इच्छासे उसने इस प्रकारसे कहना प्रारम्भ किया था। 'हे राजपुत्रि! तुमने जो कुछ भी प्रार्थना की थी उस सबको मैंने तुम्हारे प्रियसे भी कह दिया है तथा वह उसके अनुकूल है। उसने बड़े आदरके साथ इस कार्यकी स्वीकृति ही नहीं दी है अपितु अपने मनके गूढ़तम भावोंको भी प्रकट कर दिया है। अतएव हे साध्वि! अपनी सखियोंके साथ आनन्दपूर्वक समय व्यतीत करो, उठो स्नान आदिसे निवृत्त होकर भोजन करो और अपना पूरा शृंगार करो, दो तीन दिनके भीतर ही तुम अपने मनोरथ प्रियतमके पास पहुंच जाओगी। अब शोकको दूर करो तथा चंचलताको छोड़कर स्थिर बनो।' ७२ ७३ ७४

नैतिकता ही परम नीति

'मुझे धोखा देनेके लिए ही तुम यह सब जाल रच रही हो। यह केवल सुननेमें ही सुखद है, क्योंकि अभिलषित अर्थकी प्राप्ति तो बहुत दूर प्रतीत होती है। मैं मन्दबुद्धि अवश्य हूं पर इतना तो समझ ही सकती हूं, क्या ही अच्छा होता यदि इस पृथ्वी पर युवतियां उत्पन्न ही न होतीं अथवा उत्पन्न होते ही मर जातीं!' ७५

नारीकी भीरुता

इन तथा ऐसे ही अन्य वचनोंको पुनः पुनः कहकर तरुणी राजनन्दिनी अपने पूर्व जन्ममें किये गये शुभ-अशुभ कर्मोंके फलोंका स्मरण करके उनकी खूब निन्दा करती थी। आशासे जो थोड़ा बहुत हर्ष उसको हो रहा था वह न जाने कहां लुप्त हो गया था, वह लगातार रो रही थी इसी कारण उसकी आंखें बिल्कुल लाल हो गयी थीं। यौवनके उभारके कारण पीन, पुष्ट तथा पुरुषोचित कठोरता युक्त शरीरधारी, कमलके समान मोहक नेत्रयुक्त तथा मदोन्मत्त हाथीके समान लीलापूर्वक विचरते हुए मनस्वी कश्चिद्भटकी जबतक प्राप्ति नहीं होती है तबतक लज्जाके वेष्टनमें घुट घुटकर मरनेवाली मुझे शान्ति कहां मिल सकती है?' ७६ ७७

महाराज देवसेनकी राजदुलारी उक्त प्रकारसे निराश होकर कामरूपी अग्निकी लपटोंसे झुलस रही थी। उस समय उस विचारीकी वही दशा थी जो उस लताकी होती है जिसके पास भभकती हुई अग्निकी ज्वाला उसके आगेके पत्तोंको जलाती हुई भीतरी भागोंपर बढ़ती आती है। विरहके सर्वतोमुख तापके द्वारा उसकी स्वभावसे ही इकहरी देह दिनोंदिन कृषतर होती जा रही थी। उसकी ओर देखते ही कृष्णपक्षकी एकमात्र चन्द्रकलाका स्मरण हो आता था जो कि पूर्ण चन्द्रकान्तिसे घटते-घटते आकाशमें केवल एक कला रह जाती है, और वह भी अगले दिन नष्ट हो जानेके लिए। ७८

प्रेमिकाका आत्म प्रत्यय

इस जन्ममें अथवा इस जीवयोनिमें यदि मुझे कभी गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना ही हो ७९

तो सम्यक्त्वके प्रतापसे उस सम्यक्दृष्टी कश्चिद्भटके साथ ही हो। यदि मेरे सुखको किसी पुरुषके पास जाना है तो उस कश्चिद्भटके हाथों ही ऐसा हो। यदि ऐसा अशक्य है तो सम्यक् चारित्र और सम्यक् ज्ञानकी उपासना करके मुक्ति मार्गको प्राप्त करना ही मेरा लक्ष्य है। जिनेन्द्र देवके द्वारा उपदिष्ट धर्म ही सब धर्मोंसे श्रेष्ठ है वह स्वर्गरूपी उन्नत स्थान पर पहुंचनेके लिए सुखकर सीढ़ियोंके समान है, किन्तु दुर्भाग्यके कारण यदि वह भी मुझे इस जन्ममें प्राप्त नहीं होता है तो कामदेवके तीक्ष्ण बाणोंके द्वारा निर्दय रीतिसे भेदी गयी इस देहको जलती हुई अग्निकी ज्वालामें शीघ्र ही होम कर दूंगी।' राजकुमारीकी बुद्धि स्थिर थी अतएव अपने प्रेम प्रपंचमें भग्न मनोरथ होकर उसने ऐसी दृढ़ प्रतिज्ञा की थी। धारण किये गये समस्त व्रतों और गुणोंका ध्यान करती हुई वह साध्वी एकनिष्ठ राजदुलारी सांस लेती हुई पड़ी थी, न उसके शरीरमें धड़कन थी, न पलक झपते थे, और न कुछ बोलती ही थी। उसका पूरा ध्यान अपने प्रिय पर लगा हुआ था तथा कपोल बिल्कुल सफेद हो गये थे अतएव आसपासके प्रिय परिचारक जनोंको बड़ी चिंता तथा बेचैनी हो रही थी।

नारीका निर्वेद

८०

८१

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें 'मनोरमा-मतिविभ्रम' नाम एकोनविंश सर्ग समाप्त

विंशतितम सर्ग

ललितपुरके नागरिक बड़े मन्दकषायी तथा धर्मरत थे, वे विविध कलाओंमें दक्ष थे १
समस्त गुणोंके भण्डार थे तथा नाना शास्त्रोंके पारंगत थे। वास्तवमें ललित; उस ललितपुरके
सब ही निवासियोंके ऐसे ही आचार-विचार थे। यही कारण था कि वणिक् राजा कश्चिद्भट
बहुत लम्बे अरसे तक उनके साथ भोगविलासमें लीन रहकर समय काट सका था। महाराज २

सुखमग्न राजकुमार

देवसेनकी अत्यन्त सुन्दरी कन्या सुनन्दा उनके पूरे वंशको आनन्द देती
थी, वह इतनी सुन्दरी और गुणवती थी कि उसे देखते ही मनको वैसा
ही आल्हाद प्राप्त होता था जैसा कि अमरोंके राजा इन्द्रकी बधूको देखकर होता है। ऐसी
सुयोग्य पत्नीको आधे राज्यके साथ ही नही अपितु हाथी, घोड़ा आदि सेनाओं तथा नाटक
आदि ऐश्वर्योंके आधे भागके साथ प्राप्त करके भी विवेकी कश्चिद्भटको किसी प्रकारका
अहंकार नहीं हुआ था। विशाल तथा सुन्दर राजमहलोंकी छत पर वह अपनी रातोंको सुखसे ३
व्यतीत करता था। तथा अष्टाह्निका, दशलक्षण आदि पर्वोंके दिनोंको शील आदि गुणोंके
पालनके साथ काटता था तथा वास्तवमें अभावोंसे सताये गये मांगनेवालों तथा सज्जन पुरुषोंको
सदा ही भक्तिभावसे दान देता हुआ पुण्यार्जन करता था। पूर्व जन्ममें प्रयत्नपूर्वक किये गये ४
शुभकर्मोंका परिपाक हो जानेके कारण उदयमें आये एकसे एक बढ़कर मनमोहक भोगों और
विषयोंका रस लेता हुआ वह महापुरुष कश्चिद्भट ललितपुरकी राजदुलारी सुनन्दाके साथ सुख-
पूर्वक निवास कर रहा था।

इसी अन्तरालमें वियोगको प्राप्त महाराज (जिनके नाममें सेनके पहिले धर्म है) ५
धर्मसेन तथा युवराज वरांगको लेकर उत्तमपुरमे क्रमशः क्या क्या घटनाएं घटीं उन्हें ही मैं

अयोग्य राजा सुषेण

कहता हूं, आप लोग उन्हें सुनें। यह तो सब ही जानते हैं कि इन
पिता तथा पुत्र दोनोंकी ही शक्तिकी कोई सीमा न थी, इसीके समान
ही उनके पराक्रम तथा धैर्यका परिमाण बतलाना भी असंभव ही था। सुयोग्य राजपुत्र ६
वरांगके कुशिक्षित हृष्ट पुष्ट तथा सुन्दर घोड़ेके द्वारा अकस्मात् गायब किये जाने पर महाराज
धर्मसेनका चित्त अत्यन्त व्याकुल हो गया था। अतएव उनके चित्तको शान्त करनेके लिए ही
मतिवर आदि राज्यके मंत्रियोंने आपसमें विचार विमर्ष किया था और राजाकी प्यारी रानीके
पुत्र सुषेणको ही राजसिंहासन पर बैठा दिया था। राजपुत्र सुषेणको ज्योंही युवराजके पदकी ७
प्राप्ति हुई त्योंही उसका मुख आनन्दके कारण पूर्ण विकसित नूतन कमलके समान सुन्दर और
आकर्षक हो गया था। काफी समय बाद अपनी मानसिक कामनाके पूर्ण होनेके कारण उस
समय उसकी शोभा असाधारण रूपसे बढ़ गयी थी। उस समय उसका आल्हाद देखकर उस
चन्द्रश्रीका स्मरण हो आता था जिस परसे तुरन्त ही मेघ घटा हट गयी हो। सुषेणका तेज ८
उस समय प्रातःकाल उदीयमान बालभानुके समान था। उसका चित्त राज्य सम्बन्धी
दायित्वोंकी अपेक्षा विषय भोग और राग रंगकी ओर अधिक आकृष्ट था। अतएव वह कुछ
दिन पर्यन्त ही अपने राज्यको उपद्रव आदि अनर्थोंसे बचा सका था और स्वयं आनन्दपूर्वक
दिन बिता सका था।

९ एक दिन युवराज सुषेणको समाचार मिला था कि उसके राष्ट्र पर किसी शत्रुकी सेनाने आक्रमण कर दिया है, वह देशको रौंदता हुआ तथा शिष्ट सज्जन नागरिकोंका अपमान करता हुआ आगे बढ़ा आ रहा है। इसे सुनते ही युवराज मन ही मन संग्राम करनेका

१० शत्रुका आक्रमण

निर्णय करके सेनाको लेकर स्वयं शत्रुके विरुद्ध चल दिया था। रथ, हस्ति, अश्व तथा पदातिमय अपनी चतुरंग सेनाके साथ समरस्थलीमें पहुंचकर सुषेणने बड़ी तत्परता तथा युक्तिके साथ शत्रुसे घोर युद्ध किया था। किन्तु शत्रु राजाने क्रोधके परिपूर्ण आवेशमें होनेके कारण अपनी भृकुटी टेढ़ी करके सुषेणकी सेनापर प्रत्याक्रमण किया था और सब ओरसे घेरकर उसका संहार करना प्रारम्भ कर दिया था।

११ जब युवराज सुषेणकी सेनापर शत्रुकी सेनाने घेरकर भयंकर प्रहार करना प्रारम्भ किया तो क्षण भर ही में उत्तमपुरकी अजेय सेनाका अनुशासन टूट गया था और वह इधर-

मूढ़धीका पराभव

उधर छिन्न-भिन्न हो गयी थी। फल यह हुआ कि वह संग्राममें शत्रुसे हार गया था और निरुपाय होकर एक घोड़े पर आरूढ़ होकर बड़े वेगसे भागकर अपनी राजधानीको चला गया था।

१२ शत्रुकी सेनाके अभिघातोंकी मारसे अपने पौरुष और पराक्रमको धूलमें मिलाकर भीरुओंके सदृश राजधानीको भाग आनेवाले अपने पुत्रको देखकर महाराज धर्मसेनको ज्येष्ठ पुत्रका स्मरण हो आया था। वे मन ही मन दीर्घ समय तक उसके पराक्रम आदि गुणोंका

योग्य पुत्रकी स्मृति

विचार करते थे तथा उन्हें रह-रहकर वरांगकी स्मृति दुखी कर देती थी।

१३ 'आह वराङ्ग! तुम्हारा उदार स्वभाव तथा आन्तरिक विनम्रता कितनी विचित्र थी। कौन ऐसा व्यक्ति था जिसे तुम परम प्रिय न थे, तुम्हारा पुरुषार्थ! संसारमें कौन बराबरी कर सकता है! तुम्हारी धर्म रति भी अन्तिम सीमा तक पहुंच चुकी थी तथा

१४ युद्ध? वह तो तुम्हारा परमप्रिय खेल था। मैंने तुम्हें पाया था! क्या मैं दैवके द्वारा नहीं ठगा गया हूं।' इसके साथ साथ उन्हें अपनी बुढ़ौतीका ख्याल आता था तथा बुढ़ापेसे आक्रान्त होनेके ही कारण दुर्बल अपने शरीरको देखते थे, शत्रुओंके द्वारा किये गये अपने अपमानका विचार भी असह्य था तथा युवराज वरांगकी योग्यताएं और विशेषताएं भी न भूल सकते थे। इन सब कारणोंसे उन्हें उस समय धैर्य धारण करना ही असंभव हो रहा था।

१५ शत्रु राजाको जब यह समाचार मिला कि भयके कारण युवराज समरांगणसे भाग गया है और महाराज धर्मसेन वृद्धावस्थाके कारण अत्यन्त दुर्बल हैं तो वह उत्तमपुरकी विशाल अश्व, रथ तथा गजसेना, अत्यन्त विस्तृत देश तथा विपुल धनराशिसे परिपूर्ण कोशको

शत्रुको सुअवसर

लेनेके लोभको न रोक सका, फलतः उसने शीघ्रताके साथ राजधानीकी दिशामें बढ़ना प्रारम्भ कर दिया था। इस गतिसे बढ़ती हुई उसकी सेनाने

१६ आधे उत्तमपुर राज्य पर अपना अधिकार कर लिया था। इसके बाद उसने 'हमने जितने भागको सैनिक बलका प्रयोग करके जीत लिया है, वहीं तक आकर हम रुक गये हैं यदि आप चाहें तो हमारे तथा आपके राजका विभाजन इस नयी सीमाको मानकर हो सकता है।' इस संदेशको लेकर दूतको भेजा था।

१७ शत्रुका पत्र कठोर तथा अशिष्ट वाक्योंसे भरा था। अतएव जब महाराज धर्मसेनने उस पत्रको खोलकर पढ़ा, तो उसके अक्षरोंको देखते ही क्रोधके आवेगरूपी विषसे उनके नेत्र

लाल हो गये थे। क्रोधके उन्मादमें वह उसी प्रकार गर्ज पड़ा था जिस प्रकार सिंह हाथीको देखकर हुंकारता है। 'उसके वंशमें क्रमसे चली आयी राज्यभूमिकी सीमाएं निश्चित हैं और उतनी ही धरा उसे पर्याप्त भी है, इस समय अहंकारमें पागल होकर यदि वह उतने ही राज्यसे संतुष्ट नहीं रहता है तो मैं निश्चय ही उस अहंकारीको युद्धमें मारूंगा और उसके कुलक्रमागत राज्यको भी किसी दूसरे ऐसे राजाको दे दूंगा जो मेरी आज्ञा मानता होगा।' हिरणोंके राजा केशरीके समान पराक्रमी महाराजने उक्त अति कठोर वाक्योंको राजसभामें कहकर क्रोधके कारण कितने और अपमानजनक वाक्योंको ऊंचे स्वरसे कहा था। इतना ही नहीं अत्यन्त अपमानजनक कठोर वाक्योंसे भरा उत्तर भेज करके उसी समय नगरको छोड़कर लड़नेके लिए चल दिये थे। महाराज धर्मसेनकी चतुरंग सेना उद्धत शत्रुओंके अहंकारजन्य मदको उतार देनेमें अत्यन्त समर्थ थी, उसके ऊपर विशाल ध्वजाएं तथा अनेक रंगोंकी अद्‌भुत पताकाएं लहरा रही थीं। ऐसी सेनासे घिरे हुए महाराज धर्मसेनने एक योजन मार्ग चल चुकनेके बाद विश्रामके लिए पहिला पड़ाव डाला था। महाराज धर्मसेनके पराक्रमकी कीर्ति सर्वत्र फैली थी। उस समय उनके महा बुद्धिशाली अजितसेन, चित्रसेन देवसेन आदि महामंत्री भी साथ चल रहे थे। जब प्रयाण रुक गया तो ये सब अति विनयपूर्वक महाराजके पास गये थे, और उनके हितकी भावनासे ही प्रेरित होकर उन सब ने निम्न निवेदन महाराजसे किया था।

अपमानित धर्मसेन

१८ १९ २० २१

हे महाराज! जहां तक आपके पराक्रम तथा शक्तिकी बात है उन्हें सारा संसार जानता है तथा आज तक किसीने उनको नहीं लांघा है। अतएव हम आपसे जो निवेदन करने आये हैं उसे निसंकोच होकर करनेका कारण यह है कि इस बार हम प्रतिशोध लेनेकी पूरी तैयारीके साथ नहीं आये हैं। आपके औरस पुत्र तथा सपत्नी राजा लोग ही इतने सफल पुरुषार्थी हैं कि वे ही प्रबलसे प्रबल शत्रु सेनाके अहंकारको मिट्टीमें मिला देते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी आप जानते हैं कि आपके न तो अधिक शत्रु ही हैं और जो हैं वे शक्तिशाली भी नहीं हैं। तब आपने इस समरयात्राको पहिले सोचे विना ही क्यो आरम्भ कर दिया है? यदि कोई जलाशय इतना गम्भीर हो कि उसकी थाह न ली जा सके तथा इतना चौड़ा हो कि तैरकर पार न किया जा सके, तो आप ही बताइये उसे कौन लांघ सकता है? ठीक इसी प्रकार हे महाराज शत्रुसेना रूपी विस्तृत समुद्रको आप भी तबतक न लांघ सकेंगे जब तक कि आप पक्ष (मित्र राजाओं) सहित न हो जायेंगे। शत्रुओंके मानका मर्दन करनेवाला ललितपुर नामसे प्रसिद्ध नगरीका राजा देवसेन आपका प्रियमित्र ही नहीं है अपितु आपका सगा-सम्बन्धी भी है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि हम दूतोंको अभी भेज दें तो वह समाचार पाते ही दौड़े चले आवेंगे, इसे आप ध्रुव सत्य मानें।'

सुमन्त्री सम्मति

२२ २३ २४ २५

महाराज धर्मसेनने मंत्रियोंके वचनोंको सुनते सुनते ही समझ लिया था कि उनके वाक्य युक्तिसंगत थे, परिणाम में लाभप्रद थे, सब दृष्टियोंसे हितकर होते हुए भी अति संक्षिप्त थे, तथापि उनमे राजनीतिका सार भरा हुआ था।' अतएव उनका कथन समाप्त होते ही उन्होने मंत्रियोंसे कहा था 'आप लोग शीघ्र ही यह सब कर डालें।' २६

एक तो उस समय भूमिपाल धर्मसेनकी आज्ञा ही तीव्र थी, दूसरे विलम्ब होनेसे अपने देशका नाश हो जानेकी आशंका थी, तथा इन सबसे बढ़कर थी राजभक्ति; जिससे प्रेरणा २७

पाकर उत्तमपुरका दूत बड़े वेगके साथ ललितपुर नगरको दौड़ा चला जा रहा था। नगरमें

२८ दूतकी देश-निष्ठा

पहुंचते ही वह सीधा राजभवनमें पहुंचा था तथा आवश्यक शिष्टाचार पूर्वक महाराज देवसेनके सामने जाकर उनका अभिवादन करते हुए उत्तमपुराधीशके लिखित पत्रको महाराजके समक्ष उपस्थित किया था। ललितेश्वरने उसे लेकर पहिले तो मस्तकसे लगाया था फिर खोलकर पढ़ा था और समस्त परिस्थितिको समझ गये थे।

२९ महाराज देवसेन अपने अत्यन्त विश्वस्त तथा अनुभवी लोगोंके साथ मत विनिमय करनेके लिए उत्सुक थे अतएव वे सिंहों पर बने आसन (सिंहासन) पर से उठकर किसी दूसरे एकान्त गृहमें जा बैठे थे और तुरन्त ही उन्होंने वणिक् राजाको बुलवा भेजा था।

३० आप्त जनोंके एकत्रित हो जाने पर उन्होंने उत्तमपुरमें घटीं समस्त घटनाओंको कुमार वरांगका घोड़े द्वारा हरण और नाश, नूतन युवराज सुषेणका शत्रुओं द्वारा पराभव तथा उसके बाद भी शत्रुका बढ़ते रहना आदि सब ही बातोंको विशदताके साथ उनकी सम्मतिके लिए उपस्थित कर दिया था। यद्यपि वे स्वयं भी समस्त कार्योंको समझते थे।

३१ हे कश्चिद्भट ! आप पूर्ण रूपसे इस राजधानी तथा पूरेके पूरे राज्यकी उपद्रवोंसे मुक्त होकर रक्षा करते हुए यहीं रहें। केवल मैं ही इस कार्यके भारको वहन करूंगा। मेरे मित्र

कश्चिद्भटसे निवेदन

तथा सम्बन्धी पर विपत्ति आ पड़ी है अतएव मैं उसमें हाथ बंटानेके लिए जाना ही चाहता हूं। महाराज देवसेनके इस निर्णयको सुनते ही कश्चिद्भट

३२ बोल पड़े थे 'हे गुणसागर, सामने रखा हुआ पत्र भी पिताजीने ही भेजा है आप उसे ध्यानसे देखिये।' नूतन विकसित कमलोंके समान कान्तिमान करपुटसे उठाकर महाराजने उस पत्रको फिरसे बांचा था।

३३ पत्र में लिखे हुए 'युवराज वरांगका पिताके देशसे लुप्त हो जाना, शत्रुके द्वारा पिताका अपमान, पिताकी अत्यन्त जटिल परिस्थिति इत्यादि बातोंको सुनते सुनते वीरवर कश्चिद्भटकी

३४ आंखोंमें आंसुओंका पूर उमड़ आया था। स्वभावसे ही धीर गम्भीर कश्चिद्भटकी आंखोंसे

पितृ-प्रेम

धाराप्रवाह रूपमें बहते हुए आंसुओंसे गीले मुख तथा तीव्र कम्पनसे चंचल वक्षस्थलको देखकर महामतिमान ललितपुरके अधिपतिने अनुमानसे उसे पहिचान लिया था। हे पुत्र वराङ्ग ! मैं तुम्हें पहिलेसे ही जानता था कि तुम्हीं मेरे श्रेष्ठ

३५ भानजे हो, तो भी तुम यहांपर अपना कुल, नगर आदि छिपाकर क्यों रहते थे ? यह कहते समय महाराजका मुख हर्षके कारण खिल उठा था, वे बड़ी त्वरासे आगे बढ़े थे और उसको निकट खींचकर छातीसे लगा लिया था।

३६ जब मैं वन, वन मारा फिरता था तथा कोई ठिकाना न था उसी समय सार्थपति सागरवृद्धिने मेरे ऊपर परम करुणा करके मुझे अपना लड़का बना लिया था। इसके उपरान्त आपने अपनी प्राणप्रिय पुत्रीका मुझसे व्याह करके आधा राज्य देकर मुझे राजाके महा पदपर

३७ कृतज्ञ वारांग

स्थापित कर दिया है। इन कारणोंसे इस पृथ्वी पर कोई भी मेरा मित्र अथवा बन्धु-बान्धव आपसे बढ़कर नहीं है' जिस समय भावावेशमें युवराज वरांग यह सब कह रहे थे उसी समय उसकी ओर देख करुण वचन बोलते हुए महाराज देवसेन आदि गुरुजन उसके चरणों पर गिर पड़े थे।

हे प्रभो ! तुम्हारे खो जानेपर महाराज धर्मसेनकी आज्ञानुसार आपको खोजनेवाले व्यक्ति चारों ओर पर्वतो पर, गुफाओंमें, गहन बनोंमें तथा नदियोंमें आपको खोजते हुए घूमते रहे, किन्तु बड़े आश्चर्यकी बात है कि यहांपर आये हुए आपका पता न लगा सके। जब सब सगे सम्बन्धी लोग उक्त वचनोंको कहकर चुप हो गये तो आनन्द विभोर महाराज देवसेनने स्नेहपूर्वक कहा था। ३८ ३९

आत्मप्राप्तिका मार्ग कृतज्ञता

'हे कुमार ! तुम्हारे निमित्तसे ही मेरे द्वारा पाली-पोसी गयी सौ राजपुत्रियां हैं। इस समय तुम उनको भी ग्रहण करो। मातुलराज ललितेश्वरके हृदयरूपी कमलको विकसित करनेमें समर्थ उक्त प्रस्तावको सुनकर युवराज वरांगने निवेदन किया था 'हे महाराज समस्त राजा लोग आपकी आज्ञाका पालन करें यही मेरी हार्दिक अभिलाषा है, तथा मैं तो आपकी एकमात्र तनया सुनन्दासे ही परम संतुष्ट हूं।' ४०

स्वदार संतोषका आद्य

ललितेश्वरको भानजेके वचन सुननेमें आनन्द ही नही आ रहा था अपितु वे उसके वचनोंको मानते भी थे तो भी उसे बीचमें ही रोककर उन्होंने गम्भीरतापूर्वक कहा था 'हे बेटा ! समस्त गुणोंके पूर्ण विकासरूपी भूषणोंसे अलंकृत मेरी परमप्रिय पुत्री मनोरमाको तो अवश्य ग्रहण कर लो। ४१

राजकुमार वरांगकी दृष्टि स्वभावसे उदार थी अतएव मातुल राजाके उक्त प्रस्तावको उन्होने मान लिया था और कह दिया था 'जैसी आपकी आज्ञा'। फिर क्या था महाराज देवसेनकी प्रसन्नताकी सीमा न थी उन्होंने उसी समय तैयारियां करके मस्त हाथीके समान गम्भीर गमनशील युवराजको अपनी पुत्री व्याह दी थी। महाराज देवसेन पहिलेसे ही युवराज वरांगको बड़ा प्यार करते थे, इसके साथ साथ राज्यकी जनतामें कानों कानों भी इस मनोरथकी चर्चा फैल गयी थी अतएव दुगुनी सम्पति तथा महोत्सवके साथ अपनी पुत्रीका भानजेके साथ गठबंधन कर दिया था। ४२ ४३

मनोरमासे विवाह

जब समस्त विवाहके संस्कार परम श्रेष्ठ विधिपूर्वक समाप्त हो गये थे तो युवराज वरांग अपने विपुल वैभव तथा सम्पत्तिके साथ अपने जन्म नगर उत्तमपुरको जानेके लिए अत्यन्त उत्कण्ठित था। अतएव विदाके पहिले ललितेश्वरने समस्त बन्धुबान्धव, अधिकारी आदि तथा पुत्रियोंके साथ एक विशाल सहभोज किया था। ४४

प्रीतिभोज

कश्चिद्भटको देखनेके दिनसे ही कामदेवने विचारी मनोरमाको विरहमें इतना जलाया था कि उसके प्राणोंपर संकट आ पड़ा था। ऐसी व्यथाको चिरकाल तक सहकर विचारीको मनके अनुकूल पति मिला था अतएव वह ग्रीष्मकालमें भयंकर अग्निके समान दाहक सूर्यकी प्रखर किरणोंसे जलाये जानेके बाद वर्षाऋतुके प्रारम्भमें मेघोंके द्वारा शान्त की गयी पृथ्वीके समान परम प्रमुदित हुई थी। ४५

अनुपम पराक्रमी युवराज वरांग अपने पिताकी राजधानीको लौट जानेके लिए आतुर हो रहे थे। इस उत्कट अभिलाषाको कार्यान्वित करनेके अभिप्रायसे वे अपने धर्मपिता सागर-वृद्धिके पास गये थे, तथा उनकी अनुमति प्राप्त करनेके लिए मधुर शब्दोंसे निर्मित प्रार्थनाको निम्न प्रकारसे कहा था। 'जब मैं गहन वनमें ठोकरें खाता फिरता था। कोई मित्र व सहायक नहीं था। इतना ही नहीं परम पराक्रमी, स्नेही तथा सर्वशक्ति सम्पन्न मेरे पूज्य पिता भी अपने कर्त्तव्यको मेरे प्रति पूरा न कर सके थे, ४६

कृतज्ञता ही साधुता है

उस समय आप ही मेरे पिता हुए थे। पुरानी स्मृतियोंको हरा करके दुख देनेवाली इस बहुत सी व्यर्थ बातोंकी पुनरावृत्ति करनेसे क्या लाभ है ? इस लोक तथा परलोक दोनोंमें कल्याण

४८ करनेवाले आप ही मेरे सच्चे गुरु हैं। 'विनम्रता मनुष्यका सबसे उत्तम भूषण है, संसारका सबसे उत्तम पद शुद्ध विनयके कारण ही प्राप्त होता है तथा मेरा जितना भी अभ्युदय हुआ है वह विनयमूलक ही है अतएव हे सार्थपते ! संसारमें यशको बढ़ानेकी अभिलाषासे आपके आगे प्रणत हूं।

४९ महाराज देवसेन इस समय किस कार्यको करना चाहते हैं यह सब किसी भी रूपमें आपसे छिपा नहीं है। ललितेश्वर इसी समय युद्धके लिए प्रस्थान कर रहे हैं, मैं भी उनके साथ-साथ जानेके लिए अत्यन्त उत्सुक हूं, किन्तु अपनी इच्छा ही से प्रेरित होकर नहीं अपितु आपकी अनुमति प्राप्त करके ही जाना

उपकारी ही सगा है

५० चाहता हूं।' जब धर्मपुत्रने विनयपूर्वक अपने मनके भावोंको इन वचनोंसे स्पष्ट कर दिया तो पिताको उसका निर्णय समझनेमें देर न लगी। कुछ देर सोचकर उसने कहा था।

'हे सुमते ! तुम्हारे विना मैं भी यहां जीवित नहीं रह सकूंगा।' मेरे मनमें ऐसा

५१ आता है। हे सद्गुणोंको प्रेम करनेवाले पुत्र ! तुम्हारी असाधारण योग्यताओंके कारण ही सारी पृथ्वीपर मेरी कीर्ति विख्यात हो गयी है। तुम्हारे पराक्रम तथा गुणोंने ही मुझे महाराज देवसेनके समान बना दिया है, आज मैं सारे

आदर्श पिता

५२ राज्यके लिए इतना अधिक मान्य हो गया हूं कि उसकी तुलना करना ही असंभव है। जब तुम मुझे यहां छोड़कर दूसरे देशको चले जाओगे, तो तुम्ही बताओ, मैं किसके सहारे यहांपर जीवित रहूंगा ? अतएव हे सुमेरुके समान धीर गम्भीर पुत्र तुम जिस-जिस देशको जाओ

५३ मुझे भी वहीं वहीं लेते चलो।' सार्थपति सेठ सागरवृद्धि जब अपनी अभिलाषा को व्यक्त करके चुप हो गये तब युवराज वरांगने प्रसन्नतापूर्वक कहा था 'जैसी आपकी आज्ञा'। इस वार्तालापके समाप्त होते, होते ही महाराज देवसेनके ललितपुरीसे प्रयाण करनेकी मुहूर्त आ पहुंची थी।

५४ महाराजकी युद्ध यात्राके समय चारों ओरसे 'जय जय' की बहुत जोर की ध्वनि आ रही थी। महाराजके प्रयाणके समय शकुन करनेके लिए ही विविध जातियोंके बन्दीजन, बड़े-बड़े विट तथा मागध लोग बड़े वेगके साथ अपने मुखको पूरा फैलाकर जोरसे ओठोंको बनाते हुए महाराजकी जय बोलते थे। वे एक क्षणके लिए भी न

युद्ध यात्रा

५५ रुकते थे। पूर्णमासीके दिन चन्द्रमाको देखकर समुद्र अपने आप ही ज्वाररूपसे बढ़ता है, उस पर भी यदि दैवयोगसे जोरकी हवा चलने लगे तो फिर उन्नत लहरोंके पारस्परिक आघातसे जो भयंकर शोर मचता है उसी प्रकार तीव्रतम शोरको करते हुए महाराज अपनी राजधानी

५६ ललितपुरसे निकले थे। रथोंकी दौड़, घोड़ोंकी टापों तथा हाथियोंके पैरोंके भारसे मसले जाने पर जो धूलिके बादल उड़े थे। उनके द्वारा समस्त नभ मण्डल धुंधला हो गया था। उस समय यह अवस्था हो गयी थी कि आकाशमें पूर्णरूपसे चमकता हुआ सहस्र रश्मियुक्त दिनकर भी लोगोंकी आंखोंसे ओझल हो गया था।

५७ 'देखता नहीं है कि यौवनके उन्मादमें हाथीके गण्डस्थलोंसे मद जल बह रहा है, हे मूर्ख ! अपने चंचल घोड़ेको शीघ्र ही उसके पाससे हटा ले। अरे ! हे ! देखते नहीं हो वह

किशोरी बालिका घोड़ेके नीचे दब जायगी, उसे एक तरफ कर लो।' इस प्रकारकी ध्वनियां ही उस समय सुन पड़ती थीं। राजाके साथ मीठी-मीठी बातें करते हुए पीछे-पीछे चले आनेवाले नागरिकोंको महाराजने स्नेह पूर्वक लौटा कर मध्याह्नके सूर्यके समान प्रतापी युवराज वरांगके साथ सगे सम्बन्धी पर आक्रमण करनेवाले शत्रुकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर देनेके लिए आगे बढ़े थे। ५८

सैनिकोंकी उक्तियां

उस समय सेना ऐसी लगती थी 'मानो-ललितपुर रूपी पार्वतीय गुफाके मुखसे निकल कर महाराज देवसेनकी सेना रूपी नदी बड़ी तीव्र गतिके साथ जगद्विख्यात उत्तमपुर रूपी समुद्रसे मिलनेके लिए बही जा रही थी। उस सेना नदीके ऊपर फहराती हुई उन्नत पताकाएं ऐसी प्रतीत होती थीं मानो पक्षी ही उड़कर उसके ऊपर झपट रहे हैं। महाराजके पीछे-पीछे सेठ सागरवृद्धिका रथ चल रहा था, इनके साथ बहुमूल्य संपत्तिसे लदी हुई हजारों गाड़ियां चली जा रही थीं। इसके बाद राजपुत्री सुनन्दा तथा मनोरमाकी पालकियां चल रही थीं तथा उनको चारों ओरसे घेरे हुए असंख्य भट धीरे-धीरे चले जा रहे थे। उन्नत पर्वत, भीषण गुफाओंके भीतर, गहन काननों आदि संकटमय स्थानोंपर युवराज महाराज देवसेनके आगे पीछे तथा दांयें बांयें चलते थे और पूरी सेनाका व्यवस्थितरूपसे संचालन भी करते थे। उस अवसर पर उनके सैन्य संचालनकी निपुणता और पराक्रमको देखकर इन्द्रके पुत्र (अर्जुन) का स्मरण हो आता था। ५९ ६० ६१

सेना सौन्दर्य

अपने पूरे राष्ट्रको पार करके गन्तव्य राष्ट्रमें पहुंच जानेपर महाराज देवसेनने विश्राम करनेके लिए एक स्थानपर अपनी सेनाको रोक दिया था। महाराज धर्मसेनको इस समाचारसे अभिज्ञ करनेके अभिप्रायसे कि 'ललितेश्वर आपकी आज्ञाके अनुसार बड़ी तीव्र-गतिसे प्रयाण करते हुए आपके निकट आ पहुंचे हैं।' सार्थपति सागरवृद्धिको उत्तमपुरके सैनिक आवास पर भेजा था। महाराज देवसेनने सेठ सागरवृद्धिको जो सन्देश दिया था उसके प्रधान तथा अप्रधान प्रयोजनको किस प्रकार उत्तमपुराधिपके समक्ष उपस्थित करना होगा, इस सबको कुशल वक्ता सेठने अपने मन ही मन निश्चित कर लिया था तथा उसकी पुनरावृत्ति करता जाता था। उत्तमपुरके स्कन्धावारमें पहुंचकर वह विनय-पूर्वक महाराज धर्मसेनके सामने उपस्थित हुए थे। उनके पुरुषार्थको बुढ़ापा भी न डिगा सका था तथा उनके सामने उपस्थित होकर अपने नृपतिका पूराका पूरा सन्देश सुना दिया था। ६२ ६३

आगमन सन्देश

सार्थपति सागरवृद्धिके मुखसे ललितपुराधिपति महाराज देवसेनके आगमनके शुभ संवादको सुनते ही महाराज धर्मसेनने उन्हें आया ही समझ लिया था। उत्तमपुरेशको मन ही मन यह दृढ़ विश्वास भी हो गया था कि शत्रुकी पराजय तथा मेरी विजय होना अवश्यंभावी है। उनके हर्षकी सीमा न थी, हर्षातिरेकसे उनका मुखारविन्द विकसित हो उठा था, आनन्दजन्य रोमाञ्चसे उनकी पूरी देह कंटकित हो गयी थी। सबसे पहिले उन्होंने ललितेश्वरकी कुशल क्षेम पूछी थी, फिर क्रमशः सुयात्राके विषयमें पूछ चुकनेके बाद उनकी सैनाके विषयमें जिज्ञासा की थी। ६४ ६५

लोकाचारज्ञता

'हे सार्थपते! मेरा मन सैन्य सम्बन्धी विगतको जाननेके लिए उत्सुक है अतएव बताओ कि महाराजकी मदोन्मत्त गजसेनाका प्रमाण क्या है, अश्वारोही सेना कितनी है, तथा पैदल सेनाकी संख्या क्या है। इस सेनाका संचालन करनेवाले नायकोंका प्रमाण कितना है। ६६

ललितेश्वरके साथ कितने कुशल मंत्री आये हैं। इन सबके अतिरिक्त साथ आनेवाले मित्रों

६७ सैन्य जिज्ञासा

तथा प्रियजनोंका क्या प्रमाण है। महाराज धर्मसेनके द्वारा पूछे गये समस्त प्रश्नोंका उत्तर देते हुए महामति सेठ सागरवृद्धिने अपने नृपतिके सपक्षी राजाओं, चतुरंग सेनाकी स्थिति तथा पुरुषार्थ आदिको विगतवार बता दिया था। इतना ही नहीं, महाराजका उत्साह बढ़ानेके अभिप्रायसे उन्होंने शीघ्रतापूर्वक युवराज वरांगके समस्त पराक्रमों को भी कह सुनाया था जो कि उन्होंमे अनेक युद्धोंमें प्रदर्शित किये थे।

६८ हे सार्थपति आपने जो यह सब भली भांति वर्णन किया है, आपके वचन हृदयको बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट कर रहे हैं। कानोंको तो यह शब्द अमृतके समान हैं। मैं यह

उद्रिक्त पितृत्व

सब तो पहिले ही से जानता हूं, केवल इतना ही जानना चाहता हूं कि जिस वरांगके विषयमें आपने यह सब कहा है वह रंगरूपमें कैसा है ?'

६९ इस प्रश्नके उत्तरमें सेठ सागरवृद्धिने इतना ही कहा था—'हे महाराज उठने, बैठने, बोलने, चलने, कान्ति, रंग तथा पराक्रममें सर्वथा आपके ही समान है। हे महाराज ! वह आपका ही ज्येष्ठ पुत्र है। अप्रतिमल्ल हाथीके कारण मथुराधिपके साथ जो प्रसिद्ध रण कुछ दिन पहिले

७० ही हुआ था, उस रणको जीतनेवाला भी वही है।' नदियोंके नाथ सागर-सहितवृद्धि नामधारी (सागरवृद्धि) के द्वारा कहे गये इन वचनोंको सुनकर ही महाराज धर्मसेनका वियोगवह्निमें तपता हुआ हृदय शान्त हो गया था। परिपूर्ण राजसभामें ही उन्होंने अपने शरीरसे कटक, कुण्डल, उत्तम मणिमयहार आदि अनेक आभूषण उतार कर सेठ सागरवृद्धिको भेंट करके उनका बड़ा सत्कार किया था।

७१ बहुत समयसे खोये हुए पुत्रके समाचार ही नहीं अपितु उसके अभ्युदयकी कथा सुनकर महाराज धर्मसेनके नेत्रकमल विकसित ही न उठे थे अपितु रागकी अधिकतासे चंचल हो गये थे। पुत्रको देखनेकी उत्कट इच्छाके कारण वे अपनी विशाल चतुरंग सेनाको साथ

७२ 'मृतोत्पन्नस्तु किं पुनः'

लेकर बड़े वेगके साथ उससे मिलनेको चल दिये थे। महाराज धर्मसेनका आत्मा पुत्रको चिरकाल बाद देखनेकी आकांक्षाकी आशासे बिल्कुल हरा-भरा हो गया था। वे मार्ग चलते जाते थे और युवराज वरांगके विषयमें ही बात करते जाते थे, युवराजके प्रति उन्हें इतना आदर तथा स्नेह था कि मार्गकी कठिनाइयों

७३ तथा परिश्रमका उन्हें पता भी न लगा था। जब महाराज धर्मसेन निकट पहुंचे तो महाराज देवसेन स्वागतके लिए दुन्दुभि, शंख, आदि बाजोंको जोरोंसे बजवाते हुए उनकी अगवानीको आये थे तथा उनके समक्ष पहुंचते ही युवराज वरांगके साथ ललितेश्वर अपने भगिनी पति

७४ राजाके चरणोंमें आदर और प्रसन्नतापूर्वक झुक गये थे। महाराज धर्मसेनके पीनपुष्ट भुजदण्ड कुलीन रानियोंके स्तनरूपी उन कलियोंको मरोड़नेके आदी थे जिन पर भली भांति पीसे गये श्रेष्ठ चन्दनका सुन्दर लेप लगा रहता था। इन्हीं भुजाओंको फैलाकर उन्होंने अपने साले तथा पुत्रका जोरोंसे आलिंगन किया था।

७५ अत्यन्त दीर्घ अन्तरालके बाद अपने प्रिय साले तथा सदाके लिए खोये हुए ज्येष्ठ प्रिय

आत्मीय मिलन

पुत्रको देखकर ही महाराज धर्मसेनको ऐसा आभास हुआ था कि 'आज मैंने उस विशाल पृथ्वीको पूर्णरूपसे जीत लिया है जिसकी मेखला लवण महासमुद्र है।' फलतः इस उद्गारको भी उन्होंने स्पष्ट भाषामें व्यक्त कर दिया था।

दोनों ही राजाओंके मनोंमें अमर्याद हर्ष सागर उमड़ रहा था। वे दोनों अपने समान शील, वंय आदि स्नेही तथा अनुकूल लोगोंसे घिरे हुए थे। उस समय उनके सुनने और कहने योग्य एक वरांगकी ही कथा रह गयी थी। वह पूराका पूरा दिन उसी कथाको कहते सुनते बीत गया था तथा दोनोंकी उत्कण्ठाएं और दुख शान्त हो गये थे। महाराज धर्मसेनने संध्यासमय कुमार वरांगको आज्ञा दी थी 'हे वत्स! रात्रिके आरामसे बीतनेपर ज्योंही सूर्य उदयाचल पर आनेको हों तुम शीघ्रतासे प्रातःकालीन मंगल विधिको समाप्त कर लेना तथा तुरन्त ही राजधानीको प्रस्थान कर देना। नगरमें प्रवेश करके सबसे पहिले अपनी माताजीके दर्शन करना।' ७६ ७७

युवराज वरांग स्वभावसे ही दारुण योद्धा थे अतएव महाराजकी उक्त आज्ञाको सुनकर उन्होंने यही निवेदन किया था 'हे नाथ! जो शत्रु अतिथि युद्ध करनेके लिए आया है, पहिले मैं उसका दारुण शस्त्रास्त्रोंकी मारसे तर्पण करूंगा। इस विधिसे जब उसका स्वागत हो लेगा तो उसके बाद ही मैं राजधानीमें प्रवेश करूंगा। सुषेणके विजेता वकुलेश्वरको जब अपने ७८ ७९

शत्रुमर्दनका संकल्प

गुप्तचरोंके द्वारा महाराज देवसेनके आ पहुंचने, दोनों सेनाओंकी विशालता तथा इन सबसे भी बढ़कर युवराज वरांगके अनुपम रणकौशलका पता लगा तो वह केवल नीतिके कारण ही नहीं अपितु किसी हद तक भयसे व्याकुल होकर अपने देशको उसी प्रकार लौट भागा था जिस प्रकार न्यगपकी तीक्ष्ण गन्धके नाकमें

शत्रु पलायन

पहुंचते ही मदोन्मत्त हाथी भाग खड़ा होता है। महाराज धर्मसेनके सच्चे आज्ञाकारी तथा कुशल गुप्तचर बकुलराजके सैन्य आदि बल तथा उसके छिद्रोंको देखने गये थे। किन्तु जब उन्हें उक्त शत्रुके पलायनका पता लगा तो वे महाराजको शीघ्र समाचार देनेके लिए उतावले हो उठे थे। फलतः शीघ्र ही लौटकर उन्होने महाराजको उक्त समाचार दिया था। शत्रुपक्षका इस सरलतासे पराभव हो जानेके कारण महाराजाओंको इतनी अधिक प्रसन्नता हुई थी कि उनके मुख कमल अनायास ही विकसित हो उठे थे। उनकी आज्ञासे तुरन्त विशाल विजय दुन्दुभियां बजने लगी थीं। ऐसा मालूम होता था कि वर्षाऋतुके प्रारम्भ होनेपर मेघ ही कठोरतासे गरज रहे थे। युवराज वरांग अपनी शिक्षा तथा स्वभावसे समस्त गुणोंके आगार थे। उस समय उनका तेज उदीयमान बालरविके समान अनुरक्त (दो अर्थ है—थोड़ा लाल और आकर्षक) तथा वर्द्धमान था, सारा शरीर अनवद्य यौवनके उभारसे आप्लावित था, अपने गुणोंके कारण वे भुवन-वल्लभ थे, सारी पृथ्वीके एकमात्र पालक थे, तथा जनसाधारण उन्हें अपने सगे बन्धुकी तरह मानता था। जिस समय वह राजसभामें पिताके पास बैठे थे उस समय पिता, मामा, महामंत्री आदि गुरुजनोंने आग्रह पूर्वक कहा था 'हे वत्स! इस विशाल राज्यके भरणपोषणके भारको जिसे अबतक वृद्ध महाराज ढोते आये हैं अब तुम धारण करो, चुपचाप स्वीकार कर लो और कुछ मत कहो। ८० ८१ ८२ ८३ ८४

वह अपने मनमें कुछ और ही सोचता था किन्तु उसे इसीलिए नहीं कह सकता था कि कहीं पिता आदि पूज्य पुरुष उसे विपरीत वचन न समझ लें। अतएव वह उन्हें अपने निश्चयको कार्यान्वित करनेसे भी नहीं रोक सकता था। फल यह हुआ कि सब राजाओंने

राज्याभिषेक

मिलकर उसपर नृपत्वके भारको लाद दिया था। मेघमालाके फट जाने पर पूर्णचन्द्रकी जो अनुपम कान्ति होती है, युवराज वरांगकी भी उस समय वही शोभा थी। सोने तथा चांदीके तीर्थ जलपूर्ण घटोंके द्वारा उसका राज्याभिषेक हुआ ८५

था, वक्षस्थल तथा कटिप्रदेश पर राजपट्ट शोभा दे रहा था, मस्तक पर मुकुट जगमगा रहा
८६ था तथा उसके ऊपर निर्मल, धवल तथा चंचल चमर ढुर रहे थे। मदोन्मत्त हाथीके ऊपर
आरूढ़ होकर जब वह राजधानीकी ओर चला तो उसके चारों ओर अनेक राजा लोग चल
रहे थे, ऊँचे-ऊँचे केतु लहरा रहे थे तथा ध्वजाओंकी शोभा भी अनुपम थी अतएव उसने
८७ देवराज इन्द्रके समान उत्तमपुरमें प्रवेश किया था। नगरमें ऊंचे-ऊंचे विशाल-महलोंकी छतों
पर कुलीन बधुएं बैठी थीं उनके निर्विकार सुन्दर चंचल नेत्रोंके समूहको अपनी लीला व अन्य
गुणोंके द्वारा धीरे-धीरे अपनी ओर आकृष्ट करता हुआ वह पुण्यात्मा पुरुष धीरे-धीरे अपने
राजमहलकी ओर चला जा रहा था।

८८ उत्तमपुरके राजमहलके गोपुरमें अत्यन्त उन्नत स्वर्णमय द्वार थे, उसके ऊपर बने हुए
आकाशचुम्बी शिखरोंके कलशोंकी कान्ति तथा द्युति अद्भुत थी। ऐसे विशाल राजप्रासादमें
प्रवेश करते हुए कुमार वरांगकी शोभा मेघोंकी घटामें घुसते हुए निर्मल पूर्णचन्द्रकी कान्तिकी
८९ समानता करती थी। युवराज वरांगकी अनुपमा आदि पत्नियां कुलीन

राजभवन प्रवेश

कन्याएं तथा बधुएं थीं अतएव ज्योंही उन चन्द्रमुखियोंने जोरोंसे बजते
हुए मांगलिक बाजोंके शोरके बीचमें मनोरमाके साथ अपने प्राणपतिको प्रवेश करते देखा
त्योंही वे सब कुलनन्दनियां स्वयं आनन्दविभोर हो उठी थीं।

९० हर्षातिरेकके कारण उन्मत्त युवराज वरांग हाथ जोड़े हुए विनयपूर्वक माताके सामने
जा पहुंचे थे और उनके चरणोंमें झुक गये थे। वह माता भी क्या थी? उत्तमपुरके राज-
वंशकी साक्षात् गृहलक्ष्मी थी। बहिनोंने जब भाईको देखा तो उनके मुख विकसित कमलोंके
९१ समान चमक उठे थे, युवराज वरांग अत्यन्त विनम्र पुरुषकी भांति प्रत्येक बहिनके पास गये
थे और उनके चरण छूकर स्नेह प्रकट किया था। वहीं पर लज्जा और प्रेमके

मातृभक्त

भारसे झुकी हुई अनुपमा आदि प्राणाधिकाएं खड़ी थीं, उसने उनकी तरफ
सहानुभूति तथा प्रेमपूर्वक देखा था क्योंकि वे सब उसके हृदयमें विराजमान थीं, किन्तु प्रकट
रूपसे वह उनके विषयमें वहां न पूछ सका था। इसके उपरान्त कुछ समय तक वह अपने
पराक्रमकी रुचिकर बातोंको करता हुआ वहीं बैठा रहा था, क्योंकि शत्रु सेनाका सदाके लिए
तिरस्कार हो जानेके कारण उसका चित्त निश्चिन्त हो गया था।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें स्वजन समागम नाम
विंशतितम् सर्ग समाप्त।

एकविंश सर्ग

१

अधम कुमंत्रियोंकी सम्मतिको मानकर तथा पूर्वजन्ममें किये गये अपने कुकर्मोंके फलके उदयमें आनेपर पहिले जिस वरांगको व्याघ्र, सांप, मृग आदि जंगली पशुओंके रहने योग्य भीषण वनमें निवास ही नहीं करना पड़ा था अपितु एक क्षणको भी विश्राम पाये विना अनेक दुखोंको निरन्तर सहना पड़ा था। उसी राजपुत्र वरांगके पूर्वोपार्जित पुण्यमय कर्मोंका जब परिपाक हो गया और शुभ उदय हुआ तो उसे सागरवृद्धि आदि विश्वसनीय तथा हितैषी पुरुषोंका समागम प्राप्त हुआ था, उसको क्रमशः सब प्रकारकी कल्याणकर लक्ष्मी प्राप्त हो गयी थी। इतना ही नहीं वह अपने स्नेही बन्धु-बान्धवों मित्रों तथा प्रियजनोंके साथ सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा था। इस मनुष्य योनिमें जीवपर बड़ी विपत्तियां पड़ती हैं, घोर संकट आ घेरते हैं, विपुल सम्पदाओंका भी समागम होता है, कभी-कभी ऐसी भी प्रवृत्तियां होती हैं जिनका फल मिले हुए सुख-दुख होते हैं। कभी वियोग है तो कभी संयोग है, एक समय समृद्धि है तो दूसरे ही क्षण सर्वतोमुख हानि भी है। किन्तु जो सज्जन प्राणी श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट मार्गका अनुसरण करते हैं, तीनों लोकोंमें क्या सार है इसे भलीभांति जानते हैं, जिनका आचार-विचार उदार है, शुद्धियुक्त मार्गकी आराधना करते हैं तथा निर्दुष्ट आचरणका पालन करते हैं, वे ही महापुरुष इस भव तथा परभवमें, निश्चयसे सुख प्राप्त करते हैं।

'अहोकर्म विचित्रता'

२ ३ ४

एक दिन ललितेश्वर देवसेन महाराज धर्मसेनके पास पहुंचे, इनकी सम्पत्ति तथा शोभा दिन-दूनी व रात-चौगुनी बढ़ रही थी। उस समय वे सुखके साथ निश्चिन्त बैठे थे। उनके सामने आदरपूर्वक उपस्थित होकर ललितेश्वरने अपनी राजधानीको लौट जानेकी अभिलाषाको प्रकट किया था, क्योंकि जिस कार्यके प्रसंगसे वे आये थे वह भी समाप्त हो चुका था। सिंहके समान पराक्रमी तथा मदोन्मत्त गजके तुल्य धीर गम्भीर-गामी महाराज देवसेन कुछ समय तक लोक-व्यवहार तथा शिष्टाचारके विषयमें सोचते रहे थे इसके उपरान्त कुछ निर्णय करके उन्होंने साले तथा समधी ललितेश्वरकी, सम्मान, भेंट तथा अन्य सत्कार के योग्य उपायों के द्वारा वैभवपूर्वक पूजाकी थी और इस उत्सवके पूर्ण होते ही उन्हें विदा कर दिया था। महाराज देवसेनने भी पत्नीरूपसे संसारके प्रवर्तन, स्थिति तथा सदाचारकी मूलभूत अपनी दोनों राजदुलारियोंकी बहिन महारानी गुणवतीकी सेवामें अर्पण करके तथा समस्त शत्रु-मण्डलको निर्मूल करनेवाले सुयोग्य दमादसे विदा लेकर विशाल वैभव और प्रतापके साथ अपने देशको प्रयाण किया था।

सम्बन्धी-विदा

५ ६ ७ ८

महाप्रतापी ससुर ललितेश्वरके चले जाने पर राजा वरांग अपनी पत्नियोंसे मिलकर, माता-पिताकी स्नेहधारामें आलोडन करके तथा बन्धु-मित्रो से घिरा रहकर उत्तमपुरमें आनन्द करता था। तब तक उसकी थकान दूर हो चुकी थी। उसके पराक्रमकी ख्याति समस्त

९ दिशाओंमें व्याप्त हो चुकी थी। यह वरांगनामधारी प्रतापी राजा नीति तथा धर्म-शास्त्रके मार्गके अनुसार पृथ्वीका शासन करता था। उसके न्यायमय राज्यमें सुषेणकी माता तथा उनका प्रधान सहायक कपटी मंत्री यह तीनों ही देशमें शान्त और सुखी न थे, क्योंकि इन लोगोंने अकारण ही राजा वरांगके प्रति घोर

न्याय-निपुण राज

१० अपराध किया था। वे लोग कहते थे कि अनुपम पराक्रमी तथा असह्य तेजस्वी राजा वरांगके धैर्यको धन्य है, तथा उसकी क्षमाशक्ति और गम्भीरताका तो कहना ही क्या है। पूर्ण प्रभुत्वको प्राप्त करके भी हम सुनिश्चित अपराधियों पर करुणाभाव ही दिखाता है, और तो और हम सब दुरात्माओंको सुखपूर्वक रहने दे रहा है।

११ इस समय वृथाभिमानको छोड़कर हम लोगोंको उससे क्षमा-याचना करनी चाहिये और दर्शन करने चलना ही चाहिये।' मंत्री रानी ओर सुषेण दोनोंको कहता था 'देखो तुम दोनोंने उस समय भी मेरी सुविचारित प्रथम सम्मति को नहीं माना था—सो उसका फल सामने है। मैं इस समय भी जो कुछ कह रहा हूं वही सर्वथा उपयुक्त है यदि तुम दोनोंको भी मान्य है तो विनम्रता पूर्वक इसे विचार कर

हृदय परिवर्तन

१२ लो।' इस प्रकार आपसमें हित और अहितके विषयमें मतविनिमय करनेके बाद उन तीनोंने यही निर्णय किया था कि नूतन राजाके सामने नत हो जाना ही उनके लिए एकमात्र प्रशस्त उपाय था। तो भी उनका अपराध उन्हें भयाक्रान्त कर देता था जिससे उनके शरीर कांपने लगते थे, इसी अवस्थामें वे लोग एकान्त स्थानपर विराजमान राजा वरांगकी सेवामें उपस्थित हुए थे।

१३ हे प्रभो! आपने मनसे भी हमारा कभी कुछ न विगाड़ा था, तो भी नीच-कार्य करनेमें कुशल हम दुरात्माओंने आपके प्रति महान् नीच अपराध किया है। किन्तु हम जीवित रहना चाहते हैं, इसी आशासे हम आपकी शरणमें आये हैं, हे नाथ! इस समय हम पतितोंपर दया करिये और क्षमा करके प्रसन्न होइये।

क्षमा-याचना

१४ राजा वरांगने जब अपनी सौतेली माताको आती देखा तो 'आप इस प्रकार अनुचित विनय न करें' इन शब्दोंकी आवृत्ति करते हुए आसन छोड़कर उसका स्वागत करते हुए मस्तक झुकाकर प्रणाम किया था। सुषेणपर अपना बन्धु-स्नेह प्रकट करनेकी अभिलाषासे उसके शिर, पीठ आदि अंगोंको हाथसे थप-थपाकर तथा कूटनीतिज्ञ मंत्रीको 'आप किसी भी रूपसे भय न करें' कहकर धैर्य बंधाया था।

क्षमा वीरस्य भूषणं

१५ जिन लोगोंने इस धरापर मेरे विरुद्ध आचरण किया है, अथवा मुझसे संग्राम करनेका दुस्साहस किया है मैं भी उन सबको चुन-चुनकर यमके नगरमें भेज देता हूं। किन्तु जो मेरी आज्ञानुसार आचरण करते हैं मैं प्रत्येक दृष्टिकोणसे उनका पालन-पोषण करता हूं।' बस यह मेरी बड़ी भारी दृढ़ प्रतिज्ञा है।

नीति-घोषणा

१६ जो साधु स्वभावी पुरुष उन व्यक्तियोंको भी क्षमा कर देते हैं जिन्होंने उनके प्रति अक्षम्य अपराध किये थे, उन सज्जन प्राणियोंको ही विवेकी महानुभाव क्षमाशील कहते हैं। किन्तु घातक अपराध करनेवालोंके साथ भी जो विशेष व्यवहार इसलिए किया जाता है कि वे अपराधी अनेक

१७ गुणों और कलाओंके भंडार हैं, ऐसी क्षमाको तो दैवकृत क्षमा ही समझना चाहिये।'

युवराज वरांगके नीतिपूर्ण उदार वाक्योंरूपी चन्दन-जलकी बूंदोंसे सुषेण-माता, सुषेण तथा धीवरमंत्री इन तीनोंके मन अत्यन्त शीतल हो गये थे, उनके मुख कमल हर्षातिरेक के कारण विकसित हो उठे थे। इसके अतिरिक्त उनकी अनिष्ट की आशंका तथा शोक समूल नष्ट हो गये थे। वे सब निश्चिन्त होकर अपने-अपने महलों को लौट गये थे।

युवराजके अनुपम क्षमाभावने सुषेण आदि तीनों के हृदयों को मैत्रीभावसे रंग दिया था। जब वे भी युवराज वरांगको अपना सच्चा हितैषी मानते हुए लौट गये थे। तो वह अपने धर्मपिता सेठ सागरवृद्धिके साथ आगे करणीय विशेष कार्योंके विषयमें मतविनिमय करनेके लिए अपने पिता महाराज धर्मसेनके पास गया था। कारण, वही उसके वीरोचित कार्य करनेका समय था क्योंकि उस समय उसके प्रताप, नीतिनिपुणता, कीर्ति तथा सैन्य, मंत्र, आदि शक्तियां अपने मध्याह्नको प्राप्त हो चुकी थीं। विशाल तथा विस्तृत लक्ष्मीके अधिपति पिताके समक्ष युवराज वरांग शास्त्रोक्त मर्यादा तथा शिष्टाचार पूर्वक उपस्थित हुए थे। वहां पहुंचकर उनके चरणोंमें प्रणाम करके उचित आसनपर बैठ गये थे और मन ही मन करणीय कार्योंके महत्त्वके विषयमें ऊहापोह करते रहे थे। जब महाराज अन्य कार्योंसे निवृत्त हो गये थे तब उन्होंने धीरे-धीरे अपने कार्यके विषयमें निवेदन किया था। १८ १९

पुरुषार्थ निश्चय

हे महाराज! अपने पूर्वजोंके समयसे चले आये इस उत्तमपुर राज्यपर आपके श्री चरणोंका शासन है ही। मेरे सौतेले भाई सुषेणका भी आधे राज्यपर जन्मसिद्ध अधिकार है इसके सिवा आप सब लोगोंके गुरुचरणोंने मुझे भी इस पदपर नियुक्त कर दिया है। इस प्रकार वर्तमानमें तीन राजा यहां वर्तमान हैं। अब आप ही बतावें कि एक ही नगरमें तीन राजा एक साथ कैसे रह सकते हैं। हे जनक! यदि आपकी आज्ञा हो तो आपके श्रीचरणोंके प्रसादसे मैं अपने राज्य भागमें वर्तमानमें मनुष्योंकी वस्तियोंसे सर्वथा रहित वनको ही लेकर वहां पर नये नगरोंको बसाऊंगा। यदि आपका मुझपर सत्य स्नेह है तो मुझको जानेकी आज्ञा दीजिये, किसी भी कारणसे मुझको रोकिये मत। २० २१

युक्तिसंगत प्रश्न

पुरुषार्थी पुरुषसिंह के लिए सर्वथा उपयुक्त पुत्रके वचनोंको सुनकर महाराज धर्मसेनने जो उत्तर दिया था उसका एक-एक शब्द हृदयमें घर कर लेता था 'हे पुत्र वास्तवमें तुम ही मेरे पुत्र कहे जा सकते हो, वृद्धावस्थामें मुझे तुम्हारा ही सहारा है और तुम्हीं मेरे जीवनके अन्तिम दिनोंका भलीभांति निर्वाह कर सकते हो। इन सब कारणोंसे मुझे छोड़कर कहीं और चला जाना तुम्हें शोभा नहीं देता हैं।' पूज्य पिताके हृदयसे निकले शब्दोंको सुनकर युवराज वरांगने इतना ही कहा था 'महाराज! मुझे ज्ञात है कि आप मुझपर कितना अधिक स्नेह करते हैं। तो भी मेरी बुद्धि रह-रहकर इसी दिशामें जाती है। अतएव आपसे निवेदन है कि आप मुझे नूतन देशोंको जीतनेकी आज्ञा अवश्य दे दें। २२ २३

पितृ-वात्सल्य

युवराज वरांगके इन वचनोंसे राजाको स्पष्ट आभास मिल गया था कि उनके प्राणप्रिय पुत्रने विजय यात्रापर जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया था। तब उन्होंने प्रकट रूपसे भी कह दिया था, 'हे पुत्र! तुम्हारी राज्य, आदि सब ही लक्ष्मियां दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़ें तथा तुम्हारे समस्त मनोरथ शीघ्रसे शीघ्र २४

दिग्विजय अनुज्ञा

२५ पूर्ण होवे।' आज्ञा मिलते ही युवराज वरांगने चरणोंमें प्रणाम करके अपने धर्मपिता तथा पिता दोनोंसे विदा ली थी। इसके उपरान्त क्रमशः सब ही सगे सम्बन्धियोंसे भेंट करके जानेकी अनुमति प्राप्त की थी।

इस सबसे निवृत्त होकर उसने उन्हीं लोगोंको अपने साथ जानेकी आज्ञा दी थी जो कि प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक उसका साथ देना चाहते थे। जब सब तैयारियां हो चुकीं तो

सहयात्री चयन

२६ बड़े वैभवके साथ उसने उत्तमपुरसे प्रयाण किया था। महाराज धर्मसेनकी आज्ञासे अनुभवी तथा कुशल सेनानायक, योद्धा, मंत्री तथा आगमोंरूपी समुद्रोंके पारंगत असाधारण विद्वान जो कि पुत्रके नूतन राज्यके भारको सहज ही २७ सम्हाल सकते थे, ऐसे यह सब कर्मचारी उसके पीछे पीछे गये थे। श्रेष्ठ मुहूर्त, अनुकूल नक्षत्र और विशेष लग्न आदिको देखकर, प्रभुता और वैभवके अहंकारसे उन्मत शत्रुओंके साक्षात् कालने ही विजय प्रयाण किया था। श्रेष्ठ पुरुषोंके साथ विजयके लिए निकले हुए राजा वरांगका आन्तरिक हर्ष अपने आप बाहर प्रकट हो रहा था, उसके स्वभावसे सुन्दर शरीरकी कान्ति अनुपम थी तथा कमलोंके समान बड़ी-बड़ी आंखें देखते ही बनती थी। वह प्रयाण करता हुआ मणिमन्त पर्वत पर जा पहुंचा था।

२८ सरस्वती नामकी नदी अत्यन्त प्रसिद्ध थी तथा मणियोंकी छटासे प्रकाशमान मणिमन्त महापर्वत भी उस समय सर्वविश्रुत था। इस सरस्वती नदी और मणिमन्त गिरि इन

आनर्तपुरका पुनःस्थापन

दोनोंके बीचमें जो विशाल अन्तराल है उसी भूमिपर प्राचीन २९ समयमें आनर्तपुर बसा हुआ था। पक्षियोंका राजा गरुड जिनका वाहन तथा यमुना नदीमें कूदकर जिन्होंने भीमकाय कालिया नागका वध किया उन्हीं यदुवंश शिरोमणि नारायण श्रीकृष्णजीने आक्रमण करके जिस स्थानपर पहिले युगमें जरासंधका वध किया था तथा विजयोल्लासमें मस्त होकर वहीं पर नृत्य किया था इसी कारण उस स्थान पर ३० बसाये गये नगरका नाम आनर्तपुर पड़ गया था। मृगोंके राजा सिंहके समान पराक्रमी, इन्द्रिय जेता तथा समूल नाश करके शत्रुपक्षके विजेता राजा वरांगका ध्यान जब उक्त इतिहासके ३१ ज्ञाताओंने, उस पौराणिक स्थानकी ओर उसका आकृष्ट किया तो उसने उसे स्वयं देखकर जाना था कि किसी समयकी वह सुसम्पन्न नगरी कालक्रमके अनुसार शत्रु राजाओंके भीषण क्षोभसे उत्पन्न आघातोंके कारण जर्जर होकर मिट्टीमें मिल गयी थी। राजनीति आदि शास्त्रोंके पारंगत तथा सूक्ष्म विचारक अनन्तसेन आदि अनुभवी मंत्री उसके साथ ही थे, अतएव उनके साथ शान्तिपूर्वक परामर्ष करके राजा वरांगने उस स्थानपर पहिलेके ढंगसे ही नगर निर्माण कराया था।

३२ नूतन नगरके बाहरके भागकी शोभा भी अद्भुत ही थी, क्योंकि उसके चारों ओर कृत्रिम तथा अकृत्रिम दोनों प्रकारके पर्वतोंकी शिखरोंकी वाढ़ सी खड़ी थी। तालाब, बावड़ी, बड़ी-बड़ी दीर्घिकाएं तथा छोटे-छोटे जलाशयोंने उस सारे प्रदेशको घेर रखा था, इन जलाशय

नगर वर्णन

आदिमें सुन्दर कमल खिले थे, जिनपर सुन्दर तथा मधुरभाषी हंसोंके ३३ झुंड खेल रहे थे। इस नगरको चारों ओरसे घेरकर खोदी गयी खाई समुद्रके समान गहरी और चौड़ी थी। उस नगरका विशाल प्राकार (परकोटा) पर्वतके समान उन्नत और अभेद्य था। नगरका विशाल तथा उन्नत प्रवेशद्वार तो हिमाचलके उन्नत शिखरका

स्मरण करा देता था। शरद ऋतुमें अत्यन्त निर्मल हुए मेघोंके तुल्य ही उस नगरके गृहोंकी छटा थी। वह नगर विशाल सभास्थलों, पियाउओं, देवालयों तथा शिक्षा आदिके आश्रमोंसे परिपूर्ण था। पूरेका पूरा नगर एक दो नहीं अनेक त्रिकों (तिमुहानी), चौराहों तथा चौपालोंमें बंटा हुआ था। उस नगरके जगद्विख्यात बाजार सदा ही खुले रहते थे। उस नगरकी चर्चा सुननेपर कानोंको संतोष होता था तथा देखनेपर तो आंखें जुड़ा जाती थीं। ३४

आनर्तपुरके बीचोंबीच एक उन्नत स्थान था, जो कि अपनी प्राकृतिक विशेषताओंके कारण नगरकी समस्त बस्तियोंसे अलग ही दिखता था, उसकी शोभा ऐसी अद्भुत थी कि उसके कारण ही वह वीरोंको प्रिय वस्तु हो गया था तथा नगरके किसी भी भागसे वह आसानीसे देखा जा सकता था। इसी स्थानपर सुकुशल अनेक शिल्पियोंने अथक परिश्रम करके विशाल राजमहलको बनाया था जो कि अपनी असीम सम्पत्तिके कारण सुशोभित हो रहा था। निवासगृह, रहोगृह (गुप्त-मंत्रणाका स्थान) दोलागृह, जलगृह, अग्निगृह, शिष्ट पुरुषोंके उपयुक्त मण्डनगृह, नन्दिवर्धन (धर्मोत्सव गृह) महानस (पाकालय) तथा विशाल सभाभवन बने हुए थे। यह सब भवन यथायोग्य रूपसे तीन, पांच, छह, सात, नौ तथा आठ भूमि (मंजिल) युक्त थे। राजमहलमें चारों ओर विशाल गजशाला, अश्वशाला तथा आयुधागारकी पंक्तियां खड़ी थीं। कोशगृह, धान्यगृह, वस्त्रशाला तथा औषधालय विस्तारपूर्वक बनाये गये थे, इन गृहोंमें प्रत्येक वस्तुका तथा उसके भेदोपभेदोंका ख्याल करके अलग-अलग भाग बनाये गये थे। इन सबका आकार तथा माप पूर्णरूपसे वैज्ञानिक था। ३५ ३६ ३७

राजप्रासाद

राजमहलकी उत्तर दिशामें एक विशाल जिनालयकी रचना मणियों और रत्नोंसे की गयी थी। इस जिनालयकी छटा बड़ी ही आकर्षक थी। उसके ऊपर विशाल पताका लहरा रही थी। चारों ओर लगी हुई छोटी-छोटी ध्वजाओंका दृश्य भी अद्भुत था तथा उसके ऊपर बने हुए हजारों शिखरोंने तो पूरेके पूरे आकाशको घेर लिया था। ३८

श्रीदेवालय

राजा वरांगके पूर्व पुण्यके उदयके प्रतापसे जब आनर्तपुरके बसनेका समाचार चारों ओर फैला तो उसे सुनते ही सब दिशाओंसे महासम्पत्तिशाली सज्जन लोग उस नगरको चले आये थे। कुछ समय पहिले सघन हजारों जंगलोंके कारण जिस प्रदेशमेंसे निकलना भी कठिन था, थोड़े समय बाद उसी स्थलकी शोभाको ग्राम, नगर तथा ग्वालोंकी अनेक बस्तियां बढ़ा रही थीं। गहन बनोंके मध्यमें कहीं-कहीं पर तपस्वियोंके आश्रम बने थे। इन आश्रमोंकी कुटियां शिलाओंसे बनी थीं तथा उनके धरातल बढ़िया सुन्दर फर्श करके बनाये गये थे। पर्वतोंके ऊपर राजाकी आज्ञासे हरी भरी समतल भूमियां बनायी गयी थीं जिनकी रमणीयता अलौकिक ही थी। जंगलोंको काटकर विशाल राजमार्ग बनाये गये थे जिनके दोनों ओर वृक्ष खड़े थे। अन्य स्थलों पर सुन्दर जलाशयोंके चारों ओर मनोहर लताएं फूल रही थीं। ३९ ४०

पुण्य-प्रताप

कहीं पर गोधूम (गेहूं) अतसी, तिल तथा जौके खेत खड़े थे, इनके आस-पास ही खलिहान (केदार) थे जिन्में पक जाने पर कटा हुआ धान इकट्ठा किया गया था, दूसरी ओर धानके खेतोंकी पंक्तियां लहलहा रही थीं तथा अन्य ओर मधुर आमोंके कोमल ४१

४२ वन खड़े हुए थे। विशाल जलाशयोंमें कमल खिले थे उनके बड़े-बड़े सुन्दर पत्ते पूरेके पूरे तालावोंको ढककर उनकी शोभाको अन्तिम उत्कर्ष तक ले गये थे। फलतः जलाशयोंको देखनेपर ऐसा मालूम होता था कि वे अपनी उक्त सम्पत्ति के द्वारा धानके खेतोंकी हंसी कर रहे हैं। फल सम्पत्तिके भारसे झुके हुए धानके पौधे ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो लज्जासे उन्होंने अपने शिरको ही झुका लिया है।

नगर समृद्धि

४३ कहींपर कुल ललनाएं कुमुद तथा कमलोंके द्वारा कलशोंके मुखोंको ढककर इसीलिए जल भरकर ले जा रही थी कि देखनेवालोंको भी शकुन हो जाये। उनके सुन्दर नेत्र कमलोंके समान बड़े-बड़े थे, कुटिल भ्रकुटियों तथा उन्नत स्तनोंकी रूपलक्ष्मी तो देखते ही बनती थी।

४४ ऐसा असीम सौन्दर्य होनेपर भी वे शृङ्गार भी किये थीं। सोने तथा मोती मूंगाके आभूषणोंसे भूषित वे सुकुमारियां मार्ग चलते-चलते थक जाती थीं फलतः आपसमें सहारा लेनेकी इच्छासे वे गलेमें हाथ डालकर चली जाती थीं। हजारों ग्रामोंको देखते हुए घूमनेवाले कुर्कुट (पत्नी-पुरुष) एक दूसरेको देखनेकी अभिलाषासे ही आसपासके अपने स्थानोंको छोड़कर वहां जा पहुंचे थे।

श्रमिक नागरिक

४५ आनर्तपुर सब प्रकारके उपद्रवोंसे परे था, किसी अनुचित भयको वहां स्थान न था, व्यसन आदि दोषोंमें फसनेकी आशंका न थी। वहां पर सदा ही दान महोत्सव, मान सत्कार तथा विविध उत्सव चलते रहते थे। भोग तथा परिभोगकी प्रचुर सामग्री प्राप्त थी, सम्पत्तिकी तो कोई सीमा ही न थी। इन सब सुविधाओंके कारण वहांके निवासी अपने जन्मको सफल समझते थे।

ईतभीति नहिं व्यापे

४६ आनर्तपुरके निवासियोंको किसी भी प्रकारके सुखों और भोगोंकी कमी न थी, अतएव वे सब कुरुक्षेत्र (भोग-भूमि) के पुरुषोंके समान हृष्ट,पुष्ट तथा सुन्दर थे। उनकी सम्पत्ति खानोंसे निकलनेवाली वस्तुओंके समान दिन-दूनी और रात-चौगुनी बढ़ती थी। वे सबके सब दानशील, सत्कार परायण तथा शान्त स्वभावी थे। नगर-निवासियोंकी इन विशेषताओंके कारण वह नगर

धार्मिक राजाका सम्पन्न राज्य

४७ पूर्णरूपसे विदेह देशके समान था। कृषकों, ग्वालों आदिकी छोटी-छोटी वस्तियां राजा वरांगके उस नूतन राज्यमें ग्रामोंकी समानता करती थीं। धन-जनसे परिपूर्ण ग्राम भी नगर-तुल्य हो गये थे। और नगरका तो कहना ही क्या, वह अपनी सम्पन्नताके कारण वज्रधारी

४८ इन्द्रकी अलकापुरीका भी उपहास करता था। इन सब सम्पत्तियोंसे घिरा हुआ राजा वरांग मूर्तिमान इन्द्रके सदृश था। नूतन राजाके राज्यके नगरों, आकरों (औद्योगिक नगरों) ग्रामों, मडंब तथा जलमार्गोंपर बसे पत्तनोंमें जितने भी नागरिक रहते थे, उस समस्त जनताकी क्रमशः सर्वतोमुखी प्रगति हो रही थी। अथवा यों कह सकते हैं कि राजा वरांग; पूर्वभावोंमें आचरित अपने शुभ कर्मोके फलोन्मुख होनेके कारण उक्त प्रकारकी समृद्धिका मूल हेतु होकर विशाल

४९ आनन्दका उपभोग कर रहा था। प्रवल पुरुषार्थी राजा वरांग केवल देश वसा कर ही संतुष्ट न हो गया था अपितु उसने समुद्ररूपी मेखलासे घिरी हुई विशाल भूमिको भी जीता था। उसके यशके विशाल विस्तारने सारे आकाशको व्याप्त कर लिया था। वह स्वयं इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सुन्दर था तथा उसका विपुल वैभव भी उसे इन्द्रके समान वनाता था।

७५ राजा वरांगने जिन-जिन कार्योंके करनेका निश्चय किया था उन्हें पूरा कर चुके

थे। अतएव एक दिन सुखपूर्वक प्रखर प्रतिभाशाली मंत्रियोंके साथ बैठे हुए मन ही मन उन सब उपकारोंको सोच रहे थे जो उनके ऊपर सेठ सागरवृद्धिने किये थे। उन सबका ध्यान आते ही कृतज्ञता ज्ञापन करनेके एक अवसरको सामने देखकर वे आनन्दसे खिल उठे थे और उन्होने मंत्रियोंकी सम्मतिपूर्वक सार्थपतिके राज्याभिषेककी आज्ञा दी थी। राजाके उदारतापूर्ण प्रस्तावको सुनते ही सार्थपति ५१ सागरवृद्धि सरलतापूर्वक यह समझ सके थे कि बुद्धिके अवतार राजा वरांगका उनपर कितना अधिक अनुग्रह था। किन्तु वे यह भी जानते थे कि वणिक् होनेके कारण वे राज्य-लक्ष्मीके उपयुक्त नहीं हैं, इसी विचारको ठीक समझते हुए उन्होने राजाको उत्तर दिया था।

उपकारसे अनूर्णता

'हे राजन्! मेरे वंशमें उत्पन्न हुए मेरे किन्हीं भी पूर्वजोंने इसके पहिले कभी भी राज्या- ५२ भिषेक करानेके सौभाग्यको प्राप्त नहीं किया है। अतएव मेरे कुलमें अनादि कालसे जो परम्परा चली आ रही है उसे त्याग कर मेरी पीढ़ी अर्थात् मैं किसी नूतन मार्ग (राजा होकर) से चलूं यह मुझे किसी भी अवस्थामें शोभा नहीं देता है।' सार्थपति सागरवृद्धिके इस ५३ बुद्धिसत्तापूर्ण उत्तरको सुनकर राजा वरांगने आग्रह पूर्वक यही निवेदन किया था 'आप इस विषयमें और अधिक कुछ भी न कहें। थोड़ा सोचिये, जिसका लड़का सर्वमान्य राजा है उसका पिता वणिक है, इस बातको जो भी इस पृथ्वीपर सुनेगा वही जी भरके हंसेगा। क्या आप इस ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं।' इस प्रकार निवेदन करनेके पश्चात् राजा वरांगने ५४ सेठ सागरवृद्धिके विरोधका विचार न करके बलपूर्वक, असीम ऋद्धिसे परिपूर्ण, निर्मल धवल छत्र, चंचल चमर तथा उन्नत महार्घ आसनयुक्त राज्यपदको उन्हें समर्पित कर ही दिया था। संस्कारके समय ही यह घोषणा कर दी थी 'श्रीमान् राजा सागरवृद्धि आजसे विदर्भ (वरार) के राजा हुए'।

राजा सागरवृद्धिके नीतिनिपुण ज्येष्ठ पुत्र जिनका शुभनाम धनवृद्धि था, उनको आग्रह ५५ करके कोशल (दक्षिण कोशल, वर्तमान महाकोशल = वरार रहित मध्यप्रान्त) का राज्य दिया था तथा कनिष्ठ पुत्र श्री वसूक्तिको उस कलिंग देशका शासक नियुक्त किया था जो सदा से अपने मत्त हाथियोंके लिए प्रसिद्ध है। महामंत्री अनन्तसेनको राजा वरांगने सुप्रसिद्ध पल्लव- ५६ देशका राजा बनाया था, क्योंकि अपना दृढ़ पराक्रम तथा अटल निश्चय करनेमें सहायक स्थिरबुद्धिके कारण वे इसके लिए सर्वथा उपयुक्त थे।

बन्धु-वत्सलता

विशेष विद्वान् मंत्रिवर देवसेनको उन्होंने काशीके आसपासका राज्य दिया था तथा राज्यभार धारण करनेके लिए सुयोग्य श्री चित्रसेन मंत्रीको उन्होंने विदिशाके सिंहासन पर बैठाया था। श्री अजितसेन मंत्रीको अमातिराष्ट्र (अवन्तिके राष्ट्र ? उज्जैन) का शासन सोंपा था, तथा ५७ मालव नामके सुसम्पन्न देशकी प्रधानता प्रति प्रधानको दी थी। इस प्रकारसे राजा वरांगने अपने बन्धु बान्धव, सुयोग्य शिष्ट पुरुष तथा हितैषी आदि इष्ट पुरुषोंके द्वारा सेवित विशाल धरित्रीको अपने बन्धु-बान्धव तथा प्रेमीजनोंमें उनकी योग्यताके अनुसार बांट दिया था।

अपने लुप्त हो जानेपर युवराज पदपर बैठाये गये राजपुत्र सुषेणको भी वह विशाल ५८ राज्य देना चाहता था किन्तु उसके पास कोई ऐसा देश ही न रह गया था जिसे सुषेणके साथ बाँटता। एक दिन यों ही बैठा हुआ वह इसी समस्याका हल सोच रहा था कि उसे अकस्मात् वकुलेश्वरका स्मरण हो आया, जिसने उसके पीछे उत्तमपुरपर आक्रमण करके उस (वरांग)

५९ के पिताके साथ अक्षम्य अपराध किया था। 'जब मैं उत्तमपुरमें नहीं था उस समय अपनी बढ़ती हुई शक्ति और सम्पत्तिका वकुलेश्वरको इतना अहंकार हो गया था कि वह उसके उन्मादमें अपने आपको अजेय और दुर्दम समझने लगा था। परिणाम यह हुआ कि उसने मेरे पूज्य पिताकी अवहेलना ही नहीं की थी अपितु उत्तमपुर राज्यके काफी बड़े भागको नष्ट कर दिया था, गो धन आदिको लुटवा लिया था तथा चारों ओरसे अपनी

शत्रुमर्दन

६० सेनाके द्वारा घेरकर लड़नेके लिए आ पहुंचा था। यदि आज भी वैसा ही अभिमान है और उसके उन्मादसे उत्पन्न पराक्रमका भी वही हाल है तो दुर्दम वकुलेश्वर मुझसे लड़नेके लिए आनर्तपुरपर अब शीघ्र ही आक्रमण करें। अथवा यदि अब वह प्रभाव नहीं रह गया है तो उनके लिए अब एक ही मार्ग है कि वह शीघ्रसे शीघ्र अपने देशको

६१ छोड़कर वनको चले जांय।' इन शब्दोंको कहते हुए वे अपनी राजसभामें बड़े जोरोंसे गर्जे थे तथा उसी समय वकुलेश्वरको पत्र लिखवाया था जिसमें 'साम' की छाया भी न थी। लेख प्रस्तुत हो जानेपर अपने अत्यन्त विश्वस्त दूतोंको आत्मगौरवके प्रतिष्ठापक वरांगराजने तुरन्त ही वकुलाधिपकी राजधानीको भेज दिया था।

६२ वरांगराजके पत्रको वकुलेश्वरने भलीभांति पढ़ा था किन्तु साम-मय उपायोंसे भी काम चल जायेगा, इसकी उसमें वे कहीं भी छाया तक न पा सके थे। पत्र द्वारा दिये गये शासन; पूर्ण राज्यको छोड़नेके सिवा कोई दूसरा विकल्प ही न था। इसके अतिरिक्त

त्रिभिर्मासैः

जब विद्वान दूतके मुखसे अन्य समाचार सुने तो वकुलेश्वरकी पूरीकी पूरी

६३ राजसभा ही अनागत भयसे कांप उठी थी। इसमें सन्देह नहीं कि उत्तमपुरके अधिपतिके साथ वकुलेश्वरने घातक अपराध किया था, उसकी अपनी सैन्य, कोश, आदि शक्तियां युद्धकर्कश वरांगराजसे लड़ने योग्य न थीं, उसके कोई प्रबल सहायक न होनेसे वह सर्वथा निराश्रय था तथा कोई ऐसी युक्ति न थी जिसके द्वारा उपस्थित संकट टल जाता, इन सब कारणोंसे युद्धके विकल्पको स्वीकार करनेमें वकुलाधिपकी वही अवस्था हो गयी थी जो कि हिरणोंके राजा

६४ सिंहकी गर्जना सुननेपर मदोन्मत्त गजकी हो जाती है। 'जहांतक चतुरंग सेना शक्ति, कोश तथा व्यक्तिगत पराक्रम और उत्साहशक्तिका सम्बन्ध था आनर्तपुराधीश वरांगराज पृथ्वीके सब ही राजाओंसे इतना बड़ा है कि कोई तुलना ही नहीं की जा सकती है। इसके अतिरिक्त वह सब कार्योंमें दक्ष है, विक्रम तो उसका ऐसा है कि संसारकी सारी शक्ति तक उसे नहीं रोक सकती है। कार्य विचारमें दक्ष आप (मंत्री) लोग ही बतावें। इन परिस्थितियोंमें क्या करना सब दृष्टियोंसे उचित होगा।'

६५ वकुलेश्वरके मंत्री अपने स्वामीके लाभ और हानिको साधु रीतिसे विचार कर देखनेमें अत्यन्त कुशल थे, अतएव जब उन्होने विपत्तिमें पड़े अपने राजाके वचनोंको सुना, तो उन्होंने अत्यन्त मनोहर ढंगसे राजाके कल्याणकी बातोको व्यर्थ विस्तारसे

साम ही नीति है

बचाकर गिने चुने शब्दोंमें प्रकट किया था। उनकी सम्मति ऐसी थी

६६ कि उसके आचरणसे स्वकार्यकी सिद्धि हो सकती थी। 'सामनीतिका अनुसरण करके कार्यको सिद्ध कर लेना सब दृष्टियोंसे सुखकर होता है। यदि शम संभव न हो तो 'दान' उपायका आश्रय लेना चाहिये, यद्यपि इसके द्वारा प्राप्त की गयी सफलता मध्यम ही होती है। भेद तथा दण्ड ये दोनों उपाय अभीष्ट नहीं हैं कारण, इनका अवश्यंभावी परिणाम मृत्यु और नाश

होता है। यही चार ढंग हैं जो कि इस संसारमें पृथ्वीकी रक्षा कर सकते हैं। अतएव हे महाराज! हमारी यही सम्मति है कि श्रेष्ठ गुणोंसे अलंकृत राजपुत्री मनोहराको शास्त्रानुकूल विधिसे आनर्तपुरेश्वर वरांगराजको व्याह देना चाहिये। इस उपायकी सहायतासे ही हमारा कार्य सिद्ध हो सकेगा और हम शान्तिसे जी सकेंगे। इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है जो सन्धिका आधार हो सकता हो। वकुलेश्वरके मंत्रियोंने समयोपयोगी सम्मति देकर उनकी नीतिरूपी आंखें खोल दी थीं जिसके प्रकाशमें उन्होंने काफी लम्बे समय तक ऊहापोह करके मनमें वही निश्चय किया था। और वरांगराजके साथ धार्मिक विधिसे व्याह देनेके अभिप्रायसे ही वह अपनी सर्वांग सुन्दरी राजदुलारीको आनर्तपुर ले गये थे। वहां पहुंच जाने-पर उन्होंने वरांगराजको अपने आनेका समाचार यथाविधि भेजा था। जब राजसभामें उपस्थित होनेके लिए वरांगराजकी स्वीकृति मिल गयी तब ही उसने राजमहलमें प्रवेश किया था तथा वहांपर अपने शत्रुओंके मानमर्दक वरांगराजको विशाल सिंहासनपर विराजा देखते ही भूमिपर मस्तक झुकाकर उसको प्रणाम किया था। ६७ ६८ ६९

'हे महाराज! जो राज्य मेरे वंशमें कई पीढ़ियोंसे चला आ रहा है उस मेरे राज्यको आप अपनी इच्छानुसार किसी भी अपने आज्ञाकारीको बांट दीजिये। किन्तु हे नरनाथ! मैंने आपके पूज्य पिताजी पर आक्रमण करके जो आपका अपराध किया है उसे क्षमा कर दीजिये।' इन शब्दोंमें वकुलेश्वरने वरांगराजसे क्षमा याचना की थी। इसमें सन्देह नहीं कि वकुलेश्वर राजनीतिमें बड़ा ही कुशल था इसीलिए ऐसी विनम्र प्रार्थना करके उसने वरांगराजके चित्तको प्रसन्न कर लिया था। वरांगराज तो स्वभावसे ही साधु थे, कृपा उनके रोम रोममें समायी थी। अतएव उन्होंने अपने स्वभावा-नुसार ही उस शत्रुको क्षमा कर दिया था। वकुलेश्वरका आत्मा भी ऐसी सरलतासे वरांगराज सदृश महाशक्ति शालीका अनुग्रह प्राप्त करके अत्यन्त संतुष्ट हो गया था। उसे अनुभव हुआ था कि वह अपने आरम्भ किये गये जटिल कार्यमें सफल हुआ है। इसके उपरान्त ही शरीर-धारिणी लक्ष्मीके समान दर्शकोंके मनोंको बलपूर्वक अपने ओर आकृष्ट करनेमें समर्थ रूप तथा गुणवती 'मनोहरा' राजपुत्रीको उसने वरांगराजसे व्याह दिया था। राजपुत्री मनोहराकी समचतुरस्र संस्थानयुक्त देहका रंग तपाये गये विशुद्ध सोनेके समान था, उसका नितम्ब प्रदेश तथा उन्नत स्तन आपाततः मनको आकृष्ट करते थे। ऐसी राजपुत्रीसे संयुक्त होकर श्रेष्ठ वरांग-राजकी जो शोभा और सम्पत्ति हुई थी उसका अविकल वर्णन करना तो किसी भी विधिसे शक्य हो ही नहीं सकता है। वकुलेशने, सुशिक्षित तथा सुलक्षण एक हजार घोड़े, मदोन्मत्त रणमें स्थायी सौ हाथी, करोड़ प्रमाण हिरण्य तथा सौ वरलम्बिका ( ) दहेजमें देकर आनर्तपुरेश वरांगराजको प्रसन्न कर दिया था। ७० 'नम्रनावसानो हि…' ७१ ७२ ७३ ७४

उस समय आनर्तपुराधिप श्री वरांगराजका शासन इतना अधिक प्रभावमय था कि शत्रु लोग भी उसकी अवज्ञा करनेकी कल्पना तक न करते थे। उसके सब ही अभीष्ट कार्य अपने पराक्रमके बलपर तुरन्त सफल हो जाते थे। अपने पूर्ण राज्यका भरणपोषण करता हुआ वह वैसा ही मालूम देता था जैसा कि इन्द्र मरणोपरान्त प्राप्त होनेवाले व्रती जीवोंके निवासस्थान स्वर्गका शासन करता हुआ लगता होगा। जलधारा जिधर ही नीचा धरातल पाती है उसी दिशामें बहती चली जाती है उसी ७५ सफल शासक

प्रकार बिना किसी प्रेरणाके ही हर्ष तथा उल्लासके उत्पादक नूतन, नूतन साधन वरांगराजके पास आते थे। प्राणोंसे भी अधिक प्यार करने योग्य पत्नियां, आज्ञाकारी सेवक, हितैषी मित्र, स्नेही बन्धु बान्धव, उत्तमसे उत्तम रत्न, श्रेष्ठ हाथी, सुलक्षण अश्व, दृढ़ रथ आदिको भी वह
७७ अनायास ही प्राप्त करता था। उमड़ती हुई नदियोंकी विशाल धारा जिस विधिसे समुद्रकी अमर्याद जलराशि को बढ़ाती हैं ठीक उसी क्रमसे श्री वरांगराजकी सम्पत्तिके आगार बड़ी तीव्र गतिसे भरते जाते थे, क्योंकि सब ही सामन्त राजा लोग विशाल सम्पत्ति लाकर उसमें मिलाते थे तथा स्वयं उसकी न्याय नीतिरूपी भुजाएं भी राजस्वके रूपमें विपुल धन बटोरकर
७८ उसीमें लाती थीं। विशाल वसुन्धराके न्यायी पालक वरांगराजकी ख्याति सब दिशाओंमें व्याप्त हो गयी थी। बड़े-बड़े कुलीन पुरुष, असीम सम्पत्तिके स्वामी, सम्पन्न देशोंके अधिपति, आदि विशिष्ट पुरुष श्री वरांगराजका अनुग्रह प्राप्त करनेके लिए उत्कण्ठित रहते थे तथा स्वीकृति
७९ मिलते ही आनर्तपुरमें आकर रहते थे और महाराजकी सेवा करते थे। उस समय कोई ऐसा स्थान न था जहांपर श्री वरांगराजकी कीर्ति न गायी जाती हो ऐसे गुणवान राजाके शासनको पाकर आनर्तपुर राज्य विशेष रूपसे सज्जन तथा शिष्ट पुरुषोंका देश हो गया था। कोई भी ऐसी सम्पत्ति न थी जो वहांपर पूर्णरूपमें न पायी जाती हो। ठीक इसी अनुपातमें वहांके नागरिक व्रतोंका पालन, नियमोंका निर्वाह, दानकी परम्परा, देवपूजाकी अविराम पद्धति,
८० आदि प्रधान धार्मिक कार्योंको करते थे। तथा इन कारणोंसे ही शान्त कषाय तपोधन मुनियोंका सहवास प्राप्त करके अपने इहलोक तथा परलोक दोनों सुधारते थे। वह आनर्तपुरी सहज ही लोगोंके चित्तोंमें घर कर लेती थी। वहांके निवासी अनेक गुणोंके आगार थे। उस नगरीमें धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थोंकी उपासना ऐसे अनुपातसे होती थी कि वे परस्परमें न टकराते थे। इस नगरीके बसानेके बादसे श्री वरांगराजके कोश, देश तथा अन्य सारभूत पदार्थ दिन दूने तथा रात चौगुने ऐसी गतिसे बढ़ रहे थे जिस प्रकार शुक्ल पक्षमें प्रतिदिन चन्द्रबिम्ब बढ़ता जाता है।

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथामें आनर्तपुर-निवेश नाम
एकविंश सर्ग समाप्त।

द्वाविंश सर्ग

वसुन्धराके द्वारा स्वयं वरण किये गये स्वामी वरांगराजकी लक्ष्मी अपने आप ही इस संसारमें बड़े वेगसे बढ़ रही थी। देश-देशान्तरोंसे प्राप्त मदोन्मत्त हाथियों, सुलक्षण घोड़ों तथा आयुध विद्यामें प्रवीण पदाति सैनिकोंके द्वारा उनकी चतुरंग सेनाका विस्तार हो रहा था, कुलीन, गुणवती तथा रूपवती ललनाएं उनके अन्तःपुरकी शोभाको चरम-सीमा तक ले गयी थी तथा उपायन रूपसे प्राप्त भांति-भांतिके रत्नों, विपुल कोशों तथा नूतन देशोंके समागमके द्वारा उनके राज्यकी सीमाएं फैलती जा रही थीं। उसके राज्यमें कोई अत्याचार या अनाचार न हो सकता था। वह अपने कर्त्तव्यके प्रति सतत जागरूक रहता था अतएव वह अपने राज्यकी प्रजाके धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थोंमें साधक होकर राजस्वके रूपमें केवल इन्हींका छठा भाग ग्रहण नहीं करता था अपितु सम्यक् दर्शन आदि रत्नत्रयके उपासकोंकी साधनाको निर्विघ्न बनाकर इनके भी निश्चित भाग (पुण्य-रूपी राजस्व) को प्राप्त करता था, जो कि तीनों लोकोंमें सबसे अधिक स्पृहणीय तथा वारण आदि विभवोंका मूल कारण है। जब कोई शत्रु या शत्रुसमूह उसके सामने शिर उठाता था तो वह उनको अपनी उत्साहशक्ति, प्रखर पराक्रम, अडिग धैर्य तथा असह्य तेजका मजा चखाता था। किन्तु यही प्रबल सम्राट् जब परमपूज्य सच्चे गुरुओं, मातृत्वके कारण आदरणीय स्त्रियों तथा लोकमर्यादाके प्रतीक सज्जन पुरुषोंके सामने पहुंचता था तो उसका आचरण सत्य, सरलता, शान्ति, दया, आत्मनिग्रह, आदि भावोंसे ओतप्रोत हो जाता था। शत्रुओंके मान-मर्दक श्री वरांगराजका विवेक विपत्तियोंमें पड़ जानेपर भी कम न होता था, संकटके समयमें भी वह किसी तरहकी असमर्थताका अनुभव न करता था, अभ्युदयकी चरम सीमातक पहुंच जानेपर भी उसे विस्मय न होता था। अपने कार्योंका उसे इतना अधिक ध्यान था कि कर्त्तव्य तथा अकर्त्तव्य, शत्रुपक्ष और आत्मपक्ष तथा मित्र और शत्रुके स्वभावको भांप लेनेमें उसे जरा सी भी देर न लगती थी।

१ २ ३ ४

सुराज प्रभाव

उसकी कर्त्तव्यबुद्धि इतनी तीक्ष्ण थी कि वह राज्यमें पड़े हुए निराश्रित बच्चे, बुड्ढों तथा स्त्रियों, अत्यधिक काम लिए जानेके कारण स्वास्थ्य नष्ट हो जानेपर किसी भी कार्यके अयोग्य श्रमिकों, अनाथों, दीनों, अन्धों तथा भयंकर रोगोंमें फँसे हुए लोगोंकी आर्थिक, कौटुम्बिक, आदि सामर्थ्य अथवा सर्वथा निस्सहाय अवस्था तथा उनकी शारीरिक मानसिक दुर्बलता आदिका स्वयं पता लगाकर उनके भरण-पोषणका प्रबन्ध करता था। जिन शान्त स्वभावी नागरिकोंके जीवनका एकमात्र कार्य धर्म-साधना थी उनको वरांगराज गुरुके समान पूजते थे, तथा जिन स्वकार्यरत पुरुषोंने पहिले किये गये वैरको क्षमा याचना करके शान्त कर दिया था उनका अपने पुत्रोंके सदृश भरण-पोषण करता था। किन्तु जो अविवेकी घमंडमें चूर होकर बहुत बढ़ बढ़कर चलते थे अथवा मानके उन्मादमें दूसरोंको कुछ समझते ही न थे उन सब मर्यादाहीन असंयत लोगोंको उसने अपने राज्यसे बहुत दूर तक खदेड़ दिया था।

५ ६

दुखियोंका सगा

७ श्री वरांगराजने अपने पूर्वजन्मोंमें उग्र तथा परिपूर्ण तप किया था इसी कारण उसे महान् पुण्यबन्ध हुआ था। उसीके परिणामस्वरूप इन्द्रियोंके सब ही शिष्ट भोग उसे प्राप्त थे। शारीरिक सौन्दर्य भी ऐसा अनुपम था कि सारे संसारके लोगोंकी आंखें देखते-देखते न अघाती थीं। जो कुछ भी बोलता था वह सुननेमें ही अच्छा न लगता था अपितु उसका प्रयोजन मधुर, वाक्यरचना शिष्ट तथा परिणाम इष्ट होता था।

पुण्य-प्रताप

८ जो अधिकारी अथवा प्रजाजन स्वभावसे ही कोमल थे, कुल, देश तथा धर्म, आदिके नियमोंका पालन करते हुए जीवन व्यतीत करते थे, अपने कर्तव्यों, शिक्षाओं, आदिको दिये गये उपयुक्त समयके भीतर ही भलीभांति कर देते थे। उन लोगोंकी योग्यताओं-को समझने तथा उन्हें पुरस्कार देनेमें वह अत्यन्त तीव्र था। उक्त विधिसे अपनी राज्यलक्ष्मीका भोग करते हुए श्री वरांगराजकी उस समय वैसी ही कान्ति हो रही थी जैसी कि शरद् ऋतुमें तारोंके राजा चन्द्रमाकी मेघमाला हट जानेपर होती है।

९ शरद् ऋतुके आते ही मेघमाला अदृश्य हो जानेपर सूर्यकी किरणोंका आतप और उद्योत बढ़ जाते हैं, सब दिशाएं स्वच्छ हो जाती हैं आकाशका निर्मल नीलवर्ण निखर उठता है तथा वर्षाके कारण धुली हुई मिट्टीके बैठ जानेसे जल भी स्वच्छ और सुंदर हो जाता है, ऐसे शरद् ऋतुमें पके हुए धानके खेतोंकी छटाका निरीक्षण करते हुए श्री वरांगराज हरी-भरी भूमिपर घूमते-फिरते थे।

शरद्-ऋतु विहार

१० हेमन्त ऋतुके आ जानेपर वह रात्रिके समय अपनी पत्नियोंके साथ भांति-भांतिकी रतिकेलि करता था। उसकी प्राणप्रियाएं कुछ-कुछ शीत बढ़ते रहनेके कारण रतिकेलि करते-करते थकती न थीं, वे इतनी कुशल थीं कि अपनी ललित चेष्टाओं तथा हावभावके द्वारा रतिके क्रमको टूटने न देती थीं। रतिमें साधक उनके स्तन, आदि अंग ही पूर्ण वृद्ध तथा पुष्ट न थे अपितु उनके हृदय भी प्रेमसे ओतप्रोत थे।

हेमन्त

११ जिस समय शीत अपने यौवनको प्राप्त करके लोगोंको इतना विकल कर देता है कि वे उससे छुटकारा पानेके लिए उदित होते हुए बालसूर्यकी धूपमें ही जा बैठते हैं, हिम और पालेके पड़नेके कारण जलाशयोंके कमल तितर-बितर हो जाते हैं, ऐसे शिशिर ऋतुमें ही श्री वरांगराज उत्तम हाथियोंको सुसज्जित कराके उनपर आरूढ़ होते थे और उन रम्य स्थलोंमें विहार करते थे जो कि अपने कृत्रिम तथा अकृत्रिम दृश्योंके कारण विहारक्षेत्र बन गये थे।

शिशिर

१२ शिशिरकी समाप्ति होने पर वनके सब ही वृक्ष फूलों और मंजरियोंसे लद जाते हैं तथा इनके परागको पीकर उन्मत्त भ्रमर ऋतुराजके स्वागतके गीत गाते हैं। तरुण जनोंको परमप्रिय वसन्त ऋतुके पदार्पण करते ही वरांगराजकी चन्द्र-मुखी सुकुमारी पत्नियां उसके साथ वनविहारको जाती थीं। वहांपर वे अपनेको फूलोंके ही आभूषणोंसे सजाती थीं तब वनके किसी रमणीक एकान्त भागमें जाकर अनेक रति-क्रीड़ाएं करके उसके साथ रमती थीं।

वसन्त

१३ ग्रीष्म-ऋतुकी दारुण ज्वालाको शान्त करती हुई मेघोंकी घटाके बरस जाने पर पृथ्वीपर छोटे-छोटे अंकुर तथा सुकुमार घास निकल आती है, श्यामवर्ण मेघ-घटाको देखकर मयूर, हस्ती, हिरण आदि पक्षी पशु आनन्दसे उन्मत्त हो जाते हैं ऐसी वर्षा-ऋतुमें अपनी प्रेयसी पत्नियोंसे घिरा हुआ वह सुन्दर विशाल धरणीधरों पर विहार करता था जो कि अपनी वनस्पति तथा जलश्रीके

ग्रीष्म

कारण विस्तृत, विशाल तथा उन्नत मेघोंके सदृश ही मनोहर लगते थे। जब घनघोर वर्षा होती थी, परस्परमें टकराते हुए बादलोंसे भयंकर अशनिपात तथा भीमगर्जना होती थी, प्रत्येक मेघमाला विद्युतरूपी लतासे युक्त रहती थी तथा रात्रिके अभेद्य गाढ़ अन्धकारमें जुगुनुओंके प्रकाशकी मालासे कहीं-कहीं अन्धकारमें छेदसे हो जाते हैं ऐसी वर्षा-ऋतुमें आनर्तपुरेशका समय उन्नत महलोंमें बीतता था। १४

श्रीवरांगराज अपनी ही इच्छासे इस पृथ्वीपर आये हुए इन्द्रके समान थे। उनकी पांचों इन्द्रियों रूपी गाएं अपने-अपने विषयोंका उत्तम प्रकारसे भोग करनेकी निर्दोष शक्तिसे सम्पन्न थीं, सेवापरायण इष्टजन उन्हें सदा ही घेरे रहते थे। अतएव वे वर्षाऋतुमें उपयुक्त अनेक प्रकारके भोगोंका यथेच्छ रूपसे सेवन करते थे। किसी समय वे उद्यानों तथा वहांपर बने कृत्रिम पर्वतोंपर विहार करते थे। दूसरे समय रम्य वनस्थली तथा प्राकृतिक पर्वतोपर क्रीड़ा करने निकल जाते थे। तीसरे अवसर पर वे नदियोंके निर्मल तथा विस्तृत वालुकामय प्रदेशोंपर केलि करते देखे जाते थे तथा अन्य समय विकसित कमलोंसे व्याप्त विशाल जलाशयोंमें जलविहारका आनन्द लेते थे। अनुभवी तथा हितैषी गुरुजनों, स्नेही बन्धुओं, अभिन्न हृदय मित्रों, गुणग्राही अनुजों, स्वभावसे ही शिष्टों तथा सांसारिक विषयोंसे संतुष्ट सज्जनोंकी समष्टिमें बैठकर यदि एक समय वह अनेक शास्त्रोंके गहन विषयोंपर विमर्ष करता था तो दूसरे ही समय देखा जाता था कि श्री वरांगदेव स्वस्थ, सुन्दर, आकर्षक, युद्धकलामें अत्यन्त पटु तथा शत्रुओंके संहारमें साक्षात् यमराजके दंडके ही समान घातक सच्चे वीरोंके साथ शस्त्रविद्याके अभ्यासमें तल्लीन हो रहे हैं। यदि एक समय उन्हें संगीत-शास्त्रके विशेषज्ञ गन्धर्वोंके सुमधुर गीत आदिके सुननेमें मस्त पाते थे, तो दूसरे क्षण ही देखा जाता था कि श्री अर्हन्त भगवानके चरित्र तथा उपदेशोंकी चर्चा करते-करते वे अपने-आपको ही भूल गये हैं। इतना ही नहीं, वह दृश्य भी सुलभ ही था जब कि युवक राजा अपने प्रासादोंकी ऊंची ऊंची छतोंपर प्राणप्यारी पत्नियोंकी मनमोहक मधुर रतिकेलियोंमें लीन होकर उन कुलीन सुन्दरियोंमय हो जाता था। १५ १६ १७ १८

सुखमग्न राजा

इस मनुष्य लोकमें जनवर्गके रक्षक राजवर्ग जिन-जिन भोग परिभोगकी सामग्रियोंको प्राप्त करना चाहते है, उनको ही नहीं अपितु जिन्हें दूसरे प्रबल पराक्रमी परिपूर्ण प्रयत्न करके भी प्राप्त न कर सके थे उन सबको भी पृथ्वीपालक श्री वरांगराजने परिपूर्ण अवस्थामें यथाविधि प्राप्त किया था, क्योंकि उस समय उसके समान पुण्यात्मा और प्रतापी कोई दूसरा न था। राजाकी ही यह अवस्था न थी अपितु प्रजामें भी कोई ऐसा न था जिसके मनोरथ सफल न हुए हों। ऐसे सम्पन्न प्रजाजनोंका राजा उक्त विधिसे अपने जीवनको सुख और शान्तिके साथ व्यतीत कर रहा था। इसी क्रमसे एक दिन बन तथा उद्यानोंमें मनोविनोद करनेके बाद लौटकर वह नगरमें प्रवेश कर रहा था तथा उसके पीछे-पीछे वन्धुबान्धव, अधिकारी, आदि चले आ रहे थे। १९ २०

पुण्य प्रशंसा

उसी समय श्रीवरांगराजकी ज्येष्ठ (पट्टरानी) पत्नी राजभवनकी जालीदार खिड़कीमें बैठी थी। संयोगवश नगरमें प्रवेश करते ही उनपर पट्टरानीकी दृष्टि पड़ी, उन्हें देखते-देखते ही पतिव्रता रानीके मनमें आया कि 'मेरे पति जनताको प्राणोंसे भी प्यारे हैं, वे सब परिस्थितियोंमें शान्त और प्रसन्न ही रहते हैं, तो भी २१

विवेकिनी महारानी

प्रजाकी क्षेम कुशलके शत्रुओंका नाश करनेमें प्रमाद नहीं करते हैं, इनकी आध्यात्मिक तथा
२२ भौतिक ऋद्धियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है।' उसे एक-एक करके अपने पतिकी सब विशेषताएं याद आ रही थीं। वह सोचती थी 'इनके राज्यमें सारा नगर कैसा आनन्दविभोर रहता है, यह कैसे अद्भुत सुन्दर हैं, इन पर प्रजाकी कैसी अकम्प भक्ति है, इनके ही कारण
२३ आज इस विशाल राज्यका एक-एक आदमी मुझे माताके समान पूजता है। कुछ समय पहिले जब मेरे यही प्राणनाथ धूर्तोंपर विश्वास करनेके कारण अपने राजसे निकल गये थे तो मैंने ऐसे ऐसे दुःख भरे थे जिन्हें दूसरी कुलवधुएं न कभी सहती हैं और न सह ही सकती हैं। किन्तु अब फिर इनके समागमरूपी शीतल जलके सिंचनसे मन शान्त ही नहीं हुआ है अपितु
२४ संभवतः मेरा क्या कर्त्तव्य है इस ज्ञानसे भी शून्य हो गया है। क्या पता है! मेरा पूर्वकृत पुण्य कबतक मेरा साथ देगा? अथवा कबतक मैं इस पट्टरानीके पदकी लक्ष्मी व सौभाग्यकी अधिकारिणी रहूंगी? कौन जानता है पूर्वोपार्जित कर्मस्वरूप भाग्य इसके आगे क्या करेगा?
२५ फलतः अपने सौभाग्यके मध्याह्नके रहते रहते मुझे क्या करना चाहिये?' इन विकल्पों तथा इसी प्रकारकी दूसरी बातोंको सोचनेमें पट्टरानी अनुपमा इतनी व्यस्त हो गयी थीं कि उन्हें दूसरी बातोंका ध्यान ही न रह गया था, इसी समय धरणीपति उसके बिल्कुल निकट जा खड़े हुए थे। आहट पाते ही वे घबड़ाकर बड़े वेगसे उठ खड़ी हुई थीं तथा पतिके चरण कमलोंमें
२६ मस्तक झुका दिया था। पट्टरानीको आत्मगौरवके साथ आत्मजिज्ञासा भी थी, पतिको निकट पाकर उनके हर्षकी सीमा न थी तो भी वे लोकलाजवश दूर ही बैठ गयी थीं किन्तु वरांगराजके अति आग्रहके कारण उन्हें एक ही आसनपर साथ बैठना पड़ा था। इसके उपरान्त उन्होंने दोनों सुकुमार हाथ जोड़ लिये थे जो कि मिल जानेपर ऐसे प्रतीत होते थे मानो
२७ कमलकी कली हैं और अपनी मानसिक शंकाओंको उनके सामने रख दिया था। 'हे नाथ! सांसारिक सुख क्योंकर उत्पन्न होते हैं? किन पदार्थों द्वारा इनकी सृष्टि होती है? इनका आदि स्रोत क्या है? स्वरूप क्या है, किस प्रकार आचरण करनेसे वे कर्म ऐसे सुखमय बन्धके कारण होते हैं, जिसका फल बीचमें न तो खंडित ही होता है और न उपद्रवोंके रहते हुए भी व्यर्थ होता है? इन सब रहस्यमय बातोंको सुनने तथा समझनेके लिए मेरा मन उतावला हो रहा है।'
२८ सम्राट वरांगराजको स्वभावसे सत्यधर्मके प्रति असीम अनुराग था फलतः प्राणप्रियाके उक्त सब प्रश्नोंको सुनकर ही मोक्षकी दिशामें ले जानेवाले सकल अथवा अनगार धर्मकी उस समय चर्चा अनुपयुक्त समझकर उसको केवल वही धर्माचार बताया था जिसे पालना प्रत्येक गृहस्थाश्रममें रहनेवाले व्यक्तिका प्रथम कर्त्तव्य है।

सागार धर्मका रूप

२९ अतएव सांकल्पी त्रस हिंसाके त्यागमय स्थूल (अणु) अहिंसा, सत्य अणुव्रत, चोरीका त्याग (अचौर्य) परपतिसे रतिका त्याग (स्वपति व्रत) भोग तथा परिभोगके पदार्थोंका सूक्ष्म-विचार पूर्वक प्रमाण निश्चित करना (भोगोपभोग परिमाण), सार्थकरूपसे दिशाओंमें गमन
३० (दिग्व्रत), तथा देशोंके पर्यटन (देशव्रत) का नियम करना। महाव्रतोंको धारण करनेका अभ्यास करनेकी अभिलाषासे त्रिसन्ध्या सामयिक, पर्वके दिनोंमें प्रोपधोपवास, सत्पात्रको आहारादि दान तथा जब जीवनका और आगे चलना संशयमें पड़ जाय उस समय सल्लेखना व्रतको धारण करना। इन सब व्रतोंको जो कि गृहस्थ धर्मके सार है, संक्षेपमें श्री वरांगराजने अपनी पट्टरानीको समझाये थे।

किन्हीं दूसरे तत्त्वों पर श्रद्धा न करना, वीतराग प्रभुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वचर्चाको छोड़कर किसी अन्य सराग देवके उपदेशोंकी बात भी न करना, जीवादि सातों तत्त्वोंके स्वरूपमें शंका न करना, शरीर आदिकी स्वाभाविक मलीनता आदिको ध्यानमें रखते हुए किसीसे घृणा न करना तथा सदा ही श्री एक हजार आठ देवाधिदेव जिनेन्द्र प्रभुके चरणोकी ही पूजा करनेके लिये तत्पर रहना, इन सब गुणोंको ही आर्हत् (सम्यक्) दृष्टि (दर्शन) कहते हैं तथा यही सब प्रकारसे आराधनीय है। ३१

सम्यक्‌दर्शन

शीलों, दानों, तप आदिके विशेषज्ञोका निश्चित मत है कि सम्यक् दर्शनपूर्वक धारण किये गये व्रत, दिये गये दान, तप तथा जिनेन्द्र चरणोंकी पूजा महान फलको देते हैं।' संसार परावर्तनमें सम्यक्त्व पूर्वक आचरित उक्त कर्म चारों प्रकारकी विशाल पुण्यराशिका निर्माण करते हैं। ३२

हे भद्रे ! पूर्वोक्त सब ही पुण्यके कारणोंके एकसे एक बढ़कर होनेपर भी उन सबमें श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी चरणपूजा सबसे बढ़कर है। इतना ही नहीं हमारे ऐसे सांसारिक विषय भोगोंमें लीन व्यक्तियोंके लिए वह सबसे अधिक सुगम है। शेष सब ही सत्कर्म गृहस्थीके झंझटोंमें फंसे हम लोगोंके लिये बहुत कठिन हैं। इस दिशामें इस कालके सर्वप्रथम चक्रवर्ती भरत महाराज ही हमारे आदर्श हैं। वे इस युगके प्रवर्तक महायशस्वी विश्वविख्यात श्री एक हजार आठ ऋषभदेवके ज्येष्ठ पुत्र थे। हमारे क्षेत्रके पुरुषोंकी समुचित राज तथा समान व्यवस्था करके वे वास्तविक प्रजापति बने थे तथा पराक्रमका प्रदर्शन करके चक्रवर्तियोके अग्रगण्य हुए थे। इतना ही नहीं एक दूसरेके साधक होते हुए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थके सेवनका आदर्श उन्होंने उपस्थित किया था और रत्नत्रयकी तो वे साक्षात् मूर्ति ही थे। हे प्रिये ! हम लोग सदृश प्राणी जो कि गृहस्थाश्रममें रह ही नहीं रहे हैं अपितु सांसारिक सुखोंके पीछे-पीछे दौड़ते फिरते हैं, तो भी धर्मको भूले नहीं हैं और उक्त स्वार्थोंको तिलाञ्जलि दिये बिना ही धर्मार्जन करना चाहते हैं, उनके लिये वही प्रथम चक्रवर्ती मनुके समान हैं जो केवल श्री आदिनाथ प्रभुके चरणोंकी पूजा करके ही मोक्ष महापदको प्राप्त हो गया था। भरत महाराजके अतिरिक्त शचीके प्राणनाथ देवोंके राजा इन्द्र जिन्हें दक्षिण दिशाका लोकपाल इस संसारमें कहा जाता है, जिसके विस्तृत प्रभावकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं तथा जो अष्टगुण और अणिमा आदि ऋद्धियोंका स्वामी है वह भी जब अर्हतकेवलीकी पूजाका अवसर पाता है तो उसे बड़े उल्लासपूर्वक प्रसन्नताके साथ करता है क्योंकि ऐसा करनेसे ही सम्यक्त्वकी विशुद्धि बढ़ती है। ३३ ३४ ३५ ३६

जिनपूजा

कौन नहीं जानता है कि स्वर्गके इन्द्र प्रतिवर्ष श्री नन्दीश्वर द्वीपमें विराजमान कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिन बिम्बोंकी विशाल पूजा करनेके लिए बड़े हर्षके साथ अष्टाह्निका पर्वमें विपुल आयोजन करते हैं। अतएव हे प्रिये ! क्या कारण है कि हम लोग यथाशक्ति जिनेन्द्र पूजा करनेका समारंभ न करें ? क्योंकि उसका निश्चित परिपाक संसाररूपी पाशको छिन्न-भिन्न कर देता है। ३७

नन्दीश्वर विधान

श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी भक्ति अकेले ही जीवोंको संसारकी समस्त दुर्गतियोंसे बचाकर सुगतिकी तरफ ले जानेमें ही समर्थ नहीं हुई अपितु उसके प्रतापसे ३८

सब प्रकारके सुख प्राप्त हुए हैं, अलभ्य अर्थ भी सुलभ हुए हैं तथा नूतन पुण्यका विपुल भंडार
३९ स्वयं ही बढ़ा है। पूर्वजन्मोंमें अनेक अशुभ करनेके कारण जो पापराशि एकत्रित हो गयी है श्री जिनेन्द्र पूजासे उसका नाश अवश्यंभावी है, तथा जीवकी वर्तमान विपत्तियोंके विनाशको कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती है। जिसकी जिनेन्द्र देवपर अटल भक्ति है उसे सुख खोजते
४० हुए आवेंगे इसमें तनिक भी सन्देहको स्थान नहीं है। शुद्ध जिनभक्ति अनन्त भव, भवान्तरोंसे संचित किये गये असीम पाप पुंजको थोड़ेसे ही समयमें उसी प्रकार समूल नष्ट कर देती है जिस प्रकार उदयाचल पर आये हुए बालरविकी सुकुमार किरणें उस समस्त गाढ़ अन्धकारको
४१ नष्ट कर देती हैं जो कुछ क्षण पहिले ही सब दिशाओं और आकाशको व्याप्त किये था। जो कर्म कितने ही भवोंसे जीवके पीछे पड़े हैं, उसे दारुणसे दारुण नारकीय आदि दुख देते हैं, उन कुकर्मोंका एक ही अविचल कार्य होता है वह है जीवके संसारचक्रको बढ़ाना, तथा जिनकी जड़ें इतनी पुष्ट हो जाती हैं कि उन्हें हिलाना भी दुष्कर हो जाता है, उन सब कर्मोंको भी मनुष्य जिनेन्द्रपूजारूपी महायज्ञमें सर्वथा भस्म कर देते हैं।

४२ श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवके आदर्शके प्रतीक श्री जिनबिम्ब परम पूज्य हैं, क्योंकि जिनेन्द्र प्रभुका शासन ऐसा है कि कोई भी दूसरा शासन उसकी थोड़ी सी भी समता नहीं कर सकता है, उनका मूर्तीक रूप तथा आदर्श तीनों लोकोंके कल्याणका साधक है। अतएव

मूर्तिपूजा

जो भव्यजीव विधिपूर्वक स्थापना करके प्रतिदिन शुद्धभाव और द्रव्यके द्वारा उनका
४३ पूजन करते हैं वे कुछ ही समय बाद सर्वज्ञतारूपी फलको पाते हैं। संसारचक्रमें घूमते हुए जिन जीवोंने अपने पूर्वभवोंमें वीतराग प्रभुकी शुद्धभाव और द्रव्यसे उपासना की थी वे ही आगे चलकर त्रिलोकपूज्य तीर्थंकर हुए थे। अतएव इसी पुरातन परम्पराके अनुसार जो प्राणी लोकोपकारक तीर्थंकरोंकी स्थापना करके पूर्ण विधिपूर्वक उनकी द्रव्य तथा भाव पूजा करते हैं, वे स्वयं भी उन्हीं पूज्य तीर्थंकरोंके समान तीर्थंकर पदको पाकर संसारके सामने उत्तम मार्ग
४४ उपस्थित करते हैं। सूर्योदय होनेपर संसारके सब काम चलते हैं तथा उसके आतप और प्रकाशके कारण उसकी सर्वतोमुखी समृद्धि होती है। किन्तु, यदि किसी कारणसे सूर्यका उदय होना रुक जाये तो सारा संसार गाढ़ अन्धकार तथा दुखके गर्तमें समा जायेगा। इसी प्रकार यदि जिनेन्द्र बिम्बरूपी सूर्यका उदय इस पृथ्वीपर न होता तो इस जगतके सब ही
४५ प्राणी अज्ञानरूपी अन्धकारके महागर्तमें पड़कर कभीके नष्ट हो गये होते। क्षुधा, तृषा आदि बाईस परीषहों, क्रोध आदि चार कषायों, जन्म, पराधीनतामय जरा तथा अकथनीय यातनामय मरणको समूल नष्ट करके जो महान् आत्मा पुनरागमनहीन शाश्वत स्थान मोक्षको चले गये हैं, उनकी पूजा करनेकी अपेक्षा संसारका कोई भी दूसरा कार्य ऐसा नहीं
४६ है जिसे करके जीव अधिक पुण्य कमा सकता हो। वीतराग प्रभुकी पूजा करके जीव इस भवमें ही अपने मनचाहे फलोंको प्राप्त करते हैं तथा इष्टजनों या वस्तुओंसे उनका समागम होता है। यहांसे मरनेके बाद दूसरे जन्मोंमें वे अपनेको स्वर्गलोकमें पाते हैं जहांपर उनको अलौकिक भोग तथा विषयोंकी मन माफिक प्राप्ति होती है।

४७ वीतराग प्रभुके चरणोंमें जिन प्राणियोंकी प्रगाढ़ भक्ति होती है वे श्री जिनमन्दिर बनवाते हैं। यद्यपि जिनालय बनवानेमें अन्य सांसारिक कार्योंकी अपेक्षा बहुत थोड़ा परिश्रम होता है तथा उससे भी कम धन खर्च होता है, तो भी इस शुभ कार्यके कर्ता लोग संसारमें

सबसे अधिक धनी तथा सुखी देखे जाते है। लोग उनके पास जाकर अपना सम्मान प्रकट करते हैं तथा नर, असुर और सुर भी उनकी पूजा करते हैं। जिनकी अपनी निजी विचार- ४८ धारा रागद्वेषसे परे नहीं हैं तथा इन्द्रियोंके जीतनेकी तो बात ही क्या है; जो कि इन्द्रियोंके पूर्ण वशमें हैं ऐसे ही लोग उल्टी श्रद्धाके अनुकूल यद्वा तद्वा दृष्टान्त देकर किसी मिथ्या मतकी स्थापना करते हैं तथा उसके द्वारा कितने ही प्राणियोंको आत्मज्ञानसे विमुख कर देते हैं। किन्तु जो भव्य वीतराग प्रभुके विम्बोंकी स्थापनाके लिए जिनालय बनवाता है वह ऐसे लोगोंको भी सुमार्गपर ले आता है। हे प्रिये ? ४९ इस मनुष्य गतिको एक जहाज समझो, कल्पना करो कि झूठे धर्मप्रवर्तकोंके द्वारा कहे गये शास्त्र तथा आचरणरूपी आग इसके भीतर भभक उठी है, जिसके कारण सछिद्र होकर यह नीचेको जाने लगा है। इतना ही नहीं समुद्रमें भीषण झंझावात वह रही है जो कि इसे उल्टी दिशामें ले जानेके लिए प्रबल थपेड़े मार रही है। किन्तु जो व्यक्ति जिनालय बनवाते है वे ५० इस मनुष्यलोकरूपी जहाजको वैसे ही उभार लेते हैं जैसे शान्त और अनुकूल पवन किसी जहाजको बचा लेती है। धर्मके अक्षुण्ण अस्तित्वको स्थिर रखनेके लिए परम पवित्र जिना- ५१ लयोंका होना आवश्यक है। जो विचारे ज्ञानहीन प्राणी कुमार्गोंपर चले जाते हैं उन्हें भी जिनबिम्बोंके दर्शन क्षणभरमें ही सन्मार्गपर सहज ही ला देते है। भक्ति भावसे भरपूर हृदययुक्त जिस किसी मनुष्यके द्वारा शास्त्रमें कहे गये विभवयुक्त विशाल जिनमन्दिरकी स्थापना की जाती है, वह व्यक्ति इस पृथ्वीपर उन सीढ़ियोंको बनवा देता है जिनपर चढ़कर संसारके भोगविषयोमें लिप्त क्षुद्र प्राणी भी स्वर्गमें पहुँच सकते हैं। वीतराग प्रभु संसारभरके ५२ निस्वार्थ कल्याणकर्त्ता हैं फलतः उनकी उपासना तथा पूजा सबसे पहिले करनी चाहिये। यही कारण है कि जो जीव विशुद्ध मन, वचन तथा कायसे उनकी नियमित आराधना करते हैं वे कर्मोंरूपी दुर्दम शत्रुओंकी विशाल सेनाको सहज ही छिन्न-भिन्न करके क्रमशः मोक्ष महा- पदमें पदार्पण करते हैं।'

जिनमन्दिर

सम्राट वरांगने उक्त शैलीका अनुसरण करके कानों तथा हृदयको प्रिय तथा अर्थपूर्ण ५३ वाक्यों द्वारा यह भली भांति समझा दिया था कि जिनेन्द्र प्रभुकी प्रतिमाओंकी स्थापनाके लिए जिनालय बनवानेसे कौन, कौनसे विशाल फल प्राप्त होते हैं। इस विशद विवेचनको सुनकर महारानी अनुपमाके हृदयमें हर्षपूर उमड़ आया था। 'हे नाथ ! ५४ आपके चरण कमलोकी कान्तिकी छायामें बैठकर मैंने अतुल सम्पत्ति, यथेच्छ कामक्रीड़ा तथा दिगन्तव्यापी विमल यशको परिपूर्ण रूपसे पाया है। किन्तु अब तो मैं नियमसे ही श्री एक हजार आठ वीतराग प्रभुकी पूजा करूंगी अतएव कृपा करके आप जिन चैत्योंकी स्थापनाके लिए एक आदर्श जिनालय बनवानेका निश्चय कीजिये।' सम्राट वरांग ५५ जन्मसे ही वीतराग प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्ममार्गके परम भक्त थे, इसके अतिरिक्त उस समय प्राणाधिका पट्टरानी भी जिनपूजा करनेके लिए नूतन जिनालयकी स्थापना करानेका आग्रह कर रही थी। फलतः उन्होने तुरन्त ही प्रधान आमात्यकोंको बुलाकर आदेश दिया था कि 'तुम बहुत शीघ्र ही जिनालयका निर्माण कराओ।' प्रधान आमात्य बड़े विद्वान् थे, सब ही ५६ कार्योंका उन्हें पूर्ण अनुभव था, वे 'यथानाम तथा गुणः' थे क्योंकि उनका नाम भी विबुध था। वे सम्राटकी आज्ञाको पाकर बड़े ही प्रसन्न हुए थे। तथा कुछ ही दिनोंके भीतर

जिनालय निर्माण

राजधानीके बीचोंबीच उन्होने एक विशाल सब लक्षणोंसे सम्पन्न जिनालय बनवाकर खड़ा कर दिया था।

५७ जिनालयका प्रवेशद्वार विशाल था, उसके ऊपर सुन्दर अट्टालिकाएं तथा अद्भुत अद्भुत आकारके शिखर थे। जिनालयके प्रधान शिखर तो इतने ऊँचे थे कि वे आकाशको भी भेदकर ऊपर निकल गये थे। विशाल शिखरके समीप शुद्ध सोनेसे मढ़े हुए सुन्दर एक हजार शिखर बनाये गये थे। जिनालयमें बजते

जिनालय वर्णन

५८ हुए विशाल घंटोंके तीव्र शब्दसे शिखरोंपर बैठे कबूतर डरकर भाग जाते थे। मन्दिरके भीतरी भागोंमें अनेक मालाएं लटक रही थीं हवाके झोंकोंसे जब वे हिलती थीं तो बड़ी ही मनोहर लगती थीं। इन मालाओंके अन्तरालोंको मोतीकी मालाओंने घेर रखा था। इन दोनों प्रकारकी मालाओंके मिलनेसे एक विचित्र ही छटा प्रकट हुई थी। इस उत्तम जिनालयकी अत्यन्त सुन्दर माला नाना भांति के रत्न भी पिरोये हुए थे, इनसे निकलती हुई किरणें चारों

५९ ओर फैलकर मन्दिरकी शोभाको अत्यन्त आकर्षक बना देती थीं। सुयोग्य शिल्पकारोंने जिनालयके उन्नत तथा दृढ़ परकोटाको बनाया था, उसके चारों ओर बनी उन्नतशाला (दालान) में मृदंग आदि बाजों तथा गीतोंकी मधुर ध्वनि हो रही थी। अनेक स्तुतिपाठक तथा कत्थक लोग दिव्य स्तुतियां पढ़ रहे थे जिनकी ध्वनिसे सारा वातावरण व्याप्त था। इस विधिसे बनवाया गया नूतन जिनालय अत्यन्त विशाल और उन्नत था।

६० यदि एक स्थानपर विचित्र रंग रूपके उत्तम मूंगोंकी मालाएं लटक रही थीं तो दूसरे स्थान पर उन्हींके बीचमें लहलहाती हुई मोतियोंकी लड़ियां चमक रही थीं। परम शोभायुक्त द्वार पर मूंगा और मोतियोंकी लड़ियोंके साथ-साथ फूलोंकी लड़ियां भी लटकती थीं, इनके

६१ सिवा सुन्दर तथा सुभग कामलता भी द्वारकी शोभा बढ़ाती थी। द्वारके ऊपर ही कमल-निवासिनी लक्ष्मीदेवीकी सुंदर मूर्ति बनायी गयी थी, दोनों ओर किन्नरों, भूतों तथा यक्षोंकी मूर्तियां बनायी गयी थीं। पुराणोंमें

जिनालयका साज

वर्णन किये गये चरित्रोंके अनुसार मन्दिरकी सब भित्तियों पर प्रातःस्मरणीय तीर्थंकरों,

६२ नारायणों, चक्रवर्तियों आदिके भावमय सजीवसे चित्र बनाये गये थे। मन्दिरके विशाल कपाटों पर घोड़ा, हाथी, रथ, इनके आरोही श्रेष्ठ पुरुष, मृगोंके राजा सिंह, व्याघ्र, हंस आदि पक्षियोंके आकारोंको ताम्बे, चांदी और सोनेके ऊपर काटकर ललित कलामय विधिसे जड़ दिया था।

६३ गर्भगृह, जिसमें वीतराग जिनेन्द्र प्रभुकी प्रतिमाएं विराजमान थीं, उसके सबही खम्भे स्फटिक मणिके बने थे अतएव उनकी प्रभासे ही पूरा जिनालय जगमगा रहा था। इन खम्भों पर काट-कर स्त्री तथा पुरुषके युगलकी मनोहर मूर्तियां बन रही थीं। खम्भोंके कलश शुद्ध स्वर्णके थे तथा चारों ओरसे वे विचित्र पत्तों आदिसे घिरे थे जिनसे निकलती हुई किरणोंके कारण

६४ सब ओर शोभा ही शोभा बिखर गई थी। जिनालयके सुन्दर धरातलमें उत्तम मूंगे, मोती, मरकत। मणि, पुष्पराग (एक प्रकारके लाल), पद्मप्रभ (श्वेतमणि), घासके समान हरे मणि, रक्तवर्ण नेत्रके सदृश मणि तथा अन्य नाना प्रकारके मणि जड़े हुए थे। इन सबकी द्युतिके कारण वह ऐसा प्रतीत होता था जैसा कि हजारों तारे उदित होनेपर स्वच्छ सुन्दर

६५ आकाश लगता है। उसमें जड़े गये कमल विशुद्ध सोनेके थे, उनके कोमल नाल वैडुर्य मणिसे काटकर बनाये गये थे, कमलोंपर गुंजार करते हुए भौंरोंकी पंक्तियां महेंद्रनील मणियोंको

काटकर बनी थीं। उनके आसपास नीहार विन्दु आदिको चित्रित करनेके लिए उत्तम मूंगे, मोती तथा अद्‌भुत मणि जड़े हुए थे। इन रत्नोंको देखकर ऐसा आभास होता था कि वहांपर दिनरात उपहार चढ़ते रहते हैं। इस जिनालयकी नींव बहुत नीचे तक दी गयी थी, उसका पूरा निर्माण काफी ऊंचा था विशाल शिखरोंकी ऊंचाईके विषयमें तो कहना ही क्या है, क्योंकि वे आकाशको भेदती हुई चली गयी थी। उसके प्रत्येक भागको उज्ज्वल चूनेसे पोता गया था। दूरसे देखनेपर वह ऐसा मालूम देता था मानो दूसरा कैलाश पर्वत ही खड़ा है। कहनेका तात्पर्य यह कि वह अद्वितीय मन्दिर मूर्तिमान धर्म ही था। ६६

उसमें प्रेक्षागृह (दर्शन करनेका स्थान), बलिगृह (पूजा करनेका स्थान), अभिषेक-शाला, स्वाध्यायशाला, सभागृह, संगीतशाला तथा पट्टगृह (पुराणोंमें कथा आती है दासियां आदि अपने सेव्य कुमारियों तथा कुमारोंके पट्टको ले जाकर मन्दिरोंमें बैठती थीं और पहिचाननेवालोंको उपयुक्त व्यक्ति समझा जाता है) अलग-अलग बने हुए थे। इन सबमें कटे हुए तोरणों तथा ऊपर बनी अट्टालिकाओंकी शोभा तो सब प्रकारसे ही लोकोत्तर थी। ऊंची ऊंची पताकाएं फहरा रही थीं तथा चंचल ध्वजाओंकी शोभा भी अनुपम थी। संसारके परमपूज्य जिनेन्द्र बिम्बोंका वह चैत्यालय सब दिशाओंमें कई परकोटोंसे घिरा हुआ था। फलतः उसे देखकर पर्वतोंके राजा सुमेरुकी उस श्रीका स्मरण हो आता था जो कि अनेक सुन्दर मेघमालाओंसे घिर जानेपर पावसमें उसकी होती है। ६७ ६८

मन्दिरके विभाग

उत्तम जिनालयके बाहरके प्रदेशों पर प्रियंगु (एक प्रकारका घास), अशोक, कर्णि-कार (कनेर), पुन्नाग (सुपारी), नाग (नागकेशर), अशन (पीत शालवृक्ष) तथा चम्पक वृक्षोंकी सुंदर तथा सुभग वाटिकाएं थीं। उनमें घूमनेसे मनुष्यको शान्ति प्राप्त होती थी। इनके कारण जिनालयकी शोभा और भी अधिक हो गयी थी। इन वाटिकाओं और रम्य उद्यानोंमें आम्र, आवड़ा, अनार, मातुलिंग (विजौरा, पपीता), बेल, क्रमुक (द्राक्षा), अभया (हर्र), ताल, तालीद्रुम (खजूर विशेष), तमाल आदिके सुहावने वृक्ष लगे हुए थे। इन उद्यानोंमें अनेक प्रकारके फूलनेवाले पौधोंकी पंक्तियां खड़ी थीं, जिनके कारण बागोंकी शोभा एकदम चमक उठी थी। इन पुष्प-वृक्षोंमें सुवर्ण (हरिचन्दन), वासन्ती, कुब्जक (सेवती), बन्धूक (मध्याह्नपुष्प) अत्यन्त तीक्ष्ण गन्धयुक्त मल्लिका, मालती, जाती (चमेली) तथा अतिमुक्तक अग्रगण्य थे। खजूर तथा नारिकेल वृक्षोंकी भी कमी न थी। द्राक्षा, गोल मिरच, लवंग, कंकोल ताम्बूल आदिकी सुकुमार सुन्दर लताएं पुष्ट वृक्षोंके आसपास चढ़ी हुईं अद्‌भुत सौन्दर्यका प्रदर्शन करती थीं। वाटिकाओंमें सब ही जगह सुन्दर कदलीवन खड़े थे, ये सर्वदा ही हरे-भरे रहते थे। ६९ ७० ७१ ७२

जिनालयके उद्यान

उत्तम स्थापत्य (निर्माण) कलाका अनुसरण करते हुए उक्त विधिसे उस जिनालयके भीतर तथा बाहरके सभी काम समाप्त किये गये। उसका प्रत्येक भाग आनुपातिक ढंगसे बनाया गया था फलतः उसका आकार सर्वथा दिव्य तथा मनोहर था। वह इतना अधिक रमणीय था कि उसे लोग आनर्तपुरकी महाविभूतियोंमें गिनने लगे थे। उसके निर्माणमें कोई भी सम्पत्ति तथा वैभव अछूता न छोड़ा गया ७३ ७४

असाधारण मन्दिर

था। आगममें बताये गये जिन चैत्यालयके सब ही लक्षण उसमें थे। अतएव वह प्रजाके पापोंको नष्ट करने तथा पुण्यको बढ़ानेमें समर्थ था। उसकी छटा और ज्योतिसे सब दिशाएं
७५ प्रकाशित होती थीं। उसे देखते ही किसी महापर्वतकी छटा याद हो आती थी। नेत्रोंके लिए उसका दर्शन अमृत था। उसमें लगे हुए रत्नोंकी ज्योतिके समक्ष सूर्यका उद्योत भी मन्द पड़ जाता था, पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान ही शीतलता तथा आह्लादको देता था। उसमें किसी भी स्थानपर बैठनेसे समान सुख मिलता था। शोभा और लक्ष्मीकी तो वह निवासभूमि ही था।

७६ उसका नाम भी यथार्थ इन्द्रकूट था। इस पृथ्वीपर रहनेवाले मनुष्योंको जब पहिले-पहिले उसे देखनेका अवसर मिलता था तो वे इस ढंगके तर्क करते थे—'क्या यह जिनालय पृथ्वीको फोड़ कर अपने आप ही ऊपर निकल आया है (अर्थात् अकृत्रिम है) अथवा कहीं
७७ स्वर्गसे अपने आप किसी अज्ञात कारणवश गिर पड़ा कोई विमान तो यह नहीं है? इस

सार्थक इन्द्रकूट

इन्द्रकूट जिनालयके बनानेमें सुयोग्य शिल्पियोंने अपनी पूरीकी पूरी शक्ति, ज्ञान तथा हस्त-कौशलका उपयोग किया था। अतएव यह कहना पड़ता था कि देवोंके समान बुद्धिमान तथा कार्यकुशल श्रीविबुध आमात्यने सम्राटकी आज्ञाके अनुसार ही इस मन्दिरको अनुपम वैभव तथा शोभा सम्पन्न बनवाया था।

७८ आर्य विबुध सदैव अपने स्वामीकी हितकामना करते थे, फलतः वे सम्राटको भी परम प्रिय थे और मंत्रिमण्डलके प्रधान थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे प्रत्येक

जिनमह

कार्यको समुचित क्रमके अनुसार ही करते थे। अतएव श्रीवरांगराजकी आज्ञासे जब उन्होंने चैत्यालय बनवा कर जिनबिम्बोंकी प्रतिष्ठाका भी समारंभ कर
७९ चुके थे तब उन्होंने सम्राटको सब समाचार दिये थे। प्रधान आमात्य आर्य विबुधकी; कल्याण-कारक होनेके कारण महत्त्वपूर्ण विज्ञप्तिको सुनते ही सम्राटने प्रियवचन सन्मान तथा भेंट दे कर उनका विपुल सत्कार किया था। धर्माचरणके अवसरको सामने देख कर वे अत्यन्त प्रसन्न थे अतएव उन्होंने मंत्रिवरको फिर आज्ञा दी थी "आप जिनमह (विशेष विधान) नामक विशाल जिनपूजनके विपुल आयोजनको शीघ्र ही करा दें।"

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्ग चरित नामक धर्मकथामें
सिद्धायन-प्रतिष्ठापन नाम द्वाविंशतितम सर्ग समाप्त।

त्रयोविंश सर्ग

सम्राटकी आज्ञा पाते ही आर्य विबुधने शुभ तिथि तथा लग्नको ज्योतिषियोंसे पूछा था। उन्होंने भी उत्तम मुहूर्त, श्रेष्ठ नक्षत्र तथा समस्त ग्रहोंके सर्वोत्तम योगका क्षण निकाला था। उस समय सब ग्रह ऐसे स्थान पर थे कि कोई किसीका प्रतिघात नहीं करता था, तथा (रात्रिनाथ) चन्द्र भी पूर्ण अवस्थाको प्राप्त थे। ऐसे शुभ लग्नमें ही स्थापन विधिके विशेषज्ञोंने विशाल जिनालय इन्द्रकूटमें राजाकी अनुमतिपूर्वक श्री एक हजार आठ कर्मजेता जिनेन्द्रप्रभुकी प्रतिमाको स्थापित किया था। यह जिनबिम्ब अपनी कान्ति तथा तेजके प्रसारसे (दिननाथ) रविकी प्रखर किरणोंको भी अनायास ही लज्जित कर देती थी। आर्य विबुध स्वभावसे ही धार्मिक प्रवृत्तिके मनुष्य थे, धार्मिक क्रियाओं, विधि-विधानोंके विशेषज्ञ थे तथा उनके सर्वतोमुख ज्ञानका तो कहना ही क्या था। इन सब स्वाभाविक गुणोंके अतिरिक्त धर्ममहोत्सव करनेके लिए राजाकी आज्ञा होनेके कारण उनके हर्षकी सीमा न थी। उससे प्रेरित होकर उन्होंने जिनबिम्ब स्थापनाके क्षणसे ही जिनमहको पूरे वैभवके साथ प्रारम्भ करा दिया था। १ २ ३

मूर्ति प्रतिष्ठा

पूरे नगरमें भेरी बजवा कर घोषणा की गयी थी कि जिसकी जो कुछ भी इच्छा हो वही वही वस्तु निःसंकोच भावसे सम्राटसे मांग लेवें' इस क्रमसे 'किमिच्छक' दान देनेके पश्चात् श्रीवरांगराज नूतन जिनालयमें पहुंचे थे। उस समय उनकी मति पूर्णरूपसे धर्माचरणमें लगी हुई थी। आर्य-विबुध आदि प्रखर प्रतिभाशाली सब ही प्रधानमंत्री, अपनी सुमति, सेवा तथा सत्साहसके लिए विख्यात राजसभाके सदस्य, भी सम्राटके पीछे-पीछे असीम विभवयुक्त घोड़ा, हाथी, पदाति आदि सैनिकोंके साथ चल दिये थे। साम्राज्ञी अनुपमा देवी भी श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी पुण्यमय पूजा देखनेकी अभिलाषासे अन्य समस्त रानियोंके साथ जिनालयको चल दी थीं। क्यों कि उनके साथ जानेवाली सबही रानियां सदैव सम्राटको प्रिय काम करनेमें आनन्दका अनुभव करती थीं, यथायोग्य विनय तथा व्यवहार करके वे सदा ही पति तथा सम्राज्ञीके अनुकूल आचरण करती थीं। ४ ५ ६

किमिच्छक दान

सम्राट वरांगने एक, दो नहीं अनेक दारुण युद्धोंमें विजय प्राप्त करके विमल यश कमाया था, सर्वज्ञ प्रभुके द्वारा उपदिष्ट धर्मका पालन करके उनका अभ्यन्तर तथा वाह्य दोनों ही परम पवित्र हो गये थे तथा अपनी प्रजाको तो सब दृष्टियोंसे वह सुख देते ही थे, तो भी उन्होंने प्रगाढ़ भक्ति और प्रीतिपूर्वक रात्रिके अन्तिम प्रहरमें उठकर कर्मजेता प्रभुकी आराधना करनेके लिए नन्दीमुख (प्रतिष्ठाकी मंगलाचरण विधि) विधिपूर्वक किया था। भांति-भांतिके स्वादु तथा सुन्दर नैवेद्य बनाये गये थे। उनमें कितने ही ऐसे थे जो उसके पहिले कभी बने ही न थे। दीपोंकी पंक्तियां प्रज्वलित की गयीं थीं जिनके प्रकाशसे सारा वातावरण ही आलोकित हो उठा था, मधुर तथा प्रखर सुगन्धयुक्त पुष्प संचित ७ ८

प्रतिष्ठा सरम्भ

किये गये उत्तम धूप तथा अन्य अर्घ्य सामग्री भी प्रस्तुत थी। इन सबको लेकर सम्राटने जिन
९ चरणोंमें रात्रिकी बलि (पूजा) समर्पित की थी। श्री एक हजार आठ तीर्थंकरों, सर्वज्ञके ज्ञानको धारण करनेवाले वागीशों (गणधरों), चक्रवर्तियों, नारायणों, तपोधन मुनियों, अलौकिक विद्याओंके स्वामी विद्याधरों, चारण ऋद्धिधारी साधुओं, हलधरों (बलभद्रों)
१० तथा इन्द्रोंके जिन उदार चरित्रोंका पुराणोंमें वर्णन पाया जाता है, उन सबको गन्धर्वोंके गीतों, श्रुति, ताल, वांसुरी, मृदंग, वीणा, पणव आदि बाजोंके द्वारा गा बजा कर तथा अभिनय-पूर्वक हाव भावोंका प्रदर्शन करती हुई सुन्दरी तरुणियां भांति भांतिके ताण्डवों (शारीरिक चेष्टाओं द्वारा कथानकका अभिनय कर देना) में घटाकर ऐसा नृत्य करती थीं जिसे देख कर मन मुग्ध हो जाता था।

११ कुछ लोगोंने दूसरे जिज्ञासुओंको धर्मोपदेश देकर, दूसरोंने भाव तथा भक्तिके पूरसे आप्लावित श्रुति सुखद स्तोत्रोंके द्वारा सच्चे देवोंकी स्तुति करके, अन्य लोगोंने जगमगाते हुए,

बहुमुखी भक्ति

विमल दीपोंके प्रकाशमें बैठकर मधुर कण्ठसे शास्त्रोंका पाठ करते हुए, ऐसे भी सज्जन थे जिन्होंने मिथ्या दृष्टिको उखाड़ फेकनेका प्रयत्न करते
१२ हुए, दूसरोंका यही प्रयत्न चलता रहा था कि किसी प्रकार संयम अमल तथा दृढ़ हो तथा जिन लोगोंका तपयोग लगानेका अभ्यास था उन्होंने भी उत्तम समाधिको लगाते हुए ही सारी
१३ रात्रिको व्यतीत कर दिया था। उस दिन रातभर किसीने पलक भी न झपने दिया था। रात्रिमें जिनकी निर्मल कान्ति तथा प्रकाश अन्धकारको नष्ट कर रहे थे उन्हीं चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारका तथा प्रज्वलित दीपकोंकी प्रभाके पीले पड़ जाने पर प्रातःकालीन मंगलकी सूचना देनेके लिए जलधरोंकी गर्जनाके सदृश मन्द्र ध्वनि करते हुए भेरियों, शंखों तथा मर्दलोंके साथ
१४ अनेक बाजे बजने लगे थे। उक्त प्रकारके धार्मिक व्यासंग तथा अन्य इसी प्रकारकी कथाओं आदिको करते हुए ही उत्सवकी वह प्रथम रात्रि न जाने कब बीत गयी थी।

उषाकालमें जब लालवर्ण सूर्यबिम्ब उदयाचलपर उठ आया था तो ऐसा प्रतीत होता था कि जिनेन्द्र प्रभुकी प्रगाढ़ भक्तिसे प्रेरित हो कर ही सूर्य स्वर्णका कलश लेकर सेवामें उपस्थित

१५

प्रातःकालीन पूजा

हुए हैं। जो लोग चौक पूरने तथा प्रातःकालीन पूजाकी विधिके विशेषज्ञ थे उन्होंने भांति-भांतिके शुद्ध सुगन्धित चूर्णों, पुष्पों, अक्षतों तथा चौक पूरने आदिमें सर्वथा उपयुक्त (दशके आधे) पाँच प्रकार शुद्ध रंगोंको ले कर मन्दिरकी भूमिपर भी नाना प्रकार तथा आकारके चौक पूर कर प्रातःकालीन अर्घ्य चढ़ाये थे।

१६ पूजाके दिनोंमें मन्दिरमें रहना आवश्यक था अतएव बड़े यत्न और परिश्रमके द्वारा लगाये गये सुन्दर वृक्षोंकी कतारोंके मध्यमें मनुष्योंके अधिपतिका एक गृह था, जिसके समस्त

जिनालय-वास

शिखर ऊपर, ऊपर ही उठते गये थे। उसके सुन्दर दृढ़ कपाटोंपर अनेक भांतिके मणि लगे हुए थे, उनसे छिटकती हुई प्रभाके कारण
१७ कपाटोंकी शोभा अत्यन्त मोहक हो गयी थी। सब प्रकारकी सम्पत्तिसे परिपूर्ण तथा विशाल शोभाके भंडार उस राजगृहमें सम्राटके पुरोहित पूजा कार्योंमें ही लगे रहते थे अतएव उनके द्वारा ही जिनेन्द्रदेवकी पूजाके लिए आवश्यक अष्टद्रव्य तथा अभिषेकमें उपयोगी समस्त
१८ साज समारम्भ महाराजके लिए बड़ी बुद्धिमत्ताके साथ तयार कराया गया था। जल, चन्दन, तण्डुल, पुष्प, फल, जौ, सरसों, अक्षत, कृष्णतिल, लावा, दूध, दही, घी, सुन्दर दूब, कुश,

सुगन्धित द्रव्य, आदि अर्घ्य और अभिषेकमें आवश्यक सब सामग्री तथा उपकरण वहांपर सजे रखे थे।

जन्म-जरा-मृत्यु आदिकी शान्तिके लिए जल चढ़ाते हैं, विषय वासनाओंको सर्वथा मिटानेके लिए पय (दूध) से पूजा करते हैं, दधिके द्वारा पूजा करनेसे कार्यसिद्धि होती है, दूधसे पूजा करनेसे परम पवित्र धाम (मोक्ष) में निवास प्राप्त होता है। शुद्ध तण्डुलोंसे जिनेन्द्रदेवके चरणोंकी उपासना करनेका फल दीर्घ आयु होती है, सिद्धार्थक (पीले सरसों) की बलि प्रभुके समक्ष समर्पित करनेका अवश्यंभावी परिणाम यही होता है कि इष्टशिष्ट कार्योंमें किसी भी रूपमें विघ्नबाधा नहीं आती है। जो पुरुष तिलोंकी बलिका भक्तिभावसे उपहार करते हैं वे संसारमें सब ही दृष्टियोंसे वृद्धिको प्राप्त करते हैं। शुद्ध तथा अखण्डित अक्षतोंकी पूजाका परिपाक होनेसे मनुष्य निरोग होता है। यवके उपहारका अटल फल सब दृष्टियोंसे कल्याण है, घृतके उपहार-का परिणाम सुरूप और स्वस्थ शरीर होता है, भक्तिभावपूर्वक फलोंके चढ़ानेसे इस लोकमें ही नहीं अपितु परलोकमें भी इच्छानुसार परिपूर्ण भोग प्राप्त होते हैं। सुगन्धमय पदार्थोंकी अंजलि करनेसे प्राणी अपने तथा परायोंको स्नेहभाजन होता है उसे देखकर ही लोग आह्लादित होते हैं। लावा तथा फूलोंके उपहारका परिणाम जब उदयमें आता है तो प्राणीका हृदय तथा बुद्धि निर्मल और स्थिर होते हैं। १९ २० २१

द्रव्योंका विशेष फल

दूसरे प्रतिष्ठाचार्य जिन्हें दिशाओंके अधिपतियों (दिक्पालों) तथा उनके प्रिय अतएव योग्य पात्रोंकी धातु, आदिके विवरणका विशेष ज्ञान था उन लोगोंने ही इन्द्रकूट जिनालयके पूजा मंडपमें शुद्ध सोने, चाँदी, निर्मल ताम्बे, कांसे, आदिके पात्र बनवा कर इन्द्र आदिके पदका ध्यान रखते हुए; संख्या और क्रमके पूरे विचारके अनुकूल स्थापित करवाये थे। अभिषेक मण्डपमें बड़ी-बड़ी नादें सोनेके शंख आदिके सदृश अनेक आकार और प्रकारोंमें बने हुए कलश, झारियां, पालिकाएं (थालीसे गोल घड़े) आवर्तक (घुमावदार पात्र) आदि पात्र तथा सोनेसे ही बने अनेक यन्त्र रखे हुए थे। इनमें नदियोंके पवित्र जल, झरनोंके धातुओंके रसमय जल, कूपोंके नीर, बावड़ियोंसे भरा गया जल, जलाशयोंके नीर, तालाबोंका जल तथा तीर्थस्थानोंके परम पवित्र जलको पुरोहितने विधिपूर्वक ला कर भर दिया था। सोने चांदी आदिके कितने ही कलश दूध, दधि, पय (विशिष्ट पानी), घी, आदि अभिषेकमें उपयोगी द्रवों से भरे रखे हुए थे, यह सब कलश मुखपर रखे हुए श्रीफल आदि फलों, फूलोके गुच्छो तथा पत्तोंसे ढके हुए थे। प्रत्येक कलशके गलेमें मालाएं लटक रही थीं। इस सब शोभाके अतिरिक्त सुवर्णकारोंके द्वारा इनपर खोदी गयी चित्रकारीकी शोभाका तो वर्णन करना ही कठिन था। (आठ अधिक एक हजार अर्थात्) एक हजार आठ बड़े-बड़े कलश शीतल जलसे भर कर रखे गये थे। उनके मुख विकसित कमलों, नीले कमलों आदिसे ढके हुए थे। श्री जिनेन्द्रदेवके महाभिषेकके समय ही यह कलश काममे लाये जाते थे। चार प्रकारकी उपमानिकाओं (मिट्टीके घड़े जो कि पूजा आदि धार्मिक काममें आते हैं) को हल्दी, सुगन्ध द्रव्य तथा ओदन आदिसे संस्कृत किया था। उनपर मालाएं भी बांधी गयी थीं। तथा दूबाको रखकर कच्चे तागेसे बांधकर उनको तयार करके किनारोंपर रख दिया था। २२ २३ २४ २५ २६ २७

दिक्पाल पूजा

अभिषेक सज्जा

२८ सब जातिके शिष्ट फल एकत्रित किये गये थे जिन्हें देख कर आंखें तृप्त हो जाती थीं। दूधयुक्त वृक्षोंके फल-पनस, आदि भी लाये गये थे तथा आंवला आदि कसैले फलोंकी भी कमी न थी। मनःसिला (मैनसिल एक प्रकारकी गेरू) इंगु (हिंगुल) कुंकुम, आदि रंगोंकी सब

२९ जातियां वहांपर संचित की गयी थीं। सुगन्धित द्रव्य जिनमें उत्तम् चन्दन, गोरोचन, आदि अग्रगण्य थे इन सब सुगन्धित पदार्थों तथा भांति भांतिके अन्य गन्ध द्रव्योंको, अनेक प्रकारकी एकसे एक बढ़ कर धूपोंको तथा अन्य पूजाकी सामग्रीको पूजाकी विधिके विशेषज्ञ पुरोहितने

३० प्रचुर मात्रामें संकलित किया था। भांति भांतिके सुगन्धित चूर्णोंका भी संचय किया गया था, इनके रंग भी बड़े विचित्र थे। विविध प्रकारके नैवेद्य अनेक रंगों और आकारोंसे युक्त करके बनाये गये थे। संघातिम (विशेष रंग-विरंगी माला) आदि सुन्दर मालाओंके ढेर लगे हुए थे तथा पांचो प्रकारकी विपञ्जिका (हवन सामग्री) भी प्रचुर मात्रामें तैयार थी।

३१ उक्त क्रमसे समस्त सामग्री प्रस्तुत हो जानेपर सम्राट वरांगराजने अपने वृद्ध प्रतीहारोंको चलनेका आदेश दिया था। स्वामीका आदेश पाते ही उन्होंने हाथमें बेतका डंडा उठा लिया था, और तत्परताके साथ इधर उधर दौड़ते फिरते हुए पूजाकर्ममें नियुक्त सब लोगोंको

३२ कहते जाते थे 'शीघ्रता करो, सम्राट तयार हैं' प्रतीहारका संकेत पाते ही पूजा सामग्री ले जानेके लिए नियुक्त युवक लोगोंने समस्त सामग्रीको उठा लिया था। उन सब बलवान्

सामग्रीकी मन्दिर यात्रा

युवकोंने पवित्र लेप करके खूब स्नान किया था, इसके उपरान्त शुद्ध श्वेत वस्त्र धारण किये थे। उनके गलेमें हिलती डुलती हुई चंचल मालाएं पड़ी थीं तथा उन दिनों परिपूर्ण ब्रह्मचर्य पालन करनेके कारण उनके शरीर अत्यन्त

३३ पवित्र थे। इन युवकोंके द्वारा उठायी गयी पूजा सामग्री इतनी शुद्ध और स्वच्छ थी कि उसकी प्रभासे सारा वातावरण आलोकित हो रहा था। इन युवकोंके, आगे प्रधान श्रावक लोग सर्वोत्तम पूजन सामग्रीको मुकुटके ही समान अपने शिरोंपर रखकर लिये जा रहे थे। इन श्रावकोंने पहिलेसे उपवास कर रखा था, शुद्ध धवल वस्त्र धारण कर रखे थे तथा पूजाके

३४ समय पालन करने योग्य सब ही व्रतोंको दृढ़तासे निभा रहे थे। समस्त पूजन सामग्रीके आसपास मणि तथा दीपोंकी आवलियां सजायी गयी थीं, वे सब ओरसे सुन्दर सुगन्धित मालाओंसे वेष्टित थीं तथा उनकी छटा अद्भुत ही थी।

इस विधिकी आठ सौ प्रमाण पूजन सामग्री जब राजसदनसे मन्दिर ले जायी रही

३५ थी, तब नगरकी कुलबधुएं बड़ी उत्सुकतापूर्वक उसे देख रही थीं। पवित्र वेशभूषा युक्त

चमर-धारिणी ललनाएं

शिष्ट सुन्दरियां पूजन-सामग्रीके आसपास चमर हिलाती जाती थीं। वे सबके सब चमर भी उत्तम प्रकारके धवल चमर थे। अतएव देखनेके लिए मार्गके दोनों ओर एकत्रित हुए विशाल जन समूहको ऐसा अनुभव होता था

३६ मानों सामग्रीके आसपास हंस ही उड़ रहे हैं। महा मूल्यवान मणियोंको सूतमें पिरो कर झालर बनायी थी और उसे चमरोंके अन्तिम भागमें लगा दिया था। चमरोंकी डंडिया स्वच्छ सोनेसे बनी थी। ऐसे लम्बी डंडीयुक्त चमरोंको जब युवक ढोरते थे तो वे गंगाकी लहरोंके

३७ समान शोभित होते थे। सामग्रीके ऊपर युवक लोग पवित्र छत्र लगाये थे। इन छत्रोंके बड़े-बड़े मनोहर डंडे वैडूर्य मणियोंके बने थे, इनके ऊपर मढ़ा हुआ वस्त्र हंसके पंखों अथवा कुन्द (जुही या कनैर) पुष्पकी पंखुड़ियोंके समान अत्यन्त धवल था तथा चारों ओर मधुर

शब्द करती हुई छोटी-छोटी घंटियां बंधी हुई थीं। भृंगारिक (झारी), दर्शन (दर्पण), ३८
पालक (पंखा) आदि अष्टमंगल द्रव्य तथा अत्यन्त शोभाके भंडार माला आदिसे सुसज्जित
चित्रों और चित्रपटोंको हाथोंमें लेकर सबके आगे-आगे कुलीन कुमारियां चल रही थीं। इन
वस्तुओंके समस्त आकार और प्रकारोंका वर्णन करना अतीव कठिन था। चक्रों, खड्गों, ३९
धनुषों तथा श्रेष्ठ अंकुशोंकी जोड़ियां, तथा स्वस्तिकोंकी मालाओं आदिको व्रतधारिणी स्त्रियां
ही अपने हाथोंसे उठाकर ले जा रही थीं। इनकी विभूति अपार थी। इनकी उपयोगिता भी
केवल शोभा और शकुन ही थे। इन चक्र आदि मंगल द्रव्योंको ले जानेवाली स्त्रियोंकी कान्ति ४०
बिजलीके समान चमक रही थी। इनके भी आगे-आगे जो देवियां चल रही थीं वे तीव्र
सुगंधयुक्त तथा लाल कमलके समान गाढ़े और मनोहर रंगयुक्त रंगोंकी सामग्रीको ले जा रही
थी। ये देवियां इतनी अधिक लावण्यवती थीं कि उनके सौन्दर्यकी तुलना अप्सराओंसे
ही हो सकती थी।

सबसे उत्तम श्रेणीके सोनेसे निर्मित एक हजार कलशोंको जो कि पवित्र निर्मल जलसे ४१
भरे हुए थे तथा विकसित कमलोंसे ढके हुए थे। उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि स्पर्द्धासे ही
प्रेरित हो कर ही कुलीन तरुणियोंने उठा लिया था और जिनालयको ले जा रही थीं। सोनेके ४२
कलशोंके अतिरिक्त अनेक मिट्टीके घड़े भी पवित्र जल भर कर रखे गये थे। इन सब सुन्दर
सज्जित कलशोंको भी हजारों स्त्रियां उठा कर लिये जा रही थीं। ये कलश ऐसे प्रतीत होते
थे कि अपने सुभग आकारसे विलासिनी कुलवधुओंके स्तनरूपी कलियों-
की हंसी ही उड़ाते थे। ऐसी किशोरियां जो कि कामदेवके बहुत दूर ४३
तक भेदनेवाले आयुधोका लक्ष्य बन चुकी थीं तथा जिनके सुकुमार स्तनरूपी कलियां उठ ही
रही थीं वे छोटे-छोटे शरावो (गमलों) मे लगी हुई सुन्दर लताओंके द्वारा ढके हुए मांगलिक
कलशोंको लेकर इन्द्रकूट जिनालय पहुंचा रही थीं। चंचल कुंडल तथा हारोंको पहिने हुए ४४
स्वस्थ, तेजस्वि तथा बलिष्ठ शरीरधारी पुरुष भवनवासी देवोंके सुपर्णकुमार, नागकुमार तथा
कल्पवासियोंके इन्द्रोंके विशाल तथा ललित केतुओंको लिए हुए जिनालयकी दिशामें जा रहे थे।
इन ध्वजाओंके ऊपर (मृगोंके इन्द्र) सिंह, कमल, वृषभ, चक्र आदिकी सुन्दर तथा सजीव
आकृतियां बनी हुई थीं। जिस सज्जनको श्री जिनेन्द्रदेवके स्नपनमें प्रधानका कार्य करना था, ४५
उसने उबटन आदि लगाकर स्वयं विधिपूर्वक स्नान किया था, उसकी सब इन्द्रियां पूर्ण स्वस्थ
थीं तथा वह यक्षदेवोंके समान ही स्नपन तथा कलशाभिषेकमें अत्यन्त कुशल था। अतएव
जिस समय वह सोनेकी विशाल तथा विचित्र झारीको लेकर चला था तब ऐसा लगता था कि
उदयाचल पर्वत ही सूर्यके बिम्बको ले कर चल रहा है। इनके आगे कितने ही लोग फूलोंको ४६
बिखेरते चल रहे थे। श्रेष्ठ सुन्दर परागरूपी धूलसे वे फूल धूसरित हो रहे थे। उनकी
सुगन्धसे आकृष्ट हो कर भौंरोके झुण्डके झुण्ड उनपर टूट रहे थे। तथा वे सब फूल मुरझानेसे
बचानेके लिए उत्तम चन्दन मिश्रित जलसे सींचे गये थे।

नट लोग, भांड़ लोग, तथा अनेक जातियोंके भोजक, परिहासकुशल विदूषक तथा
विडम्बकों (नकल उतारनेवाले) ने अपना वेशभूषा ही ऐसा बना ४७
रखा था कि उसे देख कर तथा उनकी बातोंको सुन कर ही हंसी आती
थी। इस अद्भुत शैलीसे लोगोंका मनोरंजन करते हुए सब दृष्टियोंसे जिन पूजाकी प्रशंसा

कलश यात्रा

जलयात्राके विविध रूप

४८ करते चले जा रहे थे। मृदंग भेरी आदि बाजोंकी जोरकी आवाज दर्शनार्थियोंके कानोंसे टकरा रही थी। इन सबमें मर्दल (बड़े नगाड़े) की मोटी तथा दूरतक सुनायी देनेवाली ध्वनि प्रधान थी। सब बाजोंकी मिली हुई ध्वनिको सुन कर लोगोंके मनमें अमावस्या तथा पूर्णिमाके दिन आये ज्वार भाटेके कारण उमड़ते हुए कुपित समुद्रके रोककी आशंका उत्पन्न हो जाती

४९ थी। कुछ पताकाओंके कपड़ेकी शोभा सारसोंकी पंक्तिके समान अत्यन्त धवल थी, कितनी ही पताकाओंके लहराते हुए वस्त्रको देख कर सन्ध्याके रंगसे रक्त मेघोंका धोखा हो जाता था।

५० अन्य अनेक पताकाएं नीले, पीले तथा हरे रंगोंकी थीं। कुछ पंचरंगी भी थी जिनकी शोभा देखते ही बनती थी। गली, गलीमें तथा उनके मोड़ोंपर सुन्दर तोरण बनाये गये थे। उनपर चमचमाते हुए निर्मल सोनेकी बन्दनवारें और मालाएं लटक रही थीं, जिनमें बीच, बीचमें बहुमूल्य मणिमुक्ता पिरोये गये थे। मोतियोंकी लड़ियां भी तोरणोंमें लटक रही थीं जो कि

५१ हवाके झोकोंसे चंचल होनेपर अद्भुत छटा उपस्थित कर देती थी। नगरके प्रत्येक गृहके द्वार-पर सोनेके बड़े-बड़े घड़े तीर्थोंका पानी भर कर रखे गये थे। उन कलशोंकी छटा बड़ी प्रखर और प्रकाशमय थी, उनके गलेमें सुन्दर सुगन्धित मालाएं लपटी हुईं थीं तथा वे सबके सब विकसित कमलोंसे ढके हुए थे। इस सजावटके कारण उनकी शोभा अति अधिक बढ़ गयी थी।

५२ सम्राट वरांगके द्वारा स्थापित आनर्तपुरका निवेश प्रारम्भमें ही ऐसी सुन्दर वास्तु शैलीके अनुसार हुआ था कि वह सहज ही सुसज्जित नगरोंसे अधिक सुन्दर दिखता था, उस-पर भी जब जिनेन्द्रमहकी तयारी हुई तो उसकी शोभा दुगुनी हो गयी थी। उसके विभव और शोभाको देख कर ऐसा लगता था कि उसने सम्पत्तिके एकमात्र अधिपति (कुवेर) की

५३ लक्ष्मीके सारको ही प्राप्त कर लिया था। पूजारूपी पवित्र नदी ही उस नगरके मार्गपर उमड़ती चली जा रही थी। मन्दिरकी ओर जाते हुए लोगोंकी भीड़ उस नदीकी जलराशि

जलयात्रा-सरिता रूपक

थी, ऊपर उठाये गये धवल छत्र ही उसकी लहरें थे, पूजन अभिषेक सामग्री फेन थी, लहराती हुई ऊंची-ऊंची पताकाओंने उड़ कर झपट्टा मारते हुए सारसोंके झुंडका स्थान ग्रहण किया था तथा ढुरते हुए चंचल चमर ऐसे प्रतीत

५४ होते थे मानो हंसोंकी पंक्तियां ही उड़ रही हैं। पूजा करने और देखनेके लिए सम्राटके राज-भवनसे निकल कर इन्द्रकूट जिनालय तक पहुंची हुई धार्मिक श्रावकोंकी विभव और कान्तिसे शोभायमान पंक्ति धीरे-धीरे चलती हुई ऐसी लगती थी, जैसी कि निर्मल आकाशमें चमकते हुए असंख्य तारोंकी पंक्ति शोभित होती है।

५५ सम्राटके चढ़नेके लिए लाये गये हाथीके गण्डस्थलसे मदजल बह रहा था अतएव उन्हें (गण्डस्थलोंको) भौंरोंके झुंडने घेर रखा था। ऐसे हाथीपर जब श्री वरांगराज जिनालय-के लिए निकले थे तब उनके आन्तरिक हर्षकी सीमा न थी। उस समय उन्होंने दीनोंको धन लुटाया था, अपने सौन्दर्यके कारण यौवन मदसे उन्मत्त नायिकाओंमें उत्तेजना उत्पन्न की थी तथा युद्धवीर आदि रूपोंके साथ अपने धर्मवीर रूपको भी प्रकट करके शत्रुओंके मनमें

५६ पुजारी राजा

असूयाका संचार किया था। धर्म महोत्सवके अनुकूल वेशभूषासे सुसज्जित नगरकी कुलीन देवियोंके साथ-साथ सम्राटकी पत्नियोंकी पालकियां निकलना प्रारम्भ हुई थीं। जिन्हें देख कर चलते-फिरते गृहोंकी पंक्तिका भ्रम हो जाता था। इन पालकियोंके आगे पीछे तथा दोनों पक्षोंमें वृद्ध पुरुष तथा अन्तःपुरमें पले-पुषे अन्य परि-

चारकोंके झुंड चले जा रहे थे। पूर्वोक्त साज़, सज्जा तथा वैभवके साथ राजपत्नियां सम्राटके पीछे-पीछे ही इन्द्रकूट जिनालयमें जा पहुंची थीं। वहां पहुंचते ही उतर कर उन सबने पहले तीन प्रदक्षिणाएं की थीं, फिर प्रवेश करके अर्घ्य आदि सामग्री चढ़ा कर वे अभिषेकशालाकी ओर चली गयी थीं। जहांपर वेदीके चारों ओर वृत्ताकार बनाकर वे बैठ गयी थीं। ५७

अभिषेक शालामें स्नपनाचार्य पहिलेसे ही सुगन्धित चन्दन मिश्रित जलसे हाथ धोये हुए उचित मुहूर्तकी प्रतीक्षा कर रहे थे। तुखार (तुरुष्क) देशसे लायी गयी धूपको वैसान्दुर मे जलाया जा रहा था उससे निकलते हुए धुएंमें डालकर उन्होंने अपने हाथोंको सुखा लिया था। उनके हाथ पुष्प आदि सामग्रीको विधिपूर्वक यथास्थान डालनेमें अत्यन्त अभ्यस्त थे तथा पवित्र कुशाको हाथमे लिये ही वे खड़े थे। अभिषेकका समय निकट होनेके कारण मृदंग आदि बाजे लगातार बज रहे थे, जिनसे मन्द्र और गम्भीर नाद हो रहा था, लहराती हुई ऊँची पताकाएं लहरोंके सदृश मनोहर थीं तथा हर दिशामें ढुरते हुए चमर स्वच्छ सुन्दर फेनपुंजके समान दिखते थे अतएव अभिषेक गृह पूजासर (तालाब) के समान लगता था। सम्राटके पहुँचते ही स्नापकाचार्य धीरेसे इस तालाबमें उतर गये थे अर्थात् उन्होंने कार्य प्रारम्भ कर दिया था। वह तुरन्त ही जाकर तीनों लोकोंके नाथ जिनेन्द्र प्रभुकी मूर्तिको ले आये थे। उसको रत्नोंसे जड़े गये महार्घ आसनपर विराजमान करके उन्होंने उपक्रमकी समाप्ति पर्यन्त मौनव्रत धारण कर लिया था। तथा मन, वचन तथा काय तीनोंको लगाकर प्रयत्न-पूर्वक पूजा प्रारम्भ कर दी थी। अपने आत्मा तथा अन्य इन्द्रियोंको एकाग्र करके स्नापकाचार्यने सबसे पहिले साष्टांग प्रणाम किया था, तब दोनों भुजाओंसे सावधानीके साथ बड़ी झारीको उठाया था और सबसे पहिले श्री एक हज़ार आठ जिनेन्द्रदेवके चरणोंका अभिषेक प्रारम्भ करते हुए उत्तर दिशाकी ओर पूजाकी सामग्रीका अर्घ समर्पित किया था। दोनों हाथों रूपी कमलोंके द्वारा पहिले भगवानकी मूर्तिको भलीभांति पोंछा था, फिर बायें हाथकी हथेलीपर अर्घ्य लेकर 'जिनादिभ्यः स्वाहा' स्पष्ट-रूपसे मुख द्वारा उच्चारण करते हुए हाथके अंगूठेके सहारे वे थोड़ेसे पानीकी पतली धार गिराते जाते थे। इतनी विधि पूर्ण कर लेनेके पश्चात् उन्होंने बीजाक्षर (ओम् ह्रां, ह्रीं, आदि) परिपूर्ण मंत्रोंका विशुद्ध उच्चारण करते हुए श्री जिनेन्द्र बिम्बके उत्तमांग (मस्तक) पर यथाविधि अर्घ्य चढ़ाया था। फिर ऊंचे स्वरसे स्तोत्रोंका पाठ करते हुए परम प्रसन्न विवेकी स्नापकाचार्यने जिन बिम्बका मस्तकाभिषेक किया था। इतना कार्य समाप्त करके उन्होंने फिर अपने हाथोंको धोया था। तब पुष्प और अक्षत उठाकर जिनेन्द्रदेवके चरणोंमे चढ़ाये थे। इसके बाद रंग बिरंगे जलोंसे परिपूर्ण उपमानिकाओंके जलकी धाराके साथ साथ अन्य कलशोंके पवित्र जलकी धारा देना भी प्रारम्भ किया था। निर्मल, पवित्र जलसे भरे सोनेके एक हजार आठ कलशोंसे अभिषेक करनेके पश्चात् विकसित पुष्पोंसे ढके मिट्टीके घड़ोंकी धाराएं जिनेन्द्रदेवके मस्तकपर छोड़ी थीं तथा और भी अनेक प्रकारके रसोंसे परिपूर्ण कलशोंसे अभिषेक कर चुकनेके बाद आचार्यने चन्दनके उबटनसे भगवान्का लेप किया था। इसके उपरान्त आचार्यने जिनबिम्बके गलेमें सुन्दर, सुगन्धित तथा अम्लान पुष्पमाला पहिना दी थी। वह माला सुगन्धित चन्दनके जलसे आर्द्र की गयी थी, अपने किंजल्कों (जीरों) से

५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६

मुहूर्त प्रतीक्षा

अभिषेक प्रारम्भ

जिनबिम्ब-शृंगार

झरे परागरूपी धूलके कारण उसका रंग धूमिल हो गया था तथा उसकी सुगन्धसे उन्मत्त भौंरे
६७ चारों तरफ गुंजार कर रहे थे। उस समय अनेक आकार और प्रकारके सोनेके पुष्पों; बिजली के उद्योतके समान प्रखर प्रभामय रत्नोंकी मालाओं, तथा विविध आभूषणोंके समर्पणके द्वारा अर्घ्य चढ़ा कर पुजारियों और दर्शकोंने जिनपूजा (रूपी नायिका) का ही शृंगार कर डाला
६८ था। चारों ओर दीपावलियां प्रज्वलित कर दी गई थीं, सब प्रकारकी हवन सामग्रीका होम करनेके पश्चात् पूर्ण आहुति दी गयी थी। इसके उपरान्त आचार्यने हाथ बिना सुखाये ही अर्थात् तुरन्त ही जिनालयके क्षेत्रपाल देवताओंके स्थानको निमित्त आदि ज्ञानसे जानकर
६९ उसी दिशाको लक्ष्य करके उन्हें तथा समस्त दिक्पालोंको अर्घ्य चढ़ाये थे।

इस क्रमसे अभिषेक विधानको पूर्ण करके स्नापकाचार्यने जलसे अपने हाथ धोये थे, और दर्पण चमर आदि मंगल द्रव्योंको जिनबिम्बके सामने रखकर प्रदर्शित किया था, तब उन्होंने

अष्टमंगल द्रव्यार्पण

७० अपने मौनको खोल कर तीन बार स्वस्तियज्ञका वाचन किया था। स्वस्तिवाचनके बाद ही वहां उपस्थित साधु, सज्जन हाथ जोड़े हुए मंगल, विनती, स्तोत्र तथा मन्त्रोंका उच्चारण करते हुए श्री जिनेन्द्रदेवकी मूर्तिके सामने आये थे। उनके मन तथा भाव अत्यन्त शुभ और शुद्ध थे अतएव उन्होंने भक्तिसे गद्गद होकर प्रभुके
७१ चरणोंमें प्रणाम किया था। इसके तुरन्त बाद ही स्नापकाचार्यने धीर गम्भीर स्वरसे घोषणा की थी 'संसार भरके प्राणियोंका कल्याण करनेके लिए अर्हन्तकेवलीके द्वारा उपदिष्ट जिन धर्मका जय हो।' तदनन्तर आशीर्वचन करते हुए मृदंग तूर्य आदि बाजोंके नादके बीच ही उन्होंने जिन बिम्बको वेदिकापर विराजमान कर दिया था।

७२ इस प्रकार अभिषेक समाप्त होते ही मन, वचन तथा कायसे पूर्ण शुद्ध सम्राटने अपनी रानियोंके साथ जिनालयमें प्रवेश किया था। जिनबिम्बोंके सामने जाते ही उन्होंने

आशीर्वाद

भक्ति-भावसे ओतप्रोत होकर साष्टांग प्रणाम किया था। तथा जिनेन्द्रदेव की शेषिका (आरती होनेके बादका दीपक या वैसान्दुरके पात्र पर दोनों हाथ जोड़कर उसका धुंआ आदि लेकर आँखों और मस्तकपर लगाना) को ग्रहण किया था।
७३ पट्टरानी अनुपमाका मनोरथ (जिनपूजोत्सव) उस समय पूर्ण हो रहा था अतएव मन ही मन उनको जो असीम आनन्द हो रहा था उसको वर्णन करना असम्भव है। पूजामण्डपमें सम्राटके साथ बैठी हुई पट्टरानीकी कान्ति और तेजको देखकर महेन्द्रकी पत्नी शचीका
७४ धोखा हो जाता था। इसी शुभ अवसर पर किन्हीं मुनिराजने धर्मोपदेश देकर प्रभावना करनेके अभिप्रायसे निम्न व्याख्यान दिया था। जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तोंका अध्ययन करनेसे गुरुवरकी बुद्धि निर्मल हो गयी थी, त्रिगुप्तिका पालन करनेके कारण उनकी मानसिक, वाचनिक तथा कायिक प्रवृत्तियां परिशुद्ध ही होती थीं तथा सदा शान्त भावोंके कारण दिन-रात उनका शुभ और शुद्ध उपयोग बढ़ रहा था।

७५ जो प्राणी इस धरित्रीपर आदर्श जिनालय बनवाकर सत्य धर्मकी परम्पराको विच्छिन्न होनेसे बचाते हैं; बचाते ही नहीं हैं अपितु उसका प्रसार करते हैं, वे परम धार्मिक इस

जिनालय निर्माणका फल

संसारको छोड़नेके बाद उन उत्तम विमानोंको प्राप्त करते हैं जो कि समस्त ऋद्धियों, समीचीन प्रेम-प्रपंच तथा अनवरत सुखोंसे परिपूर्ण हैं।
७६ तथा जो धर्म-प्रवण व्यक्ति जिनालयका निर्माण कराके आह्लाद-पूर्वक जिनेन्द्र प्रभुका महामह

(बड़ी पूजा) कराता है तथा जिसको संसारके भोग विषयों अथवा सम्पत्ति पद आदिकी वृद्धिका मोह नहीं है वह आगामी भवोंमें दीर्घकाल पर्यन्त मनुष्य गति, देव तथा असुरोंके उत्तमोत्तम भोगोंका उपभोग करके अन्तमें मोक्षरूपी महासुखको ही प्राप्त करता है।

मूर्तिस्थापन का फल

जिनालयोंमें जो केवल श्री जिनविम्बकी स्थापना ही कराते हैं वे भी मनुष्य तथा देवगतिके सुखों और अभ्युदयोंको प्राप्त करते हैं। तथा जो पुरुष दूध, दधि, इक्षु रस आदिके द्वारा जिनेन्द्रदेवका पंचामृत अभिषेक कराते हैं वे स्वयं राज्य अभिषेक आदिके अधिकारी होते हैं। ७७

अभिषेकका फल

जो मनुष्य सुगन्धि द्रव्योंके द्वारा वीतराग प्रभुकी पूजा करते हैं उनके शरीर, श्वास, पसीना आदि ऐसे सुगन्धित होते हैं कि उसके आगे चम्पक, नागकेशर आदि प्रखर गंधमय पुष्पोंकी सुगंध भी मन्द पड़ जाती है। ७८

द्रव्य-पूजाका फल

धूपकी अंजलि समर्पित करनेसे मनुष्य अपने कुलोंमें प्रधान व्यक्ति होते हैं तथा दीपकसे अर्चना करनेका परिणाम होता है तेज युक्त भाव और देह। मालाओंके उपहार जिन चरणोंमें देनेसे केवल विषयोंसे ही विरक्ति नहीं होती है अपितु स्वर्णमय अंगद, आदि आभूषणोंसे देह अलंकृत रहती है। मुक्ताओं और रत्नोंसे जगमगाते मुकुट समर्पित करनेसे जीव स्वयं ही अगले भवमें प्रकाशमान मुकुट और राजचिन्ह पट्ट आदिको प्राप्त करते हैं। स्वच्छ सुन्दर दर्पण भेट करनेसे पापमल शुद्ध होता है, मंगलचिन्ह झारीको चढ़ाकर जीव सुभग तथा कमनीय रूपके अधिकारी वनते हैं, कलश ७९ ८०

अष्ट-मंगल-दान-फल धर्म

चढ़ानेसे कषाय आदि दोषोंकी शान्ति होती है तथा स्थाली चढ़ाकर जीव सबसे बड़े धनाढ्य होते हैं। धर्म-चक्र मंगल द्रव्यको चढ़ानेके प्रतापसे जीव समस्त शत्रुओंका विजेता होता है, तूर्य भेंट करनेके परिणामस्वरूप सम्यक्दृष्टी पुजारीकी कीर्ति तीनों लोकोंमें गाथी जाती है, चंदोवा चढ़ानेके ही कारण लोग अलौकिक विद्याके ज्ञानसे विभूषित विद्याधर होते हैं तथा छत्र समर्पित करनेसे उत्पन्न पुण्यके उदय होनेपर पुजारीके राज्यका विपुल विस्तार होता है। घंटा समर्पित करनेका परिपाक यही होता है कि श्रावकको सुस्वर प्राप्त होता है। रंग-विरंगी ध्वजाएं समर्पित करनेवाले श्रावकोंका शासन अलंध्य होता है तथा जो नियमसे जिनेन्द्रदेवकी बन्दना करते हैं वे सबके द्वारा पूजे ही नहीं जाते हैं अपितु उन्हें सब ऋतुओं तथा ऋद्धियोंके फलोंकी एक साथ ही प्राप्ति होती है। उक्त क्रमसे उदार आशय ऋषिराजने सम्राट् तथा समस्त दर्शकोंका कल्याण करनेकी इच्छासे प्रेरित होकर दानके फलके साथ साथ ही पूजाके परिणामको समझाया था। अन्तमें यह कहकर कि श्रावकोंके द्वारा ज्ञेय तत्त्वोंका वर्णन एक ऐसा समुद्र है जिसका कभी अन्त ही नहीं हो सकता है अतएव उन्होने अपना धर्मोपदेश समाप्त कर दिया था। ८१ ८२ ८३

मुनि महाराजका उपदेश समाप्त होते ही सम्राटके द्वारा नियुक्त किये गये अतएव साहसी तथा अनुभवी गृहस्थाचार्यने सत्य बातोंसे परिपूर्ण वचनों द्वारा राजाकी प्रशंसा की थी। विविध विद्याओंरूपी नदियोंके लिए धर्माधिकारी उद्वेल समुद्रके समान थे, स्वभावसे ८४

गृहस्थाचार्य तथा याजक राजा

बड़े शान्त थे, गुण और शील ही उनकी माला थे तथा अपने कर्त्तव्यको पूरा करनेमें वह कभी प्रमाद न करते थे। 'हे सम्राट! आप सदा मुदित रहें, सदा आपकी वृद्धि हो, आपकी धर्मवृद्धि विशेषरूपसे हो, आपके राज्यकी पृथ्वीके कण-कणसे विपुल अन्न उत्पन्न हो, आपका विशाल वक्ष- ८५

स्थल लक्ष्मीका निवासस्थान हो, अर्हन्त प्रभुके चरणोंके अनुग्रहसे इतना ही नहीं अपितु
८६ आप चिरंजीवि हों। शुद्ध आचार-विचारसे जो व्यक्ति स्खलित हो गये हैं आप उनके कठोर नियन्त्रक हों, जो विनम्र तथा मर्यादापालक हैं आप उनकी रक्षा करें (कर्त्तव्यपालन परमप्रिय होनेके कारण) स्त्री, बालक तथा वृद्धोंका भरणपोषण करें। यही आदिकालसे चला आया
८७ क्षत्रियोंका धर्म है। हे पट्टरानी ! आप सब प्रकारसे वही आचार करें जो कि सम्राटको प्रिय हैं। आपका वंश पुत्र, पौत्र आदिके जन्मके द्वारा असीम वृद्धिको प्राप्त हो, आपको व्रतों तथा शीलके पालनकी अडिग सामर्थ्य प्राप्त हो, आपकी परिणति उपवास, दान, धर्माचरण तथा श्री एकहजार आठ वीतराग प्रभुकी पूजाकी दिशामें दिन दूनी और रात चौगुनी बढ़े। आपने
८८ इस विशाल इन्द्रकूट चैत्यालयकी स्थापना कराई है। निस्सन्देह यह शुभकर्म इस लोक तथा परलोकमें प्राप्त होने योग्य समस्त सुखोंका मूल है। किन्तु हे देवि ? कुछ ऐसा आयोजन कीजिये जिसके बलपर यह जिनालय अत्यन्त दीर्घकालतक स्थायी रहे।'

८९ सम्राटका अन्तरात्मा प्रबल प्रसन्नताके पूरसे प्लावित हो रहा था। श्रीमुनिराज तथा धर्माचार्य आदि गृहस्थोंके वचन सुनकर तथा पट्टरानी अनुपमा देवीपर दृष्टि डालते ही वे उनके भावोंको समझ गये थे। अपने पराक्रमसे समस्त वस्तुओंके मान-

किमिच्छिक दानी

मर्दक सम्राटने उसी समय वहां उपस्थित सब अधिकारियोंको आज्ञा दी
९० थी। इतना ही नहीं इस संसारमें जो जो पदार्थ सबसे अधिक आकर्षक तथा प्रिय समझे जाते हैं, संसारमें जितने भी प्रकारकी सम्पत्ति तथा साज सरञ्जामकी सामग्री है तथा उत्तम सोने तथा चांदीसे जो पदार्थ बनाये गये थे इन सब पदार्थोंका देना प्रारम्भ करके श्री वरांग-
९१ राजने अपनी पूरी सम्पत्ति याचकोंको लुटा दी थी। उन्होंने इन्द्रकूट चैत्यालयका व्यय चलानेके लिए राज्यके सर्वोत्तम एक सौ आठ ग्राम, सेवा परायण दास-दासियां, गौ आदि पशु, संगीत मण्डली तथा कीर्तन आदिके आनन्दके कारण सान्ततिक (भजनोपदेशक)
९२ मण्डलीको समर्पित किया था। तपोधन महामुनियोंको विधिवत् आहार दान दिया था व्रती श्रावकों तथा आर्यिकाओंको वस्त्रदान तथा आहारदान दिया था। जो सब दृष्टियोंसे दीन तथा दुखी थे उन्हें किमिच्छक दान देकर आनर्तपुरेशको महान् शान्ति तथा कृतकृत्यताका
९३ अनुभव हुआ था। उस समय विशेषरूपसे आयोजित शास्त्रसभा तथा पट्टक प्रदर्शिनियोंमें अर्हन्तकेवली, चक्रवर्ती, विद्याधर तपोधन मुनिराज तथा अन्य पौराणिक महा-

धर्ममेला

पुरुषोंके पवित्र जीवनोंको सुनकर तथा देखकर, और विशेषरूपसे तत्त्वचर्चाको
९४ सुन समझकर अपनी जनताके साथ सम्राट परम प्रमुदित हुए थे। श्री वरांगराजने बड़े प्रयत्नके साथ परम अभिनन्दनीय अष्टाह्निका पर्वको सतत जिन पूजामें मन, वचन तथा कायसे लीन रहते हुए व्यतीत किया था। क्योंकि इन्द्रादि विशेष पुण्याधिकारी आत्मा भी इस पर्वमें उपासना करनेके लिए लालायित रहते हैं। तथा अन्य राजा लोग इसकी कल्पना भी न कर सकते थे।

९५ वरांगराजकी आभ्यन्तर तथा बाह्य विशुद्धि परिपूर्णताको प्राप्त हो रही थी, उनके बाह्यतेजके साथ-साथ आध्यात्मिक तेजकी भी आशातीत वृद्धि हो रही थी अतएव उक्त पर्वके दिनोंमें उन्होंने एक प्रकारसे पूजारूपी समुद्रको (विशाल आयोजन) ही

धर्मवीर वराग

फैला दिया था। उनके उस आयोजनमें सर्वसाधारण सम्मिलित हो सकते थे तथा जिनमन्दिरके साक्षात् अवलम्बयुक्त होनेके कारण वह समस्त लोकोंके प्राणियोंके

कल्याणका मूल कारण भी था। उस समय अपने राजत्वको भूलकर वरांगराजने आदर्श श्रावकताको ही अपना चरमलक्ष्य मानकर श्रावकोचित समस्त गुणोंको अपनेमें लानेका प्रयत्न किया था। वे शुद्ध जल, चन्दन, अक्षत आदिकी अंजलियां हाथोंमें लेकर स्वस्ति विधानसे प्रारम्भकर मंगल आदि स्तोत्रों पर्यन्त जिनेन्द्रदेवकी पूजा करते थे। जिसका अन्तिम फल मोक्ष महापदकी प्राप्ति ही थी। वे कहते थे कि महाप्रतापी, पुण्यमय सत्य धर्मोंका सारभूत जिनधर्म तबतक इस पृथ्वीपर प्रचलित रहे जबतक चन्द्रमा और सूर्य उदित होते हैं; क्योंकि जिनधर्म ही परमागमका सार है। अर्हन्त प्रभुके शासनके अनुकूल आचरण करनेमें लीन चारों प्रकारके संघोंको सब सुख प्राप्त होवे, सिद्धिके साधक जिनालयोंका खूब विस्तार हो। राष्ट्रमें हर दृष्टिसे गोधन आदि सम्पत्तिकी असीम वृद्धि हो, सदा सुभिक्ष हो, जनताकी मानसिक तथा शारीरिक स्थिति ऐसी हो कि वे सदा ही उत्सव, भोग आदिको मना सकें; राजा शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ हो, जैनधर्मका सच्चा अनुयायी हो, तथा न्यायमार्गके अनुसार ही प्रजाओंका पालन करे। ९६ ९७ ९८

विभिन्न पाखण्डों (मतों) के अनुयायी तथा विविध आश्रमोंका पालन करनेमें लीन पुरुष अपने आचार्यों और शास्त्रों द्वारा निश्चित की गयी मर्यादाका उल्लंघन न करें। गुणी-जनोंकी कीर्ति इस पृथ्वीपर अनन्त कालतक लोग स्मरण करें, जितने भी दोष हैं उनका समूल नाश ही न हो अपितु जनता उनका नाम भी भूल जाये। ऐसी अनेक शुभ कामनाओंको व्यक्त करनेवाले कितने ही वाक्य धर्मप्रेमसे प्रमुदित सम्राटके मुखसे निकले थे जिन्हें सुनकर लोगोंकी हृदयकली विकसित हो उठी थी। ९९ १००

लोक वात्सल्य

इन वाक्योंको सुनकर पूजामें उपस्थित विशाल जनसमूहको परस्परमें प्रेम तथा सहृदय व्यवहार करनेकी प्रबल प्रेरणा प्राप्त हुई थी। वे प्रेमके आवेगसे उन्मत्त हो रहे थे, अतएव आपसमें एक दूसरेपर उन्होंने सुगन्धित चूर्ण, सुगन्धित पदार्थोंको घोलकर बनाये गये जल, लाखके रंग, अञ्जन आदिको प्रेमपूर्ण भावसे डालना प्रारम्भ कर दिया था। सम्राट वरांगने भी श्री एकहजार आठ जिनेन्द्रदेवके पूज्य चरणोंमें समर्पित कर देनेके कारण, जगत पूज्य पंच परमेष्ठी आदिका नामोच्चारणके प्रतापसे स्वयं पवित्र तथा दूसरोंके पुण्यबंधका कारण, पुरुदेव आदि सिद्ध परमेष्ठियोंकी शेषिकाको लेकर फिरसे अपने मस्तकपर धारण किया था। अर्हत सिद्ध आदिकी द्रव्य तथा भावपूजा, कायक्लेश आदि तप, मार्दव आदि गुणोंका आचरण करते हुए विशाल बुद्धि, धर्मप्रेमी वरांगराजने पर्वमें पूजा की थी। उसके समाप्त हो जानेपर जोरोंसे बजते हुए तूर्य आदि बाजोंकी गर्जनाके साथ सम्राटने राजमहलमें प्रवेश किया था तथा उसका अन्तःपुर भी उसके पीछे-पीछे लौट आया था। १०१ १०२ १०३

सम्राट वरांग धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थोंके आनुपातिक आचरणको साधक व्यवस्था करनेमें अत्यन्त दक्ष थे, जिनमह ऐसे धार्मिक कार्योंको कर सकनेके कारण उनका अन्तरात्मा परम संतुष्ट था। अतएव लौटकर राजमहलमें आये हुए इन्द्रके समान पराक्रमी तथा प्रतापी वरांगराज शान्तिसे बैठकर जिनेन्द्रदेवकी विशाल पूजा सम्बन्धी कथाओं और काव्योंका अनुशीलन करते थे। इस सुन्दर ढंगका आश्रय लेकर वे मिथ्या तीर्थंकरोंके द्वारा प्रवर्तित मतोंकी निस्सारताको स्पष्ट करते थे। तथा संसारमें कल्याणके सहायक सत्य मार्गोंकी प्रस्तावना तथा विस्तार करते थे। १०४ १०५

धर्मकरत संसारसुख

संसार समुद्रसे पार करनेमें समर्थ सत्य जिनभक्ति उनकी छिपाये नहीं छिपती थी क्योंकि वह उनके रोम, रोममें समायी थी। इसके साथ ही अहिंसा धर्मके मूल वास्तविक दयामें तो उन्होंने
१०६ अपने आपको लीन ही कर दिया था। दान विधिके विशेष ज्ञाता वरांगराज अवसर मिलते ही सत्पात्रोंको दान देनेमें लीन रहते थे। अपने बन्धु बान्धवों, मित्रों, हितैषियों, प्रियजनों तथा याचकोंको यथेच्छ दान देते थे, तथा अष्टाह्निका, पर्यूषण आदि पर्वोंके दिनोंमें व्रत उपवास आदि करते थे। इन शुभ योगोंका आचरण करते हुए उन्होंने दीर्घकाल व्यतीत कर
१०७ दिया था। सम्राटकी पट्टरानी अनुपमादेवी आदि रानियोंने भी अपनी शक्ति और ज्ञानके अनुसार जिनेन्द्रदेवके द्वारा प्रणीत, शुभकारक तथा सकलसिद्धिके अमोघ उपाय स्वरूप जिन-धर्मको समझा तथा धारण किया था। वे सुकुमार सुन्दरियां सदा ही सिद्धपूजा आदि धार्मिक कार्योंको करती हुई दिन बिताती थीं, और इस विधिसे अपने जीवनका लक्ष्य सिद्ध कर रही थीं।

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वराङ्गचरित नामक धर्मकथामें
अर्हन्महामहवर्णन नाम त्रयोविंशतितम सर्ग समाप्त।

चतुर्विंश सर्ग

सम्राट वरांग धर्म, अर्थ तथा काम तीनों पुरुषार्थोंका ऐसे ढंगसे सेवन करते थे कि उनमेंसे कोई एक भी बाकी दोनोंकी प्रगतिमें बाधा नहीं डालते थे फलतः ये तीनों उनके तीनों कालोंको सुधारते थे। इस व्यवस्थित क्रमसे, जीवन व्यतीत करते हुए उन्होंने अपने सुयशकी उन्नत तथा विशाल पताकाको उसी मात्रामें फहरा दिया था जिस रूपमें नक्षत्रराज चन्द्रमा संसारकी समस्त कान्तिको धारण करता है। १

प्रकृतिगुणोपेत राजा

निशानाथ चन्द्रमाकी धवल परिपूर्ण किरणें स्वभावसे ही शीतल होती हैं। शुभ तथा अशुभ सबही सांसारिक कार्योंका प्रवर्तक होनेके कारण जगत्प्रभु दिनकरकी किरणें अत्यन्त तीक्ष्ण होनेके कारण असह्य होती हैं। हवनकी सामग्रीको भस्म करनेवाली अग्निके भी दो ही गुण हैं:—पदार्थोंको जलाना तथा प्रकाश करना। देवोंका अधिपति अलौकिक ऋद्धियों तथा सिद्धियोंका भंडार इन्द्र भी संसारकी दाहको बुझाकर उसे जलसे प्लावित ही करता है। २

प्राणिमात्रको धारण करनेमें समर्थ धरित्रीकी प्रकृति ही कठिनतासे व्याप्त है तथा जगतकी रसमय सृष्टिके मूल स्त्रोत जलमें भी दो ही गुण होते हैं—तरलता तथा स्नेह (चिक्कणता) शीलता। किन्तु ये सब ही गुण सम्राट वरांगमें एक साथ होकर रहते थे। यद्यपि यह निश्चित है कि इनमें—शीतलता तथा उष्णता, द्रवता तथा कठिनता आदि अधिकांश गुण ऐसे हैं जो कि एक दूसरेके बिल्कुल विपरीत हैं, तो भी सम्राट वराङ्गकी सेवामें आनेपर उन्होंने अपना पारस्परिक विरोध छोड़ दिया था। ३

प्रत्येक पञ्चाङ्गमय वर्षमें क्रमशः शरद आदि छह ऋतुओंके आनेपर सम्राट उनके अनुकूल विषय सुखोंका यथेच्छ भोग करते थे। विशेषकर अपनी रानियोंके साथ कामजन्य विषयोंका उपभोग करते थे, क्योंकि अवस्था तथा स्वास्थ्यके अनुकूल उनके स्तन आदि उपभोगके अंग पूर्णरूपसे विकसित हो चुके थे। ४

यौवन तथा कामदेवके मदसे उन्मत्त अपनी पत्नियोंकी मनमोहक मधुर बातोंको सुनकर ही वह कामरससे मदमाता नहीं होता था अपितु कर्ण इन्द्रियको बलपूर्वक अपनी ओर आकृष्ट करनेमें पटु उनके गीतोंके शब्द, शब्दपर वह लोटपोट हो जाता था। जब वे गाती थीं तो उसके साथ, साथ उत्तम बांसुरियां बजती थीं मृदंग भी बजता था तथा इन बाजोंकी ध्वनिमें मुरजकी गम्भीर ध्वनि भी मिली रहती थी। ५

सुखसागरमें मग्न

शयनगृहमें दुग्धके समान धवलशय्या बिछाकर मणियोंके रंग, विरंगे प्रकाशमय निर्धूम दीपक जलाये जाते थे। वहांपर पहुंचते ही कमलोंके समान ललित नेत्रवती रानियां कामातुर वरांगराजका घोर आलिंगन करती थीं। इतना ही नहीं अपने मुखकमल, जंघाओं, कठोर स्तनों तथा सुकुमार हाथोंके द्वारा सम्राटके अंग प्रत्यंगोंका स्पर्श करती थीं। ६

कमलादि रानियोंकी निर्मल आंखोंसे मदिरापानके कारण उत्पन्न उन्माद टपकता था। कामप्रसंगका सुरतरूपी महान उत्सव उन्हें इतना प्रिय था कि वे उसे करते न अघाती थीं। रिरंसाके आवेगसे आतुर होनेपर उनका वस्त्र खिसक जाता था और केवल चंचल करधनी ही कटिप्रदेशपर रह जाती थी। उनको इस रूपमें पाकर कामी वरांग- ७

राज उनकी ओर एकटक देखते रह जाते थे. तथा इन सुखोंका निरन्तर भोग करते रहनेपर
८ भी उन्हें तृप्ति न होती थी। रानियां अपना शृंगार करनेके लिये कमल, बकुल जाति (चमेली) मालती, कदम्ब, चम्पक आदि सुगन्धयुक्त वृक्षोंके पुष्पोंकी मालायें बना कर अनेक विधियोंसे अपने केशोंमें गूंथती थीं। किन्तु कामके आवेगसे उन्मत्त राजा बिल्कुल उच्छृंखल होकर बड़ी शीघ्रताके साथ बार-बार शिरपर सजो हुई मालाओंको खींचकर मसल
९ देता था। जिनेन्द्रप्रभुके जीवन चरित्र, चक्रवर्तियों, नारायणों, प्रतिनारायणों, आदि शलाका पुरुषोंकी अनुपम तथा आदर्श जीवनीकी कथावस्तुको लेकर लिखे गये नाटकोंके अभिनय रसोंकी स्फूर्ति तथा अभिनय कलाके पूर्ण प्रदर्शनके साथ सदा ही किये जाते थे, और सम्राट वरांगराज अपनी सब ही रानियोंके साथ इन्हें देखकर रसका आस्वादन करते थे।

१० वसुन्धरा, पृथ्वी, अगाध उदधि तथा पर्वतोंमें जो भी उत्तम रत्न (श्रेष्ठ पदार्थ) उत्पन्न होते थे अथवा जितना भी चांदी तथा सोनेका भण्डार हो सकता था अथवा मदोन्मत्त हाथी, सुलक्षण अश्व, सुदृढ़ रथ तथा श्रेष्ठ शस्त्र आदि सभी वस्तुओंको समस्त राजा लोग भेंट
११ रूपसे सम्राट वरांगके सामने लाकर रखते थे। राजनीतिमें बतायी गयी विधिके अनुसार ही वह अपनी प्रजाको हानिसे बचा कर लाभकी दिशामें ले जाता था। जो

पुण्य परिपाक

लोग सामाजिक धार्मिक अथवा अन्य किसी भी प्रकारका कुकर्म करते थे ऐसे लोगोंकी वह किसी भी दृष्टि अथवा कारणसे उपेक्षा नहीं करके कठोर दण्ड देता था। निरुपाय व्यक्तियों, ज्ञान अथवा किसी भी प्रकारकी शिक्षाको प्राप्त न करनेके कारण आजीविका उपार्जन करनेमें असमर्थ, दरिद्र तथा अशरण व्यक्तियोंका वह राज्यकी ओरसे पालन-पोषण करता था।

१२ किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह काम तथा अर्थ पुरुषार्थके सेवनमें ही लीन था क्योंकि ज्यों ही अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व आते थे त्योंही वह नूतन नियम, यम, व्रत विशेषकर उपवास, सब तरहके दोषोंसे रहित निःस्वार्थ दान, धर्म

दिनानि यान्ति त्रयसेवयैव

योग आदिको धारण करता था। तथा श्री एक हजार आठ जिनेन्द्रदेवकी विशेष पूजाका आयोजन करके ही विशाल वसुन्धराके अधिपतिका समय बीतता था।
१३ सम्राट वरांगकी बुद्धिकी कोई समानता न कर सकता था। वह मनुष्योंमें सिंह (श्रेष्ठ) थे। अपने बाहुबलके द्वारा ही उन्होंने शत्रुओंकी विशाल सेनाओंको नष्ट, भ्रष्ट कर दिया था। उनके सबके सब मंत्री परम विवेकी तथा राजनीतिके ऐसे पंडित थे कि उस समयके सब राज्योंके मंत्रियोंसे श्रेष्ठ माने जाते थे। इन्हीं शिष्ट मंत्रियोंके साथ सम्राट वरांग राजसभामें एक दिन
१४ पधारे थे। राजसभामें आकर जब वे सिंहोंकी आकृतियोंके ऊपर बने हुए सुन्दर आसनपर आकर बैठे तो अपने मणिमय हारसे निकलती हुई किरणोंके द्वारा, जाज्वल्यमान मुकुटके आलोकसे, राज्यपदके प्रधान चिन्ह पट्टकी प्रभाके कारण तथा गालोंसे रगड़ते हुये चंचल तथा चारु कुण्डलोंकी कान्तिसे मुख आलोकित हो उठने पर ऐसे शोभित हो रहे थे जैसा कि
१५ दिनपति सूर्य उदयाचलके शिखर पर उदित होकर लगता है। निर्मल तथा सर्वव्यापी यश असीम सम्पत्ति तथा परिपूर्ण शोभाके कारण वे जगमगा रहे थे, तो भी शरद् पूर्णिमाकी रात्रिको उदित हुए पूर्णचन्द्रके सदृश उनकी कान्ति परम सौम्य थी। इस ढंगकी अद्भुत शोभासे समन्वित सम्राटको देख कर मंत्रियोंके मनमें अनेक भाव उदित हुए थे, जिन्हें

रोकना उनके लिए असंभव हो गया था फलतः उन्होंने कहना प्रारम्भ किया था।

'अपनी असीम ऋद्धि तथा विमल यशके कारण हमारे सम्राट् साक्षात् इन्द्रके समान १६ हैं। यह लोकपाल भी हैं, कारण कोई भी राजा, महाराजा विभवमें इनकी समता नहीं कर सकता है। इनकी शारीरिक कान्ति, स्वास्थ्य तथा जनसाधारणको अनुरक्त बनानेकी क्षमता इतनी बढ़ी हुई है कि उनके आधार पर यह सशरीर कामदेव ही प्रतीत होते हैं। किन्तु विचारणीय विषय यही है कि यह अकेला उक्त तीनों देवतामय कैसे हैं? हमारी यही शंका है? संसारमें यह सर्वमान्य कहावत है कि १७ युगके प्रारम्भमे हुए विशेष पुरुषोंने अपने शुभ कर्मोंके प्रतापसे अथवा दैवकी प्रेरणासे, अथवा जीवनके पथके निर्माता ग्रहोंकी अनुकूलताके कारण, अथवा किसी विशेष आत्माके नियोगके वशमें होकर अथवा संसारके स्वभावकी अबाधगतिके प्रवाहमें पड़कर संसारकी प्रजाके जन्म, स्थिति तथा नाशकी चिरकाल पर्यन्त व्यवस्था की थी। संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश- १८ को लेकर उक्तरूपके अनेक विकल्प तथा मान्यताएं होनेके कारण, वे मंत्री किसी एक मतको निश्चित करके यह कहनेमें असमर्थ थे कि हमारा यही मत है। इस मूल प्रश्नकी वे उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे क्योंकि तात्त्विक दृष्टिसे विचार करने तथा उसे आचरणमें लानेकी उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। अतएव उन सबने पृथ्वीपति वरांगके सामने निम्न प्रश्न उपस्थित किया था।

राज्ञाकी स्तुति

'हे प्रभो? लोकाचारके अनुसार कौनसा पन्थ सत्य है अथवा असत्य है; कौन सी १९ प्रवृत्ति स्वाभाविक है तथा कौन सी वैभाविक है। इसी क्रमसे वैदिक (ज्ञानमय) आचारमे क्या सत् है, क्या असत् है? निश्चित क्या है, स्वाभाविक क्या है इत्यादि विशेष तत्त्वोंको आप भलीभांति जानते हैं। इतना ही नहीं आप अति सूक्ष्म समस्त नयों (पदार्थका एक दृष्टिसे विचार करना) को भी जानते हैं अतएव उक्त विकल्पोंमें वास्तविक तत्त्व क्या है इसे आप स्पष्टरूपसे हमें समझानेका कष्ट करें।' सम्राट वरांगने धर्मके २० सार तथा तत्त्वोंक रहस्यको समझा था फलतः मंत्रियोंके द्वारा उपस्थित किये गूढ़ प्रश्नोको सुनकर एक क्षणभर मन ही मन उनपर विचार करके नृपतिवरने मधुर तथा सरल भाषामें निम्नशैलीसे उत्तर देना प्रारम्भ किया था।

धर्मप्रश्न

'संसारके मनुष्य अत्यधिक भोले तथा श्रद्धालु हैं। उनको उपदेश देनेवाले तथा- २१ कथित कवि (ज्ञानी) लोगोंकी दूषित बुद्धि परस्पर विरोधी एक-एक प्रकारकी श्रद्धाको लेकर चलती है अतएव वे सब कुकवि हैं। वे कुछ शब्दों द्वारा ही समझा जाने योग्य विषयको भी बहुत खींच तान कर अस्पष्ट वाक्यों द्वारा बताकर भोले जीवोंको और अधिक सन्देहमें डाल देते हैं। परिणाम यह होता है कि स्वभावसे ही अज्ञ संसारी मनुष्य शुद्ध तत्त्वको नहीं समझ पाते हैं। यदि संसारी मनुष्य केवल दैव अथवा भाग्यकी २२ अकारण कृपाके बलसे ही असीम सम्पत्तिको प्राप्त करते हैं? स्वस्थ शरीर पाते हैं, अनुकूल पत्नी तथा गुणी पुत्रके संसर्गका सुख भोगते हैं, तो केवल एक ही प्रश्न उठता है कि यह दैव भी उस विशाल दैवपनेको कैसे प्राप्त होता है, जिसके कारण निश्चित वस्तुका समागम सर्वदा सत्य होता है। यदि कोई चोर किसी देवकी पूजा करे तथा दूसरा विद्वान भी २३ विवेकपूर्वक उसी देवकी उपासना करे और यदि दोनोंको ही अपने-अपने मनचाहे वरदानोंकी

दैववाद विचार

प्राप्ति हो जाती है। तो यही प्रश्न उठता है कि चोर तथा साहूकार दोनोंकी विशाल पूजाको
२४ स्वीकार करनेवाला वह बुद्धिहीन देवता करता ही क्या है? ग्रहोंको भी देखिए, उनका भी उदय तब ही होता है, जब कि आप अपना धन खर्च करते हैं। उनकी अनुकूलताके लिए जलाये गये दीपकोंमें आपका ही तेल जलता है। आप ही प्रसन्न करनेके लिए उसे विकसित श्वेत कमलों आदिकी सुगन्धित मालाएं तथा और ऐसे ही अनेक पदार्थ चढ़ाते हैं। तब जो
२५ स्वयं इतना निर्धन है दूसरोंको क्या देगा? हवन सामग्री बड़े यत्नके साथ स्वच्छ तथा शुद्ध रूपमें बनायी जाती है, तब कहीं श्रेष्ठ मंत्रोंके उच्चारणके साथ-साथ हवनकुण्डमें छोड़ी जाती है। किन्तु होताओंके सामने ही कौआ आदि नीच पक्षी उसमेंसे चोंचें भरकर खाते हैं। अब प्रश्न यह है कि जो देवता सियार, आदि नीच पशुओंकी जूठी बलि खाता है, उस विचारेमें कितनी सामर्थ्य होगी। और जो स्वयं इतना दुर्बल है वह दूसरोंकी क्या रक्षा
२६ करेगा। देवताको चढ़ाये गये दुर्बल बकरेपर भूखा सियार अवसर पाते ही झपटता है और आराध्य देवताकी अवज्ञा करके बलप्रयोगसे उस (बकरे) को ले भागता है। इसी प्रकार अनुकूल अवसर आते ही वह शृगाल उन मनुष्योंको भी बलात्कारपूर्वक ले भागता है जिन्होंने
२७ रक्षा पानेके लिए बलि चढ़ायी थी। अतएव वह शृगाल ही परमदेव क्यों नहीं माना जाता है? जो पूज्य देवता दूसरोंसे समर्पित पशु आदिका मांस, भात, लावा, आटेके पिण्ड आदि पदार्थोंको खा कर ही जीवन बिताता है, वह पराश्रित देवता उन दूसरे व्यक्तियोंका भरण पोषण कैसे करेगा जिनके जीवन निर्वाहका कोई उपाय ही नहीं रह गया है। इन सब युक्तियोंको सामने रखकर दैवकी कृपासे धन पानेकी इच्छाको सर्वथा छोड़ दो।

२८ यदि कालकी ही यह सामर्थ्य है कि उसके द्वारा संसारमें सब कुछ प्राप्त हो जाता है, तो कर्ताके गुण, जिनका सूक्ष्म तथा विशद विवेचन किया गया है वे सब निस्सार और निरर्थक ही हो जायंगे। इस अव्यवस्थासे मुक्ति पानेके लिए यदि आप यह कहें कि बलवान कर्ता ही इस कार्यमें सफल होता है, तो फिर यही

कालवाद समीक्षा

२९ समझना पड़ेगा कि कालमें कोई भी कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं है। इसके अतिरिक्त देखा ही जाता है कि मनुष्य आदि जीवोंकी असमयमें मृत्यु होती है। वनस्पतियोंमें भी असमयमें ही फूल फल लगने लगते हैं (विशेष कर वैज्ञानिक युगमें)। आयु कर्म समाप्त नहीं होता है
३० किन्तु सांप आदि विषमय प्राणी दांत मार देते हैं और अकाल मौत हो जाती है। अधिकांश मनुष्य मुहूर्त आदि समयका विचार किये विना ही बाहर जाते हैं और सफल होते हैं। वर्षाऋतु न होनेपर भी धारासार वृष्टि देखी ही जाती है, यह भी अनेक बार देखा गया है कि वर्षाके लिए निश्चित समयमें भी एक बूंद जल नहीं बरसता है। इन सब कालके व्यतिक्रमोंका होना ही यह सिद्ध करता है कि 'कालके कारण संसारकी प्रजाको सुखी तथा दुखी होना पड़ता है' ऐसा कथन मुखपर भी नहीं लाना चाहिये।

३१ 'ग्रहोंकी अनुकूलता तथा प्रतिकूलताके कारण ही संसारका भला अथवा बुरा होता है' जो लोग इस प्रकार का उपदेश देते हैं वे संसारके भोले अविवेकी प्राणियोंको साक्षात् ठगते हैं। क्योंकि यह सिद्धान्त तत्त्वभावसे बहुत दूर है। यदि यह सत्य हो तो, जो लोग इसपर आस्था करते हैं, सबसे पहिले वे अपनी उन्नति

ज्योतिष्क ग्रहवाद

३२ तथा अभ्युदयको क्यों नहीं करते हैं। यदि शुभग्रहोंके मिलनेसे ही सुख सम्पत्ति होती है तो

क्या कारण है कि श्रीरामचन्द्रका अपनी प्राणाधिकासे वियोग हुआ था, क्योंकि उनकी तथा सीताजीकी कुण्डली तो बहुत सुन्दर रूपसे मिली थी। ग्रहोंके गुरु शुक्र आचार्यके द्वारा उपदिष्ट नीति यदि ऐसी है कि उसका पालन करनेपर कभी किसीकी हानि हो ही नहीं सकती है तो वह रावण जो कि उसका विशेषज्ञ था वही क्यों अपनी स्त्री तथा बच्चोंके साथ सदाके लिए नष्ट हो गया ? इस संसारमें राजा वलिसे बढ़कर कोई शक्तिशाली व्यक्ति नहीं हुआ है ३३ किन्तु उसको भी मुराके शत्रु श्रीकृष्णने विशेष आयासके विना ही बुरी तरह बांध दिया था और मार डाला था। संसार भरमें यह प्रसिद्ध है कि कामदेवके समक्ष कोई नहीं टिक सकता है वह सर्वविजयी है। किन्तु उसे भी त्रिशूलधारी रुद्र श्रीशिवने हराया ही नहीं था अपितु उसको सशरीर भस्म ही कर दिया था। देवराज इन्द्रके धन, वीर्य, पराक्रम और असाधारण ३४ साहसिकता तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। देवताओंके गुरु श्रीशुक्राचार्यके द्वारा उपदिष्ट नीतिकी कसौटीपर ही वे सब वस्तुओंकी परीक्षा करते हैं। उनका नाम मघवान ही उनकी पुण्यकार्य करनेकी प्रवल प्रवृत्तिको स्पष्ट कर देता है। उनके हितैषी मित्र अनेक हैं, सब ही मंत्री उपयुक्त सम्मति देनेमें पटु हैं, आज्ञाकारी सेवकोंकी तो बात ही क्या कहना है तथा कोश उनका अनन्त है। किन्तु यह सब होनेपर भी उन्हें इस पृथ्वीपर उत्पन्न हुए गौतम ऋषिने अभिशाप दे दिया था जिसके कारण उनकी दुर्दशा हो गयी थी। पृथ्वीके पुत्र मंगलग्रहके प्रचण्ड परा- ३५ क्रम तथा दूसरोंको भस्म करनेमें समर्थ उग्रतेजकी पूरे संसारमें ख्याति है। किन्तु जिस समय लंकेश्वर रावण उसपर कुपित हो गया था, उसके वीर्य आदि गुण काम नहीं आये थे तथा रावणके कारावासमें पड़ा सड़ता रहा था। सरस्वतीके द्वारा स्वयं वरण किये गये बुद्धिके अवतार वृहस्पतिके पास इतनी अधिक समृद्धि है कि उसका अनुमान करना भी असंभव है, किन्तु यह सब होनेपर भी इनका तथा उनकी पत्नीका भरण पोषण इन्द्रके ही द्वारा किया जाता है। उग्र तेजस्वी सूर्य तथा जगतको मोहमें डालनेके योग्य अनुपम कान्ति तथा सुधाके ३६ अनन्त स्रोत चन्द्रमाका दूसरे ग्रहों (राहु तथा केतु) के द्वारा ग्रसना, इन्द्रके प्रधानमंत्री अनुपम मतिमान वृहस्पतिका दूसरोंके द्वारा भरण पोषण तथा इस लोकके सुविख्यात मौलिक विद्वानोंकी दारुण दरिद्रताको देखकर कौन ऐसा बुद्धिमान् व्यक्ति है जो कि इस लोकप्रवाद पर विश्वास करेगा कि संसारके सुख दुखके कारण सूर्य आदि ग्रह ही हैं।

यदि संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और विनाश किसी जगदीश्वरकी इच्छा या शासनसे ३७ ही होते हैं तो प्रश्न यही उठता है कि जिस समय उत्पत्ति हो रही है उसी समय उसके विपरीत पक्ष अर्थात् विनाशका किसी भी अवस्थामें अभाव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त संसारमें पग, पगपर दिखायी देनेवाले, कुल तथा जातिका नीचा ऊंचापन, शरीरके स्वास्थ्य आदिमें भेद, अवस्थाकी न्यूनाधिकता आदि अनेक दृष्टियोंसे किये गये भेद किसी भी अवस्थामें सिद्ध न हो सकेंगे। यदि प्रतिवादी कहे; न हों, क्या हानि ? तो यही कहना है कि वे साक्षात् देखे जाते हैं फलतः उनका अपलाप कैसे किया जा सकता है। यदि संसारकी उत्पत्ति आदि अनेक भेद परिपूर्ण प्रपंचका मूल कारण ३८ केवल स्वभावको ही मानेंगे तो कर्त्ताके समस्त शुभ तथा अशुभ कर्म कुछ भी करनेमें समर्थ न होनेके कारण सर्वथा व्यर्थ हो जायंगे। जीव जिन कर्मोंको नहीं करेगा उनका फल भी उसे प्राप्त होगा, तथा इसी ढंगके किये कर्मका फल न पाना आदि अनेक दोष संसारकी

जगदीश्वरवाद

व्यवस्थामें आ जावेंगे। यह सब ऐसे नाशक दोष होंगे कि निश्चयसे ऐसे दोषोंकी कोई
३९ विद्वान व्यक्ति कल्पना भी नहीं कर सकता है। दर्पणमें प्रतिच्छायाको प्रकट करनेकी सामर्थ्य होनेपर भी वह अपने आप किसी प्रतिविम्बकी झलक नहीं देता है। ईंधन आगको अजेय बना सकता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि ईंधनका ढेर कर देनेसे ही ज्वाला भभक उठेगी। स्वर्णमिश्रित मिट्टी अथवा कच्ची धातु अपने आपही सोना नहीं हो जाती है। तथा बकरियों का दूध बिना किसी प्रयत्नके अपने आप ही घी नहीं बन जाता है। इस
४० संसारमें धन तथा धान्य आदि जितनी भी सम्पत्तियां हैं वे बाह्य प्रयत्नके बिना स्वतः ही नहीं बढ़ती हैं। अब प्रश्न यह है कि जो व्यक्ति सब पदार्थोंके जन्म वृद्धि आदिको स्वभावका ही काम मानता है—उसके यहां पदार्थोंके अलग-अलग कारणोंकी क्या अपेक्षा होगी? अर्थात् प्रयत्न व्यर्थ हो जायगा और अकर्मण्यताको प्रश्रय मिलेगा। जिसमें एक दो नहीं अपि तु अनगिनते दोष आयंगे।

४१ जिस मनुष्यकी मान्यताके अनुसार नियति (पहिलेसे निश्चित जीवन, आदिका क्रम) निश्चित ही है, वह घटायी बढ़ायी नहीं जा सकती है, उसकी मान्यतामें कर्मोंकी स्थिति (करनेके समयसे लेकर फलभोगके क्षण पर्यन्त रुकना) तथा प्रतिभाग (अनुभाग फल देनेकी सामर्थ्य) का ही अभाव न होगा, अपितु कर्मोंका भी अभाव हो जायगा। कृतकर्मोंका जब अभाव ही हो जायगा तो कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले सुख-दुखका भी अभाव हो जायगा तथा यह जीव सुखहीन हो जायगा। सुख आदिसे हीन हो जाना, न तो किसी जीवको ही अभीष्ट है और न संसारके हितैषी सच्चे आप्तोंके ही ज्ञानमें आया था।

नियतिवाद

४२ यदि सांख्योंका पुरुष ही संसारकी पूर्ण सृष्टिके लिए उत्तरदायी है, तो ऐसी प्रजा जिसने अपनेमें पूर्ण पुरुषत्वका साक्षात्कार नहीं किया है, उसके सुख दुखकी व्यवस्थाका आधार क्या माना जायगा? उनके द्वारा आचरित व्रतोंका पालन, दानका देना, घोर तपोंका तपना आदि उसी प्रकार व्यर्थ हो जायंगे जैसे कि दूसरेके प्राणोंका लेना, असत्य वचन, व्यभिचार आदि निष्फल तथा पापबन्धके
४३ कारण न होंगे। यदि ऐसा माना जाय कि स्थूल प्रकृति ही महत, अहंकार आदिको उत्पन्न करती है, तो यही शंका उठती है कि अव्यक्त (जिसका आकार तथा स्वरूप स्वतः प्रकट नहीं है) प्रकृतिसे संसारके समस्त व्यक्त तथा निश्चित मूर्तिमान पदार्थोंकी सृष्टि कैसे होती है? संसारका यही नियम है कि जैसा कारण होता है उससे वैसा अर्थात् उन्हीं गुणोंयुक्त कार्य उत्पन्न होता है। अतएव प्रकृति द्वारा सृष्टिका सिद्धान्त संसारमें मान्य दृष्टान्तसे विरुद्ध पड़ता है।

सांख्यवाद निरसन

४४ यदि चल तथा अचल द्रव्योंसे व्याप्त यह जगत वास्तवमें शून्य स्वरूप है, तो स्थूल पदार्थोंका ही अभाव न होगा, अपितु ज्ञान भी शून्य (अभाव स्वरूप) हो जायगा। ज्ञानको भी शून्य अथवा असत् माननेका तात्पर्य होगा संसारके प्राणियोंको ज्ञानहीन मानना—अर्थात् वे कुछ भी जाननेमें असमर्थ हैं—तब प्रश्न होगा कि
४५ मतिहीन शून्यवादका समर्थक किस उपायकी सहायतासे अपने पक्षको जानेगा? तब यही कहना होगा कि समस्त पदार्थोंके सद्भाव और अभाव स्वरूपकी सूक्ष्म परीक्षा कर लेनेके बाद ही संसारके पदार्थोंके स्वरूपका निर्णय, उपयोग आदिकी व्यवस्था की गयी है। तथा पदार्थोंके

शून्यवाद

किसी एक विशेषरूपमें न रहनेसे ही उनका सर्वथा शून्य होना नहीं माना जा सकता है क्योंकि महान ज्ञानियोंका अनुभव है कि एकरूपमें पदार्थके नष्ट हो जानेपर भी किसी न किसी रूपमें उनका सद्भाव रहता ही है।

'सब भाव तथा पदार्थ क्षणिक हैं' जिसकी ऐसी मान्यता है, उस प्राणीके शुभकर्म करना, अशुभ आरम्भोंसे बचना आदि सब ही प्रयत्नोंके क्या फल होंगे? उसके हाथ तो विफलता ही लगेगी। संसारके प्राणी अपनेमें अनेक गुणोंको धारण करनेका प्रयत्न करते हैं, किन्तु क्षणिकवादमें गुण, गुणियोंके किस काम आयंगे? विपरीत बुद्धि क्षणिकवादी एक शब्दके अर्थतकको तो जान न सकेगा, क्योंकि दोनों दो अलग-अलग क्षणोंमें उदित होते हैं। इन अव्यवस्थाओंसे वचनेके लिए यदि संसारके पदार्थोंको सर्वथा नित्य माना जाय, तो इस सिद्धान्तको माननेपर भी वही सब दोष और विरोध पैदा होंगे जो कि जगतको क्षणिक माननेसे होते हैं, क्योंकि संसारका नाश होना भी स्वाभाविक है। नित्य माननेपर स्थिर पदार्थोंका गमन और चलती हुई द्रव्योंकी ठहरना आदि क्रियाएं असंभव हो जांयगी। संसारमें किसी भी प्रकारके परिणाम न हो सकेंगे, मोक्षका तो कहना ही क्या है। संसारके समस्त सचराचर पदार्थ प्रतीत्यसिद्ध (स्वतः न होते हुये भी परस्परकी अपेक्षासे उत्पन्न होते हैं और लुप्त हो जाते हैं?) हैं। यदि इसी सिद्धान्तको सत्य माना जाय तब तो किसी भी पदार्थकी वास्तविक सत्ता सिद्ध न हो सकेगी। इसके अतिरिक्त एक और शंका उत्पन्न होती है कि जिस पदार्थका वास्तविक आकार है ही नहीं वह ज्ञानको अपना प्रतिविम्ब क्या देगा? फलतः प्रतिवादीके सिद्धान्तकी मूल भित्तिके ही असिद्ध हो जानेके कारण उसका समस्त कथन ही असत्य हो जायगा।

बौद्धवाद विचार

४६ ४७ ४८

उक्त क्रमसे सब विकल्पोंके सदोष सिद्ध होनेके कारण यदि यही माना जाय कि आत्माको अपने अभिलषित प्रिय पदार्थोंकी प्राप्ति निजी कर्मोंके ही कारण होती है जैसा कि संसारके पूज्य आप्तोंने भी कहा है, तब भी यही प्रश्न रह जाता है कि इस संसारमें रहते हुए कभी भी ऐसा क्षण नहीं आता है जब कि जीव कर्म न करता हो? तब कौनसे ऐसे कारण हैं जो कि सांसारिक कार्योंको फलहीन बना देते हैं?

कर्मवाद का उपक्रम

४९

कोश (म्यान) में जब तलवार रहती है तो दोनों एकसे मालूम देते हैं किन्तु खड्गको बाहर निकालते हो दोनो अलग-अलग सामने आ जाते हैं; किन्तु आत्मा शरीर से अलग इस रूपमें तो कभी कहीं देखा नहीं गया है? इस ढंगसे यदि कोई तत्वज्ञानसे विमुख व्यक्ति शंका करे, तो उसकी शंकाका समाधान उक्त शंकासे हो जाता है, क्योंकि इस शंकाके द्वारा अन्तरात्माकी स्पष्ट झलक मिल जाती है। यदि कोई तत्वोंको जाननेका इच्छुक यह मानता है कि परमात्मा ही संसारकी अनन्त जीवराशिको उसी प्रकार बनाता है जिस प्रकार कुम्हार आदि शिल्पी घड़ा, गोला आदि सांसारिक पदार्थोंको बनाते हैं, तो यही कहना होगा कि इस सिद्धान्तको महत्त्व देनेवाला विचारक जान बूझकर तत्त्वदृष्टिकी उपेक्षा कर रहा है। क्योंकि उसके मतसे समस्त जीवोंकी द्रव्यदृष्टिसे नित्यता न सिद्ध होकर दूसरी (अनित्यता) ही परिस्थिति हो जायगी। यदि आत्माको संसार

आत्मा विचार

५० ५१ ५२

भरमें व्यापक माना जायगा तो उसका कहीं से कहीं जाना अथवा रुकना, बन्ध तथा मोक्ष आदि व्यवस्थाएं सर्वथा असंगत हो जांयगी। सर्वगत पक्षमें आये दोषोंसे घबराकर यदि अंगुष्ठ बराबर आत्माको मानेंगे तो भी उक्त दोषोंसे मुक्ति न मिलेगी फलतः इस पक्षके
५३ समर्थककी मूर्खता ही सिद्ध होगी। किन्हीं प्रतिवादियोंकी बुद्धि तो इतनी अधिक विकसित हो गयी है कि वे आत्माके अस्तित्त्वको ही नहीं मानते हैं क्योंकि सुख दुःख आदि फलों और प्रयत्न आदि क्रियाओंके सिवा कोई आत्मा अलग तो दिखता नहीं है। तथा आत्माका गति आदिके समान कोई स्पष्ट लिंग भी नहीं मिलता है जिससे कि आत्माकी अभ्रान्तसिद्धि हो सके। इस विचारकसे एक ही बात पूंछनी है कि वह 'मैं अपने आप ही बोलता हूं' आदि
५४ बातोंका अनुभव कैसे करता है। केवल ज्ञानी आचार्योंने जो जीवकी चार गतियां बतलायी हैं वे शून्य नहीं हैं अपितु उनका निश्चित अस्तित्व है। कौन नहीं जानता है कि विविध भागोंमें विभक्त अनन्त जीवराशिको सुख दुख आदि समस्त भावोंका अति स्पष्ट अनुभव होता है। और यह ज्ञान लक्षण युक्त बुद्धिमान जीव ही शुभ अशुभकर्मरूपी मार्गके ऊपर चलके ही उक्त चारों गतियोंमें चक्कर काटता फिरता है।

५५ जीवमें जो कार्य करने की क्षमता है उसे ही व्यवसाय कहते है। इस व्यवसायकी सफलताके दो मार्ग हैं—एक तो है किसी भी प्रकारका प्रयत्न न करना (अनुपायवती)

उत्थान मार्ग

तथा दूसरा है उसके साधक साधनोंको जुटा देना (उपाय पूर्वक)। संसारमें जो महान् आत्मा अपनी साधनामें सफल हुए हैं उनका कहना है कि जो लोग स्वतः सामर्थ्यवान होते हुए भी किसी कार्यकी सफलताके लिए प्रयत्न नहीं करते हैं, वे कभी भी सफल
५६ नहीं होते हैं। जिस मूलधातुमें सोना नहीं है उसीको लेकर यदि कोई मनुष्य अग्निमें डाल देता है और चिरकाल तक ज्वालाको प्रज्वलित रखनेके लिए धोंकता रहता है, तो भी उसके हाथ थोड़ा-सा भी सोना नहीं लगता है। इसी प्रकार यदि कोई आग जलानेका इच्छुक ऐसी लकड़ियोंको लेता है जिनमें कभी आग लग ही नहीं सकती है, और उनको काफी देर तक रगड़ता है तो इसका यह मतलब नहीं है कि उसे अपने महाश्रमके फलस्वरूप उन लकड़ियोंसे आग मिल सकेगी।
५७ अत्यन्त वेगसे बहती हुई प्रचण्ड पवनके कारण भभकी हुई दावाग्निका समाचार पाते ही वह व्यक्ति जिसकी आँखें-फूट चुकी हैं उस दिशामें दौड़ता है जो कि बुलानेवालेके विपरीत होती हैं, फल होता है कि वह बचता नहीं है और आगके मुखमें जा पड़ता है। कौन नहीं जानता है कि गायके सींगसे दूध नहीं निकलता है? दूध वही व्यक्ति पाता है जो ठीक उपाय करता
५८ है। बुद्धिमान व्यक्ति देश तथा काल दोनों को समुचित रूपसे समझ लेता है तब प्रयत्न करता है। गायको देखकर दूधके लिए उसके स्तनपर हाथ लगाकर धीरे धीरे दूध दुह लेता है। सोनेकी मूलधातुका पता लगाकर ही मतिमान व्यक्ति उससे सोना बनाता है, तथा जिसे अग्निकी आवश्यकता है वह उपयोगी लकड़ीका पता लगाकर उसे रगड़ता है और तुरन्त ही अग्नि पैदा कर लेता है।

५९ जिस व्यक्तिकी आँखें ठीक हैं और ज्योति घटी नहीं है वह दूरसे ही देखता है कि प्रभञ्जन (आँधी) के झोकोंसे धोंकी गयी अरण्याग्नि बड़े विकराल रूपसे भभक उठी है, तब वह चुपचाप उसकी विपरीत दिशामें खिसक जाता

उपायज

है। तात्पर्य यह कि जो व्यक्ति समुचित साधनोंको जुटाकर प्रयत्न करते हैं वे सर्वत्र सफल ही

नहीं होते हैं अपितु उनकी समस्त प्रवृत्तियां इतनी सरलतासे सफल होती हैं कि वे दुखका नाम भी नहीं जानते हैं। नियति, निजार्जित कर्म, यमराज, काल, दैव रवि, चन्द्र, आदि ग्रह, कर्मनिरपेक्ष भाग्य, ईश्वर, पुरुषार्थ, स्वभाव आदि ही संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके प्रधान प्रेरक हैं। इस प्रकार जो एक-एकको प्रधानता दी है वह किसी एक नयकी अपेक्षासे कहा है। अतएव एक नयकी अपेक्षासे की गयी वह तत्त्वमीमांसा मोक्षका कारण नहीं होती है। किन्तु नैगम आदि सातों नयों तथा स्याद्-अस्ति आदि सातों भंगोंकी अपेक्षासे विचारे गये पदार्थोंका जो अनेक दृष्टियो युक्त ज्ञान होता है उसके साथ अनेकान्त (अनेक धर्मता) का द्योतक स्यात् शब्द लगा रहता है; वही ज्ञान पूर्ण होता है। पदार्थोंका व्यापक ज्ञान प्राप्त करनेके लिए निष्पक्ष विचारकोंने इसी सरणीका आश्रय लिया था। अतएव उस प्रक्रियासे प्राप्त किया गया ज्ञान ही विवेकी पुरुषोंको मोक्षलक्ष्मीसे मिलनेमें सहायक होता है। ६० ६१

संसारी जीव अपने पूर्वजन्मोंमें किये गये कर्मोंके फन्दोंमें जकड़कर बंधे हुए हैं। इसीलिए अनादि कालसे प्रारम्भ करके अनन्तकाल पर्यन्त नरक आदि गतियोंमें घसीटे जाते हैं। संसारचक्रमें पड़ा हुआ जीव अपने आप ही अपने आगे आनेवाले सुख-दुख पूर्ण जन्मोंकी नींव डालता है। वह जितने अधिक चक्कर मारता है उतना अधिक ही उसका चित्त विमूढ़ होता जाता है और मुक्ति उससे दूर भागती है। जिस समय यह आत्मा शुभ अशुभ क्रियाओं तथा सम, दम आदि गुणोंकी वृद्धिका आधार होता है उस समय भी उसपर चढ़ा हुआ पापोंका पर्त न तो नष्ट ही होता है और न घटता ही है, फलतः वह संसारसे छुटकारा नहीं पाथा है। किन्तु जिस समय वह आध्यात्मिक ज्ञान सुख आदि गुणोंके पूर्ण विकासके लिए ही उक्त गुणोंको अपने आपमें पुष्ट करता है, उस समय वह क्षणभरमें ही समस्त सांसारिक बन्धनोंको तोड़कर फेंक देता है और शीघ्र ही मोक्षमें जा पहुँचता है। ६२ ६३

संसारबन्ध

जब[1] यह आत्मा शुभ कर्मोंको ही कमाता है तो उसका निश्चित फल यह होता है कि वह अपनी आगामी पर्यायोंमें ऐसे ही फलोंको पाता है जिनका निश्चित फल सुखभोग ही नहीं होता है अपितु उससे आगेके लिए शुभ कर्मोंका बन्ध भी होता है। पहिले कह चुके हैं कि नरकोंमें अत्यन्त तीव्र वेदना होती है, इतना ही नहीं वे नरक अत्यन्त वीभत्स और अरुचिकर होते हैं। वहांकी प्रत्येक परिस्थिति दुख ही उत्पन्न करती है तथा वे सबके सब गाढ़ अन्धकारसे परिपूर्ण हैं। वहां पर उन्हीं जीवोंका जन्म होता है जिन्होंने अपने पूर्व जन्ममें करणीय कार्योंकी उपेक्षा की है। वे वहांपर विविध प्रकारके घोर दुखोंको सतत सहते हैं। जन्म मरणरूपी विशाल पारावारको पार करनेमें असमर्थ जीव संसारचक्रमें घूमते रहते हैं। तथा जब उनके पूर्वकृत कुकर्मोंका फल उदयमें आता है तो वे तिर्यञ्च गतिमें उत्पन्न होते हैं जहां पर असमयमें ही अकारण वध, बिना अपराधके बन्धन, प्राण लेनेवाला परिश्रम, तथा इसी प्रकारके एक दो नहीं अनेक अनर्थोंको वे झेलते हैं जो कि उनके पूर्वकृत कर्मोंके ही फल होते हैं। जो मनुष्य, ६४ ६५ ६६ ६७

१—मूल प्रतियोंमें यह श्लोक त्रुटित है। फलतः प्रकरण तथा अन्य सुविधाओंके आधारपर यद्यपि यह पूर्ण किया जा सकता है, पर वह भ्रामक होगा।

मनुष्योंचित गुणोंसे सर्वथा हीन हैं तथा जिनमें नैसर्गिक तेज और गौरव नहीं है वे पुरुष पूर्वकृत पापोंके उदय अवस्थामें आनेपर ऐसी दुरवस्थाको प्राप्त होते हैं कि उन्हें अपनी रोटीके लिए भी दूसरोंकी ओर देखना पड़ता है। उनपर सदा ही भयका भूत सवार रहता है, जब देखो तब ही खेद खिन्न दिखते हैं, उनका जीवन निंदनीय हो जाता है। अथवा विचारे भिक्षुक होकर असमयमें ही काल कवलित हो जाते हैं।

६८ स्वस्थ, स्नेही तथा सम्पन्न परिवार, विविध वैभव, असंख्य लक्ष्मी, यथार्थग्राही मति, विशेष गम्भीर ज्ञान, निर्मल यश तथा जगत् विख्यात वंश पूर्वकृत पुण्योंके ही फल हैं। जिन कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्तियोंने पर्याप्त पुण्यका संचय किया है उन्हींको मनमोहक

पुण्यका फल

कान्ति, प्रभावक कीर्ति, अजेय बल, परजनोंका पराभवकारक प्रताप, दुख
६९ संसर्गहीन चिरकाल स्थायी यथेच्छ भोग आदि सब ही सुख प्राप्त होते हैं। विवेकी पुरुष जिस समय मदोन्मत्त हाथियोंपर आरूढ़ राजाओंको देखते हैं, सूर्याचलपर उदित हुए सूर्यके उद्योतके सदृश प्रकाशमान उत्तम मुकुटोंकी ज्योतिका साक्षात्कार करते हैं, शरद् पूर्णिमाकी रात्रिमें उदित पूर्णचन्द्रकी धवल शीतल कान्तिके तुल्य छत्रोंकी शोभासे प्रभावित होते हैं,
७० लीलापूर्वक ढुरते हुए सुन्दर चंचल चमरोंके माहात्म्यका अनुभव करते हैं, इन राजाओंके गलेमें पड़े मणिमय विशाल हारोंको देखते हैं जिनकी छटा चारों ओर फैली रहती है, उनके साथ अनेक आज्ञाकारी सेवक रहते हैं जो पुनः पुनः उनसे करणीय काम पूंछते हैं। यह सब देखकर विद्वान लोग यही कहते हैं कि यह सब विभव तथा भोग पूर्वभवमें संचित किये गये अपने पूर्वपुण्यके फलसे ही चलते हैं, अन्यथा नहीं। प्रत्येक राज्यमें अनेक अनुपम पराक्रमी तथा
७१ लोकोत्तर बलशाली, पुरुष नहीं होते हैं अपितु जहां तक उच्चवंश, शारीरिक सौन्दर्य, तेज, मनमोहक कान्ति, आदि गुणोंका सम्बन्ध है वे लोग राजाके ही समान होते हैं। तो भी इस प्रकारके सुयोग्य एक दो ही पुरुषोंको नहीं अपितु करोड़ों पुरुषोंका जो राजा नामधारी अकेला जन्तु ही शासन करता है, इसमें उसकी कोई असाधारणता साधक नहीं है अपितु उसका पूर्वोपार्जित पुण्य ही परम प्रेरक है। जो पुरुष इस जन्ममें अपने तथा पराये कल्याणके साधक कार्योंमें लीन
७२ रहता है, वह यहांकी आयुके समाप्त होते ही दूसरे जन्ममें स्वर्गलोककी शोभा बढ़ाता है। वहां पहुंच कर वह गुणोंके राजा अणिमा, महिमा आदि ऋद्धियोंको प्राप्त करता है। तथा इनके प्रतापसे प्राप्त अनेक निरन्तर क्रीड़ाओंको करता हुआ चिरकाल तक सुखभोग करता है। वह ऐसी स्वर्गीय सुन्दरियोंका पति होता है जिनके निर्मल आकर्षक वस्त्रों तथा सोने
७३ आदि बहुमूल्य धातुओंसे बने भूषणोंपर कभी धूल या मैल बैठता ही नहीं है। वे सुन्दर सुगन्धित मालाओं और पुष्पोंसे सजी रहती हैं, ये सब कभी मुरझाते नहीं हैं। उनकी रूप-लक्ष्मी शुभ तथा आकर्षक होती है, ललित कलाओंमें पारंगत होती है तथा कोई भी ऐसा गुण नहीं है जो उनमें न पाया जाता हो। वे देवाङ्गनाएँ जब कभी बोलती हैं तो उसके पहिले
७४ मुस्कराती हैं उनके शब्द अत्यन्त प्रिय होते हैं, उनकी चेष्टाएं प्रीतिको बढ़ाती हैं तथा सुरतिको उत्तेजित करती हैं। वेशभूषा कुलीन उन्नत नायिकाओंके उपयुक्त होती है, हावभाव आदि विलास शिष्ट और इष्ट होते हैं तथा रूठना आदि विभ्रम परम हृदयहारी होते हैं। ऐसी प्रियाओंके साथ पुण्यात्मा स्वर्गमें सदा विलास करते हैं। देवताओंके राजा इन्द्रके गलेमें पड़े
७५ हार तथा कानोंके कुण्डलोंकी कान्ति तथा उद्योत इतने विशाल होते हैं कि यदि एक साथ एक

पञ्चविंश सर्ग

१ आनर्तपुरकी आदर्श राजसभामें विराजमान विशाल पृथ्वीके पालक सम्राट वरांग सत्य-धर्म, उसके पालक, शलाका (आदर्श) पुरुषों की जीवन गाथा तथा अन्य पुराणोंके रहस्य तथा आदर्श अपने मंत्री आदि सब ही अधिकारियों तथा जनताके हृदयमें बैठा देना चाहते थे। क्यों कि ऐसा किये विना उन सबके चित्तकी वह कालिमा नहीं धुल सकती थी जो कि विशेष रूपसे मिथ्यात्वके कारण तथा साधारणतया कर्मकी कृपासे उनके भीतर घर कर चुकी थी। इस उद्देश्यको सफल करनेके लिए ही उन्होंने फिर अपने

वर्ण व्यवस्था

२ व्याख्यानको प्रारम्भ किया था। 'समस्त संसारकी प्रजामें यदि अपनी अनेक साधारण योग्यताओंके कारण ऐक्य ही है, तो यही प्रश्न उठता है कि मनुष्य वर्ग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र इन चार (वर्गों) जातियोंमें किस आधारपर विभक्त किया गया है। मनुष्यके इन चार भेदोंको जब हम प्रमाण, नय तथा इनको विशद करके समझानेमें समर्थ दृष्टान्तोंकी विस्तृत

३ तथा सूक्ष्म कसौटीपर कसते हैं तो यह जाति व्यवस्था बिल्कुल उलझ जाती है। यों समझिये; एक पिताके चार पुत्र पैदा हुए, उन चारोंकी अवस्था, रंगरूप आदि सब ही बातोंमें तारतम्य होनेपर भी इतना निश्चित है कि उनकी जाति एक ही होगी। पूर्ण विश्वके मनुष्योंका

४ उत्पादक 'मनुष्य जाति' नामकर्म एक ही है, और जब कि मूल उत्पादक एक ही है तो कोई कारण नहीं कि उनकी जातियां अलग अलग हों। किसी भी वटके विशाल वृक्षमें बिल्कुल नीचेकी डालसे आरम्भ करके शिखापर्यन्त फल आते हैं। नीचे, ऊपर, बीच, दांयी, बाईं ओर आदि अनेक भागोंमें उत्पन्न होकर भी उन सबके मन्द लाल रंग, निश्चित गोल आकार, घन तथा मृदु स्पर्श आदि सब ही गुण समान होते हैं, फलतः उनकी एक ही

५ जाति होती है। इसी दृष्टिसे विचार करनेपर मनुष्य जाति भी एक ही प्रतीत होती है। हमारे संसारमें कौशिक (विश्वामित्र) काश्यप, गौतम, कौण्डिन्य, माण्डव्य तथा वसिष्ठ गोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अत्रि (आत्रेय) कुत्स (कौत्स) अंगिरस (आंगिरस) गर्ग (गार्ग्य) मुद्गल (मौद्गल) कात्यायन तथा भृगु (भार्गव) ऋषिके बाद इन सबके कुल

६ भी सुविख्यात रहे हैं। इस क्रमसे हम देखते हैं कि माता, पुत्रवधू, साला अथवा मामा, पुत्र, पत्नी आदिके विविध गोत्र ही नहीं हैं, अपितु उनकी प्रधानताको प्रचलित रखनेकी प्रेरणासे अनेक जातियां भी दृष्टिगोचर होती हैं। प्रत्येक जाति और गोत्रकी विवाह व्यवस्था पृथक्-पृथक् है, अनेक वर्ण हैं। किन्तु निश्चय दृष्टिसे देखनेपर यही प्रतीत होता है कि उक्त असंख्य वर्गोंमें विभक्त मनुष्य जातिकी सब ही प्रवृत्तियां

विविध वंश

७ एक हैं। सूक्ष्म पर्यवेक्षण करनेपर यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्राह्मण पूर्णचन्द्रकी शीतल किरणोंके तुल्य धवल नहीं हैं, क्षत्रियोंका बाह्यरूप तथा आचरण भी किंशुक पुष्पके समान गौर नहीं है, तृतीय वर्गमें विभक्त वैश्योंका आचार-विचार भी हरिताल पुष्पके समान ही हरे रंगका नहीं है तथा अन्तिमवर्ण शूद्रोंका शरीर तथा मन भी बुझे हुए अंगारके समान कृष्णवर्ण

८ नहीं ही होता है। चारों वर्णोंके मनुष्योंकी त्वचा, मांस, रक्त, मज्जा, हड्डी तथा शुक्र आदि

समस्त रस एक ही प्रकारके होते हैं। उनके चलने, उठने, वैठने, शरीरके साधारण निर्माण, रंगरूप, केश आदि अंगों तथा चेष्टाओंमें भी कोई भेद नहीं होता है। सुख, शोक, चिन्ता, दुख, प्रसन्नता शम आदि भावोंका विचार करनेपर तो मनुष्यमात्रमें कोई भी भेद दृष्टिगोचर होता ही नहीं है। जहांतक पौराणिक ख्यावोंका सम्बन्ध है वे स्पष्ट कहते हैं कि कृतयुगमें किसी भी प्रकारका वर्ण-विभाजन न हुआ था। सत्युगके समाप्त होनेपर त्रेताका आरम्भ हुआ तब ही कुछ स्वार्थान्ध पुरुषोंने सेवा करानेके लिए एक भृत्यवर्गकी नींव डाली थी। सत्युग और त्रेताकी अपेक्षा द्वापरयुगमे मनुष्यकी चिन्ता तथा आचरण अधिक, दूषित हो गये थे अतएव इस युगमें वर्णों तथा उनके भी उपभेदोंका वाजार गर्म हो गया था। इनके बाद कलियुग ऐसा होगा जिसमें उक्त प्रकारके निराधार प्रवाद फैलाये जांयगे। उस चतुर्थ युगमे मनुष्योंका सामान्यरूपसे मोह तथा विशेष कर द्वेष और लोभ बढ़ जांयगे। चारों वर्णके लोग अपनी मर्यादाका लंघन करेंगे फलतः पूरी व्यवस्था उलट जायगी। आपस में पुरुष एक दूसरेके साथ विश्वासघात करेंगे तथा किसी विषयपर दृढ़ आस्था न करेंगे। आचार-विचारकी मर्यादा तथा सत्य आदिका लोप करेंगे। जो शान्त परिणाम उदाराशय पुरुष हैं उनके मतसे, मनुष्यको परमप्रिय कर्म अथवा व्यवसाय, उसका आचरण तथा व्यवहार, दया, क्षमा आदि गुणोंका पालन तथा खेती, शिल्प आदि आजीविकाके उपायोंमे भिन्नता होनेके कारण ही चारों वर्णोंका विभाजन हुआ है। इन कारणोंके अतिरिक्त दूसरे और कोई कारण नहीं हैं जिनके आधारपर वर्णव्यवस्थाका महल खड़ा किया जा सके। ९ १०

११

जो व्यक्ति वेदोंमें कहे गये प्रत्येक उपदेशको प्रमाण मानते हैं, उन्हें वेदोंमें वर्णित विविध यज्ञोंको सत्य ही न मानना पड़ेगा अपितु उन सबको करना भी उनका अनिवार्य तथा अभीष्ट कर्तव्य हो जायगा। कोई भी यज्ञ ऐसा नहीं है जिसमें हिंसाका उपक्रम न करना पड़ता हो और यह तो निश्चित ही है कि जब हिंसा की जायगी तो कुछ निरपराध प्राणियोंको अपने जीवनसे हाथ धोने ही पड़ेंगे। यह कौन नहीं जानता है कि प्राणोंको नष्ट करनेसे प्रत्येक अवस्थामें महान पाप ही होता है। कोई भी धर्म, आश्रम अथवा वर्ण हिंसाको पुण्यकार्य नहीं मानता है। निष्कर्ष यह हुआ कि वेदके अनुसार यज्ञ यागादि करके जीव अधर्मको कमांयगे और जब उसका फल उदयमे आयगा तो वे घोर अन्धकारपूर्ण नरक आदि योनियोंमें जन्म ले कर विविध, विचित्र तथा भीषण दुखोंको सहेंगे। यज्ञमें जो प्राणी बलि किया जाता है उसके प्राण लेनेमें कोई हिंसा नहीं है, क्यों कि जो प्राणधारी मारा जाता है उसका उद्धार हो जाता है, वह सीधा स्वर्ग चला जाता है। यह वचन किसी ऐसे धूर्त अथवा दुराचारी पुरुषके मुखसे निकले हैं जो सत्य शास्त्रका अक्षर भी नहीं जानता है तथा जिसपर दया, शान्ति आदि सद्गुणोंकी छांह तक नहीं पड़ी है। जो पुरुष यज्ञ करते हैं वे सांसारिक दुखों तथा अन्य मानसिक व्यथाओंसे व्याकुल होते हैं तथा इनसे बचकर सुखभोगके लिए तरसते हैं। उनके सगे भाई-बन्धु, मित्र, प्राणाधिका पत्नी, पुत्र, पौत्र आदि भी दरिद्रता, रोग आदि अप्रिय संयोगोंके कारण जीवनसे खिन्न हो जाते हैं और चाहते हैं कि किसी भी प्रकार उक्त विपत्तियोंसे छुटकारा पाकर सुखीरूपसे जीवन निर्वाह करें। इन परिस्थितियोंके रहते हुए यदि ऊपरका वाक्य (यज्ञमें मरे पशु आदि स्वर्ग जाते हैं) सत्य होता तो यज्ञकर्ता सबसे पहिले अपने सगे सम्बन्धियोंका ही होम

याज्ञिकी हिंसा

१२ १३ १४ १५

१६ करते। संसारके भोले-भाले पशुओंको अपने हित-अहितका ज्ञान ही नहीं होता है। मनुष्यके बन्धनमें पड़कर उनके निर्वाहका कोई दूसरा सहारा ही नहीं रह जाता है। कूटबुद्धि मनुष्यके विरुद्ध कोई भी शक्ति उनकी रक्षक नहीं हो सकती है। वे इतने साधारण प्राणी होते हैं कि दिन-रात अपने पेटको भरनेकी ही चिन्तामें लगे रहते हैं। वे कभी भी स्वर्ग जानेकी अभिलाषा नहीं करते हैं। तब समझमें नहीं आता कि इन मूक प्राणियोंको मारनेसे कौन-सा कार्य सध सकता है। वेदोंकी पूर्वापर विरोधयुक्त शिक्षाओंपर विश्वास करके यदि
१७ कुछ ऐसे लोग जिनमें दया और क्षमाका नाम भी नहीं है, वे ही ज्ञानहीन भोले-भाले प्राणियों-की बलि करते हैं, तो प्रश्न यही है कि यदि ऐसा भयंकर कुकर्म करके भी वे लोग स्वर्ग चले जाते हैं, तो बताइये विविध दुखोंसे व्याप्त नरक कुण्डमें कौन गिरेंगे?

१८ अपने पुरुषार्थके प्रतापसे परमपदको प्राप्त स्वयंभू वीतराग (आदिनाथ) प्रभूने पूजा तथा विधानके समय पूर्ण यत्नपूर्वक जो अहिंसा पालन करनेका उपदेश दिया है उसका प्रधान उद्देश्य जीवदया ही है। इसीलिए उन्होंने कहा था कि तीन वर्ष

बलि उपहार

तक रखे रहे जौ, चावल आदि अन्नोंकी ही बलि होमके समय करनी
१९ चाहिये क्योंकि वे पुराने होकर सत्रिके समान हो जाते हैं। राजा, चक्रवर्ती, विद्याधरों आदिसे परिपूर्ण इस पृथ्वीपर महाराज वसु हुए थे। उन्हें आकाशगामिनी विद्या सिद्ध थी, उनका वैयक्तिक आचार-विचार इतना उन्नत था कि लोग उन्हें महात्मा मानते थे, समस्त राज-मण्डलके प्रधान तो वे थे ही। किन्तु इन यज्ञोंके विषयमें ही उन्हें एक झूठ वाक्य बोलना
२० पड़ा था, जिसके फलस्वरूप वे सीधे सातवें नरक जा पहुंचे थे। ज्ञानी पुरुष जानते ही हैं कि वर्तमानमें भी यज्ञयागादिमें लीन बड़े-बड़े ब्राह्मण पण्डित जो कि मन्त्रोंके पाठ, सिद्धि आदि प्रक्रियाके विशेषज्ञ हैं, वे भी यद्यपि हिंसा सम्बन्धी रहस्यको नहीं समझते हैं, तथापि अनेक मंत्रपाठ करके राजा बलिका (नरकसे) उत्थापन करते हैं। महात्मा राजा बलिकी यह सब
२१ दुर्दशा ही आत्मज्ञानियोंकी आंखें खोल देनेके लिए काफी है। मधुपिंगल नामके राजर्षिने पुराने युगमें सुलसाको प्राप्त करनेके लिए ही साकेतपुरीमें (अयोध्या) निदान (किसी वस्तु विशेषको चाहना तथा उसीके लिए सब कार्य करना) यज्ञ किया था। उस समय वह उस श्रेष्ठ नगरपर आया था इस समस्त वृत्तान्तको कौन ऐसा मनुष्य है जो भारतवर्षमें जन्मा
२२ हो और न जानता हो। इस सब वर्णन तथा युक्तियोंको देखनेके पश्चात् यही परिणाम निकलता है कि माया, अहंकार, लोभ, राग, द्वेष, क्रोध आदि सब ही कुभावोंसे प्रेरित होकर वेदोंकी रचना की गयी है। अतएव जो पुरुष वास्तवमें आत्माका हित चाहते हैं उन्हें वेद तथा वेदोंके पठन, पाठन, प्रचार आदि कर्मोंमें लीन व्यक्तियोंकी संगतिको अवश्य ही छोड़ देना चाहिये।

२३ प्राचीन युगकी ही घटना है कि यदुवंशमें उत्पन्न महाराज क्रूर ने सब ही अभावग्रस्त व्यक्तियोंको उनकी इच्छाके अनुसार (किमिच्छक) दान दिया था। यही कारण है कि इस पृथ्वीतलपर यादव वंशके उस वीर शिरोमणि महापुरुषकी यश-

हिंसाकी घातकता

गाथा आज भी जनताको याद है, तथा लोग उसे कहने सुननेमें गौरव-का अनुभव करते हैं। इन्हीं क्रूर महाराजने लकड़ीका कुत्ता बनवाया था। वह आकार तथा
२४ ध्वनि आदिमें अत्यन्त डरावना था। महाराज क्रूरके मनमें किसी भी प्रकारका पाप न होनेपर

भी इन्होंने अन्नकी रक्षा करनेके लिए ही एक दिन उस कुत्तेको ललकार दिया था। वह एक अन्धे ब्राह्मणको अपनी ओर आता देख कर उसपर इतने जोरसे भौंका था कि उसके रौद्र स्वरको अकस्मात् सुनते ही वह ब्राह्मण अत्यन्त भीत होकर मर गया था। आज भी लोग २५ कहते हैं कि वह उदार तथा सदाचारी राजा क्रूर एक ब्राह्मणके वधमें; परम्परासे कारण होकर घोर नरकमें गया है। तब यही सोचना है कि संकल्पकपूर्वक पशु पक्षीसे लेकर मनुष्य तक को यज्ञमें मारनेवाले मंत्रवेत्ता ब्राह्मण लोगोंको कौनसी शक्ति नरक जानेसे बचावेगी ?

जिस आचार तथा विचारको धर्म नामसे पुकारते हैं, उस समस्त प्रपंचकी मूल भित्ति २६ दया ही है। यह दया ज्यों ही मनुष्य किसी भी जीवकी भाव अथवा द्रव्य हिंसा करता है त्यों ही नष्ट हो जाती है। दयाके नष्ट हो जानेपर इस जीवके एक दो ही अनर्थ नहीं होते हैं, अपितु सैकड़ों प्रकारके दुख उसे सहने पड़ते हैं। अतएव प्रत्येक प्राणीका प्रधान कर्त्तव्य है कि दयाकी नींवको उखाड़नेवाली हिंसाको थोड़ा भी प्रमाद विना किये निकाल फेंके। शिशपा (शीशम) के पेड़को लगाकर उसमेंसे २७ केलेके फल नहीं तोड़े जा सकते हैं, सेवार (पानीकी घास) से गन्नेका रस नहीं निकाला जा सकता है तथा कोदों धान्यसे चावल नहीं बनाये जा सकते हैं। इसी प्रकार बध, बन्धन आदि कुकर्मोंसे सुखप्राप्ति नहीं ही हो सकती है। जो कोई मनुष्य अपने लिए सुख चाहता है उसका कर्त्तव्य है कि अपनी प्रत्येक चेष्टा तथा भावके द्वारा वह दूसरोंको सुख ही देवे।

दया धर्मका मूल

संसारमें एक किंवदन्ती बहुत समयसे चली आ रही है कि मनुष्योंके सब वर्णों तथा २८ वर्गोंमें द्विज (ब्राह्मण) ही सबसे बढ़कर हैं। उनके उपदेश तथा व्यवस्थाके आधारपर ही सांसारिक व्यवहार चलते हैं तथा कर्त्तव्य आदिकी मर्यादाएं निश्चित हैं। इतना ही नहीं जब ब्राह्मण लोग हवन आदि कार्य करते हैं तो देवता लोग संतुष्ट हो जाते हैं। इसी विश्वासके सहारे वे ब्रह्मण लोग अनेक धर्मभीरु पुरुषोंसे २९ पत्र, पुष्प, फल, सुगन्धि पदार्थ आदि ही नहीं लेते हैं अपितु बहुत प्रकारके वस्त्र तथा नाना विधिके व्यञ्जन ग्रहण करके दाताओंको पुण्यसंचय करनेका शुभ अवसर देते हैं। किन्तु जब ये ३० पुण्यदाता राजमहलमें प्रवेश करते हैं, तो द्वारपाल इन्हें द्वारके बाहर ही रोक देते हैं। इन्हें पृथ्वीपतिके राजसदनमें जानेकी आवश्यकता रहती है अतएव रोके जाने पर घंटों प्रतीक्षा करते खड़े रहते हैं। इतना ही नहीं आत्मगौरवकी भावनासे हीन ये द्विज दीन वचन कहते हैं। क्या यह सब पराभव उनकी शक्तिहीनताको स्पष्ट करनेके लिए काफी नहीं है ? देवताओंके प्रिय (मूर्ख) ये ब्राह्मण लोग राजसदनमें प्रवेश पाकर यदि पृथ्वीपतिको प्रसन्न ३१ रूपमें देख पाते हैं, तो इनकी प्रसन्नता इतनी बढ़ जाती है कि उन्हें ऐसा अनुभव होता है मानों उन्होंने समस्त पृथ्वीका राज्य ही पा लिया है। राजमहलमें यदि घुस ही न सके अथवा भीतर जाकर ही यदि राजाको अपने प्रति उदासीन पाते हैं तब तो उन्हें ऐसा ही लगता है मानो वे किसी विशाल साम्राज्यके सिंहासनपर से घसीटकर भूमिमें फेंक दिये गये हैं। तथोक्त मनुष्यवर्गके नेता ब्राह्मणोंपर जब राजाकी वक्रदृष्टि हो जाती है तो उन्हें ऐसा प्रतीत ३२ होता है कि उनके चारों ओर दशों दिशाओंमें भयंकर ज्वाला भभक उठी है। और यदि राज्यके सभी ब्राह्मण सम्मिलित रूपमें राजाके विरुद्ध हो जांय तो उसका वही प्रभाव होता है जो कि भिलमें (भल्लातक) के तेलको पत्थरकी चट्टानपर बहानेसे हो सकता है। सोचिये ३३

ब्राह्मणत्व विचार

तो कि जो ब्राह्मण न तो किसीको अनुचित कार्य अथवा पराभवके लिए शिक्षा (सजा) ही दे सकतें हैं, न प्रसन्न होकर किसीका कोई भला ही कर सकते हैं। साधारणसे कार्यका सिद्धिके लिए संसारभरके छल कपट करते हैं। जो सबसे अधिक दीन हो चुके हैं। इतना ही नहीं जिन विचारोंका भरण पोषण ही दूसरोंकी कृपापर आश्रित है, वे ही ब्राह्मण समझमें नहीं
३४ आता क्यों कर राजाओंसे भी बढ़कर जातिवाले हो सकते हैं। ऐसे दीन हीन ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए आशिष तथा अभिशापमय वचन कभी झूठ हो ही नहीं सकते हैं। उनके द्वारा कहे गये शुभकामनामय मंत्र निश्चयसे पापोंको नष्ट कर देते हैं। दूरकी तो बात ही क्या है इस जन्ममें ही वे अभिलाषाएं पूर्ण हो जाती जिन्हें मनमें रखकर मनुष्य द्विजोंकी सेवा
३५ करता है। ये सबकी सब बातें सर्वथा असत्य हैं। गुड़के रसमें यदि पहिले हालाहल विष मिला दिया जाय फिर किसी ब्राह्मणके सामने रखा जाय तो उस द्विजकी जिह्वासे कह देनेपर ही विना किसी रासायनिक प्रयोगके ही वह रस शुद्ध ईखका रस हो जाता है, ऐसा उन
३६ व्यक्तियोंका प्रचार है जो कि ब्राह्मणोंपर गाढ़ आस्था रखते हैं। इतना ही नहीं वे तो यह भी कहते हैं कि ब्राह्मणका वाक्य कभी निष्फल होता ही नहीं है। ऐसे अमोघ वाक्य ब्राह्मण लोग न जाने कितने समयसे प्रतिदिन राजाओंकी क्षेम, कुशल तथा वृद्धि आदिके लिए प्रतिदिन स्वस्ति वाचन, अयन, क्रिया आदि अनुष्ठान करते आ रहे हैं, और इसी व्याजसे राजाओंसे धन कमाते हैं। धनकी आशा ही उन्हें प्रतिदिन शान्तिके अनुष्ठान करनेको वाध्य करती है। किन्तु परिणाम तो सब ही जानते हैं उन दोनोंकी ही अभिलाषाएँ पूर्ण नहीं होती हैं तथा उपद्रवोंमें पड़कर उनका क्षय हो जाता है।

३७ वेदोंमें कितने ही यज्ञ याग ऐसे हैं जिनके अनुष्ठानसे शत्रुओंका नाश हो जाता है। कुछ दूसरे ऐसे बताये हैं जिनके करनेसे स्वर्ग आदि सुख प्राप्त होते हैं, ऐसे अनुष्ठानोंकी भी कमी नहीं है जिनके फलस्वरूप आयु बढ़ जाती है, रोग नष्ट हो जाता है अथवा होता ही नहीं है, बलकी

यज्ञविशेष

३८ असीम वृद्धि होती है, शरीर सुन्दर तथा आकर्षक हो जाता है। किन्तु अधिकांश प्रयोगोंमें ये सब ही निष्फल सिद्ध हुए है। संसारमें जितने भी व्याह होते हैं वे उस होमाग्निको साक्षी मानकर किये जाते हैं जिसमें उत्कृष्ट मंत्रोंके सांगोपांग उच्चारण तथा विस्तृत पाठके द्वारा पवित्र की गयी हवन सामग्री, जल आदिका उपयोग होता है। किन्तु वे पत्नियां असमयमें ही मर जाती हैं अथवा दूसरे उनको ले भागते हैं। दूसरा पक्ष (कन्याएं) भी अनिष्टसे अछूता नहीं रहता है—कभी-कभी लड़कियोंको दारुण रोग हो जाते हैं जो उनके सुकुमार सुन्दर शरीरको जर्जर कर देते हैं अथवा विचारी असमयमें विधवा हो जाती हैं
३९ और यौवन काल आदि लम्बे समयको दुःख भर कर बिताती हैं। दूसरोंकी तो बात ही क्या है ? तथाकथित सर्वशक्तिमान् ब्राह्मणोंकी कितनी ही सन्तानें गर्भमें ही मर जाती हैं। दूसरे कितने ही जन्म लेते ही रोगग्रस्त होते हैं अथवा मर जाते हैं। अन्य कितने ही ऐसे होते है कि किसी प्रकार बाल्य अवस्थाको पार करते करते ही नष्ट हो जाते हैं। असंख्यात ब्राह्मण बालकोंकी सब इन्द्रियां तक ठीक नहीं होती हैं और शेष लगभग सब ही निर्धनताको अपनी जीवनसंगिनी बनाते हैं। तब यह सोचिये कि उनमें और दूसरे लोगोंमें क्या भेद होता है ?

४० अभिनय करनेमें मस्त नट जब रंगस्थलीपर आता है तो वह उन उन विचित्र हाव-

भावोंको करता है तथा वेशोंको धारण करता है जो कि नाटककी कथावस्तुके अनुकूल होते हैं।

ब्राह्मणत्व जातिकी निस्सारता

यह विस्तृत संसार भी एक विशाल रंगमञ्च है, इसपर संसारी जीवरूपी अभिनेता आता है तथा उन सब शरीरोंको धारण करता है तथा उन्हीं शुभ अशुभ कर्मोंको करता है जो कि पूर्व अर्जित कर्मोंके परिपाक होनेपर उसे प्राप्त होते हैं। इस संसारमें ब्राह्मण जाति नामकी कोई निश्चित रंग रूप युक्त वस्तु नहीं है, क्षत्रियोंकोभी कर्म (विधि) विशेष चिह्न युक्त करके नहीं भेजते हैं तथा वैश्यों और शूद्रोंका भी यही हाल है। सत्य तो यह है कि आत्म ज्ञानहीन यह पामर आत्मा कर्मोंकी पाशमे पड़कर, उनके संकेतके ऊपरही संसार चक्रमें नाचता फिरता है। आत्मा तथा शरीरके विशेष रहस्यके पण्डितोंका कथन है कि मृत शरीरको भस्म कर देनेमें कोई पातक नहीं है, उसे वे शरीर न कहकर ब्रह्म ही कहते हैं। यह कौन नहीं समझता है कि ज्ञान साक्षात् ब्रह्मसे किसी भी अवस्थामे बड़ा नहीं हो सकता है। यही कारण है कि जिस शूद्रको वर्णव्यवस्थाके प्रतिष्ठापकोंने सबसे नीच कहा है वह भी वेदका अध्ययन करता है। ४१ ४२

यदि कोई व्यक्ति ब्राह्मण कुलमें उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मणत्वके लिए परम आवश्यक विद्या, सदाचार तथा अन्य आदर्श गुणोंसे अछूता ही रह जाता है तो केवल जन्म ही उसे ब्राह्मण न बना सकेगा। ब्रह्मज्ञानी लोग उसे ही वास्तविक ब्राह्मण कहते हैं जो द्विजके उपयुक्त ज्ञान, स्वभाव, संयम तथा अन्य गुणोंसे भूषित है। कृष्ण द्वीपायन व्यास (पिता ब्राह्मण माता केवटी) राजर्षि वसिष्ठ (क्षत्रिय) कमठ कण्ठ (अनुलोम) शस्त्रविद्या तथा शारीरिक शक्तिके उद्गम स्रोत द्रोणाचार्य (ब्राह्मण) तथा पराशर (अनुलोम ब्राह्मण) ऋषि ये सबके ब्रह्मत्वको प्राप्त कर सके थे। यद्यपि जन्मसे वे सब ही ब्राह्मण नहीं थे तो भी उनका वह आचार तथा तपस्या थी जिसने उन्हें ब्रह्ममे लीन कर दिया था। ४३

कर्मणा वर्ण

४४

श्रीशंकर (महादेव) जीको चढ़ायी गयी निर्माल्य द्रव्यके अवशिष्ट भागको, जान बूझकर नहीं असावधानीसे ही जो पैरसे स्पर्श कर लेता है वह मनुष्य संसारकी सबसे निकृष्ट योनिमें-क्षुद्र कीट होकर साठ वर्षपर्यन्त महा दुख पाता है, ऐसी एक धारणा समस्त पृथ्वीपर फैली हुई है। गंगाकी वैदिक कथाके अनुसार जब वह पृथ्वीपर आयी थी तो उसे शंकरजीने अपने मस्तकपर ही झेला था, इसी कारणसे वह भी परम निर्मल हो चुकी है। किन्तु लोग उसमें स्नान करते हैं, तैरते हैं, इतना ही नहीं अपितु मल त्याग करते है (विशेषकर वर्तमानमें तो नगरोंका सब मल उसीमें बहाया जाता है) इन लोगोंकी क्या दुर्गति होगी। उसका अनुमान करना भी कठिन है। जो व्यक्ति श्रद्धासे गद्गद् होकर पवित्र गंगाजलको पीता है उसके कुलकी दश पीढ़ी पीछे और दश ही आगामी पीढ़ियोमें उत्पन्न हुए लोगोंको वह गंगाजल पवित्र कर देता है। इस प्रकारका प्रवाद इस संसारमे प्रचलित ही नहीं है अपितु लोग उसपर विश्वास भी करते हैं। किन्तु, यदि इसको भी युक्तिकी कसौटीपर कसा जाय तो यह भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा। महाराज शान्तनुके औरस पुत्र राजर्षि भीष्म गंगाजीके साक्षात पुत्र थे, उनका आचार भी लोकोत्तर था, अकेले ही कितने ही महारथियोंके साथ युद्ध करते थे। इतना ही नहीं उनकी वीरताका वास्तविक प्रदर्शन तो तब ही होता था जब वे घोर संग्राममें लीन हो जाते थे। किन्तु जब इन मतिमान, महात्माको ही ४५

गगा विचार

४६ ४७ ४८

अर्जुनका बाण जा लगा था, तो वे उसके आघातसे निश्चेष्ट होकर कुरुक्षेत्रमें धराशायी हो गये
४९ थे। गंगाजीने गर्भ अवस्थासे लेकर ही जिस पुत्रके मुखको वात्सल्यसे विगलित होकर चूमा था उसकी ही जब युद्धमें मृत्यु आयी तो उसके लिए भी गंगाजीने धर्मरूपी द्वारके किवाड़ न खोले थे। इस दृष्टान्तसे पतितपावनी गंगाकी निस्सारता सिद्ध नहीं होती है अपितु वैदिक आम्नायमें पवित्र करनेकी अपनी सामर्थ्यके लिए प्रसिद्ध कुरुक्षेत्र तथा युद्धके पराक्रमकी भी
५० विफलता प्रकट हो गयी थी। महात्मा भीष्मने पूरे छः माह पर्यन्त शासनको धारण करके अतिघोर तप किया था तब कहीं उनका उद्धार हो सका था। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जीवकी सद्गति या दुर्गतिका मूल कारण उसका तप ही है। मनुष्य जन्म या मनुष्य योनिके सुख दुख ही नहीं अपितु देव, इन्द्र आदिके सुखोंका मूल कारण भी शुद्ध तप ही है।

५१ पूरे देशमें फैले हुए जिन, जिन स्थानों पर उन उग्र तपस्वियोंने निवास किया है जिनका धन निरतिचार तप ही था वे सबके सब आज हमारे विविध तीर्थक्षेत्र हो गये हैं।

तीर्थयात्रा विचार

दर्शन करनेके लिए मनुष्य वहां जाते हैं, दूर रहते हुए भी उनकी स्तुति करते हैं तथा उनके मन उधर इतने आकृष्ट हो जाते हैं कि वे सर्वदा उन्हीं (तीर्थों) के विषयमें सोचते हैं। वहां पहुंचनेपर संसारी मनुष्य अपनी कुप्रवृत्तियोंको
५२ भूल जाते हैं फलतः वे उन्हें पवित्र करते हैं। साधारण गृहस्थ भी जानता है कि किसी भी अन्नका आटा अथवा पीठीको गुड़में मिला देनेपर स्वयं मधुरताहीन होनेपर भी वह बिल्कुल मीठा हो जाता है। ठीक यही क्रम स्थानोंकी पवित्रताका है, जिन स्थानों पर घोर तपस्वी, परम ज्ञानी शुद्धात्मा ऋषियोंने निवास किया है वह तीर्थस्थान तथा उसका वातावरण भी उसी प्रकार पावक हो जाता है।

५३ शंकरजीके पुत्र कुमार कार्त्तिकेयने विशेष आध्यात्मिक योग्यता प्राप्त करनेके लिए अपनी कुमार अवस्थामें ही जो घोर तप किया था, उसके कारण उन्होंने अपनी उस सुकुमार

तीर्थोंका इतिहास

अवस्थामें ही ऐसी सिद्धि प्राप्त कर ली थी कि उसकी तुलना करना ही असंभव है। इस कारणसे ही स्वामि कार्त्तिकेयका निवासस्थान (   ) परम पवित्र माना गया है। जिस कुमारीकी घोर तथा लम्बी तपस्याके
५४ प्रभावसे ही विशाल दक्षिण दिशा प्रकाशमें आयी थी, उसकी तपसाधनाका स्थान आज भी कुमारी तीर्थ नामसे प्रसिद्ध है तथा आदर्श धर्ममार्गकी पथ प्रदर्शिकाके रूपमें आज भी वह
५५ कुमारी बहुसंख्य जनताके द्वारा श्रद्धापूर्वक पूजी जाती है। सगर चक्रवर्तीके नाती राजा भागीरथने जिस स्थानपर एक दो नहीं अनेक वर्ष पर्यन्त घोर तप किया था, वह भी किसी व्यक्तिगत स्वार्थसे प्रेरित होकर नहीं बल्कि जो पूर्वज अपने मन्द आचरणके द्वारा अधोगतिमें चले गये थे उनका उद्धार करनेकी अभिलाषासे अभिभूत होकर किया था। वह स्थान भी
५६ धीर वीर भगीरथके नामसे आज भी परम पवित्र तीर्थ है। कुरुवंश प्रधान राजवंश रहा है, इसी वंशमें बहुत समय पहिले एक कुरु नामके महात्मा उत्पन्न हुए थे। उन्हें अपनी प्रजासे इतना अधिक प्रेम था कि उसको सर्व दृष्टियोंसे सम्पन्न बनानेके लिए ही उन्होंने अपने सुखों तथा भोगोंकी उपेक्षा करके कुमार अवस्थामें ही कठोर तप किया था। इस तपस्यामें सफल होनेपर उनका प्रभाव इतने व्यापक क्षेत्रमें प्रसिद्ध हो गया था कि लोग अपनी उलझनोंसे
५७ छुटकारा पानेके लिए उनके पास जाते थे। तब ही से कुरुक्षेत्र प्रधान तीर्थ हो गया है। सांसा-

रिक सुख-दुखोंके अनेक उतार चढ़ाव देखनेके बाद महाराज पाण्डुके पुत्रोंको जगतसे वास्तविक वैराग्य हो गया था वे इन क्लेशोंको मूलसे ही नष्ट कर देना चाहते थे। इसी अभिलाषासे प्रेरित होकर उन स्वाभाविक धीर तथा गम्भीर पाण्डवोंने प्रव्रज्या ग्रहण करके आतापनयोग लगाया था। उनके अतिघोर आतापनयोगका स्थान भी पूर्वोक्त कुरुक्षेत्र हीं था। पाण्डवोंकी उग्र तपस्यासे उनकी आत्मशुद्धि ही नहीं हुई थी अपितु कुरुक्षेत्र भी परम पवित्र हो गया था। श्रीपर्वत (कर्नूल जिलेका पहाड़) वर्तमानमें सुविख्यात तीर्थ है, वहांपर श्री नामके महर्षिने लगातार एक हजार वर्षपर्यन्त उग्र तथा विशाल तपको सांगोपांग विधिपूर्वक किया था। पुष्कर नामके किन्ही महर्षिने जिस स्थान पर सावधानीसे तपस्या की थी वही स्थान आज श्री पुष्कर नामसे विख्यात है। इस युगके प्रवर्तक श्री ऋषभदेव तीर्थंकरने कैलाश पर्वतकी शिखरपर ही तपस्या करके आठों कर्मोंको विनष्ट किया था। धरणीधरोंके अग्रगण्य गिरनार (ऊर्ज्जयन्त) पर्वतको कौन नहीं जानता है, जिसके वन किसी समय जनार्दन श्रीकृष्णकी रास क्रीड़ाओंके द्वारा झंकृत हो उठते थे। उसी गिरनार पर्वतपर यादव वंशके मुकुटमणि, अलौकिक सौन्दर्य और सुगुणोंके भण्डार श्री नेमिकुमारने उग्र तपस्या की थी तथा कर्मोंको नाश करके कैवल्य प्राप्त करके अरिष्ट (अशुभ निवारक) नेमि हो गये थे। ५८ ५९

'गउओंका दूध, घी, रक्त, मज्जा आदिका उपहार करनेसे स्वर्गवासी देवता अत्यन्त तृप्त होते हैं। जब वे स्वयं संतुष्ट रहते हैं तो अपने भक्तोंकी मनोकामनाओंको भी बिना विलम्ब पूर्ण करते हैं। गउओंके अंग अंगमें देवताओंका निवास है। यही कारण है कि संसारमें कोई भी वस्तु गायकी अपेक्षा अधिक पवित्र नहीं है। वे स्वयं पवित्र हैं और दूसरोंको भी पवित्र करती हैं।' इत्यादि घोषणाएं संसारमें अति प्रचलित हैं। ब्राह्मणोंको भक्तिपूर्वक गाय दानमें देनेसे समस्त देवता तथा ऋषि लोग संतुष्ट हो जाते हैं, तथा उन्हें विशेष फलकी प्राप्ति होती है। यदि इस लोकमें ही किसीके उत्तराधिकारी गोदान देते हैं तो उनके स्वर्गीय पितृ पुरुष केवल शान्ति और सफलताको ही नहीं पाते हैं। क्योंकि उनके निमित्तसे दिया गया गोदान साधारण गोदान न रहकर उनके लिए स्वर्गलोकके मुकुटका समर्पण ही हो जाता है। किन्तु इन विशेषताओंकी खान गाय अथवा बैलपर सवारी की जाती है, भार लादा जाता है, वेगसे चलने, वशमे रखने आदिके लिए लगातार कोंचा छेदा जाता है, बलप्रयोग करके दुही जाती है, हल आदिमें जुतते हैं, थोड़ेसे अपराधके लिए भयंकर दमन किया जाता है। अनेक प्रकारके कष्ट उन्हें सहना पड़ते हैं, जीवनभर पीड़नसे पाला नहीं छूटता है। सबसे बड़ा आश्चर्य तो यह है कि उनकी इस विपत्तिकी देवता तथा ऋषि बिना किसी असुविधाके उपेक्षा करते हैं। मिथ्यादृष्टी उपदेशकों ने कुछ दृष्टान्तोंको देकर देवोंके स्वरूपको समझाया है, उन सबको सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर ऐसा लगता है कि देवोंकी बहुत कुछ दासों ऐसीही अवस्था है। तो भी किसी रूपमे उन देवताओंका विरोध करनेसे ही सचराचर जगत किसी बाहिरी कारण कलापके बिना स्वयमेव ही विनष्ट होजाता है। ६० ६१ ६२ ६३

गायका देवत्व

स्वर्गीय माता पिताकी सेवा सूश्रुषा करनेके लिए लोग उनका वार्षिक श्राद्ध करते हैं जिसमें पूजाका पिण्ड काक पक्षी खाते हैं तथा मिष्टान्न ब्राह्मण खाते हैं। इन प्राणियोंके द्वारा खाया गया भोजन ही यदि परलोकवासी माता पिताकी भूख प्यासको शान्त कर देता ६४

है, तो इसका यही निष्कर्ष निकलेगा कि तर्पण कर्ताओंके पितरों द्वारा कमाये गये शुभ अशुभ
६५ पूर्वोपार्जित सब ही कर्म नष्ट हो जाते हैं और उन्हें परान्नभोजीहोना पड़ता है। कोई-कोई ऐसा विचित्र पुरुष होता है कि वह अपने पूर्व जन्मको स्मरण रखता है और मोहसे आकृष्ट हो कर अपनी ही लड़कीके उदरसे पुत्ररूपमें जन्म ग्रहण करता है। दूसरी तरफ उसका तर्पण भी चलता ही रहता है और वह पिण्डदानको खाता भी रहता है। इस प्रत्यक्ष दृष्ट घटनाका तो यही परिणाम निकलता है कि यहांसे
६६ पितरोंका तर्पण कठिन ही नहीं, असंभव है। यह भी संभव है कि कोई पुत्र तामसिक हो अथवा पिता ही तामसी प्रकृतिका व्यक्ति रहा हो। ऐसी अवस्थामें वह तर्पणकर्त्ता कुभावनासे प्रेरित होकर विष मिला भोजन ही ब्राह्मणोंको दे देता है, किन्तु असत्य मान्यताओंका प्रचार करनेवाले तथा पितरों तथा पुत्रोंके माध्यम उन ब्राह्मणोंके द्वारा अपने प्राणोंके भयके कारण वह विषैला भोजन छुआ भी नहीं जाता है। इससे स्पष्ट है कि तर्पणका भोजन ब्राह्मणोंके ही पेटमें रह जाता है तथा पितरोंकी तृप्तिकी बात सर्वथा कपोलकल्पित है।

पितृतर्पण

६७ मनुष्य अपने पूर्व जन्ममें मनुष्योंके अग्रगण्य ब्राह्मणोंको जिन विविध रसोंसे आप्लावित, जिस-जिस रंग तथा आकारके जो-जो दान देते हैं, उन्हें अपने इस (अगले) जन्ममें बिना किसी विशेष प्रयत्नके ही जो फल मिलते हैं उनका आकार, रूप, रस तथा प्रकार सब ही गुण उनके दानकी वस्तुके ही समान
६८ होते हैं, ऐसी एक किंवदन्ती हमारे संसारमें प्रचलित है। अब देखिये कुत्ते और सियारके जन्मको भरनेवाले क्या पाते हैं? गीध और काक किन वस्तुओंपर टूटते हैं? गदहे और सुअर किन वस्तुओंपर जीते हैं? तथा चाष (नीलकण्ठ) और कछुओंकी जीविका क्या है? ये सबके सब इस जन्ममें अशुचि और वीभत्स पदार्थोंको छोड़कर और क्या पाते हैं? तो क्या मान लिया जाय कि इन सबने पूर्वभवमें ब्राह्मणोंको अशोभन, अपवित्र पदार्थ ही दिये
६९ हों गे। जिसके पुत्र नहीं पैदा होते हैं वह इस संसारका भी पार नहीं पाता है, जो पुत्रहीन हैं वे सब स्वर्गको गमन करनेका सुअवसर तो पा ही नहीं सकते हैं। इत्यादि सिद्धान्तको जो सज्जन मानता है तथा इसका प्रचार करता है, मालूम होता है कि उसका विचार अथवा दृष्टि उन बहुसंख्य महात्माओंकी ओर गयी ही नहीं है जो कि आजीवन ब्रह्मचारी रहे थे।

ब्राह्मण दानका रहस्य

७० जिन पदार्थोंको अथवा घटनाओंको इस लोकके बहुसंख्य पुरुषोंने सावधानीके साथ नहीं देखा है, वह वह वस्तुएं तथा उनके स्वरूप प्रामाणिक नहीं हैं, जिस विचारकका मूल सिद्धान्त यही है; क्या उसे यह ज्ञात नहीं है कि चारों वेद, श्रुतियां, समस्त स्मृतियां, इतिहास, पुराण तथा अन्य समस्त धर्मशास्त्रोंको केवल एक ब्रह्मा ही ने तो अपनी अशरीर वाणीके द्वारा
७१ प्रकट किया था, फिर भी वे प्रमाण क्यों हैं? एक असत् (वह पदार्थ जो किसी इन्द्रियसे ग्रहण नहीं किया जा सकता है तथा जिसकी सत्ताको किसी भी प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है) पदार्थसे यदि किसी दूसरे असत् पदार्थकी उत्पत्ति संभव है तो सियारके सींगसे मृगतृष्णा क्यों न उत्पन्न हो गी? सत् पदार्थ यदि किसी असत् पदार्थसे उत्पन्न हो सकता है तो इस अवस्थामें कोई कारण नहीं कि
७२ सियारके सींगोंसे वटके बीज उत्पन्न न हों। सद्भावमय किसी पदार्थसे यदि असत् पदार्थ उत्पन्न हो सकता है तब तो स्पष्ट आकार, रूप आदि युक्त गायके सींगपर आकाशकुसुम खिल

प्रमाण मीमासा

ही जाना चाहिये। तथा यदि किसी सद्भूत पदार्थसे किसी भी सत्स्वरूप पदार्थकी उत्पत्ति शक्य मानी जायगी तो अग्निसे जलकी उत्पत्ति होने लगेगी अथवा शीतलस्वभाव जलसे उष्ण प्रकृति आग ही भभक उठेगी।

संसारके समस्त पदार्थोंकी सृष्टिका साधारण नियम यही है कि उपादान कारण भूत द्रव्य जब अपने उपयुक्त क्षेत्रपर पहुँच जाती है, समय और भाव उसकी उत्पत्तिके अनुकूल हो जाते हैं तथा अन्य साधन सामग्री एकत्रित हो जाती है तब ही तीनों लोकोंमें पदार्थोंका उत्पाद व्यय प्रारम्भ हो जाता है, कोई भी वस्तु अकारण ही उत्पन्न नहीं होती है। निस्सन्देह महादेवजीने त्रिपुर राक्षसका वध किया था, वे गिरिराज दुलारी उमा ऐसी रूप तथा शक्तिवती स्त्रीके पति थे; रतिके कारण ही उनका आविर्भाव हुआ था, विश्वविजयी कामदेवको उन्होंने भस्म कर दिया था, अनेक आततायी असुरोंका संहार किया था, केश संस्कार छोड़कर लम्बी-लम्बी जटा रख ली थी, हालाहलपूर्ण सांपोंकी माला बनायी थी तथा नन्दी ऐसे जंगली बैलपर सवारी करते थे, किन्तु इन कारणोंसे ही वे सत्य आप्त नहीं हो सकते हैं। पुराणोंमें जो यह लिखा है कि अग्नि ही सुर असुर तथा ईश्वरका मुख (हवन सामग्री ग्रहण करनेका द्वार) है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि वह अग्नि ईश्वरका भी मुख अवश्य होगी। तब वह यज्ञके देवताओंतक हवन सामग्री भेजकर अपने आप ही अपनेको ठगता (भूखा रखता) होगा। निष्कर्ष यही निकला कि जो अपनेको ही ठगताहै वह दूसरोंको वंचनासे कैसे बचाय गा।

७३

कारणता विचार

७४

७५

विष्णु (हरि) के समान शील, व्यसन आदिका आधार ब्रह्मा भी शुम्भ तथा निशुम्भको आपसमें लड़ा कर परास्त करके अथवा अन्य राक्षसोंका वध करनेके कारण ही आप्त पदको नहीं पा सकता है। कौन नहीं जानता है कि जिस समय वह समाधिमें लीन था उसी समय तिलोत्तमा नामकी अप्सराने आकर उनपर अपने रूपकी पाश फेंकी थी, जिससे विह्वल होकर उन्होंने उसे देखनेके लिए अपने चार मुख बनाये थे। यादव वंशमें उत्पन्न श्रीकृष्ण रूपधारी विष्णुने आततायी राजा बलिको बन्धनमें डाला था घोड़ेका मुख बनाकर उपस्थित हुए दैत्य (हयग्रीव) का मुख ही चीर कर दो कर दिया था। अनु (ययातिका पुत्र) की जीवन लीलाको समाप्त कर दिया था, कंसके द्वारा छोड़े गये मदोन्मत्त हाथीका दांत पकड़ कर उखाड़ लिया था, चाणूरमल योद्धा तथा प्रजापीड़क कंसका वध किया था तथा यमुनामे पड़े कालिया नागको भी समुचित शिक्षा दी थी। किन्तु यह सब होते हुए भी वे आप्तके वीतराग स्वरूप तक न पहुंच सके थे। स्वार्थ-भावनासे प्रेरित हो कर जिस विष्णुने गदहे ऐसे साधारण पशुके सामने प्रणत हो कर नमस्कार केवल इसीलिए किया था कि, वह शत्रुके नादका उत्तर देनेके लिए एक वार और रेंक दे। मुचुकुन्द नामके प्रबल शत्रुसे तो वे इतने अधिक डर गये थे कि उससे बचनेके लिए वे अपने पलंगके एक कोनेमें ही सिमट गये थे, तब वे कैसे आप्त हो सकते हैं। पुराणोंके अनुसार आदर्श पालक तथा वज्ररूपी महान शस्त्रके धारक इन्द्र महाराजने भी कामके आवेशमें आकर अपने सदाचारको छोड़ दिया था और गौतमकी पत्नीसे अनाचार किया था। फलस्वरूप गौतमजीका अभिशाप भी भोगना पड़ा था। पार्वतीके प्रतापी पुत्र कुमार कार्तिकेयका आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत भी धनगोचरिणी नामक सुन्दरीके कटाक्षोंसे टूट गया था। यदि जगतके

७६

ईश्वरत्व विचार

७७

७८

७९

पूज्य, न्यायाधीश तथा शुद्ध स्वभावयुक्त देवता ही हाथोंमें त्रिशूल, वज्र, चक्र आदि घातक शस्त्र लेकर घूमेंगे, विशाल धनुष, भारी गदा, शक्ति, खड्ग आदि शस्त्रोंको छोड़ नहीं सकते हैं तथा तोमर परमप्रिय होगा, तो फिर यह सोचिये कि चोर, डकैत आदि पापकर्मरत पुरुष कैसे

८१ होंगे और क्या लेकर घूमेंगे। यदि देवताओंको स्त्रियों, भूषणों आदिकी उत्कट चाह होती है, उन्हें भीषण क्रोध आता है तथा उसका अन्त अक्सर अभिशापके रूपमें होता है। वाहन विमान आदि दुनिया भरके परिग्रह रखते हैं, भांति-भांतिके शस्त्र जुटाते हैं, इत्यादि प्रवृत्तियां तो यही सिद्ध करती हैं कि हम संसारी लोगोंके समान देवताओंको भी भय लगता है।

८२ बौद्धधर्मके प्रवर्तक महात्मा बुद्ध न तो आत्माका अस्तित्व स्वीकार करते थे, सचराचर विश्वको वास्तविक न मानकर उसे शून्य मानना ही उन्हें अभीष्ट था और किसी भी पदार्थको चिरस्थायी न कहकर क्षणिक ही कहते थे, फलतः रत्नत्रय भी उनके दर्शनसे सिद्ध नहीं हो सकता है। जब रत्नत्रयका ही अभाव हो गया तो फिर किस आधारपर संसारके समस्त भाव सिद्ध हो सकेंगे, सब वस्तुएँ अभाव

सुगत मीमांसा

८३ स्वरूप हो जांय गी और उनकी आप्तताकी भी वही दुर्दशा होगी। महात्मा बुद्ध अपनी परम करुणाके लिए विख्यात हैं, किन्तु उनका यह करुणा भाव झूठ ही है, क्योंकि उनके उपदेशके अनुसार उनके यहां न तो आत्माका ही अस्तित्व है और न उसमें उठनेवाले भावोंका। आत्मा तथा चेतनाके विना समझमें नहीं आता कि करुणा कहां उत्पन्न होगी? फलतः करुणाके विषयमें उन्होंने जो कुछ भी कहा है, वह सब शुद्ध वंचना ही प्रतीत होती है।

८४ ब्रह्माके मुखसे निकले वचनोंके नामपर जो मंत्र आदि जनसाधारणको मान्य हैं, वे प्राणोंकी बलिकी प्रेरणा देते हैं आपाततः उनका फल भी अच्छा हो ही नहीं सकता। रुद्र (शिव) जी अपने प्रत्येक कार्य तथा भावमें निरपवादरूपसे सर्वत्र- रौद्र (निर्दय) ही हैं। विष्णु भी पूरे महात्मा (व्यंग्य) हैं—न वे प्रेम प्रपंचको ही छोड़ सके हैं और न उनके क्रोधसे ही जगतके प्राणियोंको अभयदान प्राप्त हो सका है। महात्मा बुद्धका भी क्या कहना है मांस भोजन आदिकी अनुमति दे कर उन्होंने हिंसाको प्रश्रय दिया है तथा करुणा आदिके उपदेशके विरुद्ध आचरण करनेकी अनुमति देकर जगत-

ईश्वर वाक्य ?

८५ के प्राणियोंपर कोई विशेष अनुग्रह नहीं किया है। ब्रह्मा आदि जगतके तथोक्त स्रष्टा, रक्षक तथा संहारक भी यदि उनके मनके माफिक काम करके उनकी इच्छाको पूर्ण न किया जाय तो भी वे असमयमें किसी मनुष्य या प्राणीकी आयुको अपना बल प्रयोग करके समाप्त नहीं कर सकते हैं। किन्तु हम राजाओंरूपी आप्त उन सबकी अपेक्षा अपनी शक्ति तथा पुरुषार्थको दूसरोंपर अधिक दिखा सकते हैं, तब हमारा वे लोग क्या कर सकते हैं।

८६ जिनके आत्मा सम्यक् दर्शन तथा ज्ञानरूपी सूर्यके आलोकसे प्रकाशित हो उठे हैं, निर्दोष उग्र तपस्याके प्रभावसे जिनकी देहसे एक अलौकिक कान्ति विखर उठती है, इन्द्रियों-रूपी घोड़े जिनके संकेतपर चलते हैं, मन तथा इन्द्रियोंके परिपूर्ण दमनकर्ता, आठों प्रकारके मदसे अति दूर, जिनकी अन्तरंग लेपूया (भाव) अत्यन्त निर्मल हो चुके है ऐसे अनेक गुणोंके भंडार महर्षि ही सत्य आप्त हो सकते हैं। ऐहिक परिश्रम,

'साचो देव'

८७ निद्रा तथा क्लेशको जिन्होंने जीत लिया है, विषाद, चिन्ता तथा आश्चर्य जिनसे हार कर शान्त हो गये हैं, भूख, प्यास, रोग तथा व्याधि जिनको छू भी नहीं सकती हैं, पसीना, मूत्र

आदि मल जिनकी दिव्य देहको दूषित नहीं करते हैं। वही महापुरुष सत्य आप्त हो सकते हैं। उनके स्वभाव तथा अन्य गुणोंके उपमान वही हो सकते हैं, कोई दूसरा नहीं। हमारे विश्वमें कोई भी आत्मा ऐसा नहीं है जो राग-द्वेषके रंगसे न रंगा हो, महामूर्खता तथा दोष करनेकी प्रवृत्ति किस जीवमें नहीं है? किन्तु संसार भरमें व्याप्त ये सब दोष उन अर्हन्त केवलीमें होते ही नहीं हैं क्यों कि उन्होंने अपने समस्त पापकर्मोंकी कालिमाको धो कर फेंक दिया है। यही कारण है कि आचार्योंने उन्हें ही सत्य आप्त माना है। श्री एकहजार आठ अर्हन्त केवली ही विशुद्ध अहिंसाके प्रचारक होनेके नाते सारे संसारको अभयदान दे सकते हैं। आठों कर्मोंके समूल नष्ट हो जानेके कारण अर्हन्त प्रभुकी ही शक्ति तथा सामर्थ्य ऐसी हो गयी है कि उसकी कोई दूसरा समता कर नहीं सकता है। कर्मकालिमा नष्ट हो जानेके कारण अर्हन्त-देवके ही अन्तरंग और रूप निर्मल हो गये हैं। अर्हन्त केवली ही विविध अतिशयों तथा ऋद्धियोंके स्वामी होते हैं। अर्हन्तदेवमें अकृपाकी छाया भी नहीं पायी जा सकती है। वीतराग अर्हन्तका इस संसारमें न तो कोई शत्रु ही है और न उन्हें किसीसे कोई भय ही है। अर्हन्तदेवका क्षायिक सुख ऐसा है जो कभी नष्ट नहीं होता है और अनन्त कालतक भी उसकी चारुता नहीं कमती है। अर्हन्त प्रभुने ही उस मोक्ष महापदको प्राप्त किया है जिसकी छटाकी तुलना किसी अन्य पदार्थसे हो ही नहीं सकती है। इन योग्यताओंके कारण वीतराग अर्हन्त ही तीनों लोकके प्राणियोंके परम पूज्य हैं, हितोपदेशी तथा आत्मपुरुषार्थी अर्हन्त प्रभु ही संसारका सहारा है। अर्हन्तदेव ही तीनों लोकोंमे सबसे श्रेष्ठ आत्मा है। तथा अर्हन्तकेवली ही क्षुधा, तृषा आदि अठारहों दोषोंसे सर्वथा परे हैं।

८८ ८९ ९० ९१

जो पुरुष इन अर्हन्तकेवलियोंको युक्तिकी कसौटीपर कस लेनेके बाद परम आप्त मान लेते हैं। फिर उनके उपदेश वाक्योंके द्वारा बतायी गयी क्रियाओं तथा भावोंको जो प्रयोग रूपमें लाते हैं, वे धीर-वीर पुरुष अनादि तथा अनन्त संसारमें एक निश्चित लक्ष्य पर पहुंच जाते हैं, उनका निजी संसारचक्र रुक जाता है तथा वे सर्वश्रेष्ठ मोक्ष सुखको प्राप्त करते हैं। सम्राट वरांगने समस्त लौकिक तथा वैदिक सम्प्रदायोंका विवेचन उन्हीं वाक्योंके आधारपर किया था, जिन्हें कि अनेक शास्त्रोंके प्रकाण्ड पंडित महा-मतिमान धर्मोंके उपदेष्टाओंने अपने-अपने पक्षका पूर्ण पक्षपात करके लिखा था। इस शैलीसे प्रतिवादियोंके पक्षपातको सिद्ध करके उन्होंने अपने मतकी पुष्टि की थी। सम्राट वरांगने विशेष कर उन लोगोंको समझानेके लिए जिनकी आंखें मिथ्याज्ञान और मिथ्या नैतिकतारूपी पर्दोसे ढंक गयी थी। तथा मिथ्या हेतु और भ्रान्त निदर्शनोंको सुनते-सुनते जो कि सत्यमार्गसे भ्रष्ट हो गये थे। इन लोगोंको सम्राटने प्रबल, अकाट्य युक्तिपूर्ण वाक्यों द्वारा समझाया था। जिनका उत्तर न दे सकनेके कारण वे सब चुप ही हो गये थे। प्रधान मंत्री, श्रीमान्, पुरोहित, राज्यके शिष्ट पुरुष, आमात्य, तथा समस्त सदस्योंने सम्राटके उपदेशको सुन कर अनादि कालसे बंधे हुए अपने मतके विवेकशून्य हठको तुरन्त ही छोड़ दिया था। उस दिन वे वास्तविक सत्यको पहिचान सके थे फलतः उनकी प्रसन्नताकी सीमा न थी, उसीके आवेशमें उनके सुन्दर, स्वस्थ तथा प्रसन्न मुख विकसित कमलोंकी भांति चमक उठे थे। सम्राटके उपदेशको सुनते ही उनको तत्त्वोंका रहस्य समझमें आ गया था, उनकी बुद्धि निर्मल हो गयी थी अतएव इन्द्रियां शुद्ध आचरणकी ओर उन्मुख तथा मोह, राग शान्त हो गये थे, मिथ्यात्व, क्रोध, लोभ आदि

उपसंहार

९२ ९३ ९४ ९५ ९६

कषायोंकी जड़ खुद गयी थी। परिणामस्वरूप कितने ही श्रोताओंने तुरन्त ही आध्यात्मिक शान्तिका अनुभव किया था।

९७ भरी पूरी राजसभामें पूर्वोक्त मधुर वचनों द्वारा भाषण देनेमें सम्राट वरांगके समक्ष तीन उद्देश्य थे—सबसे पहिले तो वे यह चाहते थे कि ज्ञानहीनताके कारण लोगोंको जो मिथ्या मार्गपर आस्था हो गयी है वह नष्ट हो जाय। दूसरे उनके विचारसे यह आवश्यक था कि लोग अपने मतको समझें, तथा जो समझते हैं उनकी आस्था दृढ़ हो। तीसरे उनकी ही दृष्टिसे इन प्रभावोंको स्थिर बनानेके लिए हृदयको परिपूर्ण स्वच्छ कर देना अनिवार्य था। पृथ्वीपालक सम्राट वरांग जिन-शासनके दृढ़ भक्त थे, उनकी ज्ञानश्री बाह्यश्रीके ही समान विशाल थी। अपनी पूर्वोक्त वक्तृताके द्वारा यद्यपि वे दूसरे मतोंकी निस्सारताको स्पष्ट कर चुके थे तो भी वे, अपने मतके विषयमें कहना चाहते थे जो कि अनुपम तथा अनन्त ज्ञानका भण्डार है। अतएव उन्होंने और भी कुछ कहनेका निर्णय किया था।

भाषणका उद्देश्य

८९

चारों वर्ग-समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें, मिथ्याश्रुतिविघातक नाम पञ्चविंशतितम सर्ग समाप्त।

षड्विंश सर्ग

श्री एक हजार आठ अर्हन्त केवलीके द्वारा उपदिष्ट जैन धर्मकी यही विशेषता है कि १
इसमें प्रत्येक वस्तुका विचार एक ही दृष्टिसे नहीं किया गया है अपितु स्याद्वाद् (स्यात् = हो +, वाद–अर्थात् अनेक दृष्टियोंसे विचार करनेकी शैली) दृष्टिसे ही पदार्थोंको देखा है। आर्हत् दर्शनकी इस विशेषताको दूसरे दार्शनिकोंने समझने तथा जाननेका प्रयत्न भी नहीं किया है, अतएव वे पदार्थके एक अंगको ही उसका पूर्ण स्वरूप मान कर आपसमें विवाद करते हैं। अब मैं जैन धर्मके अनुसार द्रव्योंके स्वरूप तथा विभागको कहता हूं। एक द्रव्यकी पर्याएं तथा गुण अनन्त होते हैं। जब हम सामान्य २
दृष्टिसे देखते हैं तो द्रव्यको एक ही पाते हैं। द्रव्यत्व सामान्यसे नीचे उतर कर जब हम द्रव्योंके प्रधान तथा स्थूल स्वभावपर दृष्टि डालते हैं तो चेतनामय (जीव) तथा चेतनाहीन (अजीव) स्वभावोंकी अपेक्षासे द्रव्यके दो प्रधान भेद हो जाते हैं। गुणों और पर्यायोंके समूह ३
को ही द्रव्य कहते हैं। इन तीनोंकी अलग अलग सत्ताका अनुभव होता हो है अतएव द्रव्य, पर्याय तथा गुणकी अपेक्षा तीन भेद हो जाते हैं। रूप (वर्ण तथा आकार) अरूप (विवर्ण-निराकर) क्रिया (परिस्पन्द आदि) तथा गुणोंकी अपेक्षासे देखनेपर यही द्रव्य चार प्रकारका हो जाता है। अस्तिकाय (बहु प्रदेशी द्रव्य) स्वरूपको प्रधानता देकर विचार ४
करनेसे द्रव्यके पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति यह पांच भेद हो जाते हैं। जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा कालको सामने रखते हुए द्रव्यत्व सामान्य विशिष्ट उसी एक द्रव्यके छह भेद हो जाते हैं। अर्हन्तकेवलीके उपदेशके अनुसार ही आचार्योंने शास्त्रोंमें ५
जीव, पुद्गल (अजीव), काल, धर्म, अधर्म तथा आकाश इन छह प्रधान पदार्थोंका द्रव्य-रूपसे वर्णन किया है। तदनुसार ही अब इनकी परिभाषा आदिको कहता हूं।

जीवादि तत्त्व

जीवका असाधारण लक्षण है उपयोगमयता (जीवो उवओग मयो = दर्शन ज्ञान मयता)। ६
जीवके अविच्छेद्य लक्षण उपयोगके भी दो प्रधान विभाग हैं—पहिला है दर्शनोपयोग तथा दूसरा ज्ञानोपयोग है। क्योंकि इन दो प्रधान (उपयोगों) प्रवृत्तियोंके द्वारा ही वह समस्त पदार्थों-का ग्रहण करता है। जो अनादि भूतकालमें जीवित थे, वर्तमानमें अपने ७
चेतन लक्षण युक्त होकर जीवित हैं तथा आगामी अनन्तकाल पर्यन्त जो अपने असाधारण स्वरूपको न छोड़ेंगे, ऐसे जीव अपनी अन्य प्रवृत्तियोंके कारण तीन विभागोंमें विभक्त किये गये हैं। उन विभागोंके नाम हैं एक—भव्य, दो—अभव्य तथा तीसरे—मुक्त।

जीव तत्त्व

वीतराग तीर्थंकरोंकी दिव्यध्वनिके कारण जिस सत्य धर्मका प्रकाश हुआ था उसपर जो ८
जीव कभी विश्वास नहीं करते हैं, मिथ्या तथा भ्रान्त ज्ञानको ग्रहण करने तथा पुष्ट करनेके लिए जो सदा तत्पर रहते हैं, फलतः जगतके मूल तत्त्वोंका वास्तविक ज्ञान उनके हाथ नहीं ही आता है। अपनी इन प्रवृत्तियोंके कारण जो जीव जन्म, जरा, मरणमय ९
अथाह संसार समुद्रमे एक दो भव पहिलेसे नहीं अपितु अनादिकालसे बिल्कुल डूबे हुए हैं। इतना ही नहीं, आगे अनन्तकाल पर्यन्त डूबे भी रहेंगे, ऐसे जीवोंको ही केवली

अभव्य

१० भगवानने अभव्य कहा है। ये लोग उस अन्धे पत्थरके समान हैं जो सैकड़ों कल्प बीतनेपर भी थोड़ा सा निर्मल नहीं होता है।

ज्ञानावरणी कर्मका समूल नाश हो जानेपर केवल ज्ञान विभूषित तीर्थंकर देवने जिन जीव आदि सात तत्त्वोंका विवेचन किया था उनपर ही जो श्रद्धा करते हैं, उन्हें मानकर उसके अनुकूल आचरण करते हैं वे श्रद्धालु पुरुष दिनों दिन अपनी आन्तरिक शुद्धिको बढ़ाते हैं।

११ भव्यजीव — उनका संसार भ्रमण तो अनादि ही होता है किन्तु शुभ अवसर आते ही वे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चरित्र मय रत्नत्रयको धारण करते हैं। तब उनका आगामी संसार सान्त (कुछ भव बाद समाप्त) हो जाता है। ऐसे जीवोंको भव्य कहा है। ये साधु पुरुष उस मलीन मूल धातुके समान हैं, जो शुद्धिके उपाय जुटते ही शुद्ध स्वर्ण हो जाती है।

१२ ज्ञानावरणी, मोहनीय आदि आठों कर्मोंके बन्धनोंसे मुक्त, तीनों लोकों तथा कालोंके समस्त पदार्थ तथा सूक्ष्म भावोंके विशद रूपसे ज्ञाता, अतएव वास्तवमें सर्वज्ञ, हितोपदेशक होनेके कारण समस्त लोकोंके परम पूज्य, षड्द्रव्यमें लोकके ऊपर (उसके बाहर) आत्मस्वरूप

१३ मुक्तजीव — में विराजमान, संसारके समस्त बन्धनोंसे परे, जिनको न तो किसीका प्रतीकार करना है तथा न कोई उनका प्रतीकार ही कर सकता है, सांसारिक सुखोंसे सर्वथा भिन्न क्षायिक आध्यात्मिक सुखसे परिपूर्ण तथा इस जगतके किसी भी पदार्थकी उपमा देकर जिनके स्वरूपको नहीं समझाया जा सकता है, उन्हीं लोकोत्तर आत्माओंको निष्ठित (मुक्त) जीव कहते हैं।

१४ द्वितीय द्रव्य पुद्गलको भी स्थूलरूपसे छह भागोंमें विभक्त किया है। अब उसीका वर्णन करते हैं। पहिले उसके छहों भेदोंको गिनाते हैं इसके उपरान्त क्रमशः छहों प्रकारके पुद्गलोंके

१५ अजीव — स्वरूपका कथन करेंगे। प्रथम भेदका नाम स्थूलस्थूल (अत्यन्त स्थूल), स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, फिर इसी क्रमसे सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म तथा सूक्ष्म सूक्ष्म (अत्यन्त सूक्ष्म) ये छह भेद

१६ पुद्गल द्रव्यके आकार प्रकार आदिको सामने रखते हुए किये गये हैं। यहां पर कुछ ऐसे पदार्थोंको गिनाते हैं जो स्थूलस्थूल कोटिमें आते हैं—पृथ्वी उनमें अग्रगण्य है उसके बाद पर्वत, वन, जलधर, स्वर्गोंके विमान, पृथ्वीपर निर्मित भवन आदिके समान जितने भी पदार्थोंको मनुष्यने

१७ बनाया है अथवा प्रकृतिके द्वारा ही बनाये गये हैं, ये सब स्थूलस्थूल ही कहे जायंगे। जिन द्रव्योंके आकारमें तनुत्व (छोटापन) स्पष्ट है तथा जो छेदन करके बने हैं अथवा पीसनेके बाद पेलनेसे उत्पन्न हैं ऐसे तेल, पानी, घी, दूध तथा अन्य समस्त रसोंको स्थूल (घन-तरल) पदार्थ

१८ कहा है। संसारमें ऐसे भी पदार्थ हैं जो आखोंसे स्पष्ट दिखायी देते हैं किन्तु स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा ग्रहण नहीं किये जा सकते हैं। उदाहरणके लिए प्रकाशमें पड़नेवाली पदार्थोंकी छाया, सूर्यकी धूप, अन्धकार, विद्युतका प्रकाश, चन्द्रिका आदि पदार्थोंको देखिये, वे सबके सब स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंकी ही कोटिमें आते हैं।

१९ इन पदार्थोंके ठीक विपरीत स्वभाव युक्त पदार्थोंके वर्गमें शब्द, कोमल कठोर आदि स्पर्श, मधुर अम्ल आदि रस (स्वाद), गन्ध, शीत, उष्ण तथा वायु ऐसे पदार्थ आते हैं। इनमेंसे

२० सूक्ष्मसूक्ष्म — एक भी ऐसा नहीं है जिसे आंख देख सकती हो किन्तु अन्य इन्द्रियोंको इनका साक्षात् अनुभव होता है। इस जातिके पदार्थोंको ही सूक्ष्म स्थूल कहते

हैं। औदारिक वैक्रियक, आहारक, कार्मण तथा तैजस, ये पांच प्रकारके शरीर होते हैं। इनकी उत्पत्तिमें सहायक परमाणुओंको शास्त्रोंमें वर्गणा नाम दिया है। इसी विधिसे मन तथा वचन जो कि दृश्य मूर्ति नहीं हैं इनकी भी अलग अलग वर्गणाएं होती हैं। उक्त शरीरों तथा मन-वचनकी उत्पत्तिमें साक्षात् सहायक वर्गणाओंके भीतर भी दूसरी वर्गणाएं रहती हैं। इनके क्रम तथा कार्य समुचित रूपसे व्यवस्थित हैं। इन समस्त वर्गणाओंको ही सूक्ष्म पुद्गल कहते हैं। इनका प्रमाण अनन्तानन्त है। तथा ये स्कन्ध (अनेक परमाणुओंका समूह) ही होती हैं। वर्गणाओंसे भी अधिक सूक्ष्म परमाणु होते हैं। एक परमाणु किसी दूसरे परमाणुमें मिला नहीं रहता है। परमाणुओंमें आपसमें कोई सम्बन्ध भी नहीं रहता है। एक एक परमाणुको अलग अलग बिखरा समझिये। इस आकार प्रकारके परमाणुओंको ही द्रव्यके विशेषज्ञोंने सूक्ष्म-सूक्ष्म पुद्गल नामसे कहा है। २१ २२

धर्म-अधर्म

पुद्गल द्रव्यके बाद धर्म और अधर्म द्रव्यको गिनाया है। इनमेंसे क्रमशः धर्मद्रव्य गमन करनेवालोंकी गतिमे सहायक होता है और अधर्म द्रव्य ठहरनेमें सहायता देता है। इन दोनों द्रव्योंकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह उन्हीं प्राणियोंकी सहायता करते हैं जो गति तथा स्थिति क्रियामें स्वयं प्रवृत्त हो जाते हैं—ये दोनों प्रेरणा नहीं करते हैं। उदाहरणके लिए जलको लीजिये;—जो मछलियां चलना चाहती हैं, यानी उनके तैरनेमें सहायता देता है, यही अवस्था धर्म द्रव्यकी है। जो व्यक्ति चलते चलते थक गये हैं और रुकना चाहते हैं तो किसी उपयुक्त स्थानपर रुक जाते हैं। इसी ढंगसे अधर्म द्रव्य भी रुकनेमें सहायक होता है। सामान्य दृष्टिसे एक धर्म द्रव्यके विशेषणोंकी अपेक्षासे तीन भेद हो जाते हैं प्रथम अस्ति धर्मद्रव्य, द्वितीय देश धर्मद्रव्य तथा तृतीय प्रदेश धर्मद्रव्य है। ठीक इसी रूपसे अधर्मद्रव्यके भी अस्ति अधर्मद्रव्य, देश अधर्मद्रव्य तथा प्रदेश अधर्म-द्रव्य ये तीन स्थूल भेद हैं। जिसे अस्ति धर्म अथवा अधर्म द्रव्य कहा है वह उसके विशाल व्यापक रूपका द्योतक है जिसके द्वारा उन्होंने पूर्ण लोकाकाशको व्याप्त कर रखा है। निश्चित परिमाणमे व्याप्त दोनों द्रव्योंका (देश धर्म—अथवा अधर्मद्रव्य) विशेषण होता है तथा देशके भी असंख्यातवें भागको प्रदेश धर्मद्रव्य अथवा प्रदेश अधर्मद्रव्य कहते हैं। २३ २४ २५ २६

काल

काल द्रव्यकी परिभाषा है वर्तना, परिणाम आदि कराना। जगतके निखिल पदार्थोंको परिवर्तित करनेमे समर्थ काल द्रव्यके भी प्रधान तीन ही भेद हैं। वह काल जो बीत गया है, काल जो कि वर्तमान है तथा वह समय जो अब तक आया नहीं है अर्थात् भूत, वर्तमान तथा भविष्य। वर्तमान क्षणके पहिलेका जितना भी अनादि समय था वह सब अतीत (भूत) काल कहलाता है। तथा वर्तमान क्षणके तुरन्त बाद ही उपस्थित होने योग्य उस समयको जो कि अब तक उपस्थित नहीं हुआ है; किन्तु होगा अवश्य उस अनन्तकालको भविष्य कहते हैं। तथा इन दोनों (भूत तथा भविष्यत्) कालोंके बीचमें जो पड़ता है, जिसे हम लोग संप्रति (अब) आदि शब्दोंसे प्रकट करते हैं उसे ही वर्तमानकाल कहते हैं। मोटे रूपसे कालके यही प्रधान भेद है जिनके विषयमें कालद्रव्यके विशेषज्ञोंने लिखा है। व्यवहारकी दृष्टिसे ही कालद्रव्यके समय (एक परमाणु परिस्पन्दकाल) आवलि (असं-ख्यात-समय) नाड़ी (२४ मिनट) मूहूर्त आदि सूक्ष्म भेद किये गये हैं। इन्हींके समूह रूप दिन, रात, पक्ष, मास, शरद आदि ऋतु, वर्ष, तीर्थंकरोंके युग, आदि भी कालकी ही पर्याएं है। २७ २८ २९ ३०

३१ आकाश सब स्थानोंपर व्याप्त है। जगतको तथा उसके स्वरूपको निश्चित करनेवाली समस्त द्रव्योंको जो अवकाश देता है उसे ही आकाश कहते हैं। आधेय पदार्थोंकी अपेक्षासे आकाश-

३२ आकाशद्रव्य

द्रव्यके भी दो प्रधान भेद कर दिये हैं—लोकाकाश तथा अलोकाकाश। जिस आकाश खण्डमें धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल तथा जीव ये पांचों द्रव्य व्याप्त हैं उसे ही शास्त्रकारोंने लोकाकाश नाम दिया है। अलोकाकाश इसका ठीक उल्टा है क्योंकि वहां-

३३ पर इन पांचों द्रव्योंका नाम तथा निशान भी नहीं है। विशेष विचारक विद्वानोंको विविध भेद प्रभेद युक्त इन सब द्रव्योंको इनके साधक हेतुओंके द्वारा जानना चहिये। जैसे कि; ये सनकी सब परिवर्तनशील हैं, जीव मय अथवा जीव हीन हैं, द्रव्यत्वकी अपेक्षासे जगत् सृष्टिके कारण हैं अपने विकारोंके कर्ता भी स्वयं ये ही हैं। इनके कार्य तथा क्रियाएं सत् रूपमें

३४ हमारे सामने उपस्थित हैं। कितने ही इनमें मूर्तिमान (साकार) हैं तथा व्यापक भी हैं। इन सब ही द्रव्योंका निवास स्थान एक ही है, अपने-अपने द्रव्यत्वकी अपेक्षा ये सब ही एक हैं। तथा क्रमशः एक ही प्रदेशमें छहों द्रव्य पाये जाते हैं। यथोचित रूपसे उपयोग करने पर ये हेतु उनकी सत्ताको सिद्ध करते हैं।

३५ जीव आदि छहों द्रव्योंमें जीव तथा पुद्गल द्रव्योंका ही कालके कारण परिणमन (परिवर्तन) होता है। इनके अतिरिक्त शेष धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्योंमें किसी भी

द्रव्योंका विशेष

प्रकारका कोई परिणमन होता ही नहीं है, ऐसा द्रव्योंके विशेषज्ञ केवली आदि महापुरुषोंने कहा है। छहों द्रव्योंमें केवल जीव द्रव्य ही

३६ ऐसा है जिसमें चेतना पायी जाती है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा पुद्गल ये पांचों ही अजीव द्रव्य हैं। एक पुद्गल द्रव्य ही ऐसा है जिसकी मूर्ति (स्थूल आकार) होती है शेष

३७ पांचों द्रव्य सर्वथा अमूर्तीक हैं। धर्म, अधर्म, आकाश तथा जीव ये पांचों द्रव्य ऐसे हैं कि इनका आधार केवल एक क्षेत्र (एक निरपेक्ष परमाणु) हो ही नहीं सकता है। केवल काल द्रव्य ही ऐसा है जिसका एक परमाणु रत्नोंकी राशिमें रखे रत्नोंके समान अलग-अलग है।

३८ पुद्गल द्रव्यमें दोनों योग्यताएं हैं, वह एक तथा अनेक क्षेत्र अवगाही है। पुद्गल द्रव्यका परमाणु (जिससे छोटा भाग होना अशक्य है) तथा काल द्रव्य ऐसे हैं कि इन दोनोंके और अधिक प्रदेश नहीं किये जा सकते हैं। केवल ज्ञानरूपी नेत्रधारी ऋषियोंका कथन है कि बाकी सब द्रव्य ऐसे हैं कि उनके एक भागके भी अनेक प्रदेश होते हैं।

३९ धर्म, अधर्म तथा एक जीव द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या असंख्यात है। केवल ज्ञानरूपी नेत्रसे समस्त द्रव्य, पर्यायोंके द्रष्टा सर्वज्ञ प्रभुके बचनोंके अनुसार ही आकाश द्रव्यके प्रदेशोंका परिमाण अनन्त है। जीव द्रव्य, पुद्गल द्रव्य तथा काल द्रव्य अनेक हैं। श्री जिनेन्द्रप्रभुकी

४० द्रव्य परिमाण

दिव्यध्वनिमें कहा गया है कि धर्म, अधर्म तथा आकाश ये तीन द्रव्य ही ऐसे हैं जो एक, एक होकर भी समस्त लोकको व्याप्त किये हुए हैं।

४१ पुद्गल तथा शरीर बन्धनको प्राप्त जीव ये दोनों द्रव्य नित्य तथा अनित्य दोनों ही प्रकारके हैं। केवल काल द्रव्य ही ऐसा है जो अनित्य है, शेष धर्म, अधर्म, आकाश तथा शुद्ध स्वरूपी

४२ जीव, ये सब द्रव्य नित्य ही हैं। पुद्गल तथा जीव इन दोनों द्रव्योंमें हिलन-डुलन आदि सब ही क्रियाएं होती हैं। शेष चारों द्रव्योंमें स्वतः कोई क्रिया नहीं होती है। समस्त द्रव्योंमें

४३ एक आकाश ही व्यापक द्रव्य है, शेष पांचोंके पांच द्रव्य अव्यापि हैं। पुद्गल द्रव्यकी ही

यह विशेषता है कि वह कार्य भी होता है और दूसरोंका कारण भी बनता है; किन्तु शेष जीव, धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल ये पांचों द्रव्य कारण ही होते हैं, किसी दूसरेके कार्य न कभी थे, न हैं, और न होंगे। अर्हन्त केवलीके उपदेशके आधारपर प्रचलित जैन दर्शन कहता है कि केवल पुद्गल द्रव्य ही कर्ताकी अपेक्षा करता है तथा स्वयं भी कर्तृत्ववान् होता है, किन्तु शेष पांचों द्रव्योंको यही विशेषता है कि कोई अन्य द्रव्य कभी भी उनका कर्ता नहीं होता है। ४४

इन पांचों द्रव्योंका सत्य ज्ञान प्राप्त करनेके उपाय दो ही है प्रथम है प्रमाण (वस्तुकी सकल पर्यायोंका ज्ञान) तथा नय (एक अंशका ज्ञान) दूसरा है। प्रमाणको साधारणतया प्रत्यक्ष (साक्षात् ज्ञान) तथा परोक्ष (परम्परासे ज्ञान) इन दो भागोंमें विभक्त किया है। ४५

ज्ञान कारण

प्रत्यक्षके भी तीन भेद किये हैं उनमेसे पहिला है अवधिज्ञान (निश्चत मर्यादाके भीतर स्थित इन्द्रियोंसे दूर पदार्थोंका ज्ञाता) तथा मनःपर्यय ज्ञान (मानसिक भावोंको भी निश्चित सीमाओंमें जाननेवाला ज्ञान) ये दोनों रूपी अथवा मूर्तिमान द्रव्यको ही जानते हैं किन्तु तीसरा प्रत्यक्ष केवलज्ञान तो विश्वके समस्त पदार्थोंको सर्वथा ही जानता है। तत्त्वमीमांसामे पारंगत आचार्योंने परम्परया पदार्थोंके ज्ञाता परोक्षज्ञानके दो ही भेद किये हैं। उनमे अपने अनेक प्रभेदों युक्त मतिज्ञान पहिला है तथा दो भेदोंमें विभक्त श्रुतज्ञान दूसरा है। ४६ ४७

नय प्रमाण

पदार्थको किसी एक अपेक्षासे ही जाननेवाला नयज्ञान संक्षेपसे दो भागोंमें ही विभक्त हैं क्योंकि उसके आधार द्रव्य तथा पर्याय भी दो ही हैं। क्योंकि नय पदार्थकी एक निश्चित अवस्थाको ही जानना चाहता है। आपाततः उसके अनुकूल ही शब्द अर्थको विशेष रूपसे उपयोगमें लाता है। जैनाचार्योंने इन दोनों नयोंके ही नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसुत्र, शब्द, समभिरूढ तथा एवंभूत ये प्रधान भेद किये हैं। इन सातोंके सहारे ही संसारके समस्त व्यवहार विना अव्यवस्थाके चलते हैं। पूर्वोक्त द्रव्यार्थिक नयके तीन भेद है जिनके नाम नैगम, संग्रह तथा व्यवहार है। इन तीनों भेदोंको ले कर ही प्रखर बुद्धि विचारकोंने इस संसारके अनेक विषयोंकी व्यवस्था की है वस्तु तत्त्वके विशेष परीक्षक आचार्योंने पर्यायार्थिक नयके ऋजुसुत्र, शब्दनय और उससे भी सूक्ष्म विषयग्राही समभिरूढ तथा इत्थंभूत (एवंभूत) ये चार प्रधान विकल्प किये हैं। ४८ ४९ ५० ५१

निक्षेप

जगतके सचराचर पदार्थोंको नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव आदिकी कल्पना करके भी जाना जाता है, इसीलिए इन्हें निक्षेप कहते हैं। इन चारों निक्षेपोंमेंसे प्रारम्भके तीन अर्थात् नाम, स्थापना तथा द्रव्यका व्यवहार उस समय होता है जब हम द्रव्यार्थिक नयसे पदार्थोंको जानते है। शेष चौथा भाव निक्षेप पर्यायार्थिक नयसे ज्ञान करते समय ही उपयोगी होता है। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि द्रव्यार्थिक नय नामके किसी नयकी पदार्थ जानने की प्रक्रिया, आदि साधन पूर्णरूप से निश्चित हैं। पर्यायार्थिक नयकी भी यही अवस्था है जो कि द्रव्यार्थिक नयकी है। इस सत्रका इतना ही सार है कि प्रति क्षण परिवर्तित होते हुए भाव ही इन नयोंके विषय हैं। पर्यायार्थिक नयके ज्ञेय विषय क्षण, क्षण पर उत्पन्न होते हैं तथा उसी क्रमसे नष्ट भी होते रहते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नयके विषयोंकी अवस्था इसके सर्वथा विपरीत है, क्योंकि वे न तो उत्पन्न ही होते हैं और न नष्ट ही ५२ ५३ ५४

५५ होते हैं। यह भी निश्चित है कि यदि द्रव्य न हो तो पर्यायोंका आविर्भाव सर्वथा असंभव है। इसी क्रमसे देखिये यदि पर्यायें न हों तो द्रव्यका सद्भाव भी असंभव हो जाय गा, क्योंकि द्रव्यकी परिभाषा ही स्थिति, उत्पत्ति तथा विनाशका समुदाय है।

५६ स्थिति (ध्रौव्य), उत्पत्ति (उत्पाद) तथा निरोध (व्यय) इन तीनोंके विशद लक्षणोंको भी शास्त्रोंमें अलग-अलग करके बताया है। किन्तु इतनेसे ही अभीष्ट पदार्थकी सिद्धि नहीं होती है; यही कारण है कि लोक व्यवहारमें साधक होते

उत्पादत्रय

५७ हुए भी ये दोनों नय प्रमाण नहीं हैं। संसारके पदार्थोंमें न तो द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे व्यवहार चल सकता है, और न पदार्थोंको पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे ही कहा जा सकता है, क्योंकि ये दोनों द्रव्यके ध्रौव्य भावके प्रतिकूल पड़ते हैं। यदि द्रव्यार्थिक

५८ नयके अनुसार नित्य ही माना जाय तो उसमें किसी भी प्रकारके परिवर्तनके लिए स्थान नहीं रह जायेगा फलतः सुख, दुख, उपभोग जो कि परिणामके ही प्रतिफल हैं वे कैसे बनें गे। यदि सर्वथा अनित्य ही माना जाय तो भी ये सब भाव न बन सकेंगे क्योंकि आधार भूत पदार्थ सर्वथा ही नष्ट हो जायगा।

५९ मन, वचन तथा कायकी क्रियाओंके द्वारा ही जीव नूतन कर्मोंका बन्ध करता है तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध आदि कषायोंकी कृपासे नूतन बद्धकर्मोंकी स्थिति पड़ती है। किन्तु जहाँ पर केवल योग अथवा नित्य होगा, तथा केवल कषाएं अनित्य होंगी वहां पर न किसीका बन्ध

६० होगा और न स्थिति। यही कारण है कि अपने अपने विषय एक ही पक्षको सत्य घोषित करके दूसरी अपेक्षाओंका मिथ्या घोषित करनेवाले परस्पर निरपेक्ष नयोंको मिथ्या नय कहा है। किन्तु जब ये ही नय परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा करने लगते हैं तो इनके द्वारा

६१ प्राप्त ज्ञान सत्य ज्ञान हो जाता है। पद्मराग आदि प्रत्येक मणि ही बहुमूल्य होता है। किन्तु, यदि ये सब महामणि अलग, अलग एक

सापेक्षनय

यहां, एक वहां पड़े रहें तो वे महामूल्य होकर भी रत्नावली (हार) इस नाम तक को प्राप्त

६२ नहीं कर पाते हैं, यही अवस्था नयोंकी है। जो पुरुष हार बनानेकी कलामें निपुण हैं वे इन्हीं विखरे हुए मणियोंको एकत्र करके जब उचित स्थान पर पिरो देते हैं तो उनकी कान्ति अनेक गुनी हो जाती है और उसी समय वे रत्नहार इस नामको भी पा जाते हैं। उस समय

६३ उनके अपने-अपने पृथक् नाम लुप्त हो जाते हैं। यही अवथा नयविज्ञान की है। नैगम आदि सब नय जब अपने आंशिक ज्ञानको पूर्ण पदार्थके ज्ञानमें यथास्थान समर्पित कर देते हैं। तब उनके द्वारा दिया गया ज्ञान पूर्ण होता है फलतः वे सब ही नय सत्य हो जाते हैं और अपने पहिले नाम नयको छोड़कर प्रमाण नामको प्राप्त करते हैं।

६४ द्रव्यार्थिक नयकी दृष्टिसे जो आत्मा अपने एक जीवन में अनेक शुभ अशुभ कार्य करता है, वही आत्मा अपने इसी जन्म अथवा दूसरे जन्ममें उनके फलोंको भोगता है। इस ही आत्माको जब हम पर्यायार्थिक नयकी कसौटी पर कसें गे तो कर्म करनेवाला आत्मा

६५ कोई होगा और उसका फल भोगनेवाला दूसरा हो जाय गा। दूसरे शब्दोंमें यों कह सकते हैं कि द्रव्यार्थिक नयके अनुसार जो कर्ता है वही अपने कर्मोंके परिणामको भरता भी है। किन्तु पर्यायार्थिक नयकी व्यवस्था इसके बिलकुल प्रतिकूल है, उसकी दृष्टिमें जिस पर्यायमें कार्य किया गया था वह बहुत शीघ्र बदल जाती है

विशद विवेचन

फलतः जो कर्मोंका कर्ता है वही भोक्ता नहीं होता है। संसारके व्यवहारोंको चलानेमें अति उपयोगी उक्त प्रकारका सबका सब एकांगी ज्ञान द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक नयोंके भेदोंके द्वारा तब तक ही सुचारु रूपसे चलता है जब तक ये सब नय परस्पर सापेक्ष हैं। ज्योंही ये परस्पर निरपेक्ष हो जांय गे त्यों ही उक्त समस्त प्रपंच तर्ककी कसौटीपर कसते ही मिथ्या सिद्ध होंगे। किन्तु जिस समय इन दोनों नयोंमेंसे एक प्रधान हो जाता है तथा दूसरा अप्रधान (गौण) हो जाता है उस समय ये परस्पर विरोधी न होकर एक दूसरेके पूरक हो जाते हैं। उस समय इनके द्वारा दिया गया आंशिक ज्ञान तत्त्व-ज्ञान होता हैं क्योंकि पदार्थोंको जाननेका यही प्रकार है। जो पुरुष तत्त्वज्ञान प्राप्त करके परम निश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए स्याद्वादमय पदार्थ परीक्षा ही एकमात्र सीधा, सरल मार्ग है, क्योंकि इस पर चलनेसे पदार्थोंमें प्रतीत होनेवाला विरोध अपने आप ही लुप्त हो जाता है। इसके सिवा जितने भी एकान्तमय मार्ग हैं वे पदार्थकी अनेक धर्म पूर्णताकी उपेक्षा करनेके कारण सत्य मार्ग नहीं कहे जा सकते हैं। ६६ ६७ ६८

सत्य तो यह है कि नयोंकी संख्याका निश्चित प्रमाण कहा ही नहीं जा सकता है, क्योंकि प्राणी जितने प्रकारसे शब्दों द्वारा अपने भावोंको प्रकट कर सकता है उतने ही नय होते हैं। जब कोई विचारक किसी एक ही नयके विषयको ले कर उसे ही पदार्थका सत्य, पूर्ण, स्वरूप मानने लगता है तो वह मिथ्या मार्ग हो जाता है। आपाततः जितने नय हैं, मिथ्यामार्गोंकी संख्या भी उतनी ही हो सकती है। आत्माके अस्तित्वको ले कर भी छह प्रकारका मिथ्यात्व हो सकता है, यथा आत्म है ही, वही कर्ता है, आत्मा सर्वथा ध्रुव ही हैं, आत्मा ही भोक्ता है, ज्ञान आदि प्राप्त करको इस आत्मा ही को अष्ट कर्मोंसे मुक्ति मिलती है, तथा मोक्ष प्राप्तिके निश्चित उपायोंके विषयमें शंका नहीं ही की जा सकती है। उपर्युक्त एकान्तमय वचनोंके विपरीत जब दूसरा नयवादी आत्माके अभावपर ही जोर देता है तो वह भी निम्नलिखित छह मिथ्यात्वोंको उत्पन्न करता है। आत्माका अस्तित्व ही नहीं है, किसी भी कार्यका कर्ता हो ही नहीं सकता है, कर्मोंके फलको भोग ही नहीं सकता है, क्योंकि वह एक क्षणमें ही नष्ट हो जाता है, तथा आत्माको मुक्ति प्राप्ति भी नहीं ही होती है, और न कोई मुक्तिके उपाय ही हैं। ६९ ७० ७१

नय तथा मिथ्यात्व

कितने ही ऐसे विचारक हैं जो पूर्वापर विरोधकी चिन्ता न करके यही कहते हैं कि संसारका समस्त प्रपञ्च प्रकृतिकी कृपासे हो जाता है, अथवा पुरुषका साक्षी होना ही जगत् प्रपंचका कारण है, तीसरोंका कथन है कि प्रकृति पुरुष आदि कुछ भी नहीं हैं समय ही सब कुछ करता है, कुछ लोगोंका मत इससे भी आगे है वे कहते हैं कि जगनका स्वभाव ही इस प्रकार है, पांचवें कहते हैं कि जगत् प्रपंच-का होना तथा मिटना पूर्वनिश्चित (निर्यति) है, दूसरोंका मत है कि पूर्वोक्त कोई बात नहीं है, केवल दैव ही संसारकी सृष्टिके लिए उत्तरदायी है, सातवें पक्षके समर्थक और भी अकर्मण्य हैं क्योंकि वे ईश्वरको जगत् सृष्टा कहते हैं, अन्य लोग इससे भी एक पग आगे गये हैं क्योंकि उनके मतसे ईश्वरकी अनियंत्रित इच्छा ही संसारको उत्पन्न कर देती है—तथा नौवें पक्षवादी कहते है कि चूंकि (यतः) ऐसा होना अनिवार्य (विधान) था इसीलिए सृष्टि हो गयी है। इस ढंगके अनेक कारणोंको नयवादी लोग संसार सृष्टिका कारण मानते हैं। उनका मिथ्या- ७२ ७३

प्रकृति पुरुष

७४ ज्ञान इतना दृढ़ हो गया है कि युक्तिवाद उसे सरलतासे दूर नहीं कर पाता है। इन सब मतोंकी परीक्षा करनेके उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि श्री अर्हन्त केवलीके द्वारा कहा गया वस्तुके अनेक धर्मोंका विचारक तथा स्याद्वादमय अनेकान्त ही सत्य है, क्योंकि उसका अवलम्बन करनेसे कहीं भी कोई विरोध नहीं आता है। इतना ही नहीं, अपितु पदार्थ जैसा है उसके उसी स्वरूपका ज्ञान भी प्राप्त होता है।

७५ यदि केवल एक ही नयसे ग्रहीत ज्ञानको पूर्ण-स्वरूप मान कर उसी पक्षको ग्रहण किया जाय तो पदार्थ ज्ञानमें अविरोध कैसे होगा। वह कौन-सा प्रेरक कारण है जिसके द्वारा अविरोधका प्रादुर्भाव होगा। इस प्रकार शंका उत्पन्न होनेपर कहा जा सकता है कि दो नयोंको

७६ एकान्ता पत्ति

माननेसे कार्य चल जाय गा। कुछ लोगोंका यह भी मत है कि स्याद्वाद दृष्टि पहिले नयसे उत्पन्न ज्ञानमें रहेगी. दूसरे नयके द्वारा जाने गये में भी होगी, दोनोंके द्वारा पाया गया ज्ञान भी स्याद्वादमय होगा तथा जो वस्तुज्ञान दोनों

७७ नयोंसे नहीं जाना गया है वह भी स्याद्वादसे बाहर न जायगा। तात्पर्य यह कि किसी भी दृष्टि अथवा अपेक्षासे प्राप्त ज्ञानके साथ 'स्यात्' पद लगा ही रहना चाहिये, इस व्यवस्थामें कोई अपवाद करना सुकर नहीं है। क्योंकि ज्यों ही हमने अपने नय ज्ञानको स्यात् विशेषणसे

७८ अलग किया त्यों ही भयंकर दोष उत्पन्न हो जाता है। प्रतिवादी पूछेगा कौन-सा दोष

परिहार

आता है तो सीधा उत्तर है कि मिथ्यात्वका मूल श्रोत्र एकान्त आ टपकता है। एकान्तवादी कह सकता है इससे क्या हानि? तो उससे यही पूछना चाहिये कि क्या एकान्तवादका आश्रय लेनेसे संसार यात्रा ही समाप्त नहीं हो जाती

७९ है? संसारमें जितनी भी युक्तियोंका आविष्कार हुआ है तथा उन्हें प्रामाणिक माना जाता है, उन सबका एकमात्र उद्देश्य यही है कि संसारका व्यवहार निर्दोष रूपसे चलता रहे। इस ही सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिए चार दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, जिनके द्वारा इसका रहस्य स्पष्ट

८० हो जाता है। छहों द्रव्योंका प्रधान द्रव्य जीव है। उसकी सबसे पहिली विशेषता यह है कि वह द्रव्य भी है, वह अजीव भी नहीं है, मनुष्य भी जीव है तब वह मिट्टी घड़े आदिके समान

८१ नहीं है। इन सब विकल्पोंके साथ स्यात् पद जोड़नेपर सत्य ज्ञान प्राप्त होता है। इसपर कोई प्रतिवादी शंका करता है कि ऐसा होना असंभव ही है कि पहिला विकल्प भी स्याद्वाद हो दूसरा भी स्याद्वादमय हो, दोनों भी स्याद्वाद दृष्टिके अनुकूल हों तथा दोनों न रहनेपर भी

८२ स्याद्वाद दृष्टिकी प्रतिकूलता न होती हो? यदि इन बातोंको स्वीकार कर लिया जाय तो इसका मतलब यही होगा कि आपका अनेकान्त भी एक प्रकारका शुद्ध एकान्त है? उसकी इस शंकाका समाधान करनेके लिए ही समन्तभद्र आदि आचार्योंने कहा है कि अनेकान्तमें अनेकान्त

८३ घटता है। इस अनेकान्तका प्रधान लिंग स्यात् शब्द है क्योंकि वह, यह सूचित कर देता है कि यही ज्ञान सब कुछ नहीं है। यदि स्यात् शब्दके इस अर्थकी उपेक्षा करके पदार्थोंके स्वरूपको माना जाय गा तो अनेक विरोध खड़े होकर लोक व्यवहारका चलना ही असंभव कर देंगे।

८४ नैगम, संग्रह आदि सातों नयोंके द्वारा प्राप्त किये गये परस्पर सापेक्ष; निरपेक्ष नहीं—ज्ञान तथा प्रकृति, स्थिति आदिके मिले हुए कार्यको ही शुद्ध सम्यक्त्व (सत्य श्रद्धा) कहा है। इस प्रकारके सत्य श्रद्धानकी अपेक्षा कोई दूसरा उपाय मनुष्यका अधिक कल्याण नहीं कर सकता

है। जब ज्ञाता संसारके किसी भी पदार्थको प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, नैगम आदि नय तथा नाम, स्थापना आदि निक्षेपोंकी अपेक्षासे क्रमपूर्वक देखना प्रारम्भ करता है, तो एक ही वस्तु एक विशेषतामय तथा अनेक विशेषताओं पूर्ण दिखती है। जो वस्तु भावरूपमें सामने आती है वही दूसरी अपेक्षासे अभावमय प्रतीत होती है। श्री अर्हन्त केवलीके द्वारा कथित जैन आगममें द्रव्यार्थिक नयकी प्रधानता होनेपर सब पदार्थ एक ही हैं किन्तु जब उन्हें पर्यायार्थिक नयकी दृष्टिसे जांचते हैं तो वे ही पदार्थ अनेक हो जाते हैं। एक ही मनुष्य किसीका पुत्र होता है तथा दूसरेका पिता होता है, इस विधिसे उसमें अनेक व्यक्तियोंकी अपेक्षा अनेक सम्बन्ध होते हैं। ऐसा तो कभी नहीं देखा गया है कि किसी एक आदमीका पिता होनेके कारण उसका सारे संसारके व्यक्तियोंसे कोई दूसरा सम्बन्ध ही न हो। प्रत्येक वस्तुके स्वभावको स्थूलरूपसे चार भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, यही स्वभावभेद पर्याय भी कहा जाता है। इन सबको सिद्ध करनेके लिए प्रमेयत्व (प्रमाणके द्वारा जानने योग्य होना) हेतु होता है तथा साक्षात् देखे गये घर आदि, उदाहरण होते हैं। ८५ ८६ ८७ ८८

सापेक्षता वाद

यही कारण है कि तत्त्व मीमांसाके समय स्याद्वाद ही अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है, तथा सत्यज्ञानको कराता है। इस स्याद्वादका उपदेश उन तीर्थंकरोंने दिया था जो अपनी उग्र साधनाके द्वारा पूर्णताको प्राप्त कर सके थे 'स्वयंभू' इस संज्ञाके वास्तविक अधिकारी हो सके थे। यही कारण है कि सब ही दर्शनके उदार विचारकोंने इसे अपनाया है। आठों कर्मोंके विजेता केवली जिनेन्द्रोंके धर्मका अनुसरण करनेसे ही एकान्त ग्राही मिथ्यामतोंके समूहका भी उद्धार हो जाता है। इसका आश्रय लेकर मनुष्य मरणसे परे हो जाते हैं, यह कोई क्लिष्ट मार्ग नहीं है अपितु स्वाभाविक होनेके कारण विवेकी पुरुषोंके लिए अत्यन्त सरल है। ८९ ९०

महात्म्य

जो विवेकी पुरुष स्याद्वादपर आस्था करते हैं तथा अन्तरात्मासे उसको ग्रहण करके दिनों दिन विकसित करते हैं, वे ही सन्मार्ग गामी जीव सम्यक् दृष्टी संज्ञाको प्राप्त करते हैं, क्योंकि वे पदार्थ साक्षात्कारके इस प्रधान उपाय पर आस्था करते हैं। ९१

स्याद्वाद रसायन

सत्य श्रद्धा होते ही मिथ्याज्ञान सम्यक्-ज्ञान हो जाता है तथा कदाचार अथवा अनाचार ही सम्यक्-चारित्र हो जाता है। ये तीनो ही मोक्षप्राप्तिके परम उपाय हैं। सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र ये तीनों ही रत्नत्रय कहलाते हैं। रत्नत्रय तो स्वर्ग तथा मोक्षकी सीढ़ियोंके समान हैं। यह रत्नत्रय जन्म, जरा, मरणके अनादि चक्रस्वरूप सांसारिक भयोंकी अचूक औषधि है तथा मोक्षरूपी परिपूर्ण स्वास्थ (स्व-आत्ममें स्थ-स्थिर अर्थात् आत्मास्वरूपमें लीन होना) को देनेवाले हैं। ये तीनों परम पवित्र हैं तथा आत्माके कल्याणकारी हैं। सम्यक् दर्शन आदि तीनों रत्न जब किसी एक आत्मामें इकट्ठे हो जाते हैं, उस समय ही ये मोक्षके सीधे तथा शुभ मार्ग हो जाते हैं। तीनों लोकोंके एक दृष्टान्तके समान ही इनमें से एक, एकको प्राप्त करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती है। ९२ ९३ ९४

रत्नत्रय

तो भी इन तीनोंमें सम्यक् दर्शनको बाकी दोनोंसे श्रेष्ठ बताया है क्योंकि किसी पदार्थ (वृक्ष) की उत्पत्तिके लिए जीव (बीज) पृथ्वी तथा जल तीनों आवश्यक होते हैं, तो भी इन ९५

९६ तीनोंमें दर्शन ही प्रधान होता है क्योंकि इसके विना शेष दो भी व्यर्थ हो जाते हैं। जब कोई आत्मा सम्यक् दर्शनमें दोष लाकर उससे पतित हो जाता है तो उसे वास्तवमें भ्रष्ट कहा जाता है। किन्तु यदि कोई आत्मा केवल चारित्र या ज्ञानसे भ्रष्ट हो जाता है तो शास्त्र अथवा आचार्यगण उसे भ्रष्ट नहीं मानते हैं।

दर्शनकी प्रधानता

९७ कोई जीव अत्यन्त कठोर तथा विशाल तपस्याकी साधनामें सफल हो चुका है किन्तु उसे सम्यक् दर्शनकी सिद्धि नहीं हुई है, तो त्रिकाल तथा त्रिलोकके ज्ञाता सर्वज्ञकी दृष्टिमें वह असंयमी ही है तथा उसका संसार भ्रमण उतना तप करनेके बाद भी अनन्तकाल पर्यन्त ९८ चलनेवाला है। किन्तु जिस चारित्रहीन असंयत पुरुषको सम्यक् दर्शनकी प्राप्ति हो चुकी है उसको यदि अधिकसे अधिक ही इस संसारमें भ्रमण करना पड़ा तो भी उसे यहांपर छयासठ सागर प्रमाण समय पर्यन्त ही रहना पड़ेगा, इससे अधिक वह किसी भी अवस्थामें इस ९९ संसारमें नहीं रह सकता है। किसी आत्माको परिपूर्ण ज्ञानकी प्राप्ति हो चुकी हो तो भी यदि उसमें किसी भी प्रकार चारित्र नहीं है, तो उसे कभी भी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। जैसा कि प्रसिद्ध ही है कि विचारा लंगड़ा पुरुष जो कि आती हुई दावाग्निको स्पष्ट देख कर भी १०० पैरोंसे विकल होनेके कारण उसीमें जल कर भस्म हो गया था। इसी विधिसे यदि किसी आदमीका आचरण तो बहुत विस्तृत तथा निर्दोष है किन्तु ज्ञानसे दर्श-स्पर्श भी नहीं है, तो उसे भी सिद्धि न मिलेगी। उसकी वही अवस्था होगी जो कि उस अन्धेकी होती है जो १०१ आगके तापको अनुभव करके इधर-उधर भागता है और आगकी लपटमें जा पड़ता है।

यदि किसी संयोगवश आंखों वाला लंगड़ा और पैरोंवाला अन्धा ये दोनों एक दूसरे से मिल जायं तो वे सम्मिलित प्रयत्न करके दावाग्निसे बच कर प्राण रक्षा कर ही लेते हैं। इसी विधिसे जब आत्मा ज्ञान तथा चारित्र दोनों को ही प्राप्त कर लेता है तो वह विशेष प्रयत्नके विना ही संसार दावानलसे पार हो जाता है।

अंध पंगु मिलन

१०२ संसारमे देखा जाता है कि कोई मनुष्य किन्हीं कार्योंको करना चाहता है, उन कार्यों-की सफलताके लिए उपयोगी सब साधनोंको भी वह जुटा लेता है। जब क्रमशः सब तयारियां हो लेती हैं तो वह कार्यको सफल करनेके लिए पूर्ण प्रयत्न करता है। तो भी उसके हाथ असफलता ही लगती है क्योंकि दैव (पूर्वकृत शुभ-अशुभ कर्म) उसके अनुकूल नहीं होते १०३ हैं। इसका दूसरा भी पक्ष होता है, कोई मनुष्य कार्यकी सिद्धिके लिए आवश्यक समस्त साधन सामग्रीसे सुसज्जित है, पूर्वकृत शुभकर्मोंका परिणाम भी सर्वथा उसके अनुकूल है, तो भी उसको अपने अभीष्ट कार्यमें सफलता केवल १०४ इसीलिए नहीं मिलती है कि उसने पुरुषार्थको भलीभांति नहीं किया था। इन दोनों दृष्टान्तों-को जब युक्तिपूर्वक विचारते हैं तो इसी निष्कर्षपर आते हैं कि जिस पुरुषमें अनुकूल दैव तथा उपयुक्त पुरुषार्थ ये दोनों बातें होंगी वह आदर्श पुरुष निश्चयसे अपने सब ही अभीष्ट कार्योंमें सफलता प्राप्त करेगा। वैसा ही समझिये जैसा कि उस व्यक्तिका हाल होता है जो १०५ ठीक (शमी) लकड़ीके डंडोंको रगण कर वनमें भी आग उत्पन्न कर लेता है। इसी प्रकार जिस पुरुषने मन, वचन तथा कायकी चेष्टाओंको वशमें कर लिया है, इन्द्रियोंको संयत कर दिया है तथा प्रति समय चारित्रके पालनमें प्रयत्नशील है, वह पुरुषार्थी आत्मा समस्त संकल्प

दैव-पुरुषार्थ

विकल्पोंको समूल नष्ट करके उस ध्रुव तथा अडिग पदको पाता है जिसका मधुर नाम निर्वाण है।

सम्राट् वरांगने जीव आदि छहों द्रव्योंको उनके स्वरूप, परिणाम तथा भेदोंके सहित समझाया था। प्रमाण तथा नयके स्वरूप, उनके द्वारा पदार्थोंकी परीक्षा करनेकी शैली आदि प्रमाणोंके स्वरूपको अकाट्य युक्तियों द्वारा श्रोताओंके हृदयमें बैठा दिया था। प्रमाण नय आदि किस अवस्थामें तत्त्वपदको पाकर मोक्षमार्गकी दिशामें ले जाते हैं तथा रत्नत्रयकी अपनी अपनी परिभाषा तथा योग्यता क्या है इन सब विषयोंका विशद विवेचन किया था। इसके आगे बतांयगे कि भरतक्षेत्रकी भूमिपर किस प्रकार काल-परिवर्तन होता है उसके परिवर्तनमें कौनसे महापुरुषों (शलाका पुरुष) का विशेष हाथ रहता है। कालोंके नाम क्या हैं, उनमें किस प्रकार आयु बल ज्ञान आदिकी हानि होती है तथा इन्ही गुणोंकी वृद्धिकी भी क्या प्रक्रिया है। शलाका पुरुषोंके नाम तथा चरित्र क्या थे। इतना अवश्य समझ लेना चाहिये कि ये सब वर्णन विस्तारसे न हो सकेंगे।

उपसंहार

१०६

वाच्य विषय

१०७

चारों वर्ग समन्वित, सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
द्रव्यादिकाल नाम षड्विंशतितम सर्ग समाप्त।

सप्तविंश सर्ग

१ गत अध्यायमें छह द्रव्योंका वर्णन समाप्त करनेके पश्चात्, सम्राट वरांगने अपनी राजसभामें प्रथमानुयोग (शलाका पुरुषोंका जीवन चरित्र तथा अन्य पुराण और धर्म कथाओं) का व्याख्यान प्रारम्भ किया था। उनका स्वर उच्च तथा स्पष्ट था। उनके वचन तथा उत्साहके अनुरूप ही राजसभाकी श्रद्धा तथा भाव थे, फलतः शास्त्र सुननेकी इच्छासे २ प्रेरित हो कर वहांपर उपस्थित सब ही श्रोता सर्वथा सावधान और चैतन्य हो गये थे। सम्राटने सभाको सम्बोधन करते हुए कहा था कि आपलोग इस जगतके क्षेत्र विभाग, उत्सर्पिणी अवसर्पिणी आदि काल परावर्तन, इनमें होनेवाले युगप्रवर्तक तीर्थंकर, एक तीर्थंकरके निर्वाणसे लेकर दूसरे तीर्थंकरके जन्म पर्यन्त पड़े सामयिक अन्तराल, चक्रवर्ती, बल (बलभद्र) तथा वसुदेव जिनके कुल इस धरणीपर प्रसिद्ध थे तथा इन सब लोगोंके प्रबल प्रतिद्वन्दियोंके वर्णनको ध्यानसे सुनें।

उत्थानिग

३ यद्यपि रत्नोंकी राशिमें पड़े प्रत्येक रत्नके समान कालका प्रत्येक क्षण अलग अलग है तो भी व्यवहारिक दृष्टिसे इसके भी विभाग किये गये है। इस विभाजनके विशेषज्ञोंने इसके लिए समय संज्ञाका भी प्रयोग किया है। जब इतने अधिक समय बीत जाते हैं कि उनको गिनना कठिन हो जाता है, तो समयके प्रमाणकी व्यवस्था करनेवाले विद्वान उस अन्तरालको ४ आवलिका अथवा आवली संज्ञा देते हैं। किन्ही आचार्योंका यह भी मत है कि गणनासे परे (असंख्यात) आवलियोंके बीत जानेपर एक शब्द होता है। साधारणतया सात आवली प्रमाण समय बीतने पर एक स्तोक होता है। सात स्तोक समय बीतने पर एक लव होता है। इस लवके प्रमाणसे आठ युक्त तीस अर्थात् ५ अड़तीस[1] लवोंसे कुछ अधिक समय बीत जानेपर एक मुहूर्त होता है, एक मुहूर्त दो नाड़ीके बराबर होता है। एक दिन तथा रात्रिमें कुल मिलाकर तीस मुहूर्त होते हैं। पांच दिन रातिके प्रमाण समयमे तीनका गुणा करनेपर अर्थात् पन्द्रह दिनरातका एक पक्ष होता है, तथा मास उसे कहते हैं जिसमें दो पक्ष (पखवारे) अथवा तीस दिनरात बीते हों एक ऋतुमें दो मास ६ होते हैं। समय विशेषज्ञोंका वचन है कि तीन ऋतुएं बीत जानेपर एक अयन (सूर्यकी दक्षिण तथा उत्तर गति) होता है। दो पूरे अयन समाप्त होनेपर एक वर्ष होता है। इस विधिसे समयका विभाग करके विशेषज्ञोंने समयके परिमाणको निश्चित करनेका प्रयत्न किया है।

कालवर्णन

७ इसके आगे आचार्योंने जो प्रमाण दिये हैं वे सब एक दूसरेसे (अथवा पहिलेसे अगला) दश गुने हैं क्योंकि ऐसा करनेसे संख्या देनेमें सरलता रहती है। एक प्रारम्भ करनेका मूल स्थान है, इससे दशगुना दश हैं, दशके दशगुने सौ हैं, दश सौ एक हजार होते हैं तथा हजारमें भी दशका गुणा करनेपर दश हजार होते हैं, इन्हें ८ शास्त्रोंमें अयुत संज्ञा दी है। एक अयुतको दशसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसको लक्ष (लाख) कहते हैं। एक लाखको सौसे गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसे कोटि (करोड़) कहते हैं। एक लाखमें अस्सीका गुणा करनेपर जो आये उसमें चार लाख और जोड़ देनेपर जो (चौरासी लाख) प्रमाण होता है उसको शास्त्रोंके विशेषज्ञ

गणनाक्रम

[1] —अड़तालीस।

मुनियोंने पूर्वांग संज्ञा दी है। उसकी (पूर्वांगकी) ही एक कृति (वर्ग-बीसगुना) को पूर्व कहते हैं तथा पूर्वमें कृतिका गुणा कर देनेसे एक पूर्वांग हो जाता है। एक पूर्वमें एक पूर्वांगका गुणा कर देनेसे एक पर्व आता है तथा एक पर्व (सर्व) में पूर्वांगका गुणा करनेसे एक धनांग होता है। इसके आगे यही नियम समझना चाहिये कि अन्तिम संख्या (गुण्य) में उससे पहिलेकी संख्या (गुणक) का गुणा करनेसे आगे-आगेके प्रमाण निकल आते हैं। इस विधिसे जो समयकी संख्याएं निकलती हैं उनके नामोंको इसके बाद उसी उसी ढंग तथा क्रमसे कहता हैं कि जिस क्रमका अनुसरण करके तपोधन ऋषियोंने समस्त संख्याओंके अलग अलग प्रमाण निकाले थे। ९ १०

पर्वमें धनांगका गुणा करनेपर नत होता है, नतके बाद नलिनांग प्रमाण आता है, इसके आगे उक्त प्रक्रियाका अनुसरण करनेपर नलिन होता है। इनके उपरान्त पद्म प्रमाण निकलता है। पद्मके बाद महापद्म निकलता है। पद्म तथा महापद्मका गुणा करनेपर कमल प्रमाण निकलता है। महापद्ममें कमलका गुणा करनेपर जो प्रमाण आता है उसकी संज्ञा कुमुद है। कमल और कुमुदका गुणा करनेपर तुटीप होता है। कुमुद तथा तुटीपका गुणा करनेपर जो प्रमाण होता है उसे टट कहा है। इसके आगे उक्त विधिसे ही विद्या, उमन, मह आते हैं। इसके आगे जो संख्या आयी है उसे प्रयुत नाम दिया गया है। इसके बाद शिरीप, अतिसंयुत, प्रहेलिक तथा चर्चिक संख्याएं निकलती हैं। चर्चिका अन्तिम संख्या प्रमाण है। इसके आगे जो प्रमाण हैं उन्हें अंकों द्वारा नहीं कहा जा सकता है। ज्ञानी मुनियों-का कथन है कि उन सबका प्रमाण सादृश्य (उपमा) देकर ही समझाया जा सकता है। ११ १२ १३

संख्याशास्त्रके पंडितोंका मत है कि संख्यात (जिसके अन्तिम प्रमाणको बता चुके हैं) उपमा प्रमाणका मूल है उससे आगे बढ़ते ही असंख्यात हो जाता है और बढ़ते-बढ़ते अनन्त तक जाता है। इन संख्यात, असंख्यात तथा अनन्तमें प्रत्येकके तीन तीन भेद हैं। इस प्रकार सब मिल कर नौ होते हैं। ये नौ भी दो, दो प्रकारके हैं अतएव समूहित संख्या अठारह हो जाती है। उपमा प्रमाणके प्रथम भेदके सर्वप्रथम प्रभेदका नाम व्यवहार पल्य है। १४ १५

उपमाप्रमाण

यद्यपि इसका नाम व्यवहार पल्य है तो भी इससे कोई व्यवहार नहीं चलता है क्योंकि इसमें किसी वस्तुका प्रमाण नहीं दिया है। व्यवहार पल्यके आगे उद्धार पल्य गिनाया है तथा इस श्रृंखलामें अद्धापल्य तीसरा अथवा अन्तिम है। गणित शास्त्रके आचार्योंने पल्यके प्रमाणको इस क्रमसे बताया है—एक गोल गर्त खोदिये जिसके विष्कम्भ (व्यास) का प्रमाण एक योजन हो, आपाततः उसकी परिधि व्यासके तिगुनेसे भी अधिक होगी। इस गर्तकी गह-राई भी पूरा एक योजन होती है। इस गर्तको ही पल्य कहते हैं। जिन बकरोंका जन्म हुए एक दिनसे लेकर अधिकसे अधिक सात दिन हुए हैं उनके कोमल रोमोंको लेकर अत्यन्त सूक्ष्म टुकड़े किये जायं। जब वे और काटने योग्य न रहें तो उन रोमोंके टुकड़ोंसे उक्त गर्तको उसी तरह ठसाठस भर दे जैसा कि तिन्दु (अलावा) भरा जाता है। इस विधिसे उक्त गर्त (पल्य) भरा जानेपर जब एक सौ वर्ष व्यतीत हो जायं तो एक रोम खण्ड निकाला जाय। इस प्रक्रियासे एक एक रोम खण्डको निकालते निकालते जितने समयमें पूरा पल्य खाली हो जाय और एक भी रोम शेष न रह जाय उस १६ १७ १८

व्यवहार-पल्य

१९ विशाल समयकी राशिको पल्य कहते हैं। करोड़को करोड़से गुणा करनेपर कोटि कोटि संख्या निकलती है पल्यके समयके प्रमाणमें दस कोटि कोटिका गुणा करनेपर जो अपरिमित समय राशि आवेगी, उतने भारी समयको आठोंकर्मों रूपी मलिनताको नष्ट करनेवाले श्री एक हजार आठ जिनेन्द्र देवने सागरका प्रमाण कहा है।

२० व्यवहार पल्यके गर्तमें जो रोम भरे गये थे उनमेंसे अलग अलग एक एक रोम खण्डको अनेक करोड़ वर्षों पर्यन्त टुकड़ा टुकड़ा किया जाय। इन सूक्ष्माति सूक्ष्म रोमके खण्डोंसे दूसरे गर्तको भरा जाय। इस विधिसे गर्त परिपूर्ण हो जानेपर सौ, सौ वर्षों बाद

उद्धारपल्य

२१ उसमें से एक एक रोम खण्ड निकाल कर बाहर किया जाय। इस प्रक्रियाके अनुसार जितने समयमें रोम राशि समाप्त हो जाय, उन समस्त वर्षोंके प्रमाणको शास्त्रकारोंने

२२ उद्धारपल्यका समय कहा है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं कि कोटि-कोटि प्रमाण पल्योंको दशका गुणा करनेपर जो समय आता है वह एक सागर कहा जाता है।

मुनियोंके मुकुटमणि श्री केवली भगवान्ने सागरोंमें दो तथा आधे अर्थात् ढाई सागर प्रमाण समस्त द्वीपों और समुद्रोंकी संख्या कही है।

२३ कल्पना कीजिये कि उद्धारपल्यके गर्तमें भरे गये रोमके एक खण्डको निकाल कर उसके उतने टुकड़े करे जितने कि कोड़ा कोड़ि वर्षोंमें मुहूर्त हो सकते हैं। फिर इन सब टुकड़ोंको

२४ लेकर पूर्वोक्त प्रमाणके गर्तको खूब ठोक ठोक कर भर देवे। जैसा कि पहिले

अद्धापल्य

कह चुके हैं उसी क्रमसे जब सौ वर्ष वीत जांय तो गर्तमें से एक रोम खण्ड निकाले। इस गतिसे एक, एक रोम तबतक निकालता रहे जबतक कि समस्त रोम राशि समाप्त न हो जाय। इस विधिसे पल्यको खाली करनेमें जितना समय लगे उसको अद्धापल्य कहते हैं।

२५ दश-कोटि कोटिसे गुणित अद्धापल्यके समयकी राशिसे जो गुणितफल आय गा वही अद्धा-सागरका प्रमाण होगा। सौधर्म आदि स्वर्गोंमें उत्पन्न देव, सातों नरकोंके नारकी मनुष्य तथा तिर्यञ्चोंकी आयुकी संख्या इन्हीं अद्धापल्योंके द्वारा शास्त्रोंमें बतायी गयी है।

२६ असंख्य वर्षोंकी राशि रूप अद्धासागरमें कोटिकोटिका गुणा करके फिर उसमें दशका गुणा किया जाय और जो फल आवे उतने विशाल समयको संसार परिवर्तनके पंडित उत्सर्पिणी (विकास शील) काल कहते हैं। तथा जिस क्रमसे विकास हुआ

युगचक्र

था उसी क्रमसे घटते घटते जब सृष्टि वहीं पहुंच जाती है जहांसे प्रारम्भ किया था उस समय (दश कोडाकोड़ि अद्धासागर प्रमाण) को अवसर्पिणी (ह्रास शील) काल कहते हैं। इस प्रकार उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामसे जो दो विशाल कालके प्रमाण

२७ कहे हैं ये दोनों एक दृष्टिसे अनादि और अनन्त हैं। इन दोनों कालोंका पूरा चक्कर हमारे जम्बूद्वीपके भरत तथा ऐरावत दोनोंमें उसी विधिसे लगता है जिस गति विधिके साथ

२८ हम लोगोंके प्रत्येक चांद्र मासमें शुक्ल तथा कृष्ण पक्ष लगते हैं। प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी क्रमशः छह, छह उपकालोंमें विभाजित हैं। इन छह भेदोंमें पहिले तीन कालोंके पहिले विशेषण रूपमें 'सु' शब्द लगा हुआ है (सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुःषमा) इनके आगेके दो भेदोंके साथ 'दुः' तथा 'सु' दोनों उपसर्गोंका

युगोंके नाम

प्रयोग हुआ है (दुःषमा-सुषमा, दुःषमा) तथा अन्तिम छठे भेदके पहिले अति तथा दुः अथवा 'दुःदुः' उपसर्ग लगे हुए हैं (अति दुःषमा अथवा दुःषमा-दुःषमा)।

प्रथम काल सुषमा-सुषमाका प्रमाण चार कोटि-कोटि सागर प्रमाण है, दूसरे परिवर्तन अर्थात् अवसर्पिणीके प्रथम आदि कालोंका भी यही प्रमाण है। दूसरे विभाग सुषमाका प्रमाण तीन कोड़ाकोडि सागर प्रमाण है तथा तीसरे सुषमा-दुःषमाका समय एक कोड़ाकोड़ि सागर ही है। यहां तकका प्रमाण जैसा कि अभी कहा है कोड़ा-कोड़ि सागर प्रमाण ही है, किन्तु चतुर्थ कालका प्रमाण छहमें सातका गुणा करनेपर जो (ब्यालीस) आवे उतने (ब्यालीस) हजार वर्ष हीन एक कोड़ाकोड़ि सागर है। पञ्चम काल दुःषमाका प्रमाण सातमें तीनका गुणा करने पर जो आवे उतने हजार वर्ष (इक्कीस हजार) है तथा छटे काल दुःषमा-दुःषमाका प्रमाण भी उतने (इक्कीस) हजार वर्ष शास्त्रोंमें मिलता है। २९ ३०

युग प्रमाण

तीनों लोकों तथा तीनों कालोंके द्रव्यों तथा पर्यायोंके साक्षात् ज्ञाता अर्हन्त केवलीने अपनी दिव्य ध्वनिमें कहा था कि चतुर्थ काल दुःषमा-सुषमाके आधे भागके वीत जानेके उपरान्त उसके ठीक मध्य समयमें ही इस भारत क्षेत्रमें जो कि हमलोगोंकी पुण्य तथा पितृभूमि है वे चौबीस महापुरुष उत्पन्न हुए थे जो कि भोगभूमिके नष्ट हो जानेके बाद मनुष्य वर्गको कर्मभूमिके लिए आवश्यक जीविका तथा जीव उद्धारके मार्गपर चलानेमें कारण हुए थे। अनादि कालसे बंधे हुए आठों कर्मोंको नष्ट करके जिन्होंने सार्थक 'जिन' नामको प्राप्त करके मुक्तिको प्रस्थान किया था। चौवीस तीर्थकरोंके तीर्थकालमें ही भरत आदि बारह चक्रवर्ती उत्पन्न हुए थे, नौ वासुदेव बलभद्र तथा नौ ही नारायणोंका भी आविर्भाव हुआ था। नारायणोंके भयंकर शत्रु श्रेष्ठ राजाओंकी भी संख्या नौ ही है इन्हें शास्त्रोंमें प्रतिनारायण शब्दसे कहा है। ३१ ३२ ३३

शलाका पुरुष

जिस समय भोगभूमिका ह्रास होने लगा था उस समय सबसे पहिले प्रतिश्रुति नामके गणनायक हुए थे, उनके बाद संमतिका आविर्भाव हुआ था। तीसरे पथप्रदर्शकका नाम क्षेमंकर था उनके उत्तराधिकारी जननेता श्री क्षेमंधर चौथे महापुरुष थे। पांचवे मनुका नाम सीमंकर था। कर्मभूमिके छठे पथप्रदर्शक सीमंधर नामसे सुविख्यात थे। इसके उपरान्त राजा अमल (विमल) वाहनने अपने तेजके द्वारा मनुष्योंकी व्यवस्था की थी। राजा अमलवाहनके स्वर्ग सिधार जानेके उपरान्त आठवें व्यवस्थापक श्रीचक्षुष्मान् हुए थे। चक्षुष्मान्के शरीर त्यागके उपरान्त आगे कहे गये चार महापुरुषोंने प्रजाकी यथाशक्ति प्रगति की थी नौवेंका नाम यशस्वी, दशमेंको जनता अभिचन्द्र संज्ञासे जानती थी, ग्यारहवें चन्द्राभ नामसे ख्यात थे तथा बारहवेंका आकर्षक नाम मरुदेव था। तेरहवें जनगणनायकका शास्त्रोंने प्रसेनजित नामसे उल्लेख किया है तथा अन्तिम महापुरुष श्री नाभिको कौन नहीं जानता है, क्योंकि इस युगके आदिपुरुष श्रीऋषभदेव उन्हींसे उत्पन्न हुए थे। प्रथम तीर्थंकर श्रीपुरुदेवके ज्येष्ठ पुत्र महाराज भरत चक्रवर्ती थे। ये सोलहके सोलह महापुरुष ऐसे थे कि इन्हींसे समस्त पूज्य वंश चले हैं। प्रजाकी हितसाधना करके इन्होंने निर्मल, विपुल यश कमाया था। भोगभूमिके क्रमिक ह्रासके कारण प्रजा दुखी हो गयी थी पृथ्वीपर अव्यवस्था छा गयी थी, उस अव्यवस्थाके युगमे इन लोगोने पृथ्वीका संरक्षण किया था। यही कारण है कि ये लोग हमारे जगतमे मनु (स्वयं ज्ञाता) नामसे विख्यात है। ३४ ३५ ३६

चौदह मनु

हमारे चतुर्थ कालमें नाभि महाराजके पुत्र श्रीऋषभदेव सबसे पहिले तीर्थंकर हुए थे। उनके ३७

बहुत समय बाद दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथ तथा तीसरे श्री शंभवनाथका आविर्भाव हुआ था। श्री अभिनन्दननाथ चौथे तीर्थंकर थे। यतियोंके ईश श्री सुमतिनाथ पांचवें तीर्थंकर थे। छठे तीर्थंकरका शुभनाम श्री पद्माभ था, सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ थे। भगवान सुपार्श्वनाथके उपरान्त अष्टम तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभुका आविर्भाव हुआ था। भगवान पुष्पदन्त नौवें तीर्थंकर थे। दशम तीर्थंकर श्री शीतलनाथ प्रभु परम तपस्वी मुनिराजोंके द्वारा परमपूज्य थे। एकादशम तीर्थंकर श्री श्रेयान्सनाथ, मूर्तिमान कल्याण ही थे। महाराज वासुपूज्य तीर्थंकरकी विशिष्टताके विषयमें तो कहना ही क्या है क्योंकि उनके चरणोंमें इन्द्रादि देव भी लोटते थे। श्री विमल तीर्थंकरने आशाओंको परास्त कर दिया था। भगवान् अनन्तनाथ साक्षात् यतीश थे। मूर्तिमान धर्मके समान श्री धर्मनाथ तथा विश्वशान्तिके प्रतिष्ठापक श्री शान्तिनाथ क्रमशः पन्द्रहवें और सोलहवें तीर्थंकर थे। श्री शान्तिनाथके बाद कुन्थुनाथ और अरनाथ तीर्थंकर हुए थे। उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ यथा नाम तथा गुणः थे क्योंकि उनके बलवीर्यको कोई सीमा ही न थी। उनके उपरान्त श्रीसुव्रत (मुनिसुव्रत) नाथने धर्मका प्रचार किया था। श्रीनमिदेवके चरणोंको पूज कर इन्द्रने अपनी पर्याय सफल की थी। बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथको कौन नहीं जानता है वे समस्त अरिष्टोंके लिए उपरोधक ही हैं। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ तथा अन्तिम तीर्थंकर वर्द्धमानजिन तो आज भी हमारे सामने हैं।

चौबीस तीर्थंकर

३८

३९

श्री आदिनाथके पुत्र महाराज भरत इस युगके सबसे पहिले चक्रवर्ती थे। उनके पीछे महाराज सगरने पट्खंड भरत क्षेत्रको विजय करके दूसरे चक्रवर्तीका पद पाया था। तीसरे चक्रवर्ती महाराज मघवान थे तथा चौथे चक्रवर्ती श्री सनत्कुमार थे जो कि वास्तवमें मनुष्योंके इन्द्र ही थे। सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ पांचवे चक्रवर्ती थे भगवान कुन्थुनाथ तीर्थंकर छठे चक्रवर्ती थे। अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ भी सातवें चक्रवर्ती थे। इन तीनों तीर्थंकर चक्रवर्तियोंके पीछे सुभौम तथा महापद्म क्रमशः आठवें और नौवें चक्रवर्ती हुए थे। महाराज हरि [षेण] दशम चक्रवर्ती थे। उनके स्वर्ग जानेके काफी समय बाद श्री जयसेन हुए थे तथा श्री ब्रह्मदेव अन्तिम चक्रवर्ती हुए थे।

४०

बारह चक्रवर्ती

४१

इस युगके सर्वप्रथम वासुदेवकी ख्याति त्रिपृष्ठ नामसे थी। उनके उपरान्त द्विपृष्ठ दूसरे वासुदेव हुए थे, तीसरे वासुदेवको जनता स्वयंभू नामसे जानती थी। चतुर्थ वासुदेवकी पुराणकारोंने पुरुषोत्तम संज्ञाके द्वारा उल्लेख किया है। पांचवें वासुदेव श्री पुरुष सिंह 'यथा नाम तथा गुणः' थे। छठे वासुदेव श्री (पुरुष) पुण्डरीक थे। इनके उपरान्त श्री (पुरुष) दत्त तथा नारायण (लक्ष्मण) क्रमशः सातवें आठवें वासुदेव थे तथा श्रीकृष्णजी अन्तिम (अर्द्ध चक्री) वासुदेव थे।

४२

नौ वासुदेव
(नारायण)

प्रथम नारायण श्री विजय गुणोंके भण्डार थे, उनके उपरान्त अचल दूसरे नारायण हुए थे। अचलके बाद काफी समय बीत जानेपर तीसरे नारायण श्री (सु-) धर्मका आविर्भाव हुआ था। इनके भी इस संसारसे सिधार जानेके बाद चौथे नारायण सुप्रभकी प्रभासे यह देश भासित हो उठा था। इसके बाद भरतक्षेत्र पांचवे नारायण श्री सु-दृष्ट (-दर्शन) की क्रीड़ास्थली बना था। छठे नारायणका नाम नन्दि

४३

प्रति-नारायण

था, सातवें नन्दिमित्र नामसे ख्यात थे, आठवें सुप्रसिद्ध राम थे तथा अन्तिमका नाम श्री पद्म (बलदेव) था।

प्रथम प्रतिनारायणके नाममें ग्रीवशब्दके पहिले अश्व आता था अर्थात् उनका नाम अश्वग्रीव था। दूसरे महापुरुष तारक थे। तीसरे प्रतिनारायण समेरक (मेरक) नामसे ज्ञात थे। चौथे मधुकैटभ[1]की ख्याति भी कम नहीं है। इनके इस संसारसे सिधार जानेके बहुत समय बाद निशुम्भका आतंक फैला था। राजा बलिका तो कहना ही क्या है। प्रह्लाद (प्रहरण) सातवें प्रतिनारायण थे। रावण रामके शत्रु थे तथा श्रीकृष्णके प्राण वियोगके कारण श्री जरत्कुमार अन्तिम प्रतिनारायण थे। ४४

शत्रु प्रतिनारायण

इस युगके आदिपुरुष महाराज श्री ऋषभदेव तीर्थंकरके कालमें प्रथम चक्रवर्ती श्री भरतजी हुए थे। दूसरे तीर्थंकर श्री अजितनाथके तीर्थकालमें ही महाराज सगर चक्रवर्तीने षट्खण्डकी विजय की थी। प्रथम वासुदेव श्री त्रिपृष्टका आविर्भाव दशम तीर्थंकर श्री शीतलनाथके तीर्थकालमें हुआ था। श्री श्रेयान्सनाथके तीर्थकालमें ही द्वितीय वासुदेव द्विपृष्टका राज्य हुआ था। परमपूज्य बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्यके तीर्थकालमें तृतीय वासुदेव स्वयंभूने राज्य किया था तथा तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथके तीर्थकालकी शोभा पुरुषोत्तम नामक चतुर्थ वासुदेवने बढ़ायी थी। परमदानी श्री [2]धर्मनाथ तीर्थंकरके कालमें तृतीय चक्रवर्ती महाराज मघवानका सम्राज हुआ था पन्द्रहवें तीर्थकालमें ही चौथे चक्रवर्ती श्री सनत्कुमार तथा पञ्चम वासुदेव श्री नृसिह हुए थे। सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, सतरहवें श्री कुन्थुनाथ तथा अठारहवें श्री अरनाथ ये तीनों महात्मा तीर्थंकर तथा चक्रवर्तीके गुणों और शक्तियोंसे सम्पन्न थे। षष्ठ वासुदेव श्री पुण्डरीक तथा अष्टम चक्रवर्ती श्री सुभौम इन दोनों शलाका पुरुषोंका प्रताप भगवान अरनाथके तीर्थकालमें (अर-मल्लीनाथ जिनके अन्तरालमें) ही चमका था। उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथके तीर्थकालमें नौवें चक्रवर्ती श्री महापद्म, सातवें वासुदेव श्री दत्त दशम चक्रवर्ती श्री हरिषेण तथा आठवें वासुदेव श्री नारायणका राज्य हुआ था बीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथके तीर्थकालमें ग्यारहवें चक्रवर्ती श्री जयसेन, तीसरे नारायण श्री धर्म तथा अन्तिम वासुदेव श्रीकृष्णजीका आविर्भाव हुआ था। इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथके तीर्थकालमें अन्तिम चक्रवर्ती श्री ब्रह्मदत्तने षट्खण्ड भारतकी विजय की थी। ४५ ४६ ४७ ४८

तीर्थंकर काल तथा वासुदेवादि

अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्द्धमान जिनराजके शरीरका उत्सेध (ऊंचाई) सात हाथ प्रमाण थी। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वप्रभुके दिव्य औदारिक शरीरका उत्सेध केवल नौ हाथ प्रमाण था। इस विधिसे बढ़ते-बढ़ते शास्त्र कहते हैं कि प्रथम तीर्थंकर श्री आदिनाथ प्रभुके अपने प्रशस्त शरीरका उत्सेध (पांच गुणित सौ अर्थात्) पांच सौ धनुष प्रमाण था। महाराज नाभिनन्दनके पुत्र प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवके शरीरकी ऊंचाईमेंसे क्रमशः (पांच गुणित दश) पचास, पचास धनुष कम करनेसे अजित आदि आठ तीर्थंकरोंकी ऊंचाई आती; तथा इसके आगे दश, दश धनुष कम करनेपर ४९ ५०

तीर्थंकरोंका उत्सेध

1—क्रम भेद है। त्रिलोकसार, आदि ग्रन्थोंमें निशुम्भ चौथे हैं। मधुकैटभ इनके बाद हुए हैं।
2—परिशिष्ट देखें।

क्रमशः शीतल आदि पांच तीर्थंकरोंका उत्सेध आता है। इसके आगे पांच-पांच घटानेसे धर्मादि तीर्थंकरोंके उत्सेधका प्रमाण निकल आता है, इस क्रमसे नेमिनाथका उत्सेध दश धनुष है।

५१ महाराज नाभिनाथके पुत्र श्री ऋषभदेव तीर्थंकरकी आयुका गणित इस प्रकार है—एक हजारमें सौ का गुणा करिये (एक लाख) उसमें दो गुणित सात गुणित छह अर्थात् चौरासी का गुणा करिये जो (चौरासी लाख) आवे उतने पूर्व अर्थात् चौरासी लाख पूर्व वर्ष प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेवकी आयु थी। द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितप्रभुकी अवस्था भी परिपूर्ण

५२ तीर्थंकरोंकी आयु

बहत्तर लाख पूर्व वर्ष थी। तृतीय तीर्थंकर श्री शंभवनाथकी आयु केवल साठ लाख पूर्व शास्त्र बतलाते हैं। इनके बादके पांच तीर्थंकरों अर्थात् श्री अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभु, सुपार्श्वनाथ तथा चन्द्रप्रभदेवकी आयुका प्रमाण क्रमशः दश, दश लाख पूर्व कम (५०, ४०, ३०, २०, १०) थी। शास्त्रोंमें वर्णित नौवें तीर्थंकर श्री पुष्पदन्त प्रभुकी आयु दो लाख पूर्व वर्ष थी। श्री शीतलदेवकी आयु केवल एक लाख पूर्व वर्ष

५३ ही थी। ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयान्सनाथकी आयुका प्रमाण इस विधिसे निकलता है—एक हजारमें सौका गुणा करनेपर जो (लाख) आवे उसमें दो गुणित सात, गुणित छह (चौरासी) का गुणा करनेपर जो फल आवे उतने लाख (चौरासी लाख) वर्ष ही उनकी आयु थी। श्री वासुपूज्य प्रभुकी आयु बहत्तर लाख वर्ष थी तथा तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथकी आयु

५४ साठ लाख वर्ष थी। विमल प्रभुके उपरान्त उत्पन्न हुए तीनों तीर्थंकरों श्री अनन्तनाथ, श्री धर्मनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभुकी आयु क्रमसे तीस लाख, दश लाख तथा एक लाख वर्ष थी। सतरहवें तीर्थंकर श्री कुन्थुनाथ प्रभुकी आयु केवल तीन शून्य सहित पंचानबे अर्थात् पंचानवें हजार वर्ष थी। श्री अरनाथ प्रभुकी आयुका प्रमाण छह कम नब्भै हजार (चौरासी हजार) वर्ष थी तथा शास्त्रोंमें लिखा है कि उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिदेवकी आयु तीन शून्य युक्त

५५ पांच, पांच (पचपन हजार) वर्ष थी। वीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत नाथकी आयुको शास्त्र तीस हजार वर्ष बतलाते हैं। (एक हजारमें दशका गुणा करनेपर जो आवे) उतने ही दश हजार वर्ष इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथकी अवस्था थी। बाईसवें तीर्थंकर यदुपति श्री नेमनाथकी आयु केवल एक हजार वर्ष ही थी। पार्श्वप्रभुकी आयु भी शुद्ध सौ वर्ष थी तथा ज्ञातिपुत्र श्री वर्द्धमान प्रभुकी अवस्था केवल बहत्तर वर्ष ही थी।

५६ पुराणोंके पंडितोंका मत है कि प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव तथा अजितनाथके बीचके अन्तरालको निकालनेके लिए निम्नलिखित गणित करना पड़ेगा—समुद्रसे दशगुणित पांचका आदिनाथ स्वामीके निर्वाणके बाद गुणा करे जो फल आये

अन्तराल

उतने कोटि सागर (पचास कोटि सागर) प्रमाण वर्ष बीत जानेपर अजितनाथ हुए थे। यही प्रथम तथा द्वितीय तीर्थंकरके

५७ बीचका अन्तराल होगा। भगवान अजितनाथ और शंभवनाथके बीचमें तीस कोटि सागरका अन्तराल था। श्री शंभवनाथ और अभिनन्दननाथके बीचका अन्तराल दश कोटि सागर वर्ष था तथा चौथे और पांचवें तीर्थंकरोंका अन्तराल नौ लाख करोड़ सागर वर्ष प्रमाण है। पांचवें तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ तथा पद्मप्रभुके बीचका अन्तराल नब्भै हजार करोड़

५८ वर्ष है तथा छठे तीर्थंकर और श्री सुपार्श्वनाथका अन्तराल हजार कोड़िमें नौका गुणा करनेपर

जो (नौ हजार कोड़ि) आवे उतने वर्ष होता है। सप्तम तीर्थंकर और श्री चन्द्रप्रभके बीचमें नौ सौ करोड़ वर्षका अन्तराल पड़ा था। आठवें तथा नौवें तीर्थंकरोंके अन्तरालका प्रमाण केवल नब्भै करोड़ वर्ष था। नौंवा अन्तराल केवल नौ करोड़ सागर वर्ष है इस प्रकार श्री आदिनाथ प्रभुसे लेकर भगवान शीतल पर्यन्त जो नौ अन्तराल गिनाये हैं ये सबके सब कोटि सागर वर्षोंमें गिनाये हैं। छ्यासठ नियुत (=अयुत सौ सहस्र) तथा छब्बीस हजारके पिण्ड (युक्त) को सौ सागरसे मिलाकर जो प्रमाण आवे उसको एक कोटि सागरमें से घटा दिया जाय अर्थात् सौ सागर छ्यासठ लाख छबीस हजार वर्षको एक कोड़िसागरमें से घटाने पर जितना शेष रह जाय उतने वर्षका ही अन्तराल भगवान शीतलनाथके मोक्ष तथा श्रेयान्सनाथके आविर्भावके बीचमें पड़ा था। छह गुणित नौ अर्थात् चउअन, तीस, नौ, चार सागर तथा तीन चौथाई (३/४) पल्य कम तीन सागर क्रमशः श्री श्रेयान्सनाथ तथा वासुपूज्य प्रभु, वासुपूज्य और विमलनाथ प्रभु, विमलनाथ और अनन्तनाथ प्रभु, अनन्तनाथ और पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ तथा धर्मनाथ एवं शांतिनाथके बीचमें अन्तराल थे। यह सब प्रमाण सागरोंकी संख्यामें कहे हैं। ये छह तीर्थंकरोंके बीचके पांच अन्तराल हैं। ५९ ६०

शान्ति-कुन्थनाथ प्रभुके बीचमें जो अन्तराल पड़ा था उसका प्रमाण आधा पल्य है। एक सहस्र करोड़ वर्ष घटा देनेसे चौथाई पल्यमे जो शेष रह जाय वही सतरहवां अन्तराल था। श्री कुन्थनाथ प्रभु तथा अरनाथके बीचमें यही एक पल्यके आधेके आधा (हजार कोटि वर्ष हीन चौथाई पल्य) अन्तराल पड़ा था। इनके वाद जो अठारहवां अन्तराल पड़ा था वह केवल एक सहस्र करोड़ वर्ष ही था। एक लाख गुणित चउअन वर्ष अर्थात् चउअन लाख वर्षका मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रतनाथके बीचमें अन्तराल पड़ा था। भगवान मुनिसुव्रतनाथके निर्वाणके छह लाख वर्ष वाद श्री नमिनाथका जन्म हुआ था। इनके तथा नेमिनाथके बीचमें केवल पांच लाख वर्षका ही अन्तराल पड़ा था। यादवपति श्रीनेमिनाथ भगवानके निर्वाणके-गिरिनारसे मुक्ति पधार जानेपर एक हजार गुणित तेरासी गुणित हजार वर्ष युक्त आधा कम आठ सौ (७५० वर्ष) वर्ष बाद काशीमें श्रीपार्श्वनाथप्रभुका आविर्भाव हुआ था। भगवान महावीर पार्श्वनाथ प्रभुके निर्वाणके पचास अधिक दो सौ वर्ष वाद हुए थे। भगवान महावीरके तीर्थका काल सात गुणित तीन अर्थात् इक्कीसमें एक सहस्रका गुणा करनेपर जो (इक्कीस सहस्र) आवे उतने वर्ष परिमाण है। ६१ ६२ ६३

शेष अन्तराल

एक पल्यका चौथाई भाग, पल्यके दो भाग (आधा पल्य), एक चौथाई कम अर्थात् तीन चौथाई पल्य, पूराका पूरा पल्य, फिर एक चौथाई कम पल्य=तीन चौथाई पल्य, फिर उसके दो भाग अर्थात् आधा, इसके बाद पूर्ववत् फिर पल्यका चौथाई भाग ये सात समयके प्रमाण इसलिए बताये हैं कि। इतना विशाल समय ऐसा था जिसमें क्रमशः भगवान पुष्पदन्त आदि शान्तिनाथ पर्यन्त तीर्थंकरोंके बाद अन्तरालमें केवली भगवान प्रणीत आर्हत् धर्मका एक दृष्टिसे सर्वथा लोप ही हो गया था। इन सात कुसमयोंको छोड़ कर भगवान आदिनाथसे लेकर वीरप्रभुके समय पर्यन्त जैनधर्मकी धारा सदा ही बहती रही है। ६४ ६५

धर्मोच्छेद काल

प्रथम तीर्थंकर श्री आदि जिनका सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ, सतरहवें तीर्थंकर

श्री कुन्थुनाथ तथा पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ ये चारों महात्मा सर्वार्थसिद्धि विमानसे च्युत होकर अपने उक्त भवोंमें आये थे। भगवान अजितनाथ तथा चौथे तीर्थंकर श्री अभिनंदननाथ विजय नामके विमानसे च्युत होकर तीर्थंकर पर्यायमें आये थे तथा छठे तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ तथा चन्द्रप्रभ भगवानने वैजयन्त नामके स्वर्गसे आकर तीर्थंकर रूपसे जन्म ग्रहण किया था। यादवपति श्री नेमिनाथ तथा अठारहवें तीर्थंकर श्री अरनाथ जयन्त नामके स्वर्गसे आये थे। श्री मल्लिनाथ भगवान तथा इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ अपराजित स्वर्गमें अपनी आयुको समाप्त करके इस धरिणीपर पधारे थे। भगवान मुनिसुव्रतनाथ तथा तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ प्राणत स्वर्गसे आये थे। इन दोनों सद्धर्म प्रवर्तकोंका प्रताप ऐसा था कि उसका वर्णन करनेका तात्पर्य होगा उसको संकुचित कर देना। भगवान श्रेयान्सनाथ, अनन्तनाथ तथा अन्तिम तीर्थंकर श्री वीरप्रभु अमित गुणोंके भण्डार थे। ये तीनों महापुरुष पुष्पोत्तर नामके स्वर्गसे आ कर पृथ्वीपर जन्मे थे। जिस शुक्रके आदिमें महाविशेषण लगा है ऐसे महाशुक्र नामके दशमें स्वर्गके जीवनको समाप्त करके भगवान वासुपूज्यने जन्म लिया था तथा दशम तीर्थंकर श्री शीतलनाथ प्रभु तेरहवें स्वर्ग आरुणसे च्युत हो कर इस धरापर पधारे थे। भगवान पुष्पदन्त भी इसी आरुण स्वर्गसे आ कर पृथ्वीपर जन्मे थे। तीर्थंकर रूपसे जन्म लेनेके पहिले विमलनाथ तीर्थंकर शतार स्वर्गमें थे तथा अरनाथ इसके आगेके सहस्रार स्वर्गमें थे। नव ग्रैवेयकोंके नीचेके प्रथम विमानसे भगवान संभवनाथ पधारे थे जिन्होंने इन्द्रियों और नो इन्द्रियोंको सरलतापूर्वक ही संयत कर दिया था। सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ प्रभु मध्यम ग्रैवेयक विमानसे आ कर काशीमें जन्मे थे। छठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभदेवने ऊर्ध्व ग्रैवेयककी आयु समाप्त करके इस धराधामको सुशोभित किया था। इस क्रमसे चौबीसों तीर्थंकर कहांसे आकर तीर्थंकररूपमें उत्पन्न हुए थे यह मैंने आपको बतलाया है। ये चौबीसों महापुरुष ऐसे थे जिन्होंने षोडश भावनाओंका ध्यान करके उक्त पदको प्राप्त किया था।

६७

६८

६९

७०

तीर्थंकर जनक

आदिपुरुष ऋषभनाथजीके पिता श्री नाभिराज थे। दूसरे तीर्थंकर श्री अजितप्रभुके पिता श्री जितशत्रु थे। तीसरे तीर्थंकरके पूज्य पिताका प्रातःस्मरणीय नाम जितराज था। चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथके पूज्य पिता स्वयंवर महाराज थे। महाराज मेघराजसे पांचवें तीर्थंकरका जन्म हुआ था। भगवान पद्मप्रभ तथा सुपार्श्वनाथके परमपूज्य पिता क्रमशः महाराज महाबल तथा सुप्रतिष्ठ थे। श्री पुष्पदन्त भगवानके पिता महाराज सुग्रीव थे। भगवान शीतलनाथ महाराज दृढ़रथके आत्मज थे। महाराज विष्णुके पुत्र ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयान्सनाथ थे। भगवान वासुपूज्यके पूज्य पिता महाराज वसु थे। महाराज कृतवर्मके पुण्य प्रतापसे उन्हें विमल प्रभु पुत्ररूपमें प्राप्त हुए थे। महापुरुष सिंहसेन, भानुराज, विश्वसेन तथा शौर्यधर्म क्रमशः भगवान अनन्तनाथ, धर्मनाथ, शान्तिनाथ तथा कुन्थुनाथके पिता थे। भगवान अरनाथ और मल्लिनाथके पूज्य पिता महापुरुष सुदर्शन तथा कुम्भराज थे। मुनिसुव्रतनाथके पिता महारसज सुमित्र थे, भगवान नमिनाथके पिता जयधर्म नामसे विश्वविख्यात थे। यादवपति समुद्रविजयको कौन नहीं जानता है, भगवान नेमिनाथने इन्हींके घरके अंधकारको दूर किया था। काशीपति महाराज अश्वसेनके पुत्र भगवान पार्श्वनाथ थे तथा ज्ञातृवंशके प्रधान लिच्छविराज

७१

७२

७३

महाराज सिद्धार्थके पुत्र अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर थे।

भगवान पुरुदेव प्रातःस्मरणीय जगन्माता मरुदेवीकी कुक्षिसे उत्पन्न हुए थे। भगवान अजितनाथकी माताके पुण्य नाममें सेना शब्दके पहिले विजय शब्द आता है–विजयसेना था। भगवान शंभवनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ, पद्मप्रभ तथा सुपार्श्वनाथकी परमपूज्य माताओंके नाम क्रमशः सिद्धार्था, मंगला, सौम्या, देवी तथा पृथ्वी महारानी थे। चन्द्रावदात चन्द्रप्रभकी माता महारानी लक्ष्मणा थी। नवम तीर्थंकर भगवान पुष्पदन्तकी माताका शुभनाम नन्दा था। दशमें तथा ग्यारहवें तीर्थंकरोंको क्रमशः महारानी देवी तथा वैष्णवीने जन्म दिया था। भगवान वासुपूज्य पूज्य माता श्री जयादेवीसे जन्मे थे। तेरहवें, चौदहवें तथा पन्द्रहवें तीर्थंकरोंकी माताओंके नाम क्रमशः श्यामनिकादेवी, देवी तथा सर्वश्री थे। भगवान शान्तिनाथने परम पूज्य माता श्री सुव्रताकी कुक्षिसे जन्म लिया था। भगवान कुन्थुनाथ पूज्यमाता पद्मालयाके गर्भमें पधारे थे। भगवान अरनाथ महारानी मित्रसमाकी आंखोंकी ज्योति थे। भगवान मल्लिनाथ तथा मुनिसुव्रतको जन्म देकर क्रमशः श्रीमती सरलाक्षि देवी तथा विश्वविख्यात सोमदेवीने अपने मातृत्वको सफल किया था। भगवान नमिनाथने प्रणवादेवीकी कुक्षिमें नौ मास वास किया था तथा यादवपति नेमिनाथरूपी भानुका उदय शिवदेवीकी पुण्यकुक्षिरूपी उदयाचलकी गुफासे हुआ था। काशीकी महारानी ब्रह्मदत्ताको ही पार्श्वप्रभुकी माता होनेका सौभाग्य प्राप्त था तथा अन्तिम तीर्थंकर वीरप्रभुकी पूज्य माता प्रियकारिणी (त्रिशला) देवी थी। इन सब माताओंने जगद्धितैषी परम पूज्य तीर्थंकरोंके प्रसवकी पीड़ा सही थी। इनके गुणोंकी माला अद्भुत थी स्त्रीवेद सामान्य होने पर भी इनमें तथा साधारण स्त्रियोंमें कोई समता न थी। यही कारण है कि आज भी हम उनके नाम लेते हैं तथा वे समस्त संसारमें विख्यात हैं। इसके बाद उन महापुरुषोंके नामोंका उल्लेख करेंगे जिन्होंने दिगम्बर मुनिरूपधारी तीर्थंकरोंको आहारदान देकर महादानी पदवीको प्राप्त किया था।

तीर्थंकर माता

७४ ७५ ७६ ७७

राजा श्रेयान्सको कौन नहीं जानता है जिन्होंने आदीश्वर प्रभुको आहारदान दे कर दानतीर्थका प्रवर्तन किया था। महापुरुष ब्रह्मा, सुरेन्द्र तथा चन्द्रदत्तने अजितप्रभु, शंभवजिन तथा अभिनन्दननाथको आहारदान देकर परम पुण्यको संचित किया था। भगवान सुमतिनाथ तथा पद्मप्रभके आहारदान दाता श्री पद्म तथा अजित थे। महापुण्यात्मा सोमदेव, महेन्द्रसोम तथा पुष्पदेव भगवान सुपार्श्वनाथ, चन्द्रप्रभ तथा पुष्पदन्त प्रभुको आहार दान दे कर इनकी तपस्यामें साधक हुए थे। श्री शीतलनाथ जब चर्याको निकले तब महात्मा पुनर्वसुने अपने द्वार पर उनके पदग्रहण-प्रतिग्रहण (पड़गाहना) करके नवधाभक्ति पूर्वक आहार दिया था। पुण्याधिकारी नन्द, सुनन्दन, जयदेव तथा विजयदेवको श्रेयान्सनाथ, वासुपूज्य, विमलनाथ तथा अनन्तनाथके पदग्रहण करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ था। परम धार्मिक श्री धर्मसिंह, सुमित्र, धर्ममित्र, तथा अपराजितने भगवान धर्मनाथ, शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ तथा अरनाथकी तपस्यामें सहायता की थी।—महापुरुष नन्दीने मल्लिनाथ भगवानको आहारदान दे कर पुण्यका बन्ध किया था। इसी मार्गपर चलकर परम धार्मिक श्री ऋषभदत्त, सुदत्त, वरदत्त तथा धर्मदेवने भगवान मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ, नेमिनाथ तथा पार्श्वप्रभुके तपको बढाया था। जब भगवान महावीर दानतीर्थको

आहारदाता

७८ ७९ ८०

प्रवर्तन करानेकी अभिलाषासे चर्याको निकले उस समय महात्मा बकुलने उनका प्रतिग्रहण करके जगतको दानधर्मकी शिक्षा दी थी।

८१ भगवान महावीरके समयमें उत्तरकोशल नामसे विख्यात देशकी राजधानी साकेतपुरी (अयोध्या) में प्रथम जिनेश्वर श्री ऋषभदेव, अजितजित, चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ, चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ, देवों तथा देवेन्द्रोंके परमपूज्य महात्मा सुमतिनाथ; पांच-कल्याणों-के अधिपति इन पांचो जिनराजोंने जन्मग्रहण कर के उसकी शोभा तथा ख्यातिको बढाया था। षष्ठ तीर्थंकर भगवान पद्मप्रभ कौशाम्बी

जन्मनगरी

८२ (कोसम जिला इलाहाबाद) में जन्मे थे। अष्टकर्मजेता भगवान शंभव श्रावस्ती नगरीमें उत्पन्न हुए थे। भगवान चन्द्रप्रभ गंगाके किनारे स्थित चन्द्रपुरीमें जन्मे थे, ग्यारहवें तीर्थंकर

८३ श्री श्रेयान्सनाथके जन्म महोत्सवका समारोह सिंहपुर (सारनाथ) में हुआ था। भगवान सुपार्श्वनाथ तथा पार्श्वनाथके गर्भ तथा जन्म कल्याणकोंकी लीलाका क्षेत्र काशी ही बनी थी। श्री पुष्पदन्त प्रभुकी जन्मस्थली काकंदीपुरी थी। परम पवित्र भद्रपुरीमें भगवान शीतलनाथने जन्म लिया था। तथा भगवान वासुपूज्यने चम्पापुरीके महत्त्वको बढाया था। भगवान विमल-

८४ नाथ कम्पिलापुरीमें उत्पन्न हुए थे। केवलियोंके भी गुरु श्री धर्मनाथ प्रभुने रत्नपुरमें जन्म लिया था। बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथने राजगृहके माहात्म्यको बढाया था। भगवान नमिनाथ तथा मल्लिजिनेन्द्रका जन्म-कल्याणक मिथिलापुरीमें हुआ था। भगवान अरनाथ,

८५ कुन्थुनाथ तथा शान्तिनाथ प्रभुका जन्मस्थान अत्यन्त विख्यात नागपुर था। बाईसवें तीर्थंकर यादवपति श्री नेमिनाथने शौर्यपुरीमें ही सबसे पहिले अपने कमल नयनोंको खोल कर माता शिवदेवीके यौवन तथा कुक्षिको सफल किया था। भगवान महावीरने सबसे पहिले सूर्यका प्रकाश कुण्डलपुरमें ही देखा था।

८६ परमपूज्य चौबीसों तीर्थंकरोंमेंसे सोलहको जन्म देनेका सौभाग्य जगद्विख्यात इक्ष्वाकु वंशको ही है, शेष आठमें से चार धर्म प्रवर्तकोंका पितृवंश वीरोंका वंश कुरुवंश ही था। शेष चारमें से दो ने हरिवंशको पवित्र करके उसका माहात्म्य बढाया था। शेष दोमें से एकने उग्रवंशके प्रतापको उग्र किया था तथा शेष अन्तिम तीर्थंकर महावीरने नाथवंशको सनाथ किया था।

तीर्थंकर वंश

८७ समस्त आशा पाशको छिन्न भिन्न करनेवाले दो चन्द्रप्रभ तथा पुष्पदन्त तीर्थंकरोंके शरीरका रूप चन्द्रमाकी कान्तिके समान था। दो तीर्थंकरों (पद्मप्रभ-वासुपूज्य) के सुन्दर शरीरका वर्ण संध्याकी लालिमाके समान ही ललाम था तथा दूसरे दो प्रभुओं (मुनिसुव्रत-नेमिनाथ) की कायाकी कान्ति मेघोंके समान श्याम थी। सुपार्श्व-पार्श्वनाथकी देहछवि नूतन जात दूबके अंकुरोंके समान हरी थी तथा शेष सोलह तीर्थंकरोंके वज्रवृषभनाराच संहनन युक्त शरीरका रूप सोनेके समान था।

शरीरवर्ण

८८ बीसवें तीर्थंकर भगवान मुनिसुव्रतनाथ तथा अहिंसावतार यादवपति श्री नेमिनाथ, ये दोनों महापुरुष ही ऐसे थे जिन्होंने गौतम गोत्रमें जन्म लिया था। इन दोनों प्रभुओंके अतिरिक्त शेष ऋषभदेव आदि सबही तीर्थंकरोंने काश्यप गोत्रकी ही ख्यातिको बढ़ाया था।

तीर्थंकर गोत्र

८९ घोर तप करके अन्तमें मोक्ष महापदको प्राप्त हुए चौबीसों तीर्थंकरोंमें महाराज वसुके

जगत्पूज्य पुत्र बारहवें तीर्थंकर श्री वासुपूज्य उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ, बाईसवें तीर्थंकर यादवनाथ श्री नेमिकुमार, तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वप्रभु तथा अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर स्वामी; इन पांचों तीर्थंकरोंने मनुष्य-जीवनके परम प्रलोभन गृहस्थाश्रमको ठुकरा कर कुमार अवस्थामें ही जिनदीक्षा ग्रहण की थी। शेष सब ही भोग-विलास करके ही विरक्त हुए थे।

बालब्रह्मचारी

जिनेन्द्रोंके आदर्श आदिपुरुष श्री ऋषभदेव, बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य तथा कामजेता भगवान नेमिनाथ इन तीनों महात्माओंको पद्मासन (पालथी) अवस्थामें ही मुक्ति प्राप्त हुई थी। इनके अतिरिक्त अजितप्रभु आदि शेष इक्कीस तीर्थंकरोंको (खड़े, खड़े) खड्गासनसे ही निर्वाण प्राप्त हुआ था। ९०

निर्वाणमुद्रा

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव कैलाशगिरिके शिखरसे मोक्ष गये हैं। बारहवें तीर्थंकर भगवान वासुपूज्य चम्पापुरसे मुक्ति गये है। दशार्ह (दशार्ण) देशके राजकुमार यादवनाथ भगवान नेमिकुमारको उर्जयन्तगिरि (गिरनार) से निर्वाण प्राप्ति हुई थी तथा अन्तिम तीर्थंकर नाथपुत्र वर्द्धमानका पावापुरीमें ही निर्वाण कल्याणक हुआ था। शेष बीसो महाराजोंने उग्र तपस्या करके ऐसी आत्मशुद्धि प्राप्त की थी, कि उसके प्रभावसे उनके अनादिकालसे बंधे कर्म भी नष्ट हो गये थे। फलतः उनके आध्यात्मिक बन्धन विगलित होते ही वे सबके सब धीर-वीर आत्मा- परमपूज्य संमेदाचलके अलग, अलग शिखरोंपरसे मोक्ष महालयको प्रयाण कर गये थे। ९१ ९२

निर्वाणक्षेत्र

अपने इस क्षुद्र जीवनमे मैंने सोलह-कुलकरों, चौबीस सत्यदेवों, बारह चक्रवर्तियों, नौ वासुदेवों, नौ नारायणों, नौ प्रतिनारायणों, चौबीस आहारदाताओं तथा तीर्थंकरोंके जन्मके प्रधाननिमित्त कारण उनकी जननियों तथा पिताओं आदि जिन, जिन महापुरुषोंके विषयमें मैंने जो कुछ भी सुना था उन सबके विषयमें संक्षेपसे आपको बतलाया है। ९३

उपसहार

सम्राट वरांगके राजसेवक मंत्री लोग अपनी कुशाग्रबुद्धिके लिए सुविख्यात थे। जब इन सबने सम्राटके मुखारविन्दसे ही इस युगके प्रवर्तक परमपूज्य शलाका पुरुषोंके चरित्रको ठीक क्रम तथा सम्बन्धके साथ सुना तो उसे समझनेमें उन्हें विलम्ब न लगा था। इतना ही नहीं थोड़े ही समयमें वे परम तत्त्वोंके स्वरूपको समझ कर उसपर अपनी अडिग श्रद्धाको भी लगा सके थे। ९४

सच्छ्रोता

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें प्रथमानुयोग नाम सप्तविंशतितम सर्ग समाप्त।

अष्टाविंश सर्ग

१ आनर्तपुरके अधिपति सम्राट् वरांगकी समस्त अभिलाषाएं ही पूर्ण नहीं हुई थीं अपितु संसारमें जितने भी अभ्युदय तथा श्रेय हो सकते थे वे सब अपने आप ही उसकी शरणमें जा पहुंचे थे। वे प्रतिदिन प्रात:कालसे संध्या समयतक सत्कार्य तथा पुण्यमय उत्सवोंमें ही व्यस्त रहते थे। अपने स्नेही बन्धु-बान्धवों, अभिन्न हृदय मित्रों तथा अभावग्रस्त अर्थिजनों (याचकों) को उनके पद, मर्यादा और आवश्यकताके अनुकूल भेंट आदि देनेमें वे कभी प्रमाद न करते थे। उनके संरक्षणमें पूरा साम्राज परस्पर विरोधको बचा कर धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थोंका विकास कर रहा था। समस्त गुणोंकी खान सम्राट जनताके आदर्श थे तथा उनका पौरुष अनुपम था। ऐसे सर्व सम्पन्न कर्त्तव्यपरायण सम्राट वरांगकी पट्टरानी सम्राज्ञी श्रीमती अनुपमादेवीके उक्त धर्म महोत्सवके कुछ ही दिन बाद गर्भ रह गया था। सम्राज्ञीके गर्भ रहते ही उस समय समस्त राष्ट्रोंमें कुछ ऐसा परम उत्कृष्ट प्रमोद छा गया था जैसा कि उसके पहिले कभी किसीको हुआ ही न था। अतिवृष्टि, अनावृष्टि, चौर, मरी, आदि छहों ईतियोंका कहीं पर चिन्ह भी शेष न रह गया था। जिन पुरुषों अथवा प्राणियोंमें स्वाभाविक वैर था उनका वह भाव भी उस समय लुप्त हो गया था। इस क्रमसे जब गर्भ अवस्थाके पूर्ण नौ मास समाप्त हो गये तब महारानीका स्वाभाविक सौन्दर्य मातृत्वके भारसे आनत हो कर अवर्णनीय विशाल शोभाको प्राप्त हुआ था। शुद्ध स्वर्णके सदृश निर्दोष कान्तिमान कुलकी ख्याति और यशके प्रसारक पुत्रको सम्राज्ञीने उसी भाँति उत्पन्न किया था जिस प्रकार पूर्वदिशा प्रबल प्रतापी तथा उदार उद्योतमय बालभानुको प्रकट करती है। भविष्यवक्ता विशेषज्ञोंने उसी समय सामुद्रिक शास्त्र, होरा (होड़ा) चक्र (गृहचक्र) फलित तथा अन्य निमित्तोंसे भलीभाँति विचार करके यही कहा था उस शुभ मुहूर्तमें उत्पन्न राजपुत्र विशाल सम्राजका एकछत्र राजा होगा। स्तुतिपाठकों गुरुजनों आदिने पुण्य वचनों द्वारा उसकी प्रशंसा करके उसका नामकरण 'सुगात्र' नामसे किया था। ग्रीष्मऋतुके दोनों महीनोंमें लोग भी भीषण आतपसे उद्विग्न रहते हैं उस समय विजना मनुष्योंके हाथों हाथ ही घूमता रहता है कभी भूमिपर नहीं रखा जाता है राजपुत्र सुगात्र भी कुटुम्बियों, बन्धबान्धवों आदिको इतना अधिक प्यारा था कि सदा ही लोग उसे हाथों हाथ लिये फिरते थे। वह द्वितीयाके कलाचन्द्रके सदृश दिन दूना और रात चौगुना बढ़ रहा था।

पुत्रजन्म

२ ३ ४ ५ ६

७ राजपुत्र सुगातका शरीर, आकार, दृष्टि, शरीरका रंग, चलना, उठना-बैठना, शरीरकी कान्ति तो पिताके समान थे ही। इन बाह्य सादृश्योंके अतिरिक्त उसका उदार स्वभाव, प्रत्येक विषयका सूक्ष्म तथा सर्वांग ज्ञान, विचारशक्ति, विनम्रता आदि भाव तथा दृढ़मैत्री ये सब गुण भी उसमें उसी मात्रामें वर्तमान थे जिसमें उसके पितामें थे फलत: पिता पुत्रमें कोई विषमता थी ही नहीं। किशोर अवस्थामे ही जब वह चलता था तो ऐसा लगता था मानों मदोन्मत्त हाथी चला जा रहा है। उसकी वासना हीन निर्मल कान्तिको देखते ही शरद् ऋतुके पूर्ण चन्द्रमाका ध्यान हो आता था। उसके शरीरमें

राजशिशु

८

अनेक विचित्र शुभ लक्षण थे। इन सब कारणोंसे उसकी शोभाकी कोई सीमा न थी। वह ९ उन सबही के नेत्रोंके लिए रसायन था। नेत्र इन्द्रिय अविकल होने पर भी कुमार सुगात्रकी वास्तविक आँखें नीतिशास्त्र था। उसकी मति सत्पथ पर ही चलती थी। प्रत्येक कार्यकी सफल विधिको वह जानता था। पुरुषकी बहत्तर ही कलाओंका पंडित था, परस्त्रीगमन, मदिरापान आदि व्यसनोंसे अछूता था। उसके आचार-विचार पवित्र थे। पिताके समान शूर था। प्रतिदिन देखनेपर भी वह सुभग ही लगता था। अवस्थाके कारण बालक होनेपर भी अपने गुणों, शील तथा कार्योंके द्वारा वह वृद्ध ही था। उसकी क्षमताओंका ध्यान आते ही १० जनताको ऐसा लगता था कि कोई देवकुमार अथवा विद्याधरकुमार अथवा कोई किन्नरपुत्र ही अपने लोगोंको विना बतलाये पृथ्वीपर चला आया है। दूसरे ही क्षण जब उसके शरीरको देखते थे तो उन्हें यही आशंका होती थी कि मनुष्य लोकको आश्चर्यमें डालनेके ही लिए मनसिज—जिसका शरीर ही नहीं है—सांगोपांग शरीर धारण करके पृथ्वीपर आ पहुंचा है।

साम्राज्ञी अनुपमादेवीके समान ही सम्राटकी दूसरी सब रानियोंको भी पुत्ररत्नकी ११ प्राप्ति हुई थी। इन सब रानियोंकी चारुता, स्वभाव तथा अन्य प्रवृत्तियां देवराज इन्द्रकी पत्नीके समान थीं। फलतः उनसे जो पुत्र पैदा हुए थे उन सबका रूप तथा अन्य गुण अतुल थे। इन पुत्रोंका जन्म वैसा ही था जैसा कि शुभकर्मोंके उदय होनेपर भले कार्योंका परिणाम होता है। इसी अवसरके आगे पीछे उत्पन्न हुए आमात्यों, सेनापतियों तथा मन्त्रियोके पुत्र, इन बालकों- १२ के ही समवयस्क सामन्त राजपुत्र, नगरकी श्रेणियों तथा गणोंके प्रधानों- के पुत्र तथा नगरके जो कुलीन पुरुष थे उन सबके पुत्र भी राजपुत्र सुगात्र आदिके साथ ही रहते थे। उन सब बालकोंका एक-सा शील था। उन सबका वेश १३ भूषा एक ही शैलीका था। रूपमें भी वे सब एकसे ही थे। सबके सब बालक सद्गुणोंके भंडार थे। उठना बैठना, पढ़ना, खेलना आदि क्रियाओंमें इतनी समता थी कि उनमें भेद करना ही कठिन था। परस्परका स्नेह तथा बन्धुत्व इतना बढ़ा हुआ था कि वे सब सहोदर ही मालूम देते थे। इस प्रकार वे सब ही राजपुत्रोंके साथ, साथ मनुष्यके लिए परम उपयोगी बहत्तर कलाएँ सीख रहे थे।

अन्य पुत्र

सम्राट वरांगके सब पुत्र रूप, शील, पराक्रम आदिमे नागकुमार देवोंके पुत्रोंके समान १४ थे। उनका निजी बल तथा कोश, सैन्य आदि बल शत्रुओंका सहज ही मान मर्दन करनेमें समर्थ था। जहां तक सम्पत्तिका सम्बन्ध है साक्षात् वैश्रवण (कुवेर) भी उनकी समता नहीं कर सकते थे। आनर्तपुराधीशके वैभव तथा भोग सामग्रीका तो कहना ही क्या है? वह इन्द्रकी विभूतिकी समता करती थी। उनकी राज- १५ नीति इतनी गम्भीर, सफल तथा दूरगामिनी थी कि उसके ही कारण उनके शत्रु केवल अपने राज्योंसे ही वंचित न हुए थे अपितु स्त्री बच्चोंके साथ समूल नष्ट हो गये थे। सम्राजकी समस्त प्रजा सब तरहकी संपत्ति तथा नागरिकोंके आदर्श गुणोंसे सुशोभित थी। सारे राज्यकी प्रजा अपने अपने वर्णों तथा आश्रमोंकी मर्यादाका विधिवत् पालन करती थी। अन्याय युक्त १६ प्रवृत्तिका पूरे राज्यमें कहींपर भी नाम तक न सुनायी देता था क्योंकि उनका राज्य दिनों दिन आध्यात्मिक और आधिभौतिक संपत्तियोंकी वृद्धि कर रहा था। सम्राट वरांगको सदा ही नूतन मित्रो तथा पुत्रादि प्रियजनोंका समागम तथा अद्भुत संपत्तियोकी प्राप्ति हो रही

आदर्श पिता

१७ थी। फलतः वे प्रचुर मात्रामें भोगोंका रसास्वाद कर रहे थे। जिनेन्द्र देवकी महामह (राज-पूजा) आदि पूजाओंको करनेका सम्राटको अद्भुत चाव था। कोई ऐसा दिन न जाता था जिस दिन पुण्याह (स्तुति-पूजा) आदि कोई कल्याणकारी तथा शुभबन्धका कारण प्रशस्त कार्य न किया जाता हो। धार्मिक कार्योंके साथ, साथ ही प्रतिदिन कोई महोत्सव अथवा आनन्द प्रसंग ऐसे मनोविनोद भी चलते थे। इस विधिसे सम्राटके अनेक वर्ष बीत चुके थे।

१८ एक दिनकी घटना है कि सम्राट राज प्रासादकी छतपर बैठे थे। उस समय उनके तेजस्वी रूपको देखते ही प्रतापी इन्द्रका स्मरण हो आता था। उनके विशाल मस्तकपर जो उत्तम मुकुट बंधा था उसकी प्रभासे आसपासका वातावरण प्रकाशित हो रहा था। उज्ज्वल तथा रमणीय कुण्डल उसके गालोंको छू रहे थे, इनपर महा इन्द्रनीलमणिका काम किया गया था। कंधेपर उत्तम सोनेका सूत्र पड़ा था जो कि धातुकी निर्मलताके कारण अनुपम

१९ भोगरति

तेजसे चमक रहा था। विशाल वक्षस्थलको हार घेरे हुए था उसमें भांति भांतिके रत्न पिरोये गये थे। पुष्ट तथा पीन भुजदण्डोंपर सुन्दर तथा महार्घ केयूर बंधे हुए थे। लाल मणियोंकी माला गलेमें सुशोभित हो रही थी, इसके बीच, बीचमें पिरोये गये दूसरे रंगोंके कमलोंकी शोभा तो अलौकिक थी। स्वभावसे सुन्दर तथा स्वस्थ शरीरकी शोभा उस समय पहिरे गये धवल निर्मल वस्त्रोंके कारण निखर उठी

२० थी। सुगन्धि श्रेष्ठ चन्दनका लेप तथा कुंकुमसे सारा शरीर व्याप्त था। स्नानके उपरान्त तुरुष्क (गुग्गुल) तथा कालगरु चन्दनकी धूपका धुंआ दिया गया था जिसके कारण शरीरसे सुगन्ध के झौंके आ रहे थे। सम्राटके सुन्दर शरीरकी कान्ति देखते ही बनती। वे उस समय स्वभाव-

२१ से भी अत्यन्त शान्त थे। सम्राटके चारों ओर उनकी रानियां बैठी हुई थीं यौवन मदके पूरमें सराबोर उन अनुपम सुन्दरी रानियोंके बीचमें बैठे वरांगराज ऐसे मालूम देते थे जैसा कि अपनी पूर्ण चन्द्रिकाके साथ आकाशमें उदित हुआ चन्द्रमा तब लगता है जब कि उसके चारों ओर समस्त तारिकाएं भी चमकती रहती हैं। देवराज इन्द्र अपनी राजधानी अलका-

२२ पुरीमें स्वर्गीय सुन्दरी अप्सराओंके साथ जिस निःशंक रूपसे विविध केलियां तथा विहार करता है। उसी प्रकार सम्राट वरांग आनर्तपुरीमें अपनी लोकोत्तर रूपवती पत्नियोंके साथ रमण करते थे। इन रानियोंकी बड़ी-बड़ी आंखें यौवन तथा मदिराके मदके कारण अत्यन्त मनोहर हो जाती थीं। रात्रिका प्रारम्भ था, गुरु, शुक्र आदि ज्योतिषी देवोंके विमान आकाश-

२३ में चमक रहे थे, उनकी परिमित आभासे आकाशतल व्याप्त था। इन ग्रहों तथा तारोंकी कान्ति से आकृष्ट हो कर सम्राट स्वयं उन्हें देख रहे थे और अपनी रानियोंको दिखा रहे थे। इसी अन्तरालमें सम्राट प्राण-प्यारियोंको प्रसन्न करनेवाली अन्य चेष्टाएं भी करते जाते थे। वे परिपूर्ण आनन्द मुद्रामें छतपर बैठे थे।

२४ वह शरद् ऋतुकी रात्रिका प्रथम प्रहर था। आकाश मेघोंसे शून्य था फलतः अनेक भांतिके अद्भुत तारोंकी आभासे विभासित हो रहा था। ऐसे शान्त वातावरणसे युक्त आकाशसे अकस्मात् ही विजली टूटी थी, उसके विस्फुलिंग (तिलंगे) चारों ओर फैल गये थे और

२५ वैराग्य

एक क्षणके लिए अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी भी आलोकित हो उठे थे। आकाश-से गिरती हुई उस उल्काकी प्रखर प्रभापर दृष्टि न ठहरती थी। उसे देखकर ऐसा भान होता था कि बेहद बढ़ी हुई अग्निकी ज्वाला ही आकाशसे गिर रही।

है। सम्राट वरांगने अपनी सुकुमार सुन्दर पत्नियोंके साथ ही उसे आकाशसे टूटते देखा था, तो भी उन्हींपर कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि उन्हें उसी क्षण गाढ़ वैराग्य हो गया था। अकस्मात् ही उनके मुखसे निम्न वाक्य निकल पड़े थे।

सुकुमार ज्योतियुक्त तारिकाओंसे घिरी हुई यह उल्का जिस प्रकार आकाशसे अकस्मात् गिर कर कहीं लीन हो गयी है, इसी प्रकार अनुपम रूपवती इन प्राण प्यारी पत्नियोंसे घिरा हुआ मैं भी किसी दिन इस राज्य पदसे च्युत हो कर न जानें कहां लुप्त हो जाऊंगा। जब मैं उत्तमपुरका युवराज था उस समय भी मेरी हस्ति, अश्व, रथ तथा पदाति इन चारों प्रकारकी सेनामें कोई त्रुटि न थी; मेरे लिए प्राणों तकका मोह न करनेवाले बन्धबान्धवों तथा मित्रोंकी कमी न थी तो भी वह बलवान दुष्ट घोड़ा मुझे बहुत दूर किसी अज्ञात स्थानको ले भागा था और उसे कोई भी न रोक सका था। किन्तु अनादि कालसे लगे रोगकी वह क्षणिक व्यक्ति ही थी, क्या मैं पूर्व जन्मोंमें किये गये पाप कर्मोंरूपी दुर्दम घोड़ेपर आरूढ़ हो कर आज भी; इस क्षण भी जन्म मरण रूपी महा वनोंमें नहीं घूम रहा हूं? क्या मेरा वास्तविक चित्त (विवेक) नष्ट नहीं हो चुका है? क्या उस भ्रमणके समान आज भी मैं धर्ममार्ग रूपी राजपथसे पुनः भ्रष्ट नहीं हो गया हूं? उनके चित्तने ही उत्तर दिया था कि वास्तवमें सब बातें वैसी ही थीं। दुख और पश्चात्तापके कारण उनके मुखसे अनायास ही लम्बी श्वास निकल पड़ी थी, भूल स्वीकारका द्योतन करनेके लिए उन्होंने शिर हिलाया था, संसारके अपार तथा भीषण दुखोंका स्मरण करके वे कांप उठे थे। इन्हीं विचारोंमें लीन होकर वे उस विलास सभासे उठ गये थे और अपने एकान्त गृहमें चले गये थे। संसारके विषय भोगसे उन्हें स्थायी विरक्ति हो चुकी थी। आत्माके पूर्ण विकासके साधक तत्त्व मार्गपर उन्हें पूर्ण आस्था हो चुकी थी। वे परिग्रह छोड़ कर निर्ग्रन्थ मुनि होनेका निर्णय कर चुके थे। फलतः ज्यों ही वे एकान्त भवनमें पहुंचे त्यों ही उन्होंने जगतके स्वभाव तथा अन्य बातोंका गम्भीर विचार प्रारम्भ कर दिया था।

वैराग्य-भावना

२६ २७ २८ २९ ३०

संसारके स्वरूपकी भावना करते ही उनके सामने उसकी अनित्यता नग्न रूपमें खड़ी हो गयी थी। आत्माकी अशरणताका ध्यान आते ही वे कांप उठे थे। संसारकी निस्सारता, सुखदुखमें जीवका अकेलापन, बन्धु-बान्धवोंसे सर्वथा प्रथकता, जगत तथा कायाकी अपवित्रता, कर्मोंका आस्रव तथा संवर, कर्मोंका समूल नाश (निर्जरा), तत्त्वज्ञानकी दुर्लभता, इस लोकका आकार तथा अधो, मध्य तथा ऊर्ध्वलोक आदि विशेष विभाग, शुभ कर्मोंकी उपादेयता तथा अशुभ कर्मोंका त्याग मय धर्म तथा क्या कर्त्तव्य आत्माका स्वभाव है तथा कौनसे अकर्त्तव्य पर-स्वभाव हैं इत्यादि रूपसे आत्मतत्त्व आदि भावनाएं उनके हृदयमें जाग्रत हुई थीं। जीवकी क्या गति हो सकती है, किन कारणोंसे दुर्गति होती है, बन्ध तथा मोक्षके प्रयोजक कौनसे कार्य हैं इन सब विचारणीय विषयोंकी सम्राटने निश्चय दृष्टिसे चिन्ता की थी।

लोक भावना

३१ ३२

इसी प्रसंगमें उन्हें स्मरण आया था कि स्वर्गके सम्राट इन्द्रके अनुयायी सब देव स्वयं ही अपरिमित शारीरिक बल, तेज, साहस तथा पराक्रमके स्वामी होते हैं, उनकी निवास-भूमि मरणशील मनुष्यके वासस्थलसे सर्वथा विलक्षण है। इन सब योग्यताओंके अतिरिक्त वे अणिमा, लघिमा आदि आठ ऋद्धियोंके स्वामी भी हैं। इनके स्वामी इन्द्रका तो कहना ही

३३

क्या है, उनके पास इन सब योग्यताओंके साथ, साथ वज्र ऐसा महान आयुध भी रहता है, किन्तु आयु समाप्त होने पर जब महेन्द्रका पतन होता है तो उन्हें कोई भी नहीं बचा पाता
३४ है। द्विगुणित सात अर्थात् चौदह रत्नोंके स्वामी नव निधियोंके एक मात्र भण्डार, महान तेजस्वी, सुमेरु पर्वतके समान अडिग तथा शक्तिशाली, पूर्व पुण्यसे प्रेरित देवताओं और गणोंके द्वारा सुरक्षित तथा स्वयं भी चक्र ऐसे अमोघ शस्त्रके कुशल परिचालक चक्रवर्ती सम्राटको भी अन्तक (मृत्यु) नहीं ही छोड़ता

मरते न बचावे कोई

३५ है। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश ये तीनों महात्मा जगतमें सबसे प्राचीन पुरुष थे, यह जन साधारणसे सर्वथा विलक्षण होनेके कारण उनके प्रधान थे। तथा इनके विचार व्यवहार अत्यन्त उदार थे, किन्तु अन्तकने इन्हें भी इहलीला समाप्त करनेके लिए सर्वथा विवश कर दिया था।
३६ भला कोई भी प्राणी क्या मृत्युसे भी अधिक शक्तिशाली है। हलधर, विद्याधर, गणधर, व्याख्यान कलाके अवतार तथा समस्त संसारके एकछत्र राजा लोग अपने अपने क्षेत्रमें अजेय थे। संसार छोड़ कर उग्र तपस्या करनेवाले योगीश्वर, तथा लोकोत्तर ऋषियोंकी अलौकिक सिद्धियोंको कौन नहीं जानता है। किन्तु जब कालने इनपर ठोकर मारी थी तब ये सब भी
३७ पके पत्तेके सदृश चू गये थे। इन महापुरुषोंके वंशोंकी आज भी ख्याति है। इन लोगोंका पराक्रम तथा पुरुषार्थ असीम था। छोटे मोटे राष्ट्र नहीं अपितु कितनी ही दृष्टियोंसे ये लोग सारे संसारके ही रक्षक थे। किन्तु जब ऐसे महापुरुषोंको भी मौतकी धारसे छुट्टी न मिली
३८ तो मेरे ऐसे क्षुद्र जन्तुकी तो बात ही नहीं उठती है। ग्रीष्म ऋतुके दिनोंमें जो आग जंगलमें लगती है वह संयोगवश भीषण दावाग्निका रूप धारण करके घास, पत्ते, लकड़ी आदिकी विपुल राशिको अनायास ही जलाती जाती है। क्या कालरूपी भयंकर अग्नि स्थावर तथा जंगम जीवों, तथा अजीवोंसे परिपूर्ण इस संसाररूपी महा वनको बिना रुके अनादिकालसे नहीं जलाती आ रही है?

३९ जो मनुष्य इस अनुपम मनुष्य पर्यायको इन्द्रियोंकी तृप्ति करनेमें ही व्यतीत कर देता है वह व्यक्ति अगाध, अपार पारावारमें दो चार कीलोंके लिए अपनी नौकाको तोड़ता है। अथवा एक तागा बनानेके लिए वैडूर्य मणिको पीसता है अथवा थोड़ी सी भस्मके लिए श्रेष्ठ
४० तथा सुगन्धित चन्दनको जलाता है। अथवा यों कह सकते हैं कि किसी व्यक्तिको संयोगवश सुस्वादु रससे परिपूर्ण अमृत मिल गया है जिसे पी कर उसकी प्राण शक्ति तथा अन्य क्षमताएं इतनी बढ़ सकती हैं कि मृत्यु उसे छू भी

दुर्लभ नर पर्याय

न सके। किन्तु वह व्यक्ति मन्दमति होनेके कारण हाथमें आये अमृतके पात्रको भूलसे छोड़-
४१ कर विषको पीता है जिसका परिणाम कभी अच्छा हो ही नहीं सकता है। ठीक यही अवस्था मेरी भी होगी यदि मैं तत्त्वज्ञानसे विमुख हो कर उस धर्मको छोड़ दूंगा जो कि इस लोक और परलोक दोनोंमें ही सब सुखोंको देता है तथा उन कर्मोंमें लीन हो जाऊंगा जो प्रत्येक
४२ अवस्थामें पापबंधके कारण होते हैं। उस समय मुझसे बढ़कर निन्दनीय और कौन होगा?

यदि कोई अज्ञानी किसी उर्वरा सुन्दर भूमिपर अलंबु (तोमरी) को बो दे जिसपर कि धान, ईख आदि सरस पदार्थोंकी उत्तम उपज हो सकती थी, तो उसे कौन न हंसे गा?

किन्तु, यदि मैं धर्ममार्गसे विमुख रहता हूं मनुष्य पर्यायरूपी उत्तम भूमिपर मैं भी तो शोकरूपी फल देनेवाले कुकर्मोंको बोऊंगा, जब कि

आत्मचिंतन

सुकर्मका वीज लगा कर मैं निवार्णरूपी फल पा सकता हूं। कोई पुरुष संयोगवश किसी ऐसे श्रेष्ठ द्वीपपर पहुंच जाय जो सब प्रकारके रत्नोंका भण्डार है। वह अपने पैरोंके तले पड़े एकसे एक मूल्यवान रत्नोंको देखे भी, किन्तु उनमेंसे एकको भी उठा कर अपने पास नहीं रखता है। इसी बीचमें समय समाप्त हो जाता है और उसे वहांसे खाली हाथ ही लौटना पड़ता है। ४३

इस अज्ञानी पुरुषके समान ही अनेक दुखमय जन्मोंको व्यतीत करनेके बाद मनुष्य पर्याय प्राप्त हुई है, सौभाग्यसे सुरूप, सुबुद्धि आदि सबही प्रशस्त गुण भी मुझमें हैं, तो भी यदि मैं मनुष्य जन्मके साररूपी रत्न (धर्मसाधना) को नहीं ग्रहण करता हूं, तो मुझसे बड़ा मूर्ख और कौन होगा? उस अवस्थामे मेरा विनिपात भी निश्चित है। यहांपर मोहने मेरे विवेकपर पर्दा डाल रखा है। मैं धर्ममय आचार तथा विचारोंको भूल गया हूं। इस अवस्थामें मैं जिस, जिस पापमय कुकर्मको यहां कर रहा हूं, उस, उस कर्मका कुफल मुझे अनेक दुखो तथा अकल्याणोंके रूपमें उन अनेक जन्मोंमें भरना पड़े गा जिनमे 'कृतान्त मुझे मृत्युके बाद घसीटता फिरे गा। ४४ ४५

अनित्य भावना

सांसारिक विषय भोगोंमें लीन मनुष्योंकी आयु चिर कालतक नहीं ठहरती है। वे विभव तथा सम्पत्तियां भी सदा नहीं रहती हैं जिनपर फूले नहीं समाते है। सौन्दर्य, स्वास्थ्य आदिका उन्माद भी साधारण नहीं होता है किन्तु ये सब गुण भी तो एक क्षणमे उसी प्रकार अदृश्य हो जाते हैं जिस प्रकार समस्त आकाशको आलोकित करनेवाली विद्युत् तथा विचित्र आकारधारी मेघ लुप्त हो जाते है। ४६

संसारके समस्त शुभकर्मोंका प्रवर्तक रवि जब एक बार उदित होता है तो उसका अस्त भी अवश्यंभावी है। प्रज्वलित किये गये मनोहर प्रदीपका बुझना भी अटल है। तथा आकाश भित्तिपर भांति भांतिकी चित्रकारी करनेवाले मेघ भी क्षणभरमें ही विलीन हो जाते हैं। मनुष्योंकी भी यही गति है, जो उत्पन्न हुए है एक दिन उनका मरण अवश्य होता है। ४७

अशरणता

मनुष्य जीवनकी अनित्यताको जानकर, अत्यन्त अशरणताके रहस्यमे पैठ कर तथा सब दृष्टियोंसे इसी निष्कर्षपर आकर कि जीवको दुखोंसे कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती है, परम पूज्य, पूर्णज्ञानी जिनेन्द्र प्रभुने उचित विधि विधानयुक्त तपस्याका उपदेश दिया था यदि मैं उसे नहीं करता हूं, तो मुझे सब दृष्टियोंसे ठगा गया समझना चाहिये। पुत्रोंको प्राप्त करनेसे भी आत्माका क्या लाभ हो सकता है, वे सब संसाररूपी अंकुरके महापरिणाम हैं, सम्पत्ति भी क्या सुख देगी जो कि स्वतः ही समस्त दुखोंका मूल कारण है। जिनके विचारको मनसे निकालना असंभव है ऐसी प्राणाधिका पत्नियां भी किस काम आंय गी, इन्हें तो साक्षात् हृदय चोर, घातक शत्रु तथा दारुण सर्प ही समझना चाहिये, क्योंकि वे अनेक अपवित्रताओंकी भण्डार हैं। सगे बन्धु-बान्धव भी कौनसी रक्षा करेंगे? वे सब मनुष्यके जीवित बन्धन हैं, अनेक प्रकारकी द्विविधाओंको जन्म देते हैं तथा ऐसे समर्थ साधन हैं जो सरलतासे अनेक अनर्थोंको उत्पन्न कर देते हैं। ४८ ४९ ५०

संसार

अपने पुरुषार्थसे कमायी गयी सम्पत्ति भी किस कामकी है। वह व्यर्थ ही आशाके कठोर पाशमें बांध देती है, सब अनर्थोंकी ओर प्रेरित करती है फलतः संसारके काटोंमें घसीटनेवाले अशुभ बन्धका कारण होती है। विपुल पुरुषार्थ और पराक्रमकी नींवपर खड़े किये गये विपुल राज्यसे भी पर- ५१

मार्थसिद्धि थोड़ी हो गी, उसके कारण दिन-रात चिन्ता करनी पड़ती है! तथा अनेक पाप करनेके कारण संसार भ्रमण भी बढ़ता ही जाता है। विषय-भोगोंकी भी क्या उपयोगिता है? उनका स्वाद लेनेके लिए पर्याप्त परिश्रम करना पड़ता है, तो भी कभी तृप्ति नहीं होती है। परिणाम होता है चारों गतियोंमें भ्रमण जो कि शोक दुखसे परिपूर्ण है।

५२ इस अनित्य लोकमें कौन किसका बन्धु है। कौन किसका मित्र है? कौन किसकी प्राणधिका प्रिया है? कैसा शारीरिक, मित्र, सेना आदिका बल हो सकता है? कहां किसका धन है? कौन लोग किसके पुत्र हो सकते हैं? कैसा कुलका विचार? कैसा जातिका अभिमान? किसका सौन्दर्य? कौन नहीं जानता है कि

एकत्वभावना

५३ एक क्षणभरमें ही ये सब देखते देखते ही नष्ट हो जाते है। समझमें नहीं आता कि चोर किसको संतुष्ट करनेके लिए अपने जीवन तककी चिन्ता नहीं करता है और असमय जागरण, असह्य सहन आदि भगीरथ प्रयत्नको करता है। किस धीर गम्भीर पुरुषका चित्त इस लोकके कोलाहलमें भ्रान्त नहीं हो जाता है, जब कि सब कार्योंका मूल आधार मनुष्य जीवन ही जलके

५४ बुद्बुदके समान अस्थिर और अनित्य है। आह! यह जीव कर्मोंरूपी रथपर आरूढ़ हो कर तिर्यञ्च, मनुष्य, देव तथा नारक योनियोंके अनेक भेद प्रभेदोंमें चक्कर काटता है वहांपर अन्तकाल पर्यन्त विविध अशुभ तथा दुखोंको अलग अलग जीव योनियोंमें उत्पन्न हो कर वह

५५ भरता है। संसारकी विविध अवस्थाओंमें आयु काटनेवाले कर्मोंसे पददलित जीवोंके शोक दुखको बढ़ानेके लिए ही उनके जन्म, जरा तथा मरण होते हैं। वे हजारों तरहके मानसिक तथा कायिक संघर्षोंमें पड़ कर चकनाचूर हो जाते हैं। उन्हें जो भी प्राप्त होता है वह निश्चय-से नष्ट हो जाता है, कुछ भी स्थायी नहीं होता है।

५६ अपने पूर्वकृत कर्मोंके फलस्वरूप जीवोंको इस विस्तृत भुवनमें समस्त सुख-दुःख प्राप्त होते हैं—जो इष्ट है उसकी प्राप्ति नहीं होती है। जो अप्रिय है वह साथ नहीं छोड़ता है। संयोगवश जिस इष्टका समागम हो जाता है उससे वियोग होता है, यदि एक क्षणके लिए अप्रियसे छुटकारा मिलता है तो दूसरे क्षण उससे अटल संयोग हो जाता है। मान का अभाव और पद-पद पर अपमान मुख फाड़े खड़ा रहता

जगत्स्वभाव

५७ है। सम्राटके हृदयमे वैराग्यने घर कर लिया था अतएव उसने उक्त दृष्टियोंसे समस्त पदार्थों-के वास्तविक स्वरूपपर गम्भीर मनन किया था। इसके समाप्त होते ही उसने अपने परम आदरणीय तथा विश्वस्त सेठ सागरवृद्धिको बुला कर उनसे अपने मनके पूरेके पूरे दुखको कह डाला था।

५८ हे मान्यवर? मेरे पूज्य पिता महाराज धर्मसेन अपने कर्मसे ही मेरे पिता थे किन्तु आपने अपने स्वार्थत्याग तथा स्नेहके कारण मेरे धर्मपिताके स्थानको प्राप्त किया हैं। मैं जब जंगल,जंगल मारा फिरता था उस समय आपने ही कृपा करके मुझे शरण दी थी और

५९ समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिला दिया था। जब मैं युद्धक्षेत्रमें आहत हो कर मरणासन्न हो गया था तब आपने ही सहायता की थी। आपने

विरक्ति उदय

मेरे सुख-दुखको उसी प्रकार अनुभव किया है जिस प्रकार लोग निजीको समझते हैं। आपने ही राज्यप्राप्तिका अवसर आते ही मुझे उचित कार्य करनेके लिए स्वतन्त्र कर दिया था और

६० विशाल विभव, लक्ष्मीयुक्त राज्यसिंहासनपर बैठा दिया था। इन सब कारणोंसे आप मेरे

माता पिताके ही समान नहीं हैं अपितु हितोपदेशी गुरु भी हैं। आप मेरे परम पूज्य हैं तथा मेरा कर्त्तव्य होता है कि कोई भी कार्य करनेके पहिले आपकी सम्मति अवश्य लूं। यही कारण है कि मैं विना किसी संकोचके ही आपके सामने अपने कर्त्तव्यको कहता हूँ। यदि आप उसे युक्तिसिद्ध समझें तो मेरी यही प्रार्थना है कि उसे पसन्द करके मुझे करनेकी अनुमति अवश्य देवें।

हे साधु ? आनर्तपुर तथा इसके पहिले उत्तमपुरमें प्रजाके शुभ तथा सम्पत्तिके लिए जैसे आपने अपनी उदारता तथा दया दाक्षिण्य आदि गुणोंसे प्रेरणा पा कर मुझे राजपदपर अभिषिक्त किया था, वैसे ही अब आप मेरे ज्येष्ठपुत्र कुमार सुगात्रको आनर्तपुरकी राज्य-लक्ष्मीका स्वामी बनानेका कष्ट करिये क्यों कि कुमार सुगात्र राज्यपदके लिए सुयोग्य हैं। आपसे यह भी आग्रह है कि मेरे चले जानेपर आप स्वयं मुझे याद न करें गे। तथा स्वाभाविक चावसे विस्तृत साम्राज्य तथा प्रजाके साथ साथ कुमार सुगात्र का भी अभ्युदय करें गे। यह सब मैं इसलिए कह रहा हूं कि मुझे लोकके विषय भोगोंसे विरक्ति हो गयी है। अब तो आप लोगोंका आशीर्वाद ले कर मैं तप करूँगा। हे पिताजी ! अब मुझे छुट्टी दीजिये। ६१ ६२

उत्तराधिकार-प्रस्ताव

सम्राट वरांगकी विरक्ति गम्भीर थी वे एक क्षण के लिए भी उधरसे चित्तको न हटा सकते थे, सेठ सागरवृद्धिका स्नेह भी उतना ही गम्भीर और तीव्र था। फलतः सम्राटके वचनोंको सुन चुकने पर उन्होंने निम्न वाक्यों द्वारा अपना अभिमत, जो कि सदा सुनने और समझने योग्य धर्मशास्त्रका सार था—को प्रकट किया था। हे सम्राट ? आप यह क्या करते हैं ? मेरा मत है कि आपने इसपर सब दृष्टियोंसे विचार नहीं किया है, केवल उस दूर विषय (मोक्ष) पर ही आपने दृष्टि लगा रखी है जिसे किसीने साक्षात् देखा भी नहीं है। किन्तु इस प्रकारके लक्ष्यों अथवा आदर्शोंको तो मनसे भी नहीं सोचना चाहिये। मैं आपके इस निर्णयसे कैसे सहमत हो सकता हूं क्योंकि इसका किसी भी तर्कसे समर्थन नहीं होता है। अनुभवहीन पुरुषोंके द्वारा यदि कोई बहुत ही छोटा कार्य अनुचित देश तथा प्रतिकूल समयमे प्रारम्भ कर दिया जाता है, तो वह कार्य बहुत थोड़े परिश्रम तथा सामग्रीसे सिद्ध होने योग्य होनेपर भी केवल इसीलिए पूर्ण नहीं होता है कि उस कार्यके कर्ताओंने अपनी शक्तिका ठीक लेखा-जोखा न किया था, विरोधी परिस्थितियों तथा शक्तियोंसे अनभिज्ञ रहे थे तथा वह कार्य किस प्रकार सहज ही हो सकता था इस दिशामें उनका विचार गया ही नहीं था। फिर आनर्तपुरका यह राज्य तो अतिविशाल तथा भगीरथ प्रयत्न साध्य है। ६३ ६४ ६५

"परिजन हैं रखवारे"

आपके उत्तराधिकारी कुमार सुगात्र अभी किशोर ही हैं, आपके समान अनुभव, साहस आदिसे हीन है। और विचारे अभी बालक ही हैं। इसके अतिरिक्त आपको माता पिताका स्नेह तथा, जनताकी प्रगाढ़ राज-भक्ति भी ऐसी वस्तुएं हैं जिनकी एकदम बिना सोचे विचारे उपेक्षा नहीं की जा सकती है। यही सब बाते हैं जिनपर आपको शांत तथा निष्पक्ष होकर विचार करना चाहिये। जो शत्रु आपके अभ्युदयमे बाधक थे, आचरण और शासन करनेमे अत्यन्त दुष्ट थे उन्हें आपने कठोर दण्ड दिया था। कितने ही महत्त्वाकांक्षी सामन्त राजाओको आपने वशमे किया था, प्रजाकी शान्ति ६६ ६७

राजसमाज महाअ्रध कारन

तथा समृद्धिके विरोधी अरण्य-चरोंको आपने जंगलोंमें से मार भगाया था, तो भी ये सब आपके असह्य प्रतापके कारण शान्त है। किन्तु आपके मुख मोड़ते ही इन लोगोंके अत्याचारोंसे
६८ यह साम्राज्य क्षणभरमें ही छिन्न भिन्न हो जाय गा। प्रजाकी दृष्टिमें आपकी प्रत्येक चेष्टा प्रामाणिक है फलतः उसे आपपर अडिग विश्वास हैं। इसके भी कारण हैं, आप राजनीतिमें पारंगत हैं तथा धर्म, अर्थ तथा काम इन तीनों पुरुषार्थोंके समन्वय युक्त रहस्य तथा आचरण-के आदर्श हैं। अतएव मैं मस्तक झुका कर आपसे यही प्रार्थना करता हूँ कि हे सम्राट ? आप इस प्रकारका अतिसाहस न करें, क्योंकि मुझे उसमें कोई लाभ नहीं दिखाता है।

६९ सेठ सागरवृद्धिका यह कथना संसारकी वास्तिवकताओंसे परिपूर्ण था तथा लौकिक दृष्टिसे अक्षरशः सत्य था किन्तु इसका परिणाम तो बुरा ही हो सकता था। सम्राट वरांगराज

वैराग्य-हेतु

भी सुमेरु पर्वतके समान अपने निर्णयपर स्थिर थे, उन्हें अपनी शक्तिमें अटूट विश्वास था, फलतः धर्मपिताके वचनोंको सुन कर उन्होंने कुछ ऐसे
७० रहस्यमय भूतार्थोंको उपस्थित किया था जिन्हें दूसरे सोच भी न सकते थे। मनुष्योंकी

चचला

लौकिक सम्पत्ति, कौन नहीं जानता है कि पानीके बुद्‌बुदके समान चंचला है। संसारकी प्रत्येक वस्तुको सुनहला करनेमें पटु यौवन भी दो, चार (बहुत थोड़े समयतक) दिन ही टिकता है। मनुष्य जीवन (आयु) का तो कहना ही क्या है वह तो सैकड़ों छिद्रयुक्त घड़ेमें भरे गये पानीके समान है। शरीर तो हम देखते
७१ ही हैं कि बड़े वेगसे प्रतिक्षण नष्ट ही होता है। धनकी वही अवस्था है जो शरद् ऋतुके उड़ते हुए मेघोंकी है। सांसारिक कार्योंका प्रधान निमित्त बल तो एक क्षणभर ही में न जाने कहां विलीन हो जाता है। वृद्धावस्थाकी दृष्टि पड़ते ही मनुष्यके काले घुंघराले

जरा

केश क्षणभरमें ही श्वेत हो जाते हैं। समस्त इन्द्रियां भी अपने आप ही निःशक्ति हो जाती हैं। मनुष्य जीवनके सुख शान्तिकी आधार
७२ शिला प्रीति भी देखते-देखते ही बदल जाती है। सुखोंकी क्षणभंगुरता तो आकाशमें कौंधने-वाली विजलीको भी मात करती है। इस लोकमें मृत्यु अलग अलग अनेक रूपोंमें मनुष्यपर

मृत्यु

झपटती है। संसारमें कोई भी यह नहीं जानता है कि मृत्यु कब टूटे गी ? आयु समाप्त होते ही वे पदार्थ भी नष्ट हो जाते हैं जो हर ओरसे अत्यन्त घन और अभेद्य थे।

७३ जो पदार्थ अपनी असीम ऊंचाईसे आकाशका चुम्बन करते थे वे सब भी अन्त समय आते ही लुड़क कर ढेर हो जाते हैं। संसारके समस्त मधुर मिलन विकट वियोगोंके बीज
७४ हैं। सारा जीवलोक बिना अपवादके मृत्युके मुखमें समा जाता है। माता पिताका स्नेह अकारण और अनासक्त है, समस्त बन्धु बान्धवोंकी प्रीति अनुपम है, सगे भाइयों, बहिनों और मित्रों-

अशरणता

का भी यही हाल है, पत्नीके प्रेमकी सीमा नहीं है और पुत्रकी सेवापरायणता भी श्लाध्य है। किन्तु जब मनुष्यके प्राण गलेमें अटक जाते हैं, उसकी स्मृति नष्ट हो जाती है और चेष्टाएं रुक जाती हैं उस समय उसे कोई भी मृत्युसे मुक्त नहीं कर सकता है।

७५ इस कोटिके स्नेही, सगे तथा प्रेमी जन यदि मेरे भोजन आदि साधारण कार्योंमें ही

आत्म-शरण

साथ दे सकते हैं और मृत्युके समय व्यर्थ हैं तो आप ही कहिये इन लोगोंसे मेरा क्या भला हो सकता है ? तथा जब ये लोग भी

अपने-अपने कर्मों रूपी मार्गपर जोरसे ढकेले जायं गे मैं भी उनको उस समय बचानेमे निरर्थक रहूँ गा। आप इसको निश्चित समझिये।

सेठ सागरवृद्धिने संसारके स्वरूपका नग्नचित्र उपस्थित कर देनेवाले सम्राटके वचन सुने थे तथा देखा था कि उनके उद्गार रुकते ही नहीं थे। तब उन्होंने इतना ही कहा था हे आर्य ? आपके आचार-विचार पवित्र हैं अतएव आप जो कुछ करना चाहते हैं मैं भी अपनी शक्तिके अनुसार उसी कल्याणकर मार्गपर चलना चाहता हूँ। तुम्हारी कृपा तथा स्नेहके कारण ही मुझे अपने सम्बन्धी तथा परजन गाढ़ स्नेह और सन्मान करते हैं। तुमसे मिलनेके पहिले मैं सीधा सादा वणिकोंका ही प्रधान था किन्तु तुमसे मिलते ही बड़े बड़े राजा महाराजा लोग मेरा हृदयसे आदर करने लगे थे। इतना ही नहीं मैं सार्थपतिके पदसे बढ़ता बढ़ता महान पृथ्वीपति हो गया था। तथा यथा शक्ति आपको सम्मति देता था, युद्धमें सहायता करता था। तुम्हारे सुख दुखमें हाथ बंटाता था। कहनेका तात्पर्य यह कि अब तक मैं तुम्हारे प्रत्येक कार्यमें साथी था। ऐसा हो कर भी यदि इस समय मैं धर्मकार्यमें आपको छोड़ कर अलग हो जाता हूँ, तो हे सम्राट मैं वास्तवमे सबसे बड़ा अधम हूँ।

७६ ७७ योगमें भी साथ ७८

सम्राट वरांगका धैर्य अडिग था और वीर्य अकाट्य था। लौकिक शत्रुओंको वे पहिले से ही जीत चुके थे तथा आत्मिक शत्रुओंको जीतनेके लिए उद्यत थे। धर्मपिताके वचनोंको सुन कर उन्होंने उनपर कुछ समयतक विचार किया था। इसके उपरान्त प्रारम्भ किये गये कार्यको सफलताकी दिशामें ले जानेके लिए धर्मपिताको संकेत किया था जिसके अनुसार वे पूरेके पूरे अन्तःपुरको सम्राटके पास आनेके लिए कह आये थे। सम्राटका आह्वान सुनते ही समस्त रानियोने बड़ी त्वराके साथ अपना शृंगार किया था। कटिप्रदेशपर बँधी मेखलाकी छोटी-छोटी घंटियाँ तथा नूपुरों से धीमी, धीमी मधुर ध्वनि हो रही थी। वे सबकी सब कुलीन देवियां क्षणभरमें ही सम्राटके भवनमें जा पहुँची थीं और विनय तथा उपचार करनेके बाद उनके सामने ही बैठ गयी थीं। सबकी सब राजपत्नियां स्वभावसे ही सरल और साधु थीं, उनकी शिक्षा तथा आचरण प्रत्येक दृष्टिसे शुद्ध थे। वे वही काम करती थीं, उसी प्रकार हंसती बोलती थीं तथा शृंगार करती थीं जिससे उनका पति प्रसन्न हो। तो भी सम्राटको देख कर उन्हें ऐसा भान हुआ कि उन्होने कोई अनजाने ही अपराध कर डाला है। विशेष कर जब राजाने 'आप लोग मुझे क्षमा करें।' इस वाक्य से कहना प्रारम्भ किया था।

७९ वनिता बेडी ८० ८१

वरांगराजके इस वचन रूपी प्रभञ्जन (आँधी) के थपेड़ेसे उनकी सुकुमार देहलता वेगसे कांप उठी थी। देखते देखते ही उनके मुख कमल ऐसे दीन, निस्तेज और कान्ति हीन हो गये थे जैसी कि मुरझायी माला हो जाती है। वे जोर जोरसे रोने लगी थीं और आँखोंसे आँसुओंकी नदियाँ बह निकली थीं। तथा वे सबकी सब ही सम्राटके चरणोंमें लोट-पोट हो गयी थीं। प्रबल तुषारपात होनेसे कुमुदिनियोंकी जो दुरवस्था हो जाती है अथवा जोरकी आंधी अथवा प्रखर आतप (धूप) के कारण सूख जाने पर कमलोंकी शोभाका जो हाल होता है, वियोगके डरसे उन सब रानियोंके अति सुन्दर मुखों-का भी यही हाल हो गया था। दृष्टि इतनी मुरझा गयी थी कि उधर

८२ ८३ कुसुमसदृशो

८४ देखने तक की रुचि न होती थी। सम्राट वरांग उनकी अज्ञान जनित मूर्च्छाको देख कर दया से विह्वल हो गये थे अतएव उन्होंने स्वयं ही उन्हें उठा उठा कर सम्हाला था तथा वे एक मुहूर्त भरमें ही चैतन्य हो गयी थीं। किन्तु उनके गले तब भी भरे हुए थे, वे विनय और लज्जाके कारण झुक कर खड़ी थीं, तब भी उनके मुखसे वाणी बाहर न हो रही थी तो भी उन्होंने निम्न प्रकारसे निवेदन किया था।

८५ हे प्राणनाथ! आपके अनुग्रहका ही यह फल है कि हम इस अभ्युदय और समस्त सुखोंकी स्वामिनी हो सकी हैं। हमारा जीवन तो आपके दोनों चरण-कमलोंकी निकटतापर ही निर्भर है। इस परिस्थितिमें आपके द्वारा छोड़ दिये जानेपर आज हम क्या करेंगी? ८६ अथवा अब आपके विना हमारी कौनसी गति है जिसका हम लोग अनुसरण करें? जिस दिनसे हे प्रभो! आपने पाणिग्रहण किया है उस क्षणसे हमारा स्नेह और प्यार आपपर ही केन्द्रित हो गया है। हमारे सहोदर वन्धु बान्धव भी उतने प्रिय नहीं हैं जितने कि श्रीचरण हैं। इसके सिवा हे नाथ! हमने आपके प्रति किसी भी प्रकारका अपराध भी तो नहीं किया है। ८७ फिर क्या कारण है कि स्वामी हम सबको छोड़ कर चले जाना चाहते हैं। हमारा आपके सिवा कोई दूसरा रक्षक नहीं हो सकता है। हम स्वयं बुद्धिहीन हैं।

मोह-माया

पुण्यात्मा तो हैं ही नहीं। अतएव आप हम लोगों को इस रीतिसे न त्यागें। देखिये, आपके सिवा हमारी तो कोई दूसरी गति है ही नहीं। हम सर्वथा दीन हैं। हे क्षितीश? आपसे वियुक्त हो कर हम एक निमेष मात्र समयके लिए भी जीवित नहीं रह ८८ सकती हैं। पानी सूख जानेपर कमलिनियोंका जो दुखद अन्त होता है हाथियोंके झुण्डके अधिपति मदोन्मत्त हाथीसे वियुक्त हो जाने पर मत्त हथिनियोंकी जो दयनीय अवस्था हो जाती है, उसी विधिसे हे नरेन्द्र! तुमसे वियुक्त हो कर हम सब भी जीवित न रहेंगी इतना ८९ आप अटल तथा ध्रुव सत्य समझिये। रोते रोते रानियोंके नेत्रकमल लाल हो गये थे, मुखकमल अश्रुजलसे परिप्लावित हो रहे थे। उक्त प्रकारके प्रेम तथा भक्ति सूचक वचन कहकर वे सब-की सब सम्राटको अपने स्नेहकी पाशमें फंसा लेना चाहती थीं। किन्तु वरांगराज उस समय रागके बन्धनोंकी पहुँचसे परे थे फलतः रानियोंके वचन सुनकर राजाने इस युक्तिसे उन्हें समझाया था।

९० संसार भरकी जन्म मृत्युके तथोक्त नियन्त्रक यमका प्रताप अप्रमेय है। वज्ररूपी सर्व-मारकशस्त्रके धारक इन्द्रका प्रताप तीनों भुवनोंमें व्याप्त है तथा उस सूर्यके विषयमें तो कहना ही क्या है जिसके आतप और उद्योत सृष्टिके जीवनके आधार हैं। किन्तु यह भी मृत्युका सामना नही कर पाते हैं। तब तीनों लोकोंमें दूसरा ऐसा कौन पुरुष

विवेक-नीरोध

है जो मृत्युकी प्रतिद्वन्दिता कर सके। एक ईन्द्रके कुटुम्बमें कई करोड़ ९१ अतिशय गुणवती अप्सराएं रहती हैं। प्रत्येक इन्द्रके सहायक तथा सेवक सामानिक, त्रायस्त्रिंश, परिषत्, आत्मरक्ष आदि ही नहीं अपितु अनेक इन्द्र भी होते हैं। किन्तु जब आयुकर्म समाप्त होनेपर इन्द्र अपने विमानसे पतित होता है उस समय उनमेंसे कोई अथवा वे सबके सब भी उसे नहीं रोक पाते हैं। जिन्होंने अपने चक्रके पराक्रमसे षट्खण्ड क्षेत्रको पददलित ९२ किया था, जो लोग (भोगभूमिया जीव) वस्त्रांग आदि दश प्रकारके कल्पवृक्षोसे मनवाञ्छित भोग सामग्री प्राप्त करते हैं अथवा जिन विद्याधरोंको पाँचो प्रकारके ही भोग प्राप्त हैं।

तथा जिनके शरीर कृष्ण तथा गौर होते हैं। तथा वे महा पुरुष जिनका प्रभाव और सिद्धि देवों तथा असुरोंसे भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। उन सबको भी मृत्यु घसीट ले गयी थी। तब मेरे ऐसे साधारण व्यक्तिकी तो चर्चा ही व्यर्थ है। इस पृथ्वीपर उत्पन्न हम मनुष्योंकी अपेक्षा गन्धर्वों, विद्याधरों, नागकुमारों तथा यक्षोंकी ही शक्तियां अनेक गुनी हैं। इनसे भी बढ़कर वे सब परमयोगी थे जिनके योगसिद्ध सत्त्व, पराक्रम तथा साहसके सामने कोई टिक भी न सकता था। किन्तु उनको आंखोंके सामने ही कालने उनकी प्रियाओंको गलेसे नीचे उतार दिया था और वे रक्षा न कर सके थे, तब मुझमें कितनी शक्ति है। ९३

जन्म मरण मय यह संसार एक महासागर है, मोहरूपी ऊंची, ऊंची भयंकर तरंगें इसमें उठ रही हैं। रोग, बुढ़ापा आदि अनेक भयानक जन्तुओंसे यह व्याप्त है। और मैं स्वयं इसमें निरुद्देश्य हो कर बार-बार डूबता हूं और उतराता हूं, तब आप लोग व्यर्थ ही मुझे क्यों अपना सहारा बना रही हैं। सौभाग्यसे मनुष्य जीवनमें प्रियजनोंका वियोग न होता तथा अनिष्ट और अप्रिय पदार्थोंका समागम न होता, बार-बार जन्म-मरण न होते। जीवनमें रोग तथा बुढ़ापा न होता। यह जीवन चिरस्थायी होता तथा अपनी और अपने प्रियजनोंकी मृत्यु न होती, तो कोई ऐसा विवेकी जीव न होता जो इसे पा कर फिर छोड़नेका नाम भी लेता। हम देखते हैं कि मनुष्योंकी आयु, शरीर तथा विभव, वैभव प्रबल वेगसे किसी विपरीत दिशामें दौड़े जा रहे हैं। देखते-देखते ही शैशव, किशोर तथा युवा अवस्थाओंको पार करके बुढ़ापा आ दबाता है। वृद्धावस्थाके पदार्पण करते ही शारीरिक शक्ति बिदा लेती है और समस्त इन्द्रियां अपने विषयोंके भोगमें शिथिल हो जाती हैं, इस प्रकार दुर्बल देख कर मृत्यु भी ले भागती है। ९४ ९५ ९६

रोग, बुढ़ापा-मृत्यु

तब इस जीवनसे कैसे प्रीति की जाय? इस भयाकुल संसारमें एक ही मार्ग ऐसा है जिसको पकड़ लेनेसे अपने आप ही रोग, यम, जन्म तथा मरण आदिके भय समूल नष्ट हो जाते हैं, और वह है निवृत्ति। क्योंकि इस मार्गपर चलते ही वृद्धावस्था आदिका भय उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार महानदी पर पहुंचनेसे प्यास आदि शान्त हो जाते है। यदि आप लोग भी इस संकट तथा भय हीन मार्गको पकड़ना चाहती हैं, तथा आपकी अभिलाषा दृढ़ है तो आप लोग भी हमारे साथ चली आइये। इस संसारके उपद्रवोंसे पार पानेका यहां पर केवल एक ही अमोघ उपाय है, और वह है वीतराग अर्हन्त प्रभुके द्वारा उपदिष्ट सत्य धर्म। ९७ ९८

वैराग्यमेवाभयम्

केवली भगवानकी दिव्यध्वनिके आधारपर निर्मित पूर्वापर विरोध रहित शास्त्रोंकी सहायतासे सत्य श्रद्धारूपी प्रकाश (सम्यक्‌दर्शन) के द्वारा हमारे अन्तरंग निर्मल नेत्र खुल जाते हैं। तब हम शुद्ध आचरणरूपी आदर्श मार्गपर चलने लगें गे और संसार यात्रा समाप्त कर के हम लोग समस्त सुखोंके भण्डार मोक्ष-पुरीमें पहुंच जावें गे। मेरे साथ दीक्षा लेना कोई अभूतपूर्व घटना न हो गी, क्यों कि पुराने युगमें भी जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट धर्मको स्वीकार करके तथा वैराग्य भावनासे पूर्ण राजा (पति) के उपदेशको सुन कर रानियोंने तत्त्वज्ञानको प्राप्त किया था। तथा अनेक राजाओंकी पत्नियोंने इस प्रकार काल लब्धिको पा कर अपने पतियोंके साथ ही दीक्षा ग्रहण की थी। ९९ १००

रत्नत्रयमेवशरणम्

१०१ राजाका उपदेश सुनकर रानियोंने मन ही मन विचार किया था; मधुर तथा रस परिपूर्ण भोजन, हमारे रंगरूपके उपयुक्त एकसे बढ़ कर एक भूषण, विविध प्रकारके विचित्र कौशेय आदि वस्त्र, सब जातिकी सुगन्धयुक्त माला, पुष्प तथा सुगन्धित द्रव्य, कोमल शय्या, महार्घ आसन, सुखकर यान तथा सबसे बढ़कर अपना

'भोग बुरे भवरोग बढ़ावें'

१०२ अनुग्रह तथा प्रेम दे कर जिस राजाने इतने समयतक हमारा भरण-पोषण किया है। प्राणपतिके प्रेम तथा प्रबन्धका ही यह प्रताप था कि प्रतिकूल चन्द्रकिरणें, तीव्र तथा दाहक सूर्यकी रश्मियां, कंकरीली पथरीली भूमि तथा सूखी उष्ण अथवा तरल शीत वायु हमारे शरीरको
१०३ कभी छू भी न सकती थी यद्यपि इनका संसर्ग ही तीव्र दुखको उत्पन्न कर सकता था। किन्तु अब जब प्राणपति दीक्षा ले कर चले जांय गे तो हमारी वही दीन हीन अवस्था हो जांय गी जो कि चन्द्रमाके अस्त हो जानेपर चन्द्रकान्तिसे व्याप्त आकाशकी होती है, उस समय ढूंढ़नेपर भी उसमें शोभा नहीं मिलती है। अथवा उन लताओंके समान हम सब हो जाय गी जिनपर एक क्षण पहिले ही सुन्दर, सुगन्धित फूलोंके गुच्छे लहरा रहे हों किन्तु दूसरे ही क्षण खींच कर वे भूमिपर फेंक दी गयी हों।

१०४ क्या हम सब आभूषणोंको फेंक कर भोजन, सुगन्धित लेप, माला, ताम्बूल, धूप, अञ्जन सुगन्धित तैल आदि समस्त शृंगारको तिलाञ्जलि दे कर भी यहाँ रहेंगी। प्राणपतिके अभावमें शत्रुलोग मिल कर हमारा तिरस्कार करेंगे और हम लोग आँखोंसे आठों धार आंसू बहाती हुई
१०५ यहीं पड़ी रहेंगी। जब रानियोंने उक्त सरणिका अनुसरण कर के विचार किया तो उनकी सांसारिक भोग विलासकी तृष्णा न जाने कहां विलीन हो गयी थी। उन्हें अपने पतिके प्रति एकनिष्ठ भक्ति थी, कुलीन पुत्री तथा वधू होनेके कारण उनका धैर्य भी असाधारण था, पतिपर उनकी आस्था थी तथा मन उसको ही सब कुछ मानता था। फलतः पतिके निर्णयको जानते ही उनकी समस्त अभिलाषाएं तथा महत्त्वाकाक्षाएं कपूर हो गयी थीं। उन्होंने दीक्षा लेनेका निर्णय कर लिया था, अतएव पतिसे यही निवेदन किया था।

सज्ज्ञान

१०६ 'हे नाथ! यदि आप विशाल राज्य, राजलक्ष्मी विभव आदिको ठुकरा कर उग्र तपस्या करनेका निश्चय कर चुके हैं, प्रयत्न करनेपर भी यदि आपकी विचारधारा उधरसे विरत नहीं होती है, तो हम सब भी आपके ही साथ तप करेंगी और संसार भ्रमणको पार करके आपके साथ ही परमपदकी दिशामें अग्रसर होंवेंगी।'

पति-परायणता

१०७ उक्त निर्णयपर पहुंच सकनेके कारण सुन्दर सुकुमार शरीरधारिणी राजपत्नियोंके उत्पल सदृश सुन्दर तथा मनोहर नेत्र आनन्दके कारण विकसित हो उठे थे। अपने जीवन साथी सम्राट वरांगके साथ उन्होंने भी संसारके समस्त सुखोंको छोड़ दिया था। उस समय उनके भोग विलासोंके प्रेमी चित्त पूर्णरूपसे तपस्यामय हो उठे थे।

इसी अन्तरालमें सम्राजके समस्त राजाओंको वरांगराजके वैराग्यका समाचार मिल चुका था यह समझ कर कि सम्राट अब वन चले ही जांय गे वे सब मित्र तथा सामन्त राजा बहुत शीघ्र ही आनर्तपुरमें आ पहुंचे थे। उनके आश्चर्य तथा आदरका उस समय अन्त न रहा था जब उन्होंने वरांगराजको स्वर्गके अधिपति इन्द्रके समान शान्त और समाहित देखा था।

त्यागकी उत्कृष्टता

चारों वर्ग समन्वित सरल-शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
तारादर्शन निमित्त राज्यभोग निर्वेगनाम अष्टाविंशतितम सर्ग समाप्त।

एकोनत्रिंश सर्ग

आनर्तपुरके विशाल तथा रमणीय सभा भवनकी शोभा उस समय सर्वथा दर्शनीय हो गयी थी। उसमें महाराज धर्मसेन आदि वयोवृद्ध राजा लोग सम्राट वरांगराजके साथ शान्तिपूर्वक यथायोग्य स्थानोंपर विराजमान थे। इन सब महारथियोंका निर्मल सरल वेश-भूषा उनकी अवस्थाके अनुकूल था। ये सब लोग वरांगराजके वैराग्यको लेकर ही चर्चा कर रहे थे। वयोवृद्ध तथा आदरणीय समस्त राजाओंमेंसे सबसे पहिले वरांगराजके पूज्य पिता महाराज धर्मसेनने ही अपने पुत्रके सांसारिक कल्याणकी सद्भावना और ममत्वसे प्रेरित हो कर बड़े स्नेह और दुलारके साथ वरांगराजके हाथ-पर हाथ फेरते हुए कहना प्रारम्भ किया था। १ २

सयाना ससार

वे जो कुछ कहना चाहते थे वह सब वे बड़ी शान्ति और प्रीतिसे कह रहे थे। 'यह आनर्तपुर तथा उत्तमपुरका समस्त राज्य, हे पुत्र! तुम्हारे ही आधीन है। इन दोनों विशाल राज्योंमें प्रजाओंके सुख समृद्धिके तुम ही एकमात्र आधार हो। यह तो हुई राष्ट्रकी बात, अब मेरी निजी अवस्था भी सुन लो तुम मेरी तीसरी आंख हो तथा मेरे बाहर घूमते फिरते मूर्तिमान् प्राण हो। एक क्षण भर चिन्ता कर के देखो, जब तुम दीक्षा ले कर वनमें चले जाओगे, तो तुम्हारी स्नेहमूर्ति वृद्धामाता, प्रेमप्रसूति पतिव्रता पत्नियां, पिताभक्त पुत्र, आदि सब ही सम्बन्धी, हे बेटा! तुम्हारे विना अपने प्राणोंको कैसे धारण करें गे? अपनी तथा इन सबकी चिन्ता कर के ही मैं तुमसे एक वर मांगता हूँ। देखो, हमारे वचनोंकी उपेक्षा करना तुम्हें शोभा नहीं देता है। ३ ४

पिता का प्रेम

सुधसूति चन्द्रमाके अभावमें आकाशकी कोई शोभा ही नहीं रह जाती है। यदि इन्द्र न हो तो सब कुछ होते हुए भी स्वर्गमें कोई आकर्षण और प्रभाव न रह जाय गा। पूरेके पूरे धर्माचरणमेंसे यदि केवल दयाके सिद्धान्तको निकाल दिया जाय तो समस्त धर्म खोखला हो जाय गा। ऐसे ही यदि तुम चले जाओगे तो इस राज्यमें हमारे लिए कोई आकर्षण और सार न रह जायगा। ५

झूठा ससार

देखा जाता है कि भारीसे भारी बोझा जब प्रारम्भमें उठाया जाता है तो उसे ले चलना सर्वथा सुकर होता है किन्तु ज्यों, ज्यों आगे बढ़ते जाते हैं त्यों, त्यों उसे एक, एक पग ले जाना कष्टकर हो जाता है। तप दीक्षाकी भी यही गतिविधि है, इसको ग्रहण कर लेना अत्यन्त सरल है किन्तु जैसे जैसे उसमें आगे बढ़ते हैं वैसे, वैसे वह दुष्कर और कठोर होती जाती है। यह लोक प्रसिद्ध है कि भारी बोझ-को लेकर उन्नत पर्वत आदि पर चढ़ना अत्यन्त कष्टकर है। अत्यन्त वेगवती पहाड़ी नदीमें प्रवाहके प्रतिकूल चलना उससे भी अधिक कष्टकर है तथा अपार पारावारको हाथोंसे तैरकर पार करना इन दोनोंसे भी दुखमय तथा दुःशक्य है। किन्तु स्वैराचार विरोधिनी जैनी तपस्या इन सबसे अनन्त गुणी कठिन तथा दुखमय है इसलिए हे बेटा इस विचारको छोड़ कर सुखपूर्वक राज्यका सुख भोग करो। ६ ७

तपकी दुष्करता

८ विगतवार विचार करो, कामरूपी अग्निकी ज्वाला इतनी भीषण है कि उसमें पड़ते ही सुमेरुके समान महाशक्ति भी भस्म हो जाती है। यही कारण है कि विवेकी तिर्यञ्च, मनुष्य, असुर तथा इन्द्र आदि भी ब्रह्मचर्य व्रतसे भ्रष्ट हो गये हैं। ऐसी काम ज्वालाको तुम्हारा ऐसा तरुण पुरुष कैसे शान्त करे गा? क्योंकि तुम्हारी पांचों इन्द्रियां अत्यन्त जागरूक हैं।

भोगोंकी अजेयता

९ आठों कर्मोंके विजेता, वीतराग अर्हन्तदेवसे उपदिष्ट जैन धर्मके तत्त्वों तथा उसके महत्त्वको हम लोगोंने भी खूब समझा है। किन्तु सब कुछ समझ कर भी उसके अनुसार त्याग करनेमें असमर्थ हैं। यही कारण है कि हमारा समस्त जीवन गृहस्थाश्रममें ही बीता जा रहा है। आज भी विषय भोगकी चाह ज्योंकी त्यों बनी हुई है। जब हमारी यह हालत है तो तुम्हारा तप करना तो सर्वथा ही असंगत है।

अपनी बुद्धिका अहंकार

१० हे धीर! शीघ्रता मत करो, जब तक शक्य है तब तक शान्तिपूर्वक राज करो, दुर्दम शत्रुओंको पददलित करो, परम प्रिय विषयोंका यथेच्छ भोग करो। इसके उपरान्त हम लोग गृहस्थाश्रमसे विदा लेंगे और तुम्हारे ही साथ वनमें जा कर हम लोग भी तप करेंगे।

११ जैसा कि उचित और आवश्यक था उसी विनम्रता और सन्मानके साथ वरांगराजने अपने पूज्य पिताके उपदेशको सुना था। किन्तु वे विशेष विवेकी थे उनका चित्त पूर्ण (अनगार) धर्मका पालन करनेका निर्णय कर चुका था। उस समय उनका प्रताप और प्रभाव अपने मध्याह्नपर थे, तो भी वे उन्हें आत्मकल्याणके मार्गसे विमुख न कर सके थे। आत्म-हितपर दृष्टि रखते हुए ही उन्होंने पितासे निवेदन किया था।

सिंह-वृत्ति राजा

१२ धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थोंके परिपूर्ण भोगमें साधक सामग्री मनुष्योंको बिना प्रयत्न किये ही प्राप्त होती है तथा मनुष्य अनायास ही उसमें लोकोत्तर रसका आस्वाद करता है। किन्तु जब यौवन ढल जाता है, तो वे सबके सब साधन तथा उनके उपयोगकी सफल प्रक्रियाएं भी ज्योंकी त्यों बनी रहनेपर भी उनका उपयोग सुखकर न हो कर दारुण दुखदायी हो जाता है।

स्वतन्त्रचेता

१३ जराकी छाया पड़ते ही दांत टूट जाते हैं, शरीरका एक, एक जोड़ ढीला पड़ जाता है, आंखोंकी ज्योति मन्द पड़ जाती है, शिर कांपने लगता है, हाथ पैर दुर्बल और चंचल हो जाते हैं। बुढ़ापा मनुष्यपर अपना पूर्ण प्रभाव स्थापित कर लेता है'''तथा वह डण्डेका सहारा लेकर चलता है। तब, हे पिताजी! विचारा वृद्ध मनुष्य कैसे तप करेगा।

१४ हे महाराज! जिस पुरुषके कानोंकी शक्ति नष्ट नहीं तो; मन्द हो गयी है, शरीरमें वेग और तत्परताके साथ कार्य करनेकी सामर्थ्य नहीं रह गयी है, पैर ठिकानेसे नहीं पड़ते हैं, धीरेसे बोलता है और जो कुछ बोलता है वह सब भी अस्पष्ट, इन्द्रियां काम नहीं करतीं तथा शरीर सर्वथा निःशक्त हो गया है। ऐसा पुरुष किसके सहारे शास्त्र समुद्रोंका मन्थन करके ज्ञान-रूपी अमृत निकाल सके गा।

१५ मनुष्य वृद्ध हो कर घरसे बाहर आने जानेमें भी हिचकता है। यदि साहस करके किसी तरह चला भी जाता है तो उसे लौट कर आना दुष्कर हो जाता है। ऐसा वृद्ध पुरुष क्यों करके अपने विभव तथा प्रभुतासे पृथक् होनेका साहस करे गा? यदि किसी प्रकार इतनी सुदृबुद्धि आ

'जों लो देह तोरी'

भी जाय तो अपनी जीर्ण कायके द्वारा क्षुधा आदि परिषहोंको कैसे सहे गा ? सुअवसर मिलते १६
ही स्वतन्त्रता प्रेमी हाथी अपने बांधनेके खम्भेको तोड़ कर जब भागते हैं तब उन्हें रोकनेका किसीको साहस नहीं होता है और वे सघन वनमें चले जाते हैं। इसी विधिको आदर्श मान कर मैं भी गृहस्थीके बन्धनरूपी अर्गलाको तोड़कर दीक्षा लेने जाता हूँ। आप मुझे निषेध न करें, मेरी यही याचना है।

जब भवनमें आग लग जाती है तो समझदार पुरुष बाहर भाग जानेका प्रयत्न करता १७
है किन्तु जो शत्रु होता है वह उसे पकड़ कर फिर उसी आगमें जला देता है। मैं भी सांसारिक दुखी रूपी अग्निज्वालासे बाहर निकल रहा हूँ, हे महाराज! आप किसी शत्रुके समान मुझे फिर उसी ज्वालामे मत झौंकिये। प्रभञ्जन और १८
ज्वारभाटाके कारण क्षुब्ध, ऊंची-ऊंची लहरोंसे आकुल भीषण समुद्रमें बड़े कष्ट और परिश्रम-के बाद किनारेपर लगे व्यक्तिको धक्का मार कर शत्रु ही फिर ढकेल देता है। दुर्गतियों रूपी घातक लहरोसे व्याप्त संसार समुद्रमें हे पिताजी! उसी प्रकार आप मुझे फिर मत गिरा दीजिये। कोई पुरुष सोनेके सुन्दर, स्वच्छ पात्रोंमें जब स्वादु, शुद्ध मिष्टान्न खा रहा हो उसी १९
समय उसे प्राणान्तक विष देना जैसा हो सकता है, वैसा ही मेरे साथ होगा यदि मुझे राज्य-लक्ष्मी रूपी विष पीनेके लिए बाध्य किया गया तो, क्योंकि इस समय मेरे भीतर धर्मरूपी अमृतसे ही शान्त होने योग्य पिपासा भभक रही है।

'तथोक्त' स्वजन शत्रु हैं

स्वाभाविक रुचिपूर्वक किये गये किसी पुरुषके शुभ कर्मोंको जो व्यक्ति बिगाड़ देता २०
है तथा केवल उन कार्योंके करनेमें ही सहायक होता है जो पापा-नुबन्धी होते हैं। हे महाराज! ऐसे पुरुषोको ही जन्म-जन्मान्तर-का शत्रु समझना चाहिये, वह ऐसा शत्रु है जिससे छुटकारा पाना ही असंभव है, वह बड़े-बड़े कष्ट देता है तथा कोई भी शत्रु उससे बुरा नहीं हो सकता है।

ससारमें फंसानेवाले ही शत्रु हैं

यदि शत्रु बलवान होता है तो वह आक्रमण करके सम्पत्ति छीन लेता है, युद्धमें सेना- २१
का संहार करता है, कभी, कभी अपने भी किसी अंगको काट देता है, पराजित करके कीर्ति नष्ट कर देता है और यदि बहुत अधिक करता है तो यही कि जीवन ले लेता है। किन्तु जो पुरुष धर्माचरणमें बाधक होते है वे महा निर्दय हैं क्योंकि वे एक दो जन्म नहीं सैकड़ो जन्मोंके सुखको मिट्टीमें मिला देते हैं। इस जीवनको २२
आनन्दमय बनानेवाले सब ही साधन; जैसे लम्बी आयु, अत्यधिक बल, सदा स्थायी स्वास्थ्य, यौवन आदि वय ये सब ही बहुत जल्दी नष्ट हो जाते हैं। सब सुखोंका मूल शरीर ही क्षणिक है। धन सम्पत्तिका भी क्या भरोसा ? क्योंकि यह अकाशमें चमकनेवाली विजलीकी छटा है। संसारका यह दूसरा महा अवगुण है।

कथमेते शत्रवः ?

अध्रव-साधना

हे महाराज! क्या आप नहीं जानते हैं कि इस राज्यके कारण भांति-भांतिके दारुण २३
दुख प्राप्त होते हैं। चित्त सदा ही आकुल रहता है। इसके अधिक व्यापारोंका निश्चित फल शोक ही होता है। अपने तथा पराये सब ही से शत्रुता हो जाती है। हजारों जातिके कष्ट झेलने पड़ते हैं तथा यह सब करके भी अन्तमे इसका फल तुमड़ी (किंपाक) के समान तिक्त ही होता है। बड़े विशाल राज्योंके अधिपति २४
प्रबल प्रतापी राजाओंकी दुर्गतिको मैं जानता हूँ। यह भी मुझे ज्ञात है कि परम धार्मिक लोगों-

राज्य रहस्य

को भी केवल सुख भोग न छोड़ सकनेके कारण कैसी-कैसी विपत्तियां झेलनी पड़ी हैं। सौभाग्यसे इस समय मेरे मनमें शुद्ध उपयोगकी प्रेरणा हुई है, तब आप ही बताइये कि मुझे राज्य तथा भोगोंमें कैसे आसक्ति हो सकती है। वरांगराजकी ये सब ही युक्तियां ऐसी थीं कि इनका
२५ उत्तर देना ही अशक्य था। ये शुभकर एवं गम्भीर तात्पर्यसे परिपूर्ण थीं। तर्कपूर्ण होनेपर भी मनोहर थीं। फलतः इन वचनोंके द्वारा वे किसी हदतक अपने उन पिताको भी समझा सके थे जो अपनी लोकज्ञता, समझ, आदि अनेक दृष्टियोंके कारण विशाल राजसभाके अगुआ बने थे।

२६ महाराज धर्मसेन उक्त विवेचनके आधारपर इस निश्चयपर पहुंच गये थे कि उनके पुत्रके हृदयमें वैराग्य रसकी धार ही नहीं वह रही थी अपितु परिपूर्ण बाढ़ आ रही थी, तथा

दृढ़ताकी-विजय

किसी भी प्रकारसे उसे सत्य श्रद्धापरसे थोड़ा भी डिगाना असंभव था। अतएव पुत्रके वक्तव्यको सुन कर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक उससे निम्न प्रकारसे वचन कहे थे।

२७ 'हे वत्स! संसारमें मनुष्यके प्रारब्ध कार्योंमें अनेक प्रकारसे विघ्न बाधाएं उपस्थित की

महा मोही भी जागे

जा सकती है, किन्तु इन सबसे बहुत बढ़कर तथा भव, भवान्तर बिगाड़नेवाली वह बाधा है जो कि धर्मके कार्योंमें डाली जाती है। यह सब भली-भांति समझते हुए भी पितृस्नेहसे प्रेरित हो कर मैंने वे सब वाक्य कहे थे जिनका परिणाम
२८ निश्चयसे दुखदायी ही होता। हो सकता है कि स्वयं अत्यन्त निःशक्त हो जानेके कारण, मोहनीय कर्मकी प्रबलतासे, अन्य पाप कर्मोंके उदयसे प्रेरित हो कर, अपनी गुरुता (लोकज्ञता) के अहंकार द्वारा, अथवा तुमपर अत्यन्त स्नेह होनेके ही कारण मैंने तुम्हें रोकनेके लिए ऐसे वाक्य कहे हों जो नीति और न्यायके सर्वथा विपरीत हों। किन्तु तुम उन सब बातोंका ध्यान न रखना क्यों कि तुम्हारा दृष्टिकोण विशाल है।

२९ वरांगराज अपने शैशवकालसे विषय विरक्त, शान्त तथा अन्तर्मुख थे, उनका धार्मिक कार्योंकी ओर रुझान तथा सत्कर्म करनेका साहस सर्वविख्यात था। अतएव महाराज

निजार्जितमेव

धर्मसेनको यह समझते देर न लगी कि वरांगराजकी वैराग्यबुद्धि अडोल और अकम्प है। तो भी वे बड़े कष्ट और अनुतापके साथ उन्हें
३० (वरांगको) दीक्षा ग्रहण करनेकी अनुमति दे सके थे। इसी क्रमसे उन्होंने अपने समस्त सगे सम्बन्धियोंकी अनुमति प्राप्त की थी। सेनापति, मंत्री, श्रेणी तथा गणोंके प्रधानोंको भी अपने निश्चयसे सहमत कर लिया था, तथा पुरके समस्त नागरिकोंको भी समझा कर अनुकूल करके विदा ले ली थी। पुरुषसिंह वरांगको सबसे अधिक कठिनताका अनुभव तो तब हुआ था जब वे अपनी माताओंसे विदा लेने गये थे, तो भी किसी युक्ति तथा उपायसे उनसे भी आज्ञा ले सके थे।

३१ सबके अन्तमें उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र सुगात्रको राज्य सभामें बुलाया था। कुमार

'नियोगीसुतको'

सुगात्र प्रकृतिसे ही विनीत थे, उसके भी ऊपर दी गयी सुशिक्षाके भारसे तो वह अत्यन्त विनम्र हो गये थे। शरीरका स्वास्थ्य तथा रूप भी क्या था देखते ही मूर्तिमान अनङ्गका धोखा लगता था। जब वह राजसभामें आ पहुंचे तो

वरांगराजने उन्हें अपने पास ही बैठा लिया था और राजाओंके सामने स्नेहपूर्वक समझाना प्रारम्भ किया था।

हे सुगात्र ! इधर ये तुम्हारे मातामह (नाना) विराजमान हैं, इनकी ही बराबरीसे तुम्हारे पितामह (दादा) बैठे हैं जो अपने गुणोंके कारण परम पूज्य हैं। यद्यपि ये दोनों महापुरुष भरतक्षेत्रके श्रेष्ठ राजा हैं तो भी तुम्हारे तो पूज्य पूर्वपुरुष हैं अतएव इसी नातेसे तुम इनकी सेवा करनेमें किसी बातकी कमी न रखना। जो अपने पूर्वपुरुष हैं, गुरुजन हैं, पूर्ण विद्वान हैं, उदार आचार-विचारशील हैं, दयामय कार्योंमें लीन हैं तथा आर्यकुलोंमें उत्पन्न हुए हैं, ऐसे समस्त पुरुषोंका विश्वास तथा आदर करना, प्रत्येक अवस्थामें इनके साथ मधुर ही वचन कहना। इनके सिवा जो पुरुष माननीय हैं उनको सदा समुचित सन्मान दे कर ही ग्रहण करना। ३२ ३३

पूज्य पूजाकार्या

जो लोग तुमसे शत्रुता करें उन्हें यान, आसन आदि राजनीतिका आश्रय ले कर पददलित करना। जो स्वभावसे ही दुष्ट हैं तथा कुकार्योंमे ही लीन हैं उनको निष्पक्ष भावसे दण्ड देना। पहिले अज्ञानसे विमूढ़ हो कर अपराध करनेके पश्चात् भी जो पश्चाताप करते हुए तुम्हारी शरणमें आ जावें, उनकी उसी प्रकार सर्वदा रक्षा करना जिस प्रकार मनुष्य अपने सगे पुत्रोंकी करता है। ३४

षड्ङ्गनीति

जो लंगड़े लूले हैं, जिनकी आंखें फूट गयी है, मूक हैं, बहिरे हैं, अनाथ स्त्रियां है, जिनके शरीर जीर्णशीर्ण हो गये हैं, संपत्ति जिनसे विमुख है, जो जीविका हीन हैं, जिनके अभिभावक नहीं हैं, किसी कार्यको करते करते जो लोग श्रान्त हो (और अधिक काम करने योग्य नहीं रह) गये हैं, तथा जो सदा ही रोगी रहते हैं, इनका विना भेद-भावके ही भरण पोषण करना। जो पुरुष दूसरोंके द्वारा तिरस्कृत हुए हैं अथवा अचानक विपत्तिमें पड़ गये हैं उनका भली-भांति पालन करना। ३५

क्लिष्टेषुकृपा

सम्पत्ति अवश्य कमाना लेकिन धर्म मार्गका अनुसरण करते हुए, काम सुखका सर्वांगीण भोग करना किन्तु यह ध्यान रखना कि उसके कारण अर्थकी विराधना न हो। इसी क्रमसे उतने ही धर्म (अणुव्रत) का पालन करना जो तुम्हारे काम सेवनमें अड़ंगा न लगाता हो। तीनों पुरुषार्थोंके अनुपातके साथ सेवन करनेकी यही प्राचीन प्रणाली है। जब कभी दान दो तो इसी भावनासे देना कि त्याग करना तुम्हारा ही कर्त्तव्य है। ऐसा करनेसे ग्रहीताके प्रति तुम्हारे हृदयमें सम्मानकी भावना जाग्रत रहे गी। जब-जब तुम्हारे सेवक कोई अपराध करें तो उनकी उपेक्षा ही नहीं अपितु क्षमा भी यही सोच कर करना कि मैं इन सबका स्वामी हूँ। ३६ ३७

पारस्पराविरोधेन त्रिवर्ग

लोकमें एक सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है कि जो अकारण ही वैर करते हैं, जिनके आचरण दोषोंसे ही परिपूर्ण हो जाते है, प्रत्येक कार्य करनेमें जो प्रमाद करते हैं, नैतिकताके पथसे जो भ्रष्ट हो जाते हैं, प्रकृति जिन पुरुषोंकी अत्यन्त चंचल होती है तथा जो वेश्या, मदिरा, परस्त्री-गमन, आदि व्यसनोंमें बुरी तरह उलझ जाते हैं, ऐसे पुरुषोंको लक्ष्मी निश्चयसे छोड़ देती है। इसके विपरीत जो पुरुषार्थी हैं, दीनता को पासतक नहीं फटकने देते हैं, सदा ही किसी न किसी कार्यमें जुटे रहते हैं, शास्त्र ज्ञानमें जो पारंगत हैं, शान्ति और दया जिनका स्वभाव बन चुकी हैं, सत्य जिनका सहचर है, शौच ३८ ३९

पाप मार्गपर पग न पड़े

जिनका कवच है और दम जिनका दण्ड है तथा उत्साह ही जिनकी श्वास है ऐसे कर्मयोगियों के पास सम्पत्तियां स्वयं ही दौड़ी आती हैं।

४० यदि आज्ञाकारी सेवक चाहते हो, अभिन्न हृदय मित्र चाहते हो, असीम कोश, अनुल्लंघ्य दण्ड, राज्यभक्त आमात्य, सदा अनुरक्त प्रजाकी अभिलाषा करते हो, अभेद्य किलोंके निर्माण करनेको उत्सुक हो, तथा इन सबसे भी बढ़ कर विद्वानोंके द्वारा समर्पित सन्मानको प्राप्त करनेके लिए उत्कंठित हो तो अपनी निजी

सफलताकी कुंजी

४१ साधनाके द्वारा अपने आपको इस सबका पात्र बनाओ। लौकिक योग्यताओंके अतिरिक्त, भगवान् अर्हन्तके द्वारा उपदिष्ट धर्मको मत भूलो। जो शास्त्रज्ञ हैं उनकी सत्संगति करो। जो तपस्वी सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र रूपी आभूषणोंसे भूषित हैं उनका सहवास करो, तथा मुनि-आर्यिका, व्रती श्रावक तथा श्राविकाओंसे युक्त चतुर्विध संघकी जब-जब अवसर मिले अपनी सुविधा तथा शक्तिके अनुसार सादर बन्दना

४२ करो। जो गुरुजन स्वयं गुणी तथा विद्वान होते हैं वे अपने पुत्रको उसके ही कल्याणके लिए अपनी बहुज्ञताके अनुकूल उपदेश देते हैं। इसी परम्पराके अनुकूल वरांगराजने जो, जो कुछ भी उपयोगी हो सकता था वह सब कुमार सुगात्रको भली-भांति समझाकर उसे अपने पूर्वजों-को सौंप दिया था।

४३ अन्तिम उपदेश समाप्त होनेके उपरान्त ही वरांगराजने गुरु तथा मित्र राजाओं, प्रधान आमात्यों, मंत्रियों, प्रधान सामन्तों तथा श्रेणी और गणोंके प्रधानोंके साथ कुमार सुगात्रका राज्याभिषेक स्वयं किया था, क्यों कि ऐसा करने-से ही उनका अपना वंश चलता रह सकता था और प्रजाका हित भी हो सकता था। अभि-षेक-विधि पूर्ण होते ही वरांगराजने अपने हाथोंसे ही कुमार सुगात्रको राजका पट्ट बांधा था। उसे मोतियोंकी माला पहनायी थी जिसमें बीच, बीचमें अद्भुत रत्न पिरोये हुए थे

'राज्य दियो बड़भागी'

४४ तथा उसके मध्यभागमें परम मनोहर विचित्र इन्द्रधनुष पड़ा हुआ था। राजा सुगात्रके शिरपर जो मुकुट रखा गया था उसकी प्रभासे मध्याह्नके

नूतन राजाका सम्मान

४५ सूर्यका उद्योत भी लजा जाता था। राजा सुगात्रके शिरपर जो धवल निर्मल छत्र लगाया गया था वह शरत्कालीन मेघोंके समान निर्मल तथा आकर्षक था, उसका दण्ड उत्तम निर्दोष सोने-का बना था तथा (आठके आधे अर्थात्) चार चमर भी सुन्दरियोंके हाथोंसे उसपर ढुरवाये थे। इन चमरोंकी डंडियां भी सोनेसे बनी थीं। उस राजसभामें एक, दो नहीं अनेक ऐसे

४६ राजा विराजमान थे जिन्होंने अपने भुजबलके सहारे ही विशाल राज्य तथा महापुरुषोंके लिए आवश्यक गुणोंको अर्जित किया था, तो भी नूतन राजलक्ष्मीसे संयुक्त हो कर सुगात्रकी कान्ति इतनी अधिक बढ़ गयी थी कि वह उस समय ऐसा मालूम देता था जैसा कि ग्रहोंके बीचमें चन्द्रमा लगता है।

४७ राज्याभिषेककी घोषणा करनेके लिए उस समय पूरी आनर्तपुरीमें हर ओर मृदंग और दुंदुभियां बज रही थीं। इनसे विशाल मेघोंकी गर्जना सदृश गम्भीर नाद निकल रहा था। आनन्द विभोर जनता भी उच्च स्वरसे 'जय, जीव,' आदि शब्दोंको कर रही थी तथा ऐसा प्रतीत होता था कि नूतन सुयोग्य पतिको पा कर पृथ्वी रूपी तरुणी भी परम संतुष्ट थी।

राज्याभिषेक महोत्सव

राज्यारोहण संस्कारके समाप्त होते ही सम्राट वरांग अपने आत्मीयजनोंके साथ तुरन्त हो जिनालयकी ओर चल दिये थे, क्योंकि वैराग्यमें जो अनुपम सुख है उसपर ही उनका आकर्षण था। अपने सुयोग्य ज्येष्ठ पुत्रको उन्होंने समस्त राजपाट सौंप कर उसके दायित्वोंसे मुक्ति पा ली थी। इन उपायोंसे उन्होंने आभ्यन्तर और बाह्य दोनों परिग्रहोंसे छुट्टी पा ली थी। जैसा कि पहिले कह चुके हैं सम्राट वरांगको विश्वास था कि जैनधर्म ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है फलतः उन्होने उस धर्मके आदर्श अर्हन्त प्रभुकी शिष्ट पुरुषोंके साथ अष्टाह्निक पूजा की थी। ४८ ४९

'छोड़ बसे वन'

इस पूजाकी महार्घ सामग्री तथा अलौकिक सजधज अभूतपूर्व थी। पूजाके दिनोंमें वरांगराजने उपवास, व्रत तथा यम (जीवन पर्यन्त त्याग) ग्रहण करके अपने आत्माको सब दृष्टियोंसे नियंत्रित कर दिया था। इस कठोर साधनाने वरांगराजकी लेश्याओं (विचारों) को अति विशुद्ध कर दिया था। जब पूजाविधि समाप्त हुई तब सम्राट आनन्दविभोर हो कर वीतराग प्रभुकी मूर्तिके सामने खड़े हो गये थे। भक्तिसे द्रुत होकर वे कर्मजेता जिनेन्द्रके विशाल गुणोंकी स्तुति कर रहे थे और एक विचित्र अन्तरंग सुखका अनुभव करते हुए उन्होंने पूजाकी शेषा (आशिष) को ग्रहण किया था। जब स्तोत्र पाठ समाप्त हो गया तब उन्होंने जिनबिम्बको साष्टांग प्रणाम किया था। इसके उपरान्त पूरे जिनालयकी तीन प्रदक्षिणाएं की थीं। इस प्रकार अन्तिम पूजाको समाप्त करके वे जिनालयके बाहर आये थे और उस पालकीपर आरूढ़ हुए थे जिसकी प्रभा सूर्यकी प्रखर किरणोंके उद्योतका भी तिरस्कार करती थी। वरांगराजकी पालकीके आगे आगे गगनचुम्बी केतु लहराते जा रहे थे। उस समय भी पालकीके ऊपर धवल निर्मल छत्र शोभा दे रहा था तथा चमर ढुर रहे थे। इनके अतिरिक्त आगे-पीछे अनेक ध्वजाएं फरफरा रही थीं, इनकी शोभा नेत्रोंमें घर कर लेती थी। ५० ५१ ५२

अष्टाह्निकपूजा

महा निष्क्रमण

इस दम्भहीन रूपसे वनको जाता हुआ राजा इन्द्रके समान लगता था। मृदंग जोरसे पिट रहे थे, पटहोंकी ध्वनि भी तीव्र और गम्भीर थी, शंखोंकी घोषणा आकाशको व्याप्त कर रही थी। हाथियोंकी गम्भीर चिंघाड़ थी, घोड़े हिनहिना रहे थे, तथा मागध जातिके देव वैराग्य भावनाकी पुष्टिमे सहायक पुण्यमय कीर्तन करते जा रहे थे। इन सब ध्वनियों ने मिल कर उस रोरको उत्पन्न कर दिया था जो कि समुद्रके क्षुब्ध होनेपर होता है। बड़े बड़े माण्डलिक राजा, प्रधान आमात्य सामन्तोंके झुण्ड, अनेक श्रेष्ठ नृपति, आनर्तपुरके नागरिक अन्य सेवक तथा अनुरक्त जनोंके साथ ही सम्राट वरांग अपने घरसे बाहर हुए थे। उस समय भी उनको पदाति, गजारूढ़, अश्वारोही तथा रथियोंकी सेना घेरे हुए थी। ५३ ५४

'तिन पद धोकहमारी'

सम्राट वरांगकी सब ही रानियोंने धर्मसाधनामे ही अपने चित्तको लगा दिया था अतएव वे सब भी प्राणपतिके साथ सार्थ गृह छोड़ कर चल दी थीं। कोई कोई रानियां उत्तम रथोंपर आरूढ़ थी। कुछ रथोंमे सुन्दर तथा सुलक्षण घोड़े जुते हुए थे। शेष रानियोंने पालकियोंपर बैठना ही पसन्द किया था। ये पालकियां बड़ी ही मनोहर थी। भोग विलासको ठुकरा कर वनको प्रयाण करते हुए वरांगराजको देख कर, सदाशय पुरुष जिन्हें धर्ममें श्रद्धा थी वे बड़े प्रसन्न हुए थे। ५५ ५६

यथार्थ धर्मपत्नी

कुछ ऐसे भी दुर्बुद्धि थे जो उनकी निन्दा करते थे क्यों कि मोहरूपी महा अन्धकारने
५७ उनका ज्ञाननेत्र ही फोड़ दिया था, इसी कारण उनके हृदय इतने पतित हो गये थे। वे कहते थे
कि 'राजा उस मूर्ख शृगालके समान है जिसने लोभमें आ कर जलमें
खलजन
मछली पकड़नेके लिए मुख खोल कर दोनों (मुखकी वस्तु तथा मछली)
से हाथ धोये थे। अथवा उस कामिनीके समान है जो एक युवकके रूपपर मोहित हो गयी
थी किन्तु थोड़ी सी असावधानीके कारण पति तथा चोर (प्रेमी) दोनोंके द्वारा छोड़ दी गयी
५८ थी। यही गतिविधि वरांगराजकी दिखती है—ये सामने पड़े हुए विपुल वैभव तथा असीम
भोग सामग्रीको इसलिए छोड़ रहे हैं कि इन्हें देवगतिके शुद्ध सुख तथा अतीन्द्रिय मोक्षसुख
प्राप्त हो। इनसे बड़ा मूर्ख कौन होगा? इन सुखोंको किसीने देखा भी है। ये भी शृगाल
और पुंश्चलीके समान उभयतः भ्रष्ट होंगे।

५९ स्वर्ग है अथवा नहीं है इस सिद्धान्तपर कैसे आस्था की जा सकती है? क्योंकि यह
सब कल्पनाएं उन लोगोंकी हैं जिन्हें पहिले किसी बातपर श्रद्धा हो गयी थी तथा बादमें उसी-
की पुष्टिमें उन्होंने अपने ज्ञानका उपयोग किया था। सत्य तो यह है कि
नास्तिकमत
यदि यहांसे गया कोई व्यक्ति अथवा स्वर्गसे आया कोई प्रत्यक्ष द्रष्टा
इसका समर्थन करता तब तो इसे प्रमाण मानते। जो मूढ है वही हाथमें आयी वस्तुको छोड़-
६० कर वनको दौड़ता है और वहां पर किसी व्यर्थ पदार्थके पीछे टक्कर मारता फिरता है। जो
व्यक्ति इतने विशाल सम्राजको छोड़ कर उस इन्द्रपदकी कामना करता है जिसे किसीने देखा भी
नहीं है उसे मूर्ख न कहें तो और क्या कहें? उत्तम विधि पूर्वक रांधे गये सुस्वाद तथा पवित्र
६१ प्रस्तुत भोजनकी थालीको पैरसे ठुकरा कर जो अज्ञ व्यक्ति नीरस भोजनको जिस किसी प्रकारसे
पकाना प्रारम्भ कर देता है। जिसमें यह भी संभव है कि उससे पकाया गया भोजन
पहिले पके गा भी या नहीं तथा पक कर भी खाने योग्य हो गा या नहीं? यही परिस्थिति
हमारे राजाकी है, आनर्तपुरका विशाल राज्य सामने हैं इन्द्र पदकी कौन जानता है, और
जाननेसे भी क्या प्रयोजन? क्योंकि इन्हें वह प्राप्त हो ही जायगा ऐसा विश्वास कौन
दिला सकता है?

६२ पाँचों इन्द्रियोंके स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द ये पांच विषय हैं। संसारमें यह
सत्य मानता भी चली आरही है कि इन विषयोंका यथेच्छ सेवन करना चाहिये। इन्द्रियोंको
परम प्रिय पदार्थ अधिक मात्रामें उपलब्ध हों, तो फिर क्या आवश्यकता
यावज्जीवं सुखं जीवेत्
है कि कोई भी समझदार व्यक्ति दूसरे पदार्थोंको खोजता फिरे। हमें तो
६३ इस राजाको देखकर आश्चर्य होता है, प्रतीत होता है कि इसकी बुद्धि बिगड़ गयी है, इसीलिए
उपादेय भोग विषयोंको छोड़ रहा है, समझमें नहीं आता यह सब क्या कर रहा है? ज्ञात
होता है कि इसका कोई भी सगा सम्बन्धी अथवा मित्र ऐसा नहीं है, जो साहस करके इसे
६४ समझाये कि वास्तवमें हित क्या है। अज्ञानी ऐसे अनेक वचनोंको सम्राटकी समालोचनामें
जोर जोरसे कह रहे थे। उनके ये सब उद्गार निरर्थक ही थे, पर अनार्योंसे और आशा ही
क्या की जा सकती थी? किन्तु ऐसे भी साधु पुरुष थे जो स्वभावसे ही सज्जन थे, जिन्होंने
धर्मशास्त्रके तत्त्वोंका गम्भीर मनन किया था। राजपाट छोड़ कर दीक्षा लेनेके लिए जाते हुए

सम्राट वरांगपर जब उन लोगोंकी दृष्टि पड़ी तो उन्होंने उन मूढ़ प्राणियोंको उद्देश्य करके कुछ वचन कहे थे।

'जगतके जन्ममरण चक्रमें पड़े जीव धर्ममय आचरण करके ही स्वास्थ्य, यश, स्नेही कुटुम्ब आदि सुखों, प्रभुता तथा विविध सम्पत्तियोंको प्राप्त करते हैं, इस विश्व विख्यात सिद्धान्तको कौन नहीं जानता है? पूर्व कर्मोंके बिना अपने आप ही लोग किस कारणसे अपनी वर्तमान पर्यायको पा सके हैं? आप लोगोंकी मूर्खता वास्तवमें दयनीय है जो आप लोग ऐसी बातें कर रहे हैं जिनका आगमसे समर्थन नहीं होता है। बड़ी साधारण सी बात है कि धान, ईख, गेहूं, जौ आदि जितने भी अनाज हैं, यदि इनके बीज न हों तो किसी की क्या सामर्थ्य है कि अंकुर उगा दे। इसी प्रकार तपस्या रूपी बीजको त्याग कर यह कभी भी संभव नहीं है कि जीव स्वर्ग और मोक्षरूपी फलोंका स्वाद पा सके। जो सुखरूपी फलोंको खानेके लिए उत्सुक हैं उन्हें जानना चाहिये कि जिनपूजा, शुद्ध तप, आदर्श शील तथा विधिपूर्वक दान ये चारों ही सुखरूपी वृक्षके बीज हैं। जो पुरुषार्थी पुरुष इन बीजोंको अपने वर्तमान जीवनरूपी भूमिपर बो देंगे वे धीर वीर पुरुष ही इस जन्म तथा अगले जन्मोंमें यथेच्छ सुखोंका निरन्तराय भोग कर सकें गे। ६५ ६६ ६७

नीतिनिपुणाः स्तुवन्तु

पुण्यात्मा पुरुषको देख कर ही गुणी पुरुष कह उठते हैं कि यह मनुष्य शुभकर्मोंका कर्त्ता है। क्योंकि उसके शरीरकी कान्ति, मुख मण्डलकी द्युति, प्रत्येक विषयका प्रामाणिक ज्ञान, साथ, साथ चलता हुआ वैभव, उसके आसपासका सुखमय वातावरण, धन तथा अतुल धान्य आदि ही उसके पूर्व जन्मके शुभकर्मोंके पूर्ण परिचय देते हैं। पूर्व भवमें जो आन्तरिक श्री (शान्ति, दया आदि) तथा तपस्या संचित की जाती है, उसीका यह फल है कि मनुष्य अपने वर्तमान भवमें सब प्रकारके सुखों तथा भोगोंका आनन्द लेता है। तथा जो व्यक्ति अपने वर्तमान जीवनमें ऐसे ऐसे विशाल पुण्यकार्य करता है जिनका परिपाक होनेपर महा फल प्राप्त हो सकते हैं। वही मनुष्य अपने भावी जीवनमें देवों तथा असुरोंकी प्रभुताको प्राप्त करता है। ६८ ६९

इसी क्रमको समझ सकनेके कारण सम्राट वरांग जानते हैं कि उनके समस्त वैभव पूर्वभवमें आचरित शुभकर्मोंके परिपाक होनेके कारण ही उन्हें प्राप्त हुए हैं। किन्तु वे अगले जन्ममें देवोंके राजा इन्द्र होना चाहते हैं इसीलिए इस विशाल सम्राजकी लक्ष्मीको छोड़ कर तपस्या करनेके लिए वनको प्रयाण कर रहे हैं। ७०

सम्राट ज्ञानी हैं

इस लोकमें वे पुरुषसिंह ही धन्य हैं जो कुवेर सदृश विशाल सम्पत्ति तथा इन्द्रतुल्य प्रचुर भोगविषयोंकी सामग्रीको भी बिना हिचकिचाहटके छोड़ देते हैं। हम लोगोंके आन्तरिक पतनकी भी कोई सीमा है? जो हम लोग कुछ भी पास न होनेपर भी भोगविषयोंके संकल्प तथा आशाको भी नहीं छोड़ सकते हैं। ७१

धन्य यह सुबुद्धि

जब कि कितने ही लोग इन ज्ञानमय उद्गारोंको कह कर ही तुष्ट हो गये थे तब ही कितने ही पुरुष जिनका आत्मा मरा न था तथा जिनका आत्मबल दीन न हुआ था वे कह उठे थे—अरे! सम्राट जा रहे हैं और हम हाथपर हाथ धरे बैठे हैं? हम भी उन्हींके साथ जांयगे और दीक्षा ग्रहण करेंगे। इस आकारकी प्रतिज्ञा करके वे भी सम्राट्के साथ चल दिये ७२

७३ थे।' उस समय नागरिकोंके मनमें जो जो भाव आते थे उन सबको वे अपने वचनों द्वारा व्यक्त करते थे। यही कारण था कि उनके पूर्वोक्त उद्गारोंमें किसी भी विषयके विवेचनकी छायातक न थी। पौर जन अपने मनोभावोंको व्यक्त करनेमें लीन थे और वरांगराज धीरे धीरे चलते हुए नगरके बाहर जा पहुंचे थे, क्योंकि उनके राग तथा द्वेषके बन्धन टूट चुके थे।

समर्थ ज्ञानी

७४ वरांगराज धीरे धीरे आगे बढ़ते जाते थे, आनर्तपुर उनके पीछे रह गया था, इसी क्रमसे वे नाना जातिके वृक्षों तथा पुष्पोंसे व्याप्त वनोंको भी पार करते जा रहे थे। इन वनोंमें विशाल निर्मल तालाब थे जो कि लाल कमलोंसे पटे हुए थे। पर सम्राटको इन सबका ध्यान न था क्योंकि उनकी बुद्धि तपमय ही हो रही

सो सब नीरस लागे

७५ थी। इस गतिसे चलते चलते वे मणिमन्त (पर्वतका नाम) सिद्धाचलपर जा पहुंचे थे। यह वही पर्वत था जिस जिसपर श्री वरदत्त केवली महाराज विराजमान थे। वरदत्त केवली भगवान अरिष्टनेमिके गणधरोंके प्रधान थे, उनके परिपूर्ण (केवल) ज्ञान, तप तथा चरित्रकी विमल कीर्ति देश देशान्तरोंमें

गुरुदर्शन

७६ छायी हुई थी। उनके दर्शन करते ही ऐसा लगता था कि वे शरीरधारी धर्म ही थे। उनकी शुद्ध तथा सर्वदर्शी आंख 'केवल ज्ञान' ही था, वे इतने बड़े महर्षि थे कि विद्याधर और देव भी सतत उनकी पूजा करते थे। वे भव्यजीवोंके कल्याणके लिए सदा ही धर्मोपदेश रूपी अमृतकी वृष्टि करते रहते थे। उनका ज्ञान तथा चरित्र इतना विशुद्ध था कि वे मनुष्योंमें

७७ सुमेरुके समान उन्नत प्रतीत होते थे। ज्यों ही राजा लोग पर्वतके निकट पहुंचे और उनकी दृष्टि महाराजके श्रीचरणोंपर पड़ी त्यों ही वे सबके सब एक क्षणमें ही अपने वाहनोंपर से उतरकर भूमिपर आ गये थे। तुरन्त ही उन सबने मुनिराजकी तीन प्रदक्षिणाएं की थीं और

७८ मुनिराजके चरणोंमें अपने मस्तकोंको झुका कर प्रणाम किया था। वरांगराज भी बड़े भक्ति भावसे श्री केवलीमहाराजके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने विनम्रता पूर्वक जा बैठे थे। उस समय उनके हर्षका पार न था, मुनिराजके शान्त प्रभावसे उनका मोह और भी शान्त हो गया था। यही कारण था कि वे हाथ जोड़ कर बैठे थे और अवसर मिलते ही उन्होंने अपने मनोभावोंको महाराजपर प्रकट कर दिया था।

७९ हे सर्वज्ञदेव ! आप मनुष्य, विद्याधर, देव सब हीके पूज्य हैं। संसारके प्राणी आपकी बन्दनाके लिए तरसते हैं। आप स्वयं सर्वोत्तम आश्रम (सयोगकेवली अवस्था) को प्राप्त कर चुके हैं यही कारण है कि ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास इन चारों आश्रमोंके मनुष्य आपकी पूजा करते हैं। तीनों लोकोंके जीवोंके

गुरु प्रार्थना

लिए आप ही एकमात्र आधार हैं। मैं स्वयं संसारसे डरा हुआ हूं इसीलिए त्राण पानेके लिए

८० आपकी शरणमें आया हूँ। दारुणसे दारुण दुखोंके भण्डार नरक आदि चारों गतियोंकी असंख्य योनियोंमें अनादि कालसे टक्कर मार रहा हूँ। वहाँपर अनगिनते दुखोंकी ठोकरें खाते खाते मैं सर्वथा श्रान्त हो गया हूँ, अब, और एक पद्ग भी चलनेकी सामर्थ्य शेष नहीं रह गयी हैं, इसीलिए आपकी शरणमें आया हूँ। हे ऋषिराज ! मुझे कृपा करके उसी देशमें ले चलिये

८१ जिसमें कुकर्मोंकी धूलि उड़ती ही न हो, जिसकी शान्तिको भंग करके जन्म तथा मरणके तूफान

न उठते हों तथा जिस पवित्र स्थानपर मृत्युकी गति ही नहीं, अपितु उसके चरणोंने छुआ भी न हो। हे प्रभो, देर मत करिये।

वरांगराजकी उक्त प्रार्थनाको सुनकर केवली महाराजने उसके कल्याणकी भावनासे प्रेरणा पाकर उसे समझाना प्रारम्भ किया था। महाराजकी कण्ठध्वनि विषयकी गम्भीरताके अनुकूल मेघ गर्जनाके समान गम्भीर शान्त थी। उन्होंने कहा था–हे राजन्! अब आप इन्द्रियोंके विषयोंमें लीन मत रहिये, अपनी शक्तिके अनुसार जितनी जल्दी हो सके उन्हें छोड़िये। गणधरोंके प्रधान श्रीवरदत्त केवलीने राजाको सबही बातें समझायी थीं, विशेषकर यह दिखानेका प्रयत्न किया था कि विशुद्ध कुल, शरीर, मति आदि पाना कितना कठिन है, ये सब पाकर भी सत्य धर्मको पाना और उसे हृदयंगम करना और भी दुष्कर है, इतना यदि किसी उपायसे हो भी जाय तो सद्धर्मके पालन करनेकी प्रवृत्ति तथा अन्तमें मोक्ष प्राप्त कर लेना तो अत्यन्त ही दुष्कर है। लौकिक कार्य भी ऐसे हैं कि उनको पूर्ण करनेके लिए चेष्टा करनी पड़ती है तथा जो पुरुष सतत चेष्टा करते हैं उन उद्योगी पुरुषोंको ही सफलताका सुख मिलता है, अतएव हे राजन्! आप भी उद्योग करें, उसकी कृपासे ही आपको स्वर्ग आदि सुखोंसे लेकर मोक्ष महासुख पर्यन्तके सब ही अभ्युदय प्राप्त होंगे।

८२

चारित्रमेव

८३

८४

वरांगराज सन्मतिके अक्षय भंडार थे, धर्मके रहस्यको उन्होंने सुना तथा समझा था, सांसारिक राग उनका शान्त हो चुका था, किसी निर्णयको करके उससे न डिगना ही उनका स्वभाव था। अतएव उन्होंने विशाल साम्राज्यको वैसे ही छोड़ दिया था जैसे कोई निर्माल्य द्रव्यकी ममता करता ही नहीं है तथा अपने गुणा तथारूप युक्त अन्तःपुरको ऐसी सरलतासे भूल गया था जैसे ज्ञानी नाटकके दृश्योंको भूल जाते हैं। नगर, खनिकोंके नगर, अडम्ब, खेड़ (ग्राम) आदिसे आरम्भ करके सम्राट वरांगने रथ आदि वाहन, बिछाने ओढनेके कपड़े, भूषण आदि सब ही बाह्य परिग्रहोंको ही नहीं उतार फेंका था अपितु इनकी अभिलाषा, राग, द्वेष, अपने जीवनका मोह आदि जितने भी आभ्यन्तर (मानसिक) परिग्रह हो सकते थे उन सबको भी त्याग दिया था। मिथ्या तत्त्वोंके श्रद्धान तथा कषाय जनित सब ही दोषोंको धो डाला था तथा लोभरूपी महा शत्रुको (विवेक खड्गसे) काट डाला था। परम विवेकी वरांगराजने उस शुद्ध बुद्ध रूप (दिगम्बरत्व) को धारण किया था जो कि जन्मके समय प्रत्येक जीवका होता है तथा जिसे वे पुरुष ग्रहण कर ही नहीं सकते हैं जिनकी विषयलोलुपता शान्त नहीं हुई है।

८५

सज्ज्ञानमेव

८६

८७

सम्राटको दिगम्बर दीक्षा लेते देखकर दूसरे कितने ही राजाओं, सामन्तों, कुटुम्बियों, ब्राह्मणों, सेठों तथा अन्य उदाराशय व्यक्तियोंने भी उनके साथ ही प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी, क्योंकि उनके चित्त उस समय भी राजाकी भक्तिसे ओत-प्रोत थे। विपुल धनराशिका एक मात्र स्वामी समस्त वनोंके उपजका एकमात्र अधिकारी नरेन्द्रदत्त, अनन्तसेन, चित्रसेन आदि राजाओंने दीक्षा ग्रहण की थी क्योंकि उनकी सुमति हित तथा अहितको परखनेमें पटु थी। सेठ सागरवृद्धि आदि राष्ट्रके सबही सेठोंको सम्राट वरांगके प्रति इतना अधिक अनुराग था कि वही उन्हें उनके (वरांगके) पथपर चलानेके लिए पर्याप्त था फलतः इन सब लोगोंने भी प्रव्रज्या ग्रहण कर ली थी। जिन पृथ्वीपतियोंके शरीर अत्यन्त

८८

धर्ममें साथी

८९

९०

सुकुमार और कोमल थे। जिन्हें नित, नित नये नये विचित्र भोगों तथा सुखोंका आस्वाद करनेका अभ्यास था। उन्हीं धीर वीर पुरुषोंने उस दिन अपरिमित सम्पत्ति, सिद्धि तथा विलासके आधार विशाल राज्योंको ठुकरा दिया था तथा मानसिक कल्पनाओंके शत्रु उग्र तप

९१ तथा भांति भांतिके शारीरिक क्लेशको कर रहे थे। "किन्तु हम तो जन्मसे ही विभव और प्रभुतासे दूर हैं, जीविकाको उपार्जन करनेके लिए प्रतिदिन दूसरोंके द्वारा इधर उधर दौड़ाये जाते हैं, तब हम तो सरलतासे त्याग कर सकते हैं, फिर हम क्यों न तप करें" ऐसा कहकर कितने ही लोगोंने तुरन्त ही दीक्षा धारण कर ली थी।

९२ सम्राट वरांगके साथ साथ उनकी रानियां भी गयी थीं, यद्यपि वे विचित्र आभूषणों तथा रंग विरंगे वस्त्रोंसे सुसज्जित थीं तो भी उनकी कमलोंके समान सुन्दर, सुकुमार तथा बड़ी बड़ी आंखोंसे वैराग्य टपक रहा था। उनका चित्त भक्ति रससे ओत-प्रोत था। धर्म साधनका शुभ अवसर पा सकनेके कारण वे अत्यन्त प्रसन्न

पतिपरायणा पत्नियाँ

९३ थीं। फलतः इन्होंने भी परिक्रमा करके ऋषिराजके चरणोंमें प्रणाम किया था। इसके उपरान्त वे क्रमशः अन्य मुनियों और आर्यिकाओंके समीप गयी थीं, तथा आगमके अनुकूल विधिसे उस सबकी विनय तथा बन्दना की थी। बन्दना समाप्त होते ही वे सब सुन्दरियां किसी एकान्त स्थानमें चली गयी थीं और वहां पर उन्होंने उन महा मूल्यवान आभूषणों आदिको

९४ उतारकर भूमिपर डाल दिया था, क्योंकि वे संसारकी ममता मोहको छोड़ चुकी थी। लज्जा ढकनेके लिए उन्होंने तब केवल एक श्वेत सारी धारण कर ली थी। सोने मणियोंके शारीरिक भूषणोंके स्थानपर उस समय उन्होंने महाव्रतीके गुणों तथा शीलों रूपी आत्माके भूषणोंको धारण किया था। धर्मके तत्त्वोंको भली भांति समझकर उन सबने जिनेन्द्रदेवके द्वारा उपदिष्ट सत्य मार्गके विधवत् पालनमें मन लगा दिया था।

९५ महामंत्रियोंकी पत्नियों, राजाके गुरुजनोंकी जीवन सहचरियों, आमात्य, पुरोहित, नगरके श्रेणी तथा गणोंके प्रधानों तथा सम्पन्न नागरिकोंकी प्राणाधिकाओंने देखा कि अनन्त सुख भोगकी अधिकारिणी राज बधुएं भी अपने अगले भवको सुधारनेके लिए दीक्षा ग्रहण कर रही थी फलतः उन सब तरुणियोंको विषयरत रहना अशक्य हो गया था और उन्होंने भी तुरन्त ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी।

अन्य विरक्त

९६ इस घटनाक्रम से जगतने देखा था कि विशाल सम्राज्यके दायित्वसे मुक्ति लेकर सम्राट वरांगने महाव्रत, साधुके गुणों (कर्त्तव्यों) तथा जैनी तपस्याके मार्गको अपना लिया था। यह सब देखकर ज्ञानमती तरुणी राजबधुएं हृदय से प्रसन्न ही हुई थी तथा अपना कल्याण करनेके लिए उन सबने भी उग्र तपस्याका व्रत लिया था। सुकुमारी किन्तु विरक्त राजतरुणियोंके द्वारा शरीरसे उतार कर

तपसूर

९७ भूमि पर फेंक दिये गये उत्तम मुकुट, श्रेष्ठतम अंगद, महार्घ्यहार, अद्भुत कुण्डल आदि भूषणों से पटी हुई भूमिको देखकर (उत्तर तथा देव) कुरू भोगभूमिकी याद आ जाती थी जहाँ पर

९८ कल्पवृक्षोंसे गिरे भूषन वसन भूमिपर पड़े रहते हैं। उन भूषणोंसे पटी हुई भूमिकी शोभा निर्मल शरद ऋतुमें पूर्णिमाके चन्द्रमाकी शीतल धवल कान्तिका अपहरण करती थी। अथवा उसे देखते ही उस आकाशकी उस श्रीका स्मरण हो आता था जो कि मेघ उड़ जानेपर समस्त ताराओंके निर्मल प्रकाशसे होती है। अथवा समस्त ग्रहों, नक्षत्रों तथा अन्य ज्योतिषी

देवोंके विमानोंसे भासित आकाशकी जो अनुपम शोभा हो सकती है। इस विधिसे दीक्षा समारोह समाप्त हो जाने पर साथ आये हुए राजाओं तथा नागरिकों ने अपनी पत्नियोंके साथ यतिपति वरदत्त मुनिकी वन्दना की थी। इसके उपरान्त सब मुनियों, नूतन दीक्षित साधुओं, संयमियों, त्यागी पुरुषों तथा स्त्रियों की यथायोग्य विनति करके अपने अपने नगरको लौट गये थे।

चारों वर्ग समन्वित सरल शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक

धर्मकथा में वरांगदीक्षाधिकार नाम एकोनत्रिंशतितम

सर्ग समाप्त।

त्रिंश सर्ग

१ वरांगराज तथा अन्य सब ही मुमुक्षु जीवोंके दीक्षा संस्कारकी समाप्ति हो जानेपर सम्राटके स्नेही तथा प्रिय बन्धु बान्धव तथा अन्य सब दीक्षित सज्जनोंके स्वजन (घरके लोग)

वियोगीजन

किसी प्रकार ढाढस बांध कर अपने अपने नगरोंके लिए लौट पड़े थे। वे रास्तेमें मुनियोंकी चर्चा करते हुए चले गये थे। इधर जिन पुरुषसिंहों तथा ज्ञानमती देवियोंने दीक्षा ग्रहण की थी उनकी प्रसन्नता उसी सीमा तक जा पहुँची थी जिसको कीचड़ से उभरे हाथीका आल्हाद स्पर्श करता है।

२ नव दीक्षित आर्यिकाओं तथा मुनियोंने समस्त आभूषण उतार डाले थे, सबने ही विधिपूर्वक केशलोंच किया था। मोह ममताकी पाशसे छूट कर बुद्धि निर्मल तथा इन्द्रियां

तपरत योगिनिएं

सत्पथ-गामिनी हो गयी थीं। मानसिक विचार शुभ तथा शुद्ध हो गये थे। आपाततः धार्मिक रुचि पूर्ण विकासको प्राप्त हुई थी। संयम, साधना आदिके रहस्यको जाननेके लिए वे सब महाराज वरदत्तकी सेवामें हाथ जोड़े हुए ३ गये थे, और अपने अपने योग्य स्थान पर बैठ गये थे। दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर लगाये हुए इन सब साधुओंको जब केवली महाराजने अपने पास बैठा देखा तो पलक मारते ही वे समझ गये थे कि इन सबने पांचों इन्द्रियोंके विषयों तथा आशाको जीत लिया है। केवली महाराज बाह्य प्रेरणाके विना ही अन्य जीवों पर दया करते थे अतएव उन्होंने इन सबको महाव्रतोंकी चर्याके विषयमें विशेष उपदेश दिया था।

४ पूर्ण लोकमें व्याप्त स्थावर तथा जंगम जीवोंको उनके भावोंकी अपेक्षासे चौदह श्रेणियोंमें बांटा है, शास्त्रोंमें इन श्रेणियोंको 'गुणस्थान' संज्ञा दी है। केवली महाराजने समस्त यतियोंको

चौदह गुणस्थान

विशद रूपसे यह समझाया था कि मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व ये तीनों क्या हैं और किस प्रकारसे इन तीनों परिणामोंके ही कारण चौदह (मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अनिवृत्ति करण उपशान्त मोह क्षीण मोह, सयोगकेवली तथा अयोग-केवली) गुणस्थान होते हैं।

५ दण्डों (त्रियोग) के सब भेदों, मन, वचन तथा काय इन तीनोंकी गुप्ति (संयम) क्रोध, मान, माया, तथा लोभ चारों कषायोंका क्षय, जीव आदि छहों द्रव्योंका स्वरूप, पृथ्वी

मुनिधर्म

आदि षड्निकायोंका विस्तार तथा क्षमा, मार्दव आदि दशों प्रकारके मुनियोंके धर्मोको गुरुवरने भली भाँति समझाया क्योंकि सब श्रोता भी ६ अपने नूतन आचरणके प्रति पूर्णरूप से जागरूक थे। सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चरित्रकी एक एक विगतका सांगोपांग उपदेश दिया था। चारों गतियोंकी निस्सारताको प्रदर्शित किया था। दशके आधे अर्थात् पांचों महाव्रतोंको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तथा अनाचारकी दृष्टियों से स्पष्ट किया था। छह प्रकारके बाह्य तथा छह ही प्रकारके अभ्यन्तर तपके विषय में विशेष कर पूरा पूरा परिचय दिया था क्यों कि उसकी ही

देवोंके विमानोंसे भासित आकाशकी जो अनुपम शोभा हो सकती है। इस विधिसे दीक्षा ९९ समारोह समाप्त हो जाने पर साथ आये हुए राजाओं तथा नागरिको ने अपनी पत्नियोंके साथ यतिपति वरदत्त मुनिकी वन्दना की थी। इसके उपरान्त सब मुनियों, नूतन दीक्षित साधुओं, संयमियों, त्यागी पुरुषों तथा स्त्रियों की यथायोग्य विनति करके अपने अपने नगरको लौट गये थे।

चारों वर्ग समन्वित सरल, शब्द-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक
धर्मकथा में वरागदीक्षाधिकार नाम एकोनत्रिंशतितम
सर्ग समाप्त।

त्रिंश सर्ग

१ वरांगराज तथा अन्य सब ही मुमुक्षु जीवोंके दीक्षा संस्कारकी समाप्ति हो जानेपर सम्राटके स्नेही तथा प्रिय बन्धु बान्धव तथा अन्य सब दीक्षित सज्जनोंके स्वजन (घरके लोग) किसी प्रकार ढाढस बांध कर अपने अपने नगरोंके लिए लौट पड़े थे।

वियोगीजन

वे रास्तेमें मुनियोंकी चर्चा करते हुए चले गये थे। इधर जिन पुरुषसिंहों तथा ज्ञानमती देवियोंने दीक्षा ग्रहण की थी उनकी प्रसन्नता उसी सीमा तक जा पहुँची थी जिसको कीचड़ से उभरे हाथीका आल्हाद स्पर्श करता है।

२ नव दीक्षित आर्यिकाओं तथा मुनियोंने समस्त आभूषण उतार डाले थे, सबने ही बिधिपूर्वक केशलोंच किया था। मोह ममताकी पाशसे छूट कर बुद्धि निर्मल तथा इन्द्रियां सत्पथ-गामिनी हो गयी थीं। मानसिक विचार शुभ तथा शुद्ध हो गये

तपरत योगिनिए

थे। आपाततः धार्मिक रूचि पूर्ण विकासको प्राप्त हुई थी। संयम, साधना आदिके रहस्यको जाननेके लिए वे सब महाराज वरदत्तकी सेवामें हाथ जोड़े हुए

३ गये थे, और अपने अपने योग्य स्थान पर बैठ गये थे। दोनों हाथ जोड़ कर मस्तक पर लगाये हुए इन सब साधुओंको जब केवली महाराजने अपने पास बैठा देखा तो पलक मारते ही वे समझ गये थे कि इन सबने पांचों इन्द्रियोंके विषयों तथा आशाको जीत लिया है। केवली महाराज बाह्य प्रेरणाके विना ही अन्य जीवों पर दया करते थे अतएव उन्होंने इन सबको महाव्रतोंकी चर्याके विषयमें विशेष उपदेश दिया था।

४ पूर्ण लोकमें व्याप्त स्थावर तथा जंगम जीवोंको उनके भावोंकी अपेक्षासे चौदह श्रेणियोंमें बांटा है, शास्त्रोंमें इन श्रेणियोंको 'गुणस्थान' संज्ञा दी है। केवली महाराजने समस्त यतियोंको विशद रूपसे यह समझाया था कि मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व तथा

चौदह गुणस्थान

सम्यक्त्व ये तीनों क्या हैं और किस प्रकारसे इन तीनों परिणामोंके ही कारण चौदह (मिथ्यात्त्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत अपूर्वकरण, अतिवृत्ति करण उपशान्त मोह क्षीण मोह, सयोगकेवली तथा अयोग-केवली) गुणस्थान होते हैं।

५ दण्डों (त्रियोग) के सब भेदों, मन, वचन तथा काय इन तीनोंकी गुप्ति (संयम) क्रोध, मान, माया, तथा लोभ चारों कषायोंका क्षय, जीव आदि छहों द्रव्योंका स्वरूप, पृथ्वी आदि षड्निकायोंका विस्तार तथा क्षमा, मार्दव आदि दशों प्रकारके

मुनिधर्म

मुनियोंके धर्मोको गुरुवरने भली भाँति समझाया क्योंकि सब श्रोता भी

६ अपने नूतन आचरणके प्रति पूर्णरूप से जागरूक थे। सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चरित्रकी एक एक विगतका सांगोपांग उपदेश दिया था। चारों गतियोंकी निस्सारताको प्रदर्शित किया था। दशके आधे अर्थात् पांचों महाव्रतोंको अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार तथा अनाचारकी दृष्टियों से स्पष्ट किया था। छह प्रकारके बाह्य तथा छह ही प्रकारके अभ्यन्तर तपके विषय में विशेष कर पूरा पूरा परिचय दिया था क्यों कि उसकी ही

निर्दोष साधना करके उन्हें संसार चक्रसे छूट कर शुद्ध आत्म स्वरूपको प्राप्त करना था।

७ चारों (आहार, भय, मैथुन तथा परिग्रह) संज्ञाओं, पांचों करण (स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु तथा श्रोत) ईर्या, भाषा, ऐषणा, आदाननिक्षेप तथा उत्सर्ग इन पांचों समितियों, आवश्यक, जिनकी संख्या छह (सामयिक, चतुर्विंशति स्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान तथा कायोत्सर्ग) है, कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्ल इन छहों लेश्याओं शुभ, अशुभ तथा शुद्ध इन तीनों योगोंके स्वरूपको यथाविधि बतलाया था।

८ नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भावके भेदोंसे चार प्रकारके निक्षेप, शब्दनयका प्रपञ्च तथा अंग आदिके पदोंकी गणना, नैगम आदि सातों नय, प्रत्यक्ष आदि प्रमाण (सांव्यहारिक-परमार्थिक प्रत्यक्ष, परोक्ष—स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान तथा आगम) चौदहों मार्गणाओं, आठों प्रकारके अनुयोग तीन प्रकारके भाव तथा पांचों गुणोंका भी विशद विवेचन किया था।

ज्ञायकविचार

९ तीनों लोकोंकी रचनाका विशेष वर्णन उनमें एक स्थानसे दूसरे स्थानको आने जानेका क्रम, पुण्य तथा पाप कर्मोंका आस्रव, इनका बंध, संवर तथा निर्जरा तथा मोक्ष जो कि मूर्तिमान कल्याण ही है तथा जिसके स्वरूपका अनुमान नहीं किया जा सकता है। इन सबका पूर्ण उपदेश केवली महाराजने दिया था।

त्रिलोक सार

१० महाराज वरदत्त केवलीने जो उपदेश दिया था उसके महत्त्वका अन्दाज लगाना भी अशक्य था। वह मोक्ष प्राप्तिका साक्षात् उपाय था-अतएव उसे सुन कर ही सब नूतन दीक्षित मुनि और आर्यिकाएं सप्तशीलोंको ग्रहण करके तुरन्त ही पञ्च महाव्रतोंकी साधनामें लीन हो गये थे, क्योंकि इन सबकी आत्मिक शक्ति और साहस साधारण न थे।

११ केवली महाराजसे पूर्ण उपदेश प्राप्त करके समस्त नूतन संयमी लोग संयमकी साधना करनेकी अभिलाषासे आचार्य विरदत्तजीके चरणोंमें गये थे। आचार्यश्री मूर्तिमान शान्ति थे, दया उनका स्वभाव थी उनका महा चरित्र निर्दोष तथा पूर्ण विकसित था। इन्हीं योग्यताओंके कारण वे समस्त साधुओं की तप साधनाके मूल आधार थे।

आचार्यशरण

१२ वरांगराज, आदि मुनि तथा आर्यिकाएं यद्यपि नूतन दीक्षित थे तो भी इन सबने तत्त्वों तथा उनके रहस्यको भलीभांति समझ लिया था। वे सबके सब भव्यजीव थे। उन्होंने अपने पूर्व जन्मोंमें मुक्ति मार्गके साधन ज्ञान, चारित्र आदिका अभ्यास किया था। उनकी मानसिक तथा कायिक शक्तियां भी विशाल थीं, इसीलिए वे थोड़े ही समयमें सकल श्रमण हो सके थे। तथा आचार्य श्रीके चरणोंमें बैठकर वह सब शिक्षाएं ग्रहण कर सके थे जो कि मनुष्य जीवनका चरम लक्ष्य है।

१३ मुनि वरांगके साथ तपस्यामें लीन वे सब ही क्षत्रिय मुनि लोग साधनामें सफल होनेके लिए पूर्ण प्रयत्न करते थे। आलस्यको छोड़ कर साधनामें सदा ही तत्पर रहते थे। उनके आचरण तथा भावोंकी धारा वैराग्य और निर्वेद रूपसे ही वह रही थी। इन योग्यताओंने उन्हें श्रेष्ठ साधु बना दिया था तथा पहिले

वर्द्धमान तप

१४ सांसारिक प्रतिद्वन्दियोंको जीतनेवाले वे सब अब कर्मरूपी शत्रुओंपर टूट पड़े थे। ममत्व उनको छोड़ चुका था, शरीरके स्नान आदि संस्कार करनेकी उन्हें सुधि ही न थी। ऐसा कोई पदार्थ इस धरणीपर न था जिसपर उनको थोड़ा सा भी राग होता। प्रमाद उनसे दूर भाग गया

था। भावों पर मलिनताकी छांह तक न पड़ती थी। उस समय उन्हें एकान्त वन तथा जनाकुल सभामें कोई अन्तर ही न मालूम देता था।

१५ केवल क्रोध कषाय ही इतनी अधिक शक्तिशाली तथा भयंकर है कि यदि वह अनुकूल परिस्थितियां पाकर किसी संयोगवश पूर्णताकी शिखर पर पहुँच जाय, तो केवल एक मुहूर्तमें ही वह तीनों लोकोंको मटियामेट कर सकता है। इस अनुपम मल्लको

कषाय पराभव

१६ मुनियोंने क्षमाकी शक्तिसे अनायास ही पछाड़ दिया था। मान कषायका अन्त पाना भी दुष्कर है क्योंकि वह सुमेरुके समान उन्नत है, तो भी साधुओंने परिपूर्ण मार्दव (भाव तथा क्रियाकी कोमलता) के द्वारा इसके भी छक्के छुड़ा दिये थे। माया कषायको तो समझना ही कठिन है क्योंकि वह अत्यन्त कुटिल है किन्तु पांचों इन्द्रियोंके

१७ जेता तपस्वियोंने अपनी तीव्र ऋजुता (आर्जव) के द्वारा इसे भी सीधा कर दिया था। लोभ कषायका तो कहना ही क्या है मनुष्यके हृदयरूपी स्थानको पाकर लोभतरु सर्ज (शालवृक्ष) के समान हर दिशामें फैल जाता है, उसकी शाखाएं तथा उपशाखाएं इतनी अधिक बढ़ती हैं कि उसके बृहत् आकारकी कल्पना भी दुष्कर हो जाती है। किन्तु वरांग आदि सब ही मुनिलोग अपने आचरणमें प्रवीण आर्यपुरुष थे फलतः उन्होंने संतोष और धृतिरूपी कुठारोंकी मारसे उसको (लोभतरुको) धराशायी ही नहीं किया था अपितु उसकी जड़तकको उखाड़ कर फेंक दिया था।

१८ जो घाव शल्य-क्रिया (हथियारसे चीड़फाड़) से भी नहीं सम्हलते हैं उनकी चिकित्सा करना अत्यन्त कठिन होता है। आत्माके मिथ्यात्व, माया तथा निदान इन तीनों शल्यों रूपी घावोंको भी इसी जातिका समझिये। किन्तु मुनिवर वरांग

शल्यत्रयोन्मूलन

तथा उनके समस्त साथियोंको मुक्तिमें आस्था और प्रेम था तथा उसके मार्ग पर चलनेका उत्साह था। यही कारण था कि उन विशाल तपस्वियोंने इन शल्योंको

१९ देखते देखते ही निकाल फेंका था। इस साधनाके द्वारा नूतन मुनियोंका सामान्य मोह तथा विशेषकर राग क्षीण हो गया था। वे एक हजार आठ जिनेन्द्र देव, आचार्यों, श्रुतके विशेषज्ञ उपाध्याय, चतुर्विध संघ, धर्म, धर्मायतन, जिनालयकी यथायोग्य भक्ति करते थे। सम्यक्

२० दर्शन, चारित्र तथा तपकी सिद्धिके लिए सदा प्रयत्नशील रहते थे। इन सब ही महर्षियोंकी साधना शक्ति सुमेरुगिरिके समान अडिग और अक्षय थी। शुभ बन्धके कारण ध्यान, आसन स्वाध्याय आदिमें ही इनका पूरा समय बीतता था। जिस समय वे आतप आदि योग (निसर्ग) लगा कर ध्यानारूढ़ हो जाते थे उस समय क्षुधा, तृषा, आदि परीषह उन्हें थोड़ासा भी न डिगा सकते थे। ध्यानस्थ मुनिवरोंको देखकर उन पर्वत शिखरोंका स्मरण हो आता था जिनपर प्रभञ्जनके थपेड़े कोई भी प्रभाव नहीं डाल पाते हैं।

२१ जब ये सब राजर्षि गृहस्थ थे तब इन्होंने युद्ध स्थलमें जा कर अपने प्रचण्ड पराक्रमके द्वारा शत्रुओंकी असंख्य वीर सेनाको देखते देखते ही मसल दिया था। जब मुनिदीक्षा ग्रहण की तब भी आशापाशको छिन्न भिन्न करके इन्होंने उसी उत्साह

तपसूर

तथा लगनके साथ बाईस परीषह, इन्द्रियोंके विषय, तीनों दण्ड आदि

२२ शत्रुओंको भी शीघ्रतासे पददलित कर दिया था। उनके उच्छृंखल मन मदोन्मत्त हाथी थे।

मन मतंगज

अहंकार तथा प्रभुताका उन्माद मनरूपी हाथीके मदजलसे गीले उन्नत गण्डस्थल थे। किन्तु इन मुनियोंने वीतराग प्रभुके उपदेशरूपी पुष्ट तथा प्रबल खम्भेको पा कर ऐसे उदण्ड हाथियोंको बारह प्रकारके तप तथा तीनों योगों रूपी प्रबल रस्सीकी पाशसे फंसा कर उससे बांध दिया था। तथा ज्ञानके प्रखर अंकुशकी मारसे उसका समस्त उन्माद दूर कर दिया था। पाँचों इन्द्रियां कुशिक्षित, कुलक्षण तथा दुष्ट घोड़ोंके समान है, हजार रोकनेपर भी ये कुपथपर ही चलते हैं, तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द ये पांचों विषय तो इतने अधिक आकर्षक हैं कि इन्हें देखते ही इन्द्रिय-अश्व विल्कुल बेकाबू हो जाते हैं। राजर्षि विशेष ज्ञानी थे इनके स्वभावसे परिचित थे। फलतः सम्यक् चारित्ररूपी पुष्ट रस्सीसे बांध कर उन्होंने इन्द्रियोंरूपी घोड़ोंकी सारी मस्ती उतार दी थी। जो पुरुष हाथियोंके पालतू बनानेकी कलामें कुशल हैं तथा एकके बाद एक युक्ति लगाते जाते हैं वे मदोन्मत्त वन्य (जंगली) गजोंको भी बड़ी सरलतासे वशमें कर लेते हैं। इन्द्रियों रूपी जंगली हाथी अपनी उदण्ड परम्परा (कुल) तथा जन्मसे ही अत्यन्त अहंकारी और विद्रोही होते हैं किन्तु सदा प्रयत्नशील राजर्षियोंने इन्हें भी ज्ञानरूपी अंकुशके संकेतपर नचा कर अपने वशमें कर लिया था। २३ २४

इन्द्रियाश्व

वरांग मुनि जब राजा थे उस समय उन्होंने अपने शत्रुओंका एकदम सफाया कर दिया था तथा राज्यमें मर्यादाका लोप करनेवाले दुष्टोंका नाम तक न सुनायी देता था। परिणाम यह हुआ था कि प्रजा अत्यन्त सुखी और सम्पन्न थी। जब मुनिपदको धारण किया था तब भी उनकी वही अवस्था थी, क्योंकि राग, द्वेष, आदि शत्रुओंका समूल नाश करके वे सुखसे समाधि लगाते थे। ये ऋषिवर कभी शून्य भवनमें ठहर जाते थे तो दूसरे समय किसी देवालयमें ध्यान करते थे। २५

सफल साधक

एक दिन स्मशानमें सामयिक लीन होते थे तो दूसरे ही दिन अत्यन्त सघन दुर्गम वनोंके पर्वतोंकी भीषण गुफाओंमें ध्यानारूढ़ हो जाते थे। यदि कभी सुन्दर उद्यानमें समाधिस्थ होनेका अवसर आता था तो वे प्रसन्न न होते थे इसी प्रकार वृक्षके खोखलेमें बैठे रहनेमे भी उन्हें असुविधा न होती थी। जिस दुर्गम स्थानपर सिंह, केशरी, हाथी, रीछ, जम्बुक, घातक गीध आदि पक्षी, भीषण विषैले सर्प तथा निशाचर रहते थे, जो स्थान इनके कर्णकटु डरावने रोरसे व्याप्त रहता था उसी भयंकर स्थान पर हमारे श्रेष्ठ तपस्वी वरांग आदि मुनिराज वास करते थे। २६ २७

विविध योग

वर्षाऋतुमें जबकि सतत स्थायी मेघोंके कारण दुर्दिन ही रहते थे, शीत प्रभञ्जन बहता था, भयानक बिजली चमकती थी, भीषण गर्जना होती रहती थी, एक क्षणको भी बिना रुके दिन रात पानी ही बरसता रहता था, उस कष्टकर समयमें भी ये मुनिवर किसी वृक्षके नीचे बैठकर ऐसे ध्यानस्थ हो जाते थे मानो प्रकृतिमें कोई विपर्यास ही नहीं हुआ है। इन वीतराग मुनियोंके लिए कोई भी स्थान जो कि सूक्ष्मकीट जीव-जन्तुओं तथा स्त्रियोंसे शून्य होता था तथा जहां पर पशुओंका उपद्रव न होता था वहीं पर वे बैठ जाते थे। और शान्त चित्तसे एक दो बार ही नहीं अनेक बार संसारकी सार-हीनतासे प्रारम्भ करके उसके दुखदायी परिणामों पर्यन्त गम्भीरतापूर्वक सोचते थे। वे भीषणसे भीषण वनके भीतर घुस जाते थे, जहां पर दिनको भी रात्रिसे अधिक अन्धकार २८ २९ ३०

वर्षाऋतु-तप

रहता था। रात्रिके समय वहां पर सियार तथा दिनको न देखनेवाले उल्लू कर्णकटु अशुभ ध्वनि करते थे। किन्तु मुनिवरोंका उधर ध्यान भी न जाता था। संसारमें अवश्यंभावी जन्म जरा और मृत्युके भयसे आकुल होकर वे रात भर शुभ ध्यान करते थे और एक क्षणके लिए भी

३१ न सोते थे। दिनरात बरसने वाली मूसलाधार वृष्टिके द्वारा ही उनके शरीरका मैल धुल जाता था और आत्माके समान शरीर भी निर्मल हो जाता था। रात भर चमकनेवाली जुगुनुओंके प्रकाशसे ही उनकी प्रकाशमालाका काम चल जाता था। बिजलीके प्रकाशरूपी वस्त्रसे ही उनका शरीर वर्षाकी रातोंमें लपट जाता था तथा ज्ञानाभ्यासरूपी अंगराग (उबटन) के उपयोगमें ही वे अत्यन्त आसक्त थे।

३२ जब हेमन्त ऋतु प्रारम्भ हो जाती थी तब वे अपनी धारण शक्तिरूपी धोतीकी कांछ बांध लेते थे। एक तो वे यों ही दिगम्बर थे, इसपर भी वे खुले आकाशके नीचे ही अवकाश, योग लगाकर बैठ जाते थे। उस समय अत्यन्त शीतल पवन झकोरे लेती थी तथा हिम (बर्फ) को फेंकती थी, किन्तु इस सबको वे परम

शीतकाल तप

३३ शान्तिके साथ सहते थे, क्योंकि उनका धैर्य अपार था। जब वे अस्पर्श (शरीर निरपेक्ष अखण्ड समाधि) योग लगाते थे तब उनका सारा शरीर धूल मिट्टी पसीने आदिसे ढक जाता था। उस समय न तो हाथ पैर आदि किसी भी अंगको फैलाते थे और न सिकोड़ते ही थे। कंपने आदिके लिए तो अवकाश ही नहीं था। उस समय वे जीवित हैं इसका पता केवल इसी बातसे लगता था कि उनकी श्वासोच्छवास देखी जाती थी; अन्यथा वे वृक्षके ठूटकी भांति अचल हो-

३४ कर ध्यान मग्न रहते थे। भूतोंके लिए भी महाभूतोंके समान भीषण भूतों पिशाचोंके समूह द्वारा वे डराये जाते थे। मांस मज्जाको खानेके लिए अभ्यस्त डरावनी डंकिनियां उन्हें धमकाती थीं। ये सब बड़े दारुण थे, आकार देखते ही भयसे रोमाञ्च हो आता था तथा इनकी कर्कश ध्वनि सुन कर रक्तकी गति रुकने लगती थी, किन्तु वरांग आदि सब ही मुनिराज ऐसे उपसर्ग उपस्थित होने पर भी श्मशानमें अचल समाधि लगाये बैठे रहते थे।

३५ जब ग्रीष्म ऋतु आती थी तब वे मुनिवर अनेक कठोर व्रतोंके साथ साथ अस्नान महायोगको धारण करते थे ग्रीष्मके तापके कारण पूरे शरीरसे पसीना बहता था जिसपर उड़ती हुई धूल बैठ जाती थी और पूरी देह धूलसे लिप जाती थी। किन्तु वे मनुष्य-सिंह शरीरकी ममताको छोड़कर जेठके मध्याह्नके

ग्रीष्मतप

३६ सूर्यकी तरफ मुख करके ध्यान करते थे। शिरपर मध्याह्नका सूर्य चमकता था जिसकी प्रखर किरणोंसे सारा वातावरण ही अग्नि ज्वाला मय हो रहा था। उनके चारों ओर अत्यन्त उष्ण तथा रूक्ष तीव्र पवन बहता था। जिस शिलापर बैठते थे वह भी जलने लगती है फलतः नीचेसे उसकी दाह रहती है। इस प्रकार सब तरफसे धधकती हुई ज्वालामें वे अपने कर्मों रूपी सघन वनको भस्म करते थे। इस दुर्द्धर तपको करनेसे उनके पाप नष्ट हो

३७ गये थे, इसीलिए ग्रीष्मऋतुके प्रचण्ड सूर्यकी प्रखर किरणोंके भीषण प्रहारोंको वे कि सीधे अपने वक्षस्थल पर रोकते थे, और वहीं पर ध्यानमग्न रहते थे किन्तु जब सूर्य अस्त हो जाता था तब वे सब ऋषिराज आतापन योगको समाप्त कर देते थे और पर्वतोंकी गुफा-ओंकी भीषण दाहमें रात्रि व्यतीत करते थे।

३८ वे वर्षा, शीत तथा ग्रीष्म ऋतुकी पीड़ाओंको उक्त विधिसे विशेष आकार और

प्रकारमें सह कर ही विरत नहीं हो जाते थे अपितु कर्म शत्रुओंका क्षय करनेके लिये भूख, प्यास, रोग, अरति, अकारण क्रोध, आदि उपसर्गोंको प्रसन्नतासे सहते थे। इतना सब सहकर भी वे सुमेरु पर्वतके समान अपनी साधनामें सर्वथा अकम्प थे। यदि एक समय वीरासन, स्वस्तिकासन, खड्गासन तथा शय्यासन लगाकर ध्यान करते थे, तो दूसरी वेलामें वे पल्यंकासन वज्रासन तथा उत्कुटकासन लगाये दृष्टिगोचर होते थे। वे महा पर्वतोंकी गुफाओंमें वास करते थे वहांपर कभी स्थानका नियम करते थे तो दूसरे समय मौनव्रत धारण कर लेते थे।

उपसर्ग-परीषह जय

३९

इस कठोर मार्गका अनुसरण करके उन्होंने तपस्या, शील तथा साधुपरमेष्ठीके गुणोंको प्राप्त किया था। सदा ही भांति, भांतिके अनेक व्रत धारण करनेके कारण उनकी काय अत्यन्त कृश हो गयी थी। तो भी उनका आत्मिक बल और सहनशक्ति ज्योंकी त्यों बनी हुई थी। चर्यामें कहींसे भी कोई शिथिलता नहीं आ रही थी। तथा प्रतिदिन वे नूतन, नूतन, तपोंकी साधना करनेमें लीन थे। इन तपस्वियोंने संसारके समस्त व्यवहारोंको दूर भगा दिया था। श्रीवीतराग केवलीकी दिव्य ध्वनिसे निकले आगम वचनोंके मनन तथा आचरणमें लीन थे। धर्मके प्रति उनका अथाह अनुराग था, कठिनसे कठिन चर्यामें उन्हें अक्षय उत्साह था। और सदा ध्यान लगा कर वे सब कुछ ही भूल जाते थे।

४०

'तपरमा तनो तनमें प्रकाश'

४१

वर्षोंसे लगातार किये गये कठिन तपके कारण यद्यपि उनके शरीरका अंग, अंग कृश हो गया था तो भी उन महर्षियोंके मन तथा हृदय सदा ही अडोल अकम्प थे। यद्यपि गृहस्थाश्रममें उन सबने मनचाहे भोग और विषयोंका आनन्द लिया था तो भी प्रव्रज्या ग्रहण करनेके बादसे उन्हें कभी उनका थोड़ासा विचार भी न आया था। एकान्तमें रह कर साधना करना उनका स्वभाव हो गया था। उनके अन्तरंगमे आर्त तथा रौद्र भावोंकी छाया भी न रह गयी थी। राग द्वेष सर्वथा शान्त हो गये थे। शास्त्रीय ज्ञान ही उनका पराक्रम और सामर्थ्य थी, किन्तु इतना करने पर भी पाप कर्मोंका पूर्ण नाश न हुआ था, फलतः उनका समूल नाश करनेके लिए उन्होंने शुक्ल ध्यानकी प्रक्रियाको अपनाया था।

तपःक्लिष्ट काय

४२

४३

पांचों इन्द्रिया उनकी आज्ञाकारिणी हो गयी थीं पंच महाव्रतोंकी सकल सिद्धि ही उनके शरीरका भूषण बन गयी थी। क्षमा उनका बल हो चुकी थी तथा धृतिकी ही उन्होंने कांछ लगा ली थी। यद्यपि उनके लिए सुख तथा दुख दोनों ही समान थे तो भी वे लौकिक प्राणियोंकी अवस्थाको समझते थे अतएव उनपर ही दया करके वे देशोंमें विहार कर रहे थे। तथा इस अवस्थामें सत्य ही उनका साथी था। किसी भी ग्राममें वे एक रात (आठ पहर) ठहरते थे तथा नगरमें अधिकसे अधिक पांच दिन ही रहते थे। समस्त यात्रामें न उन्हें जानेकी आकुलता थी और न कोई मानसिक चिन्ता ही थी। विहार-के समय वे सब ही मुनि एक-साथ विहार कर रहे थे। उन्हें कोई वस्तु या परिस्थिति बाधा न दे सकती थी तथा वे स्वयं किसी भी प्रकारकी असुविधाका अनुभव न करते थे। पृथ्वी अनेक प्रकार तथा आकारके जीव जन्तुओंसे ठसाठस भरी हुई है अतएव वे उसी मार्गपर चलते थे जिसपर लोग चल चुकते थे। वे किसी भी रूपमें संसारके प्राणियोंको थोड़ीसी भी पीड़ा नहीं देना चाहते थे, क्योंकि उनका हृदय वैसे ही वात्सलय और दयासे व्याप्त था जैसा कि माताका अपने पुत्रोंपर होता है। कभी चलते चलते जिस स्थानपर सूर्य अस्ताचलपर पहुंच जाते थे

चरमसाधना तथा विहार

४४

४५

४६

४७

वहींपर वे आवश्यक विधि समाप्त करके रात्रिको व्यतीत करनेके लिए रुक जाते थे। और ज्योंही सूर्य उदयाचल पर आ जाते थे त्योंही वे उस स्थानसे दूसरे स्थानको प्रस्थान कर जाते थे। जैसे वायुके साथ कोई भार, धन, आदि नहीं होते हैं उसी प्रकार मुनियोंके साथ भी कोई परिग्रह न रहता था।

८४ जिस प्रदेश पर तीर्थंकर भगवानोंके जन्म स्थान होते थे उन नगरोंमें, अथवा संसारके हितैषी तीर्थंकरोंने जिन स्थानों पर दीक्षा ग्रहण की थी, अथवा परम तपस्वी अर्हन्त भगवानको जिन पुण्य स्थानोंपर केवलज्ञानकी प्राप्ति हुई थी अथवा जिस प्रातःस्मरणीय पवित्र धामसे ऋषियोंके भी आदर्श केवली तीर्थंकर

तीर्थाटन

४७ मोक्षको पधारे थे, उन सब धन्य देशोंमें उन तपस्वियोंने विहार किया था। उनके मन, वचन तथा कायकी चेष्टाएं दिनों, दिन विशुद्धतर होती जाती थी। जहां कहीं पर भी वे चतुर्विध संघकी निवासभूमि किसी तपोवनमें पहुंचते थे, वहीं रुककर वन्दना करते थे क्योंकि वे

५० स्थान ही आत्माओंके पापमलको धो कर दूर करते हैं। किसी जगह बैठते हुए, लेटते हुए, आवश्यक कार्यके लिए स्थान करते समय, चलते समय, किसी भी चेष्टाको करते हुए, थूकनेमें, मलत्यागमें, तथा अन्य आचरण विधियोंका अनुष्ठान करते समय, किसी वस्तुको उठाते हुए अथवा रखते समय तथा आहार ग्रहण करनेके अवसरपर वे जागरूक रहते थे और पूर्ण सावधानीसे जीवोंकी रक्षा करते थे, साथ ही साथ किसी भी आचारमें खोट न आने देते थे।

५१ वे सब मुनिराज न तो किसीको निष्ठुर तथा कठोर शब्द कहते थे, कभी निरर्थक एक शब्द भी उनके मुखसे नहीं निकलता था, कर्णकटु तथा चाटुकारिता मय वचन भूल कर भी उनकी जिह्वापर नहीं आ सकते थे। ऐसे शब्द जिन्हें सुन कर श्रोताके हृदयपर किसीभी प्रकारका आघात हो सकता था उनकी तो कल्पना ही

रागद्वेष विजयी.

उनके लिए अशक्य थी। इस प्रयत्नसे वचनगुप्तिका पूर्ण पालन करते हुए वे देशोंमें विहार कर

५२ रहे थे। यदि एक समय वे नृसिंह शार्दूलविक्रीडित व्रत (सिंह-निष्क्रीडित व्रत) करते थे तो दूसरी ही बार वज्रमध्य (विशेष प्रकारका उपवास) नियम धारण कर लेते थे।

८७ कुछ समय तक यदि भद्रोत्तर (यह भी आहार चर्या व्रत है) नियम चलता था तो उसीके तुरन्त बाद ही अम्लविवर्जित (नमकका त्याग) प्रारम्भ हो जाता था। चन्द्रायण (उपवास विशेष) आदि जितने भी उत्तम बाह्य तप हैं उनका नियम करके सब तपस्वी उपवास करते थे।

५३ ऐसे लम्बे व्रतोंके बाद वे पारणा करनेके निमित्त चर्या करते थे, किन्तु लाभान्तराय कर्मके उदयसे कोई विघ्न हो जाता था और वे नगरके बाहरसे ही लौट आते थे। दूसरे समय नगरमें प्रवेश करनेके बाद लौटना पड़ता था। अन्य समय निर्विघ्न चर्या करते हुए किसी चौमुहानी अथवा तिमुहानी तक तो पहुंच जाते थे,

क्षुधापरिषह

५४ किन्तु किसी अन्तरायके कारण उससे आगे नहीं बढ़ पाते थे। कितने ही मुनिवर केवल एक ही अन्नका आहार लेकर तृप्त हो जाते थे। दूसरे अनेक साधु तीन वस्तुओंसे बनी हुई भिक्षाको पाकर ही लौट आते थे। अन्य साधु सात गृहोंमें भिक्षा लेनेका नियम कर लेते थे तथा मिलने अथवा न मिलने पर भी उससे आगे न जाते थे। कितने ही साधु मूलाचार कथित भिक्षाके परिमाणके ग्रासोंकी संख्या आधी कर देते थे, और आधे खाली पेट ही लौट आते

५५ थे। कभी किसी ग्राममें जा कर भिक्षा ले लेते थे। दूसरे समय किसी वनमें अथवा उद्यानमें ही

भिक्षा ग्रहण करते थे। विधि पूर्ण होनेसे किसी मार्गके किनारे अथवा ग्वालों आदिकी झोपड़ियोंमें भी वे आहार ले लेते थे। यदि पर्वतों पर अथवा घाटियोंमें, सेनाके विश्राम स्थान (स्कन्धावार) अथवा किसी गहन वनमें ही शुद्ध तथा प्रासुक भोजन मिल सकता था तो उसे ग्रहण करनेमें उन्हें कोई विरोध न होता था। ६५

चिक्कणता बहुल गरिष्ठ भोजन, पान, आदि आहारोंको उन्होंने सर्वथा छोड़ दिया था। स्वादु भोजन की भी उन्हें अभिरुचि न थी। ऐसा भोजन तो भूल कर भी न ग्रहण करते थे जो इन्द्रियोंको उदीप्त करे अथवा सौन्दर्य आदिको बढ़ाये। शरीरको तपस्याके योग्य बनाये रखनेके लिए ही वे नीरस भोजनको केवल एक बार ग्रहण करते थे और वह भी दिनमें ही, रात्रिको तो किसी भी अवस्थामें कुछ भी ग्रहण न करते थे।

नीरसभोजन रत

वह अन्न जिसमें अंकुर आदि पड़ गये हों, एक स्थान पर पका कर दूसरे स्थान पर लाया गया भोजन, दोषयुक्त विधिसे तयार किया गया, इधर उधरसे ला कर इकट्ठा किया गया, विकार उत्पन्न करनेवाला सदोष भोजन, प्राचीन अथवा वासा भोजन, ऐसी वस्तु जिसे वे जानते न हों, हरा पदार्थ, विधिपूर्वक न शोधा गया तथा वह सब पदार्थ जिनका खाना वर्जित है, इन सब पदार्थोंको त्याग कर वे सीधा सादा मुनिके योग्य आहार ग्रहण करते थे। बहुत उष्ण अथवा बिल्कुल शीतल, घृतादि युक्त अथवा सर्वथा सूखा, किसी भी स्वादसे हीन अथवा विना नमकका, सब रसोंसे हीन तथा आकर्षक रंगरूपसे भी दूर पवित्र भोजनको वे किसी भी प्रकारसे गलेके नीचे उतार देते थे क्योंकि तप बढ़ानेके लिए शरीर यन्त्रको चालू रखना ही उनका चरम लक्ष्य था। खूब तपाये गये लोहेके तवे पर यदि पानीकी कुछ बूंदें छोड़ी जांय तो वे सब बूंदें एक क्षणमें ही न जाने कहां लुप्त हो जाती हैं, इसी प्रकार मुनिवर किसी भी रस रूपके शुद्ध भोजनको अपने उदरमें डाल देते थे और वह नीरस भोजन भी मात्रामें थोड़ा होनेके कारण थोड़े ही समयमें उनकी उदराग्निमें भस्म हो जाता था। वे उतना ही अन्न खाते थे जितना इन्द्रियोंकी शक्तिको बनाये रखनेके लिए आवश्यक था तथा दूसरा प्रधान उद्देश्य शरीर और प्राणोंका सम्बन्ध बनाये रखना था। प्राण रक्षाका भी उद्देश्य था अधिकसे अधिक धर्म कमाना तथा धर्मार्जनका एकमात्र लक्ष्य मोक्ष महापदकी प्राप्ति ही थी। ५७ ५८ ५९ ६०

उन ऋषियोंकी दृष्टिमें सोना तथा मिट्टी दोनों ही समान थे, शत्रु तथा मित्र दोनों पर उनकी एक ही दृष्टि थी, मान करनेसे प्रसन्न न होते थे तथा अपमानके कारण जरा भी कुपित न होते थे। लाभ तथा अलाभ दोनों ही उनके लिए निःसार थे। उनका आचरण वीरोंके उपयुक्त था तथा प्रत्येक विरोधी परिस्थितिमें उनका एक सा ही व्यवहार होता था उनके अहिंसा आदि समस्त महाव्रत तथा अन्य चरित्रमें कहीं पर भी कोई त्रुटि न थी। उनकी असाधारण सहन शक्ति तथा विशाल आत्मशक्तिकी थाह ही नहीं थी। वे अपने प्रधान लक्ष्य आत्मशुद्धिको प्राप्त करनेके लिए सतत प्रयत्न करते थे। इन सब योग्यताओंके कारण उनके तपमें किसी भी तरफसे कोई रुकावट न आती थी। वे संसारकी समस्त वस्तुओंकी उपेक्षा करते थे। सदा ही अनेक विधिके व्रतोंका पालन तथा योगोंको धारण करते थे, इनसे प्राप्त तेजके कारण उनकी आभा बहुत बढ़ गयी थी। ऐसा प्रतीत होता था कि वे अपने समस्त क्लेशोंको क्षय करनेके लिए ही घर द्वार छोड़ कर निकले ६१ ६२ ६३

कांच-कञ्चन समान

थे। इन सब निरन्तराय प्रयत्नोंके द्वारा उन सब ही ऋषियोंकी तपस्यामें अप्रत्याशित वृद्धि हुई थी।

६४ चार दिन, छह दिन, आठ दिन, एक पक्ष तथा एक मास पर्यन्त लगातार उपवास करके, चन्द्रायण आदि उपवास बहुत व्रतोंको पाल कर आतापान (ग्रीष्म ऋतुमें) शीतकालमें अभ्यवकाश तथा वर्षा ऋतुमें वृक्षमूल आदि योगोंको धारण करके प्रतिमा (कायोत्सर्ग) प्रयोगोंके द्वारा, अत्यन्त कठोर तपोंको दीर्घकाल तक संगोपांग तप कर,

६५ कायक्लेशकी चरमसीमा

प्राणिमात्र पर दया करके तथा सदा ही दयामय भावोंको रख कर, दिन रात ऐसी ही कल्पनाएँ करते थे जिनके द्वारा धर्मप्रेम दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता था। इन सब साधनाओंके द्वारा उन ऋषियोंके समस्त कर्म अत्यन्त क्षीण हो गये थे।

६६ इन ऋषियोंकी तपस्याकी विमल कीर्ति सब दिशाओंमें फैल गयी थी। उक्त क्रमसे इनके अनादि कालसे बंधे कर्म अत्यन्त क्षीण होते जा रहे थे तथा तपस्या भी चल ही रही थी।

रिद्धि-सिद्धि

इस प्रकार लगभग सौ वर्ष बीत जाने पर इन ऋषियोंमें चारण आदि ऋद्धियोंका बहु मुख उद्रेक हुआ था। इस प्रकार वे सब ही ऋषि अनेक

६७ जातिकी ऋद्धियोंके स्वामी हो गये थे। वे सब ही ऋद्धियां ऐसी थीं जिन्हें चक्रवर्ती आदि श्रेष्ठ पुरुष, सुर तथा असुर भी अनेक प्रयत्न करके सिद्ध न कर सकते थे। इनके साथ साथ वे मति तथा श्रुत ज्ञानोंकी सीमाको पार करके आंशिक प्रत्यक्ष अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञानों-के स्वामी हो गये थे। इन समस्त योग्यताओंके द्वारा उन्होंने जैनमतकी पूर्ण प्रभावना की

६८ थी। सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानके स्वामी अर्हन्त केवलीके द्वारा कहा गया आगम ही उनकी निष्पक्ष दृष्टि थी। उनका प्रत्येक कथन तर्क तथा उदाहरणसे पुष्ट होनेके कारण अकाट्य होता था। वे नैगम आदि समस्त नयों (अपेक्षाओं) तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंका यथा स्थान प्रयोग करने में अति कुशल थे। यही कारण था कि उन्होंने मिथ्या सिद्धान्तोंके समर्थका अभिमान चकनाचूर कर दिया था।

६९ किन्हीं ऋषियोंकी शक्ति कभी भी क्षीण न हो सकती थी। दूसरोंके बलका अनुमान करना ही असंभव था। किन्हींकी मुद्राको देख कर अथवा उपदेशको सुन कर ऐसा लगता था मानो दूधकी धारमें नहा गये हैं। दूसरोंकी बुद्धि उत्तम कोशके

'तपरमा तनो तनमें प्रभाव'

समान थी जिससे प्रत्येक वस्तुका उत्तर सरलतासे प्राप्त किया जा सकता था। दूसरे मुनियोंका ज्ञान फूलकी पंखुरियोंके समान (एकमें से दूसरा) खिलता जाता था। अन्य ऋषियोंका बुद्धि बीजपदके ऊपर ही प्रस्फुटित होती जाती थी। इन मुनियोंमें देवोंकी ऋद्धियां तथा समस्त सद्गुण व्याप्त थे।

७० किन्हीं मुनियोंसे छुई हुई हवा अथवा उनके तपःपूत शरीरके स्पर्शसे ही रोग नष्ट हो जाते थे। दूसरे तपोधनोंका विप्लुष (थूँक आदि) ही अनेक रोगोंकी अचूक औषधि होता था। उन ऋषियोंकी नाक तथा मल आदि भी प्राणान्तक रोगोंको शान्त

तपके अतिशय

कर देते थे। शुद्ध तपस्याके प्रभावसे उनको ऐसी ऐसी सिद्धियां हो

७१ गयी थीं कि उनमेंसे कितने ही गुरुवर पानी पर चलते थे, दूसरे फूलों पर चलते थे तो भी उनके डंठल अथवा पौधे न झुकते थे। कुछ ऐसे भी साधु थे जो वृक्षोंमें लगे फलों पर भी खड़े हो सकते थे, अन्य लोग वृक्षोंके पत्तों पर खड़े हो जाते थे। ग्रीष्ममें जलते हुए मरुस्थल

एकत्रिंश सर्ग

१ जैसा कि पहिले कह चुके हैं दीक्षाको धारण करके ही भूतपूर्व सम्राट वरांगकी रानियोंका अन्तिम महा मनोरथ पूर्ण हो गया था। शास्त्रोंका ज्ञान तथा शीलोंका निरतिचार आचरण ही उनके सच्चे आभूषण हो गये थे। उनका वैराग्य मौलिक तथा स्थायी था इसीलिए उसके द्वारा उनके धार्मिक अनुरागको पूर्ण प्रेरणा प्राप्त हुई थी तथा उनकी निर्मल मति सर्वथा

२ तपश्चरणमें भी पतिसे पीछे नहीं

सत्यपथपर ही चल रही थी। प्रव्रज्या ग्रहण करते ही उन्हें दिगम्बर दीक्षा रूपी विशाल साम्राज्यकी अनुपम लक्ष्मी प्राप्त हो गयी थी। इस राज्यके साथ साथ उन्हें संयम रूपी महा रत्न भी मिले थे जिनका मूल्य आंकना ही असंभव था। इस लाभसे वे परम प्रसन्न थीं तथा उनके विचार तथा आचारमें उस समय अबला सुलभ दीनता न थी। उनकी वही अवस्था थी जो कि दरिद्र स्त्रीको अनायास रत्न

३ मिल जाने पर होती है। लौकिक संपत्ति तथा पदार्थोंको वे मूर्तिमान अनर्थ ही समझती थीं। तपस्याकी विधिमें प्रवीण रानियां इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंको हालाहलके समान ही प्राणान्तक मानती थीं। सांसारिक मधुर संबन्धोंको वे शत्रु सोचकर छोड़ चुकी थीं। यह सब इसीलिए था कि तत्त्वोंके सत्य स्वरूपके ज्ञानने ही उनमें अडिग धार्मिक प्रेम उत्पन्न कर दिया था।

४ पांचों महाव्रतों तथा शीलोंको वे अमृतके समान जीवन दाता समझती थीं। सब प्राणियोंपर दया और इन्द्रियोंका दमन उस समय उनके निस्वार्थ कल्याण चाहनेवाले

चारित्र ही संपत्ति

माता पिताके स्थानको ग्रहण कर चुके थे। अनगारके विशिष्ट गुणोंने ही सुन्दर भूषणोंकी कमी पूरी कर दी थी, तथा शुद्ध ज्ञान ही उनका

५ तृतीय नेत्र हो गया था। जब वे एक सम्राटकी पत्नी थीं, उनका ऐश्वर्य अपार था, वीर्यकी सीमा न थी, कान्तिकी सर्वत्र ख्याति थी; जातिमें गौरव था, धनकी गिनती असंभव थी, सांसारिक विषयोंका विशेष ज्ञान था, ललित कलाओंमें कुशलता थी तथा था, मदिराका वह उन्माद जिसमें भूत, भविष्यत और वर्तमान एक हो जाते हैं। किन्तु यह सब होने पर भी रानियोंको वह शान्ति न मिली थी जो कि मोक्षमार्गको पाकर उन्हें प्राप्त हुई थी।

६ श्री वरदत्त केवलीके संघमें एक प्रधान आर्यिका थी जिनका तपजन्य प्रभाव समस्त मुनियों तथा श्रमणोंकी अपेक्षा बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वे आर्यिकाओंके गणकी प्रधान थीं। संयम साधनाकी भी वे स्वामिनी थी। जब महाराज वरदत्तने उन्हें नव दीक्षित आर्यिकाओंको उपदेश देनेका संकेत किया तो उन्होंने उन सबको धर्मका रहस्य तथा तपकी सकल विधिको

७ सद्गुरुसंयोग

क्रमसे समझा दिया था। आर्यिका दीक्षाको प्राप्त रानियां जन्मसे ही कला, कौशलमें अनुरक्त थीं। अपनी जाति तथा कुलके अनुरूप ही वे धीर तथा गम्भीर थीं। उनकी समस्त शिक्षा तथा अभ्यास विनयके साथ तो हुई ही थी। फलतः बहुत थोड़े ही दिनोंमें उन्होंने पूर्ण आचारको हृदयंगम कर लिया था। बारह अंगों-युक्त आगमका अध्ययन कर लिया था, सातों नयोंका रहस्य जान लिया था और सप्तभंगीके

मूल तत्त्वोंको भली-भांति समझ लिया था। पांचों इन्द्रियां तथा नोइन्द्री (मन) उन मदोन्मत्त हाथियोंके सदृश हैं जिनकी शक्तिकी सीमा नहीं है। ये विषयोंकी अभिलाषारूपी दर्पमें चूर होकर विद्रोही हो जाते हैं, यौवनके मदसे उन्मत्त होकर अनर्थ करने पर तुल जाते हैं। इन्हें भी रानियोंने अपने संयत गृहस्थ जीवनमें भी उच्छृंखल नहीं होने दिया था और अब दीक्षित अवस्थामें तो शान्तिरूपी शिलापर तीक्ष्ण किये गये सुमतिरूपी प्रखर अंकुशकी मारसे इनकी सारी मस्ती ही उतार दी थी। ८

मनुष्यका अनियंत्रित मन ही संसारके समस्त अनर्थोंको जन्म देता है। वह महान सेना नायकके समान है जिसके नायकत्वमें विषय भोगोंकी निश्चित विजय होती है। वह महात्मा स्वयं ही दूर दूर तक छापे नहीं मारता है, अपि तु पांचों इन्द्रियोंको भी कुमार्गपर दौड़ाता है। विश्वविजयी महाराज मोहके इस प्रधान सेनापतिको भी उन रानियोंने पराजित कर दिया था। अपने मन, वचन तथा कायका अनुचित प्रयोग वे एक क्षण भी न करती थीं, क्योंकि इनके प्रयोगका अवश्यंभावी फल पापकर्मोंका आस्रव होता है। वे गुणवती देवियां भलीभांति जानती थीं कि वैसा प्रयोग त्याज्य है, अतएव भूलसे भी वे न तो व्यर्थ विषयोंपर विचार करती थीं, न अनावश्यक शब्द ही बोलती थीं और न निष्फल कार्य ही करती थीं। उन्होंने सांगोपांग शीलको धारण किया था, कामरूपी विषवृक्षके अंकुर तकको तपकी अग्निमें झोक दिया था। अतएव अपनी सफल साधनाके कारण वे अपने गण (आर्यिका संघ) की भूषण हो गयी थीं। वे अपनी शक्तिके अनुसार आतप आदि योग लगाकर पूर्व जन्मोंमें बांधे गये कर्मोंके मैलको कम करती थीं। ९ १० ११

मनस्विनी अब ही हुई

वे तीन दिन, पांच दिन, छह दिन, आठ दिन तथा पक्षों पर्यन्त लगातार उपवास करती थीं। कभी कभी महीनों, चार और छह माह भी उपवास करते बीत जाते थे। इस कठोर तपस्यासे उनके सुकुमार शरीर अत्यन्त कृश हो जाते थे, अतएव व्रतके अन्तमें वे बहुत थोड़ा आहार लेकर पारणा करती थीं। चिरकाल पर्यन्त तपरूपी अग्निकी लपटोंसे झुलसते रहनेके कारण उनके सुन्दर शरीर विवर्ण हो गये थे। स्वभावसे ही उनकी देह कृश थी, उसपर भी लम्बे लम्बे व्रत तथा उपवास, फलतः अत्यन्त कृश हो गयी थीं। उनकी सुकुमार देहें चिथड़े चिथड़े साड़ियोंसे लिपटी हुई थीं। इन सब कारणोंसे वे काठसे बनायी गयी पुतलियां सी मालूम देती थीं। जनाकीर्ण नगर तथा जनशून्य वनमें उनके लिए कोई भेद न था, शत्रु और मित्रमें कोई पक्षपात न था, मान और अपमान दोनोंमें ही उनके एकसे भाव रहते थे। उन्हें अपने देह और आत्माका थोड़ा सा भी मोह न था। उनका प्रत्येक कार्य दोषरहित तथा शुभ होता था। वे धर्मके अनुरागसे प्रेरित होकर देशोंमें विहार करती थीं। जिस पूर्वपुण्यकी योग्यताके बलपर वे लोकपूज्य उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुई थीं और उसीके अनुरूप वे युवती होनेपर पृथ्वीपालक सम्राटकी प्राणाधिका हुई थीं। इसी प्रकार अपने पद और मर्यादाके सर्वथा उपयुक्त ही उन्होंने अपने ज्ञानको बढ़ाया था तथा वैसे ही उत्साह और लगनके साथ उन साध्वियोंने दीक्षा ग्रहण करके घोरसे घोर तपकी साधना की थी। इस विधिसे उन तपस्विनियोंके दुर्द्धर तपोंका वर्णन किया है जिनके तपसे क्लिष्ट शरीरपर परिपूर्ण शीलकी अद्भुत ज्योति थी। इसके उपरान्त राजर्षि वरांगकी तप विधिके विषयमें संक्षिप्तरूपसे कुछ कहते हैं। १२ १३ १४ १५ १६

उपवासादि व्रत

समताभाव

१७ हम देख चुके हैं कि तपश्रीको वरण करनेकी अदम्य आशाके कारण ही वरांगराजने विशाल राज्य लक्ष्मीसे सम्बन्ध तोड़ दिया था, क्योंकि उनके आन्तरिक और बाह्य गुणोंकी श्री (शोभा) ही उस राज्यश्री से अधिक चारु थी। स्वभावसे ही धीर वीर वरांगराजने जब निर्ग्रन्थ दीक्षाको धारण किया था उसी क्षणसे उन्होंने पांचों महाव्रतोंका पालन प्रारम्भ

१८ कर दिया था। महा मतिमान् मुनि वरांगने सबसे पहिले पूर्ण विस्तारपूर्वक आचारांगका अध्ययन किया था। इसके उपरान्त अपने अनेक भेद तथा प्रभेदयुक्त प्रकीर्णक ग्रन्थोंका अध्ययन पूर्वक मनन किया था। इसे भी समाप्त करके शेष अंगो तथा दृष्टिवादके चौदह पूर्वों आदिका क्रमशः अध्ययन किया था। आश्चर्यकी बात तो यही थी कि तुलनात्मक दृष्टिसे उन्हें इन सबके अध्ययनमें बहुत ही थोड़ा

वरांग ऋषिका तप

१९ समय लगा था। समस्त संकल्प विकल्पों तथा पूर्वभुक्त रतिके प्रसंगोंकी पापमय स्मृतियोंको उन्होंने हृदय पटपरसे सदाके लिए पोंछ दिया था। भगवान अर्हन्त केवलीके उपदेशके अनुसार ही तत्त्वोंके साक्षात्कारमें वे सदा लीन रहते थे। नाना प्रकारके विविध आतापन आदि योगोंको लगाकर महात्मा वरांग उग्रसे उग्र तपस्या कर रहे थे।

२० राजर्षि वरांग सम्यक् ज्ञान रूपी हाथीपर आरूढ़ थे। दया, दम धर्मरूपी निर्मल तथा धवल छत्र और राजपट्ट उनके तपमय राज्यको घोषित करते थे। तथा शुद्ध धर्म तथा शुक्ल ध्यान रूपी प्रबल धनुषको उठाकर उसके द्वारा वे शीलरूपी प्रखर बाणोंकी वर्षा करके अपने महाशत्रु मोहके अंग अंगको भेद

तपराज्य

२१ रहे थे। इस आध्यात्मिक युद्धमें भी उनका धैर्य अलौकिक और असह्य था। हाथियोंकी श्रेष्ठ जातिमें उत्पन्न सम्यक् चारित्ररूपी रणकुशल हाथीपर आरूढ़ होकर उन्होंने आठों कर्मोंरूपी भव भवके शत्रुओंसे युद्ध छेड़ दिया था। इस युद्धमें सत्य जैन धर्मका पालन ही उनका कवच था, सम्यक् ज्ञान ही तीक्ष्ण कुन्त (भाला) था, जिसके सटीक आघातोंसे उन्होंने

२२ देखते देखते ही कर्मशत्रुको धराशायी कर दिया था। पांचों इन्द्रियोंरूपी द्वारोंसे वीर्यको ग्रहण करनेवाली, प्रेमरूपी प्रबल पवनके झकोरोंकी मारसे कर्त्तव्य विमुखता आदि धुएंके बादलोंसे युक्त तथा काम भोग सम्बन्धी कल्पनाओंरूपी उद्दीपकोंके पड़ते ही भभकनेवाली कामदेवरूपी ज्वालाको राजर्षि वरांगने सम्यक् ज्ञानरूपी बड़े बड़े जलपूर्ण कुम्भोंसे क्षण भरमें ही बुझा दिया था।

२३ निर्ग्रन्थ तपरूपी रणमें सद्धर्म चक्रके समान था। निर्दोष तथा अष्टांगयुक्त सम्यक् दर्शन तथा अन्य महाव्रत आदि नेमिके समान थे जिसपर धर्मरूपी चक्र कसा गया था। शील उस पाषाण शिलाके समान थे जिसपर घिस कर उक्त चक्रकी धारको तीक्ष्ण किया गया था। इसी भीषण चक्रको उठाकर राजर्षिने कामवासनारूपी

धर्मचक्र

२४ शत्रुके मस्तकको छेद दिया था। क्रोध आदि कषायें आध्यात्मिक संपत्तिके लिए चोर हैं, इन्द्रियोंके विषय ही प्रबल शत्रु हैं, परीषह आदि तो आत्माके अन्तरंग तथा घातक शत्रु हैं। इन सबको राजर्षिने आत्मबलसे बलपूर्वक घेर लिया था और वैराग्यरूपी तलवारके द्वारा इनके टुकड़े, टुकड़े कर दिये थे।

२५ आशारूपी दानवीके विजेता राजर्षिने पांचों इन्द्रियोंरूपी जंगली तथा उद्दण्ड

हाथियोंको भी धीरज पूर्वक क्षमारूपी विशाल शक्तिका प्रयोग करके रोका था और तपरूपी स्तम्भसे–जिसे तोड़ना उनके लिए असंभव हो गया था–कसके बांध दिया था। यद्यपि किसीके भी वशमें न आनेवाला प्रदीप्त कामरूपी महाशक्तिके बलका उन्हें (इन्द्रियों) अहंकार था तो भी राजर्षिकी क्षमा युक्तिने उन्हें एक पग चलना तक असंभव कर दिया था। मानसिक विकार तथा पांचों इन्द्रियां निर्दय चोरोंके समान हैं, जब तक इनका वश चलता है ये सत्य धर्मरूपी रत्नको ले भागनेका ही प्रयत्न करते हैं। किन्तु मुनि वरांगने यथार्थ प्रकाशक प्रज्ञा, घोर तप और संयमरूपी सांकलोंके द्वारा लौकिक चोरों तथा दुष्टोंके समान ही इन इन्द्रिय चोरोंको भी कठोर बन्धनमें डाल दिया था।

आशा विजय

२६

इन्द्रिय चोर

मनुष्यकी विषय लोलुप इन्द्रियां प्राणान्तक विषपूर्ण सांपके ही समान हैं, स्पर्श आदि विषयोंकी चाह ही इन सांपोंकी गुंडी हैं। सब अभिलाषाएं ही इनका दुष्ट अन्तरंग है तथा क्रोध कषाय ही वह डाढ है जिसमें आशीविष रहते हैं। जीवका लोभ ही वह वैर है जिसको प्रतिशोध करनेके लिए इन्द्रिय सर्प बार बार डंक मारते हैं। इन सांपोंको भी वरांगराजने दयारूपी मंत्रपूत जलके छींटे देकर शान्त कर दिया था।

२७

कछुओंको जब कहीं पर थोड़ा सा भी छुआ जाता है तो वह हाथ पैर आदि सब ही अंगोंको अपने शरीरमें समेटने लगता है और ज्यों ज्यों भय बढ़ता है त्यों त्यों अपने अंगोंको और अधिक समेटता जाता है। इसी विधिसे सांसारिक भयोंसे त्रस्त होकर वरांगराजने अपनी पांचों इन्द्रियो और नोइन्द्रिय मनकी प्रवृत्तियोंको अपने आत्मामें ही केन्द्रित कर लिया था। शारीरिक वातरोगके समान अत्यधिक बढ़ा हुआ मोह आत्माको भी वात रोगके समान विवश तथा अचेतन कर देता है। द्वेष आदि पाप प्रवृत्तियां आत्मापर वही कुप्रभाव करती हैं जो विकृत पित्तका शरीरपर होता है तथा हास्य, रति आदि पांचों नोकषायें आध्यामिक कफ दोषके समान हैं। मतिमान मुनि वरांगने इन आत्माके वात, पित्त और कफको यमरूपी औषधि देकर पूर्ण शान्त कर दिया था। अनादि तथा अनन्त संसार अगाध समुद्र तुल्य है। इस समुद्रमें अभिलाषाओं तथा कामवासनाओंरूपी ऊंची ऊंची लहरें उठती हैं। प्रेमके अबाध प्रवाह रूपी चंचल जल लहराता है, क्रोध आदि कषायों रूपी विषाक्त फेन बहता है तथा इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थों रूपी बड़ी तथा भयंकर मछलियॉ गोते मारती हैं। इस विशाल समुद्रको भी उन्होंने तपकी दाहसे सुखा दिया था। आठों कर्मोंरूपी अभेद्य तथा उन्नत पर्वतको राजर्षि वरांगने सम्यक्त्व रूपी वज्रके प्रहारोंसे तोड़ ही नहीं दिया था अपितु चूर्ण चूर्ण कर दिया था, क्योंकि सम्यक्त्वरूपी वज्रपर तीनों गुप्तियों रूपी धार रखी गयी थी, दया धर्म ही उस शस्त्रकी प्रखर चमक थी, तथा सम्यक् चारित्र रूपी प्रभञ्जनके प्रबल वेगसे वह शस्त्र फेंका गया था। यह संसार एक विशाल चक्रायुधके समान है। अज्ञान इसकी तुम्बी (नार जिसमे अर ठोके जाते हैं) है, इन्द्रियोंके भोग्य पदार्थ ही इस चक्रके अर (डंडे) हैं मोहनीय कर्मसे उत्पन्न सर्वतोमुख सांसारिक राग ही उसकी नेमि (धुरा) है जिसपर वह घूमता है, तथा अत्यन्त कलुषित क्रोध

अन्तर्मुख साधक

२८

आत्म स्वास्थ्य

२९

आशा सागर शोषण

३०

कर्मपहाड़ दलन

३१

संसारचक्र

३२

आदि कषायें ही उसकी लोह निर्मित तीक्ष्ण धार है। ऐसे घातक चक्रको भी राजर्षिकी
३३ साधनाने निरर्थक कर दिया था। यह अपार संसार अत्यन्त घने तथा दुर्गम वनके समान है,

संसाराटवी

क्रोध आदि कषायोंरूपी पुष्ट तथा विशाल वृक्ष इसमें भरे पड़े हैं, विषय भोग रूपी दुर्गम प्रदेश हैं, राग, विशेषकर प्रेम रूपी जलसे सींचा जाने के कारण सांसारिक उचित तथा अनुचित सम्बन्धों रूपी वेलें तथा झाड़ियां भरी पड़ी हैं। ऐसी भयानक अटवीको भी वरांगयतिने तपस्यारूपी आगसे भस्म कर दिया था। यह अग्नि भी मुनि वरांगके कलुष कालिमा हीन पवित्र आत्मासे भभकी थी।

३४ मुनि वरांग जब वरांगराज थे उस समय उन्होंने नगर तथा राष्ट्रमें छिपे हुए छद्मवेश-धारी सब ही दुष्टोंको दण्डित ही न किया था, अपितु उनकी सन्ततिको मूलसे नष्ट कर दिया

दुष्टभाव दमन

था। तपवीर धीर वरांगराजने दीक्षा ग्रहण करने पर उसी विधिसे सब ही दुष्ट भावों और कर्मोंको, जिनके अगुआ क्रोधादि कषायें थीं जड़से ही उखाड़ कर फेक दिया था।

३५ राजर्षि वरांग ध्यानमे लवलीन रहते थे। इसी अवस्थामें सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र तथा घोर तप रूपी अत्यन्त तीक्ष्ण त्रिशूलसे मिथ्यात्व रूपी अन्धकारके

मिथ्यात्व भेदन

मोटे तथा अभेद्य पटलको उन्होंने अनायास ही भेद दिया था। मिथ्यात्व के ये पर्त मन, वचन तथा कायकी कुचेष्टाओंसे दिनों
३६ दिन मोटे होते जाते थे। दहकती हुई क्रोधकी ज्वालाको कृपाके द्वारा बुझाया था, मान रूपी शिलाको अभूतपूर्व मार्दव (विचारोंकी कोमलता) से गला दिया था, परम ज्ञानी राजर्षिने मायाकी कुटिलताओंको आर्जव (सरलता) से सीधा कर दिया था तथा लोभ रूपी कीचड़को विरक्तिकी दाहसे सुखा दिया था।

३७ तप साधनामें लीन मुनि वरांग एक समय शैलके शिखरपर ध्यान लगाते थे तो दूसरे समय उसकी गुफाओंमें चले जाते थे तथा तीसरे समय गहन वनमें जाकर अदृश्य

नाना भांति तप

हो जाते थे। उनके निवासस्थान जंगल ऐसे घने होते थे कि मनुष्य उनमें प्रवेश करनेका भी साहस न करते थे। नदीके किनारे खड़े हुए विशाल वृक्षोंके खोखलोंको भी उनका निवासस्थान होनेका सौभाग्य प्राप्त होता था
३८ तथा स्मशान भी इसका अपवाद न था। कभी वे किसी बगीचेकी शोभा बढ़ाते थे अथवा लोगोंके द्वारा छोड़े गये खण्डहर महलमें जा बैठते थे। तपोधन ऋषियोंकी वासभूमि आश्रम तो उन्हें परम प्रिय थे। किन्तु दूसरे समय वे अकेले ही किसी ऐसे दुर्गम वनमें चले जाते थे जो कि भीषण सापों तथा हिरणोंके राजा सिंहोंसे व्याप्त होते थे।

३९ उनके धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान ये दोनों शुभ ध्यान, चारित्र तथा तपका इतना अधिक बहुमुख प्रकर्ष हुआ था कि उसके द्वारा समस्त पापोंकी कालिमा धुल गयी थी और राग

ध्यानकी चरम सीमा

आदि भाव शान्त हो गये थे। इसके उपरान्त राजर्षि वरांगने ज्ञानो-पयोगकी साधनामें वहां चित्त लगाया था जिस स्थानपर ज्ञानोपयोगकी विधिके विशेषज्ञ रहते थे तथा उपद्रवोंकी आशंका न थी। राजर्षिका चित्त सब दृष्टियोंसे
४० शुद्ध हो गया था अतएव शुभ तथा शुद्ध संस्कारोंको ग्रहण करनेकी अभिलाषासे वे कभी कभी ऐसे मुनियोंका सत्संग करते थे जो कि मूर्तिमान शान्ति ही थे, शास्त्र रूपी अपार पारावार

जिनके द्वारा पार किया गया था, पूज्यताने जिनको स्वयं वरण किया था, धर्ममार्गका चलाना जिनके लिए परम प्रिय था तथा जिनकी तपसिद्धि राजर्षि वरांगसे बहुत अधिक थी। कभी ४१

अधमोद्धार

कभी वे उन अज्ञानियोंके हृदयको पवित्र करनेके लिए धर्मोपदेश भी देते थे जो कि विपरीत मार्गको मानने, फैलाने तथा पालन करनेमें लवलीन थे, जिनको कुत्सित आचरण तथा पापमय आचरण करनेमें ही आनन्द आता था तथा जिनके विवेक तथा आचरण मिथ्यात्व और महामोहके द्वारा बुरी तरहसे ढक लिये गये थे। दूसरे किसी अवसरपर महाज्ञानी वरांग यति भव्य जीवोंको आत्माके अभ्युदय तथा निश्रेयसका ४२

भव्य विकास

उपदेश देते थे, क्यों कि वे जानते थे कि उन लोगोंका शीघ्र अथवा विलम्बसे कल्याण होनेवाला ही था, वे लोग सदा ही शुभ भाव रखते थे और तदनुसार शुभ कर्म ही करते थे। उन भव्य प्राणियोंको जिन धर्मकी कथा सुनते, सुनते कभी भी संतोष और श्रान्ति न होती थी।

राजर्षिकी पांचों इन्द्रियोंकी प्रवृत्तियोंने एक विचित्र (संसारसे विपरीत) ही पथ ४३ पकड़ लिया था अतएव वे कभी कभी अकस्मात् ही मौन व्रत धारण कर लेते थे और पूरीकी

अन्तर्मुख इन्द्रिया

पूरी रात पाषाण निर्मित मूर्तिके समान ध्यानावस्थ बैठे रहते थे। ये सब साधनाएं धीरे धीरे उनके अत्यन्त अन्तरंग भावोंको परम पवित्र करती जा रही थी। समस्त अतिचारों आदिसे रहित उत्कृष्ट तपके कारण राजर्षिका प्रभाव ४४ बड़े वेगसे बढ रहा था। वे किसी अत्यन्त एकान्त स्थानपर चले जाते थे और वहांपर चतुर्मुखस्थान (चारों दिशाओंमें क्रमशः मुख करके समाधि लगाना) योगको धारण करके चार दिन पर्यन्त थोड़ासा भी हिले डुले विना एकासनसे बैठे रहते थे। उनका धैर्य अपार था।

ग्रीष्म ऋतुमें कभी, कभी वे महापर्वतोंके बहुत ऊंचे, ऊंचे शिखरोंपर चले जाते थे। ४५

ऋतुतप

इन पर प्रातःकालसे संध्यापर्यन्त सूर्यकी प्रखर किरणें सीधी पड़ती थीं, जिससे शिलाएँ अत्यन्त उष्ण हो जाती थीं। राजर्षि अपने कर्मोंरूपी मैलको गलानेके लिए इन्हीं शिलाओंपर हाथ नीचे लटकाकर खड़े हो जाते थे उस समय उनकी दृष्टि पैरोंपर रहती थी।

जिस समय जोरोंसे उठी घनघटाके कारण एक दृष्टिसे पूराका पूरा आकाश तथा भूमंडल ४६ चंचल हो उठता था, बिजलीकी लगातार चमकसे सृष्टि भीत हो उठती थी, और मूसलाधार

वर्षा योग

वृष्टि होती थी, ऐसे ही दारुण वर्षाकालमें वे अपने पापों रूपी धूलिको धोनेके लिए खुले आकाशमें ध्यान लगाते थे। घुमड़ घुमड़ कर घिर ४७ आये बादलोंके कारण उस समय ऐसा लगता था कि पृथ्वी और आकाश एकमेक हो जांयगे। इस भीषण घनघटामें निरन्तर बिजली चमकती थी और वृष्टि एक क्षणके लिए भी नहीं रुकती थी। एकके बाद दूसरी घटा उठती ही आती थी। ऐसे घनघोर वर्षाकालमें रात्रिके समय वे आकाशके नीचे योग धारण करते थे। उनके ध्यानस्थ शरीरपर रात्रिभर पानीकी प्रबल बौछारें पड़ती थीं तो भी शरीर निष्कम्प ही रहता था।

शीतकाल प्रारम्भ होनेपर जब अत्यन्त शीतल पवन बड़े वेग और बलके साथ झकोरे ४८ मारता था, निरन्तर तुषारपात होता था, उस समय ही वे विधिपूर्वक अभ्यवकाश योग (वृक्षादि-

की छायाको छोड़कर विना आड़के बिल्कुल खुले प्रदेशमें ध्यान लगाना) लगाते थे। शीतल अनिलके झकोरे अंग अंगको रुच करके फाड़ देते थे तो भी उनका मन चरम लक्ष्यपर ही एकाग्र रहता था। यदि एक समय दीर्घतम उपवास करते थे, तो दूसरे अवसर पर ही चान्द्रायण आदि परम प्रसिद्ध अनेकों व्रतोंका पालन करते थे। यद्यपि इन सब नियमों और यमोंके निरन्तर पालनने राजर्षिके शरीरको अत्यन्त कृश कर दिया था तो भी वे पूर्ण उत्साहके साथ घोरसे घोर सुतप करनेमें दत्तचित्त थे। जैनागम जैसा उपदेश करता है उसके अनुकूल साधना मार्गका अक्षरशः अनुसरण करते हुए मुनि वरांगने अपने मन, वचन तथा कायको पूर्णरूपसे वशमें कर लिया था। उनका धैर्य अपार था। अतएव अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन तथा कायक्केश, ये छह बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ये छह अभ्यन्तर तप,- कुल मिलाकर इन बारहों तपोंकी ऐसी साधना की थी जिसे करना अति कठिन था तथा विषय- लोलुप भीरु पुरुष जिसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे।

घोर शीत सहन

४९

५०

५१ राजर्षि वरांगका अन्तःकरण स्फटिककी भांति निर्मल हो गया था। तप इतना बढ़ गया था कि क्षमा उनकी जीवन सहचरी हो गयी थी। स्वादु पदार्थ तथा शुभ फलोंकी अभि- लाषा समूल नष्ट हो गयी थी। महाव्रतीके पूर्ण आचरणको सावधानीसे पालते थे, उसमें कहींसे भी कोई कमी न आती थी। इन सब योग्यताओं- के कारण ही महर्षिको वे लब्धियां प्राप्त हुई थीं जो कि सबके द्वारा अभिलषणीय हैं। उन्हें सर्वौषधि (जिससे सब रोग शान्त हो जाते थे,) महातमस्त्व (घोरसे घोर तप करने पर भी श्रान्ति न होना) क्षीरस्रवत्व (वाणीका दूधकी धारकी तरह पौष्टिक होना) चारण (आकाशमें गमन करना) आदि अद्भुत गुणोंको सरलतासे प्राप्त करके वे सारी पृथ्वीपर विहार करते थे। ये लब्धियां ऐसी थीं कि संसारमें इनके सदृश सिद्धियां देखी ही नहीं जाती हैं।

घोरतपके ऐहिक फल

५२

५३ जिन ऋषियोंके आतापन आदि योग सफल हो चुके थे, समस्त विद्यायें परिपक्क हो गयी थीं, दया जिनकी प्रकृति हो चुकी थी, तथा तीर्थस्थानोंके दर्शन और जैनमार्गकी प्रभावनाके लिए जो लोग विहार करना चाहते थे, ऐसे अनेक साधुओंके साथ वे देश देशान्तरोंमें विहार करते थे क्योंकि विहारसे भी तपकी उन्नति ही होती है। अपने आचार तथा विचारकी सम्पूर्ण शान्ति, कष्टों तथा बाधाओंकी उपेक्षा करनेसे प्रकट हुई परम उदारता, अखण्ड तप, सांगोपांग शास्त्रज्ञान, चारण आदि ऋद्धियां, सरल वृत्ति, व्रतोंकी भावनाओं तथा श्री केवली भगवान द्वारा उपदिष्ट जैन शासनकी अगाध प्रीतिके कारण राजर्षिने जैनधर्मकी खूब प्रभावना की थी। राजर्षिके संघने अनेक खेड़ों (ग्राम) विशाल तथा साधारण नगरोंमें, सामुद्रिक व्यापारके स्थानोंमें धर्म विहार किया था। और जब आयुकर्मका अन्त निकट आ गया था तब वे धीरे धीरे विहारको समाप्त करते हुए फिर उसी मणिमन्त पर्वतपर जा पहुंचे थे।

५४

धर्म विहार

५५

५६ महर्षि वरांग भूतपूर्व सेठ मुनि सागर वृद्धि आदि प्रधान साधुओंके साथ मणिमन्त शैलकी शिखरोंपर इसलिए चले गये थे कि वहांके शान्त वातावरणमें सन्यास पूर्वक प्राणोंको

छोड़ें। राजर्षि वरांग जैसे ऊंची कोटिके तपस्वी थे वैसे ही उनके साथी सब ही साधु परम संयत थे। इन सब ही ऋषियोंने योगसाधनामें पूर्ण सिद्धि प्राप्त की थी और उग्र तपस्वी तो वे थे ही। पूर्वोक्त क्रमसे इन सबके साथ जब राजर्षि वरांग पर्वतके ऊपर पहुंच गये थे तब वे सब महाराज वरदत्त केवलीकी निर्वाण भूमिकी ओर चोर गये थे। उसके निकट पहुंचकर तीन प्रदक्षिणाएं करनेके उपरान्त उन्होंने श्री गुरुके चरणोमे प्रणाम किया था। ५७

निर्वाण भूमिकी ओर

राजर्षि सल्लेखना (सन्यास) के लिए प्रस्तुत थे, क्योंकि उनका चित्त सर्वथा शुद्ध था, राग आदिके बन्धन तो कभीके नष्ट हो चुके थे। अतएव उन्होंने पद्मासन लगाया था। इसके बाद अत्यन्त विनम्रताके साथ दोनों हाथ जोड़कर परम ज्ञानी राजर्षिने अपने संयमके साथी सब ही तपोधनोंसे प्रार्थनाकी थी 'आपलोग मुझे क्षमा करें।' वहां उपस्थित सबही साधुओंने स्नान, खुजाना आदि सब प्रकारके अंग संस्कारोंको न करनेका व्रत ले लिया था तो भी सबके शरीरोंसे तपः श्री फूटी पड़ती थी। वे सब ही शास्त्रोंके पण्डित तथा आचारके विशेषज्ञ थे। जीवन रहस्यके पण्डित राजर्षिको भी पण्डित मरण (समाधि मरण) पूर्वक शरीर त्यागनेकी अभिलाषा थी अतएव अन्य सन्यस्त साधुओंके साथ उन्होंने भी प्रायापगमन (जिसमें अपने शरीरकी परिचर्या न स्वयं करते हैं और न दूसरोंसे कराते हैं) सन्यास धारण किया था। भोजन पान आदि सब ही क्रियाएं आरम्भ तथा परिग्रह साध्य होनेके कारण नूतन बंधके कारण होती हैं, इसी विचारसे उन्होने जीवनकी समाप्ति पर्यन्त इन सबको छोड़ दिया था। इसके अतिरिक्त अन्य सब ही आवश्यक प्रतिज्ञाओंको भी धारण करके तथा धीर वीरताके साथ मोक्ष पर ही ध्यान लगा कर सुख और शान्ति पूर्वक ध्यान मग्न हो गये थे। ५८ ५९ ६०

समाधि मरण

उनके ज्ञानकी सीमा न थी। संक्लेश, विक्लेशके मूल स्थान बाह्य तथा आभ्यन्तर परिग्रहोंका उनके पास लवलेश भी न था। लाभ-हानि, सुख-दुख, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वोंसे वे परे थे। शारीरिक कष्टका प्रतिकार न करते थे। केवल संयम और ध्यानमय परमधाममें ही विराजमान थे। इस जीवन अथवा अगले जीवनमें उन्हें किसी प्रकारकी अभिलाषा न थी, मरनेकी कोई अभिरुचि न थी, मित्रोंमें अथवा किसी भी अन्य प्राणी और पदार्थमें उन्हें ममत्व न था तथा जन्म जन्मान्तरोंसे चले आये स्त्री पुरुष सम्बन्धके प्रति भी पूर्ण उदासीन थे। समस्त बन्धनोंको छोड़कर महामुनि वरांगने अपनी समस्त वृत्तियोंको एकमात्र मुक्ति मार्गपर लगा दिया था। सबसे पहिले उन्होंने यादवपति श्री नेमिनाथ भगवानके चरणोंमें नति की थी जो कि आठों कर्मोंके प्रबल पाशको तोड़कर मुक्त हो चुके थे। इसके उपरान्त बाईसवें तीर्थंकरसे पहिलेके समस्त जिनेन्द्रोंको प्रणाम किया था। तथा उन्हें ही साक्षी मानकर अपनी निष्पक्ष तथा सत्य आलोचना की थी। इतना करनेके तुरन्त बाद ही उनका अन्तरात्मा पूर्ण शान्त हो गया था, मति पूर्ण प्रबुद्ध हो गयी थी। शारीरिक चेष्टाएं पूर्ण रूपसे बन्द हो गईं थीं, और वे ऊपरको मुख करके समाधिस्थ हो गये थे। ६१ ६२ ६३ ६४

समाधिस्थ मुनि

तीर्थंकर नुति

शास्त्रीय मार्गके अनुसार ही उन्होंने अन्तिम समय परम आवश्यक चारों प्रकारकी आरा-

६५ -धनाको प्रारम्भ कर दिया था। सबसे पहिले उन्होंने ज्ञानाराधनाको किया था। इसके आगे क्रमानुसार सम्यक् दर्शनको पुष्ट करनेवाली दूसरी आराधना की थी। तीसरी आराधना तपके आश्रित थी क्यों कि उसमें भांति भांतिके उग्र-तपोंका विधान था और अन्तिमें चारित्र आराधनाको लगाया था जिसमें कि चरित्रके सकल भेदों तथा उपभेदोंका विस्तार है।

चतुर्विध आराधना

६६ जो समयकी अपेक्षा प्रधान हैं अथवा विनयके आचरणमें बढ़े चढ़े हैं, ऐसे लोगोंके साथ सन्मान पूर्वक चिह्नोंसे आत्मवश उपायोंसे केवल ग्रन्थ-पाठ अथवा अर्थका मनन अथवा

६७ दोनोंका अभ्यास ऐसे दोनों प्रकारके उपायों द्वारा; जो कि ज्ञान अर्जनके साधन हैं, करना ही ज्ञानाराधना है। संध्याओंकी वेलाओंमें भूकम्प विजलीकी चमक तथा वज्रपात युक्त कुसमयमें तथा अशुभ पर्वोंके दिनोंमें अध्ययन नहीं करना चाहिये जो दुर्विनीत हैं वे ही लोग प्रतिपदा आदि वर्जित दिनोंमें अध्ययन तथा अध्यापन करते हैं किन्तु विनय विधिके विशेषज्ञ कदापि नहीं करते हैं।

ज्ञानाराधना

६८ जीवसे प्रारम्भ करके मोक्ष पर्यन्त जो सात तत्त्व हैं, जीव आदि पदार्थ छह हैं तथा सात तत्त्वोंमें पुण्य पाप मिलनेसे जो पदार्थ होते हैं। इन सबको सातों नयों तथा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंकी कसौटीपर कसे जानेके बाद इनका जो साक्षात्कार होता है उसे ही शास्त्रकारोंने सम्यक्त्व आरधना नामसे कहा है। सम्यक् दर्शन

सम्यक्त्वाराधना

६९ (सम्यक्त्व) को प्रशस्त बनानेके लिए आवश्यक है कि साधक समस्त शंकाओंका समाधान कर ले (निशंकित), किसी भी प्रकारकी घृणाको अपने अन्तरमें न रखे (निर्विचिकित्सता), समस्त अकाक्षाओंको छोड़ दे (निकांक्षित), धर्म और धर्मियोंपर निःस्वार्थ स्नेह करे (वत्सलत्व) विवेक विरुद्ध सिद्धान्त अथवा अस्थाको न माने (अमूढ़दृष्टि), सहधर्मियोंकी क्षम्य भूलोंको

७० गुप्त ही रहने दे (उपगूहन) ये सब सम्यक्त्वकी पूर्तिके द्योतक हैं। तत्त्वोंमें शंका करना, साधनाके फलस्वरूप किसी अभ्युदयकी आंकाक्षा करना, विवेकको नष्ट होने देना, दूसरोंके सदोष सिद्धान्तोंकी अनावश्यक प्रशंसा करना तथा जो छह पापके साधक (अनायतन) है उनका सेवन करना ये पांचों सम्यक् दर्शनके अतिचार हैं।

दर्शनके अतिचार

७१ अनादि पूर्व जन्मोंमें बांधे गये पापकर्मोंके नष्ट करनेके लिए मन, वचन तथा कायको जो अतिशय संयत किया जाता है उसीको तप कहते हैं। इसके करनेसे ऊंचीसे ऊंची कोटिके संयमकी थोड़ीसी भी विराधना नहीं होती है। आत्माकी क्लेश आदि जन्य मलीनताको यह स्वच्छ करती है तथा उसका आदर्श सदा ही

तपाराधना

७२ संसारसे ऊपर होता है। परम तपस्वी मुनियोंने ही इस तपके दो भेद किये हैं। साधन तथा योग-युक्तिके भेदसे वह अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकारका है। आध्यात्मिक तपके छह भेद हैं तथा बाह्य तपके भी इस विधिसे छह विभाग हैं। उक्त बारह भेद स्थूल दृष्टिसे किये हैं वास्तवमें तो अनशन, अवमौदर्य आदि प्रत्येक बाह्य तप तथा प्रायश्चित्त आदि प्रत्येक

७३ अभ्यन्तर तपके भी अनेक भेद होते हैं। इस बहुमुख तपका चरम लक्ष्य एक ही है और वह है विद्यमान पापोंका विनाश। वात, पित्त तथा कफमेंसे किसी भो दोषके प्रकुप्त हो जानेपर जिस तत्परताके साथ औषध उपचार आवश्यक होता है, उसी भांति आत्मामें

७४ कोई दोष आनेपर तपरूपी उपचार ही सफल हो सकता है। जिन

आत्मचिकित्सा विधि

मनुष्योंमें अनुरागका भाव बहुत प्रबल तथा जाग्रत है उन्हें उपवास करना साधक है। जिन्हें बात बातमें कलह तथा द्वेष करनेका स्वभाव पड़ गया है उन्हें एकान्त स्थानपर निवास करना अनिवार्य है। तथा जो प्राणी सब दिशाओंसे मोहाक्रान्त है उनके उद्धारका मार्ग ज्ञानोपयोग तथा सदा तपस्या करना ही है।

चारित्राराधना

निग्रन्थ मुनियोंके सकल चारित्रकी निम्न विधियां है। सबसे प्राधान तो पांचों अहिंसा आदि महाव्रत हैं जिनकी उपमा खोजना ही असंभव है। अप्रमत्त तथा सावधान हो कर इर्या आदिमें प्रवृत्त होनेकी अपेक्षासे ही समितियां भी पांच हैं। मन, वचन तथा कायकी यथेच्छ प्रवृतियोंको नष्ट करके सर्वथा आत्माको वशमें कर देनेवाली गुप्तियां भी तीन हैं। ७५

समितिया

प्रथम महाव्रत अहिंसाकी ईर्या समिति, आदान-निक्षेपणमें सावधानी, वचन और मनकी गुप्ति तथा सूर्यका स्पष्ट प्रकाश रहते हुए ही ऐसे पादार्थोंका भोजन करना जो कि अभक्ष्य होनेके कारण निन्दनीय न हों, ये पांचों भावना (पालनमें साधक क्रियाएं) हैं। परम तपस्वी मुनियोंके कथनानुसार इनको पालने से अहिंसा महाव्रत सुकर हो जाता है। ७६

सत्यमहाव्रतकी भावनाए

क्रोधको सर्वथा बुझा देना, लोभपंक को सुखाना, भयसमुद्रको पार करना, हास्य क्रियाको समूल छोड़ देना तथा ऐसी कथा करना छोड़ देना जिसे कहनेमें चाटुकारिता अथवा दीनताको प्रकट करना पड़ता हो। ये पांचों वे भावनाएं हैं जिनके पालनसे सत्य महाव्रत अपने आप ही सिद्ध हो जाता है। ७७

आचौर्य महाव्रत

आहार आदि ग्रहण करनेमें शुद्धि, कुटिल कार्यों (परोपरोध आदि) के अनुमोदनका त्याग, जहां कोई आरम्भ परिग्रह न हो ऐसे शून्य स्थान पर निवास करना उस स्थान पर रहना जिसेकि लोग छोड़ गये हों तथा प्रत्येक अवस्थामे सत्य धर्मके प्रति अक्षुण्ण अनुराग बनाये रखना—इन पांचोंको तीसरे महाव्रत अचौर्यकी भावनाएं कहा है। ७८

ब्रह्मचर्य महाव्रत

स्त्रियोंके सुन्दर रूपको घूर घूरकर देखनेका त्याग, उनके रूप, रति आदि कामोत्तेजक वार्तालापको कभी न करना, स्त्रियोंसे परिपूर्ण स्थानपर न रहना, पूर्व समयमें भोगे गये विषय प्रसंगोंको स्मरण भी न करना तथा सरस उद्दीपक भोजनका सर्वथा त्याग, ये पांचों चौथे महाव्रत ब्रह्मचर्यकी भावनाएं हैं। ७९

अपरिग्रह महाव्रत

समस्त मनोहर पदार्थोंका त्याग अमनोहर विषयोंके प्रति उदासीनता, शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्ति, रागरूप संकल्पसे मुक्ति तथा द्वेषभावोंसे लिप्त प्राणियोंके प्रति भी समभाव, ये पांचों पांचवें महाव्रत अपरिग्रहकी भावनाएं हैं। ८०

गुण प्राप्ति

राजर्षि वरांगने उन सब विषयोंको स्वयं ही त्याग दिया था जिनका त्यागना आवश्यक था। जिस क्रमसे त्याज्य विषयोंको छोड़ा था उसी क्रमसे गुणोंको धारण भी किया था। इन परिवर्तनोंसे उत्पन्न प्रशम मय भावों तथा सतत ज्ञानोपयोगके द्वारा उन्होंने अपनी आत्म शक्तिके अनुसार जितना संभव था उतना अधिक ज्ञानाभ्यास किया था। ८१

वे सदा ही शुभ और शुद्ध उपयोगमें लीन रहते थे, किसी भी क्षण उनकी तत्त्व दृष्टि भ्रान्त न होती थी। पांचों महाव्रतोंकी भावनाओंमें वे अत्यन्त अभ्यस्त थे तथा उनके अतिचारोंमे से एकको भी पास न फटकने देते थे। इस कठिन पथका अनुकरण करके ८२

८३ उन्होंने सम्यक्त्वकी पूर्ण उपासना की थी। अपने निर्यापक चार्यको साक्षी बनाकर

अन्तिम-साधना

राजर्षिने प्रारम्भसे तप साधना प्रारम्भ की थी तथा क्रमशः बढ़ाते हुए उसे चरम सीमा तक ले गये थे। इस अन्तरालमें उन्होंने क्षुधा, तृषा आदि सब ही परीषह शत्रुओंका भी परास्त किया था और पूर्णरूपसे तपकी आराधनाको

८४ संपन्न किया था। अत्यन्त कठिन महाव्रतों तथा उनकी पच्चीसों भावनाओंकी सांगोपांग शुद्धिकी रक्षा करते हुए, बड़े यत्नके साथ ईर्या आदि समितियोंकी मर्यादाके भीतर ही आचरण करते हुए, तीनों गुप्तियों रूपी रक्षकोंसे रक्षित होते हुए तथा आलस तथा प्रमादको सर्वथा राजर्षिने आगमके अनुकूल विधिसे ही चरित्र आराधनाका अनुष्ठान किया था।

८५ जितने भी पदार्थ तथा भाव इन्द्रियोंकी पहुंचके भीतर हो सकते थे, उनकी कल्पना तक को नष्ट कर दिया था तथा मन और इन्द्रियोंको भी उधरसे संकुचित कर लिया था।

विषय विसर्जन

उनका चित्त सदा ही अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओंकी चिन्तामें लीन रहता था, क्योंकि श्रेयार्थी जीवोंके लिए भावनाओंका मनन अनिवार्य है। इस व्यवस्थित क्रमका पालन करनेसे यतिराज वरांगकी आराधनाएं चरम उत्कर्षको प्राप्त हो गयी थीं।

८६ मनुष्योंके जीवनोंकी सुषुमा संध्याकी लालिमाके सदृश ललाम है, विद्युत् प्रकाशकी भांति चंचल है, अग्निकी भभकके समान क्षण-स्थायी है, मेघ-चित्रोंके समान विनाशी,

संसारकी अनित्यता

लहरोंके समान अस्थायी, दूबकी पत्तीपर जमी इन्द्र धनुषकी शोभा युक्त ओसकी बूंदके समान ही मनुष्य जीवन हर ओरसे अनित्यतासे

८७ घिरा हुआ है। आयु कर्मका अन्त अथवा यम जब अपने विकराल मुखको फैला देता है तब निश्चित है कि इस संसारमें प्राणियोंके प्राणोंका बचना असंभव है। सिंहके घातक तथा तीक्ष्ण दांत जब मृगके शरीरमें घंस ही गये, तो वह कैसे बच सकता है यही अवस्था शरीरमें प्रविष्ट आत्माकी भी है। कभी समस्त दुखोंके भण्डार नरक योनिमें उत्पन्न होना, दूसरे समय तिर्यञ्च

८८

संसार प्रभाव

जातिमें भटकना, तीसरे अवसरपर मनुष्य पर्यायके चक्रमें पड़ना तथा अन्य समय देवगतिके विषय भोगोंमें भरमना इन्हीं आवागमनोंको संसार कहते हैं। इसमें पड़े जीव रेंहटकी घड़ियोंके समान सवर्था कर्मोंके पराधीन हो कर नीचे

८९ ऊपर आया जाया करता है। लाभ हानि, पाप पुण्य, शुभ-अशुभ आदि द्वन्द्वों, तथा तीनों

एकत्व

लोकों तथा कालोंमें यह आत्मा सदा अकेला ही चक्कर मारता है। सदा ही अपने पूर्वकृत कर्मोके शुभ तथा अशुभ फलोंको अकेले ही भरता है। जिन भावों आदिको आध्यात्मिक कहते हैं अथवा शरीर आदि समस्त बाह्य पदार्थ पुत्र कलत्र आदि कोई भी इस आत्माके साथी नहीं है। यह जीव सर्वदा अकेला ही है यही सब दृष्टियोंसे विचारणीय है।

९० जब शरीर तथा आत्माके स्वरूप तथा गुणोंको अलग अलग करके देखने लगते हैं

अन्यत्व

तो इनका अन्यत्व स्पष्ट हो जाता है, क्योंकि इनके नाम ही अलग नहीं हैं गुणों और स्वभावका भेद तो इससे भी अधिक स्पष्ट है। जो विवेकी है वह इन दोनोंमे ऐक्य कैसे कर सकता है क्यों कि कहां तो नित्य आत्मा और कहां क्षणभंगुर

९१ शरीर। इस शरीरका बीज स्त्री तथा पुरुषका मल है, जिस स्थानपर बनता है वह भी मलमय

है, स्वयं मलोंका भंडार है तथा इसके आंख, नाक, कान, मुख आदि नव द्वारोंसे मल ही बहता रहता है। शरीरके एक एक अणुको प्रत्येक दृष्टिसे अशुचि ही समझिये।

अशुचित्व

किसी भी विद्वानको इसे पवित्र समझने या बनानेका दुस्साहस नहीं करना चाहिये। इस शरीरसे संबद्ध आत्मा मनरूपी मुक्केके द्वारा पांचों इन्द्रियोंकी सहायता पा कर नये नये शुभ तथा अशुभ कर्मोंको ग्रहण करता है। जैसे कि छिद्र पा कर जल फटी नौकामें प्रवेश करता है उसी प्रकार कर्मोंका आत्मामें आना होता है। ९२

आस्रव

यदि मनरूपी बड़े मुखको तत्परताके साथ भर दिया जाय तथा पांचों इन्द्रियोंरूपी छेदोंको विधिपूर्वक ढक दिया जाये तो आत्मा भली भांति सुरक्षित हो जायगा। और जब वह संवृत ही हो गया तो कोई कारण नहीं कि उसका आस्रव बन्द न हो। क्योंकि ज्यों ही नौकाके छिद्र मूंद दिये जाते हैं त्यों ही पानीकी एक बूंद भी उसके भीतर नहीं आ पाती है। ९३

संवर

यदि ऊनको किसी प्रकार धधकती हुई अग्निकी ज्वालाकी लपटें स्पर्श करलें तो एक क्षणमें ही उसका विशाल ढेर भस्म हो जाता है। ९४

इसी विधिसे जब मुनियोंकी तपरूपी अग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तो पहिलेसे बंधे कर्म देखते देखते ही नष्ट हो जाते हैं इसे ही निर्जरा-भावना कहते हैं।

निर्जरा

लोक जीवलोकके उत्पादक कारण प्रधानतया दो (उपादान और निमित्त) प्रकारके हैं प्रत्येक पर्यायके कार्य-कारण भाव निश्चित हैं। इसके प्रत्येक अंग और पर्यायमे आप कुछ पदार्थोंको उत्पन्न होते देखेंगे, कुछ समय बाद उन्हें लुप्त होता भी देखें गे, और देखें गे कुछ ऐसे तत्त्व जिनपर जन्म और मरणका कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता है। इसको स्थूल रूप देनेमें पृथ्वी आदि पांचों अस्तिकायोंका प्रधान हाथ है तथा इसका रूप और आकार भी बड़ा विचित्र (पैर फैलाकर कोई आदमी कमरपर हाथ रखकर खड़ा हो तो जो आकार बने गा वही लोकका आकार।) है। यही लोक-भावना है। ९५

यह जीव संसारमें अनन्तों बार जन्म मरण कर चुका है तो भी इसे सब कुछ पा कर भी केवल एक ज्ञान ही प्राप्त नहीं हुआ है। यही समझ कर यदि इसे कभी सत्यज्ञान प्राप्त हो जाय तो उसके संरक्षण और वर्द्धन में कभी प्रमाद नहीं करना चाहिये। इसे ही बोध-दुर्लभ भावना कहते हैं। ९६

बोध-दुर्लभ

जो वीतराग तीर्थंकर जन्म, जरा तथा मृत्युसे पार हो गये हैं तथा जिनको बड़ेसे बड़े सांसारिक भय तथा त्रास स्पर्श भी नहीं कर सकते हैं ऐसे कर्मजेता तीर्थंकरोंका क्षमा, आदि दश प्रकारका धर्म ही, जन्म, जरा, मृत्यु, भय, आदिसे पराभूत प्राणियोंकी संसार व्याधिको शान्त कर सकता है। ९७

धर्म भावना

ये सब बारह भावनाएँ निश्रेयस पानेके लिए उत्सुक व्यक्तिको सदा ही चिन्तवन करना चाहिये इसीलिए इनका सत्य तथा विशद स्वरूप शास्त्रोंमें कहा गया है ऐसा मन ही मन समझकर राजर्षिका चित्त पुलकित हो उठा था। उनकी सब प्रकारकी तृष्णाएँ शान्त हो गयी थीं, अपनी आराधनामें वे चैतन्य हो गये थे तथा वचन आदिका प्रचार भी पूर्ण नियंत्रित हो गया था। ९८

शक्ति और उपयोगके साथ राजर्षिने अपने मनको ललाटके मध्य (मस्तिष्क) में एकाग्र कर दिया था भ्रुकुटियों तथा आखोंको नाकके अन्तिम विन्दुपर स्थापित किया था उनकी चिन्ता तथा चित्त दोनों सर्वथा निश्चल हो गये थे। इस क्रमसे समस्त शक्तियोंका एक स्रोत्रमें सम्मिलन हो जानेके कारण वे समाधिके ९९

ध्यानकी चरमावस्था

१०० चरम विकासके लिए सन्नद्ध हो गये थे। 'यह संसार सब दृष्टियोंसे निस्सार है, अपने आप इसका कभी अन्त नहीं होता है, तीनों लोकोंका निर्माण भी कैसा अद्भुत है, काल भी कैसा विचित्र है, न उसका आदि है और न अन्त है, छहों द्रव्योंके स्वरूप क्या हैं, उनके गुण और पर्यायें कैसी हैं, इन सब तत्त्वोंको अपने एकाग्र ध्यानमें उन्होंने वैसे ही सोचा था जैसे कि वे
१०१ वास्तवमें हैं। मेरा यह आत्मा इन सबसे भिन्न हैं वह अनादि तथा अनन्त है। उसका स्वभाव ही सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान मय है। ज्ञान और दर्शनके अतिरिक्त जितने भी शुभ तथा अशुभ भाव तथा पदार्थ हैं वे इससे सर्वथा पृथक हैं। उनका और आत्माका वही सम्बन्ध है जो काया तथा कपड़ों आदिका है, इसके अतिरिक्त चैतन्य आत्मा और बाह्य जगतमें कोई सदृशता अथवा सम्बन्ध नहीं है।

१०२ बाह्य पदार्थोंके संयोगमें फंस कर ही यह आत्मा सब दोषोंका आश्रय बन जाता है, क्योंकि संयोगकी कृपासे जीव तथा जड़ एकामेक हो जाते हैं। अतएव इन दोनोंके इस भीषण तथा परिणाममें घातक संयोगको मैं जीवनके अन्तके साथ साथ ही

बंधवैचित्र्य

१०३ छोड़ता हूँ। संसारके समस्त प्राणियों पर मेरा मन एकसा है, किसीके साथ मेरी कई भी शत्रुता नहीं है। आशा इस जगतमें एक, दो नहीं हजारों तथा अनन्त
१०४ क्लेशोंका एक मात्र अक्षय मूल है मैं उसे भी छोड़ कर वेगके साथ समाधिस्थ होता हूँ। इस पद्धतिका अनुसरण करके राजर्षिने लोक तत्त्वोंका अनेक बार अनेक दृष्टियोंसे ध्यान किया था। वे महामतिमान् थे अतएव संकल्प विकल्पोंको समाप्त करनेमें उन्हें समय न लगा था। निरन्तर चलते हुए तपस्याके अनुष्ठानोंके भारसे उनका शरीर सर्वथा कृश हो गया था।

निदान त्याग

१०५ इस प्रकार वे महामुनि एक मास पर्यन्त साधना-रत ही रहे थे। इसके उपरान्त एक क्षणभरमें ही राजर्षिकी समस्त कषाएं (लोभ) विनष्ट हो गयीं थी तथा वे शुक्ल-ध्यानकी प्रथम कोटि पृथकत्व-वितर्क अवस्थामें आसीन हो गये थे। इसी क्रमसे विकास करते हुए वे प्राण वियोगके समय परम शान्तिसे प्राप्त होनेवाले सम

क्षपक श्रेणी

१०६ स्थानपर पहुंच गये थे। तीनों गुप्तियों रूपी कवचमें सुरक्षित, ग्रहीत व्रतोंको निभानेके लिए अडिग तथा अकम्प, शास्त्रोक्त प्रक्रियाके अनुसार ही कर्मोंका आस्रव तथा निर्जरा (क्योंकि कुछ रह ही नहीं गया था) रूपी द्वारोंके रोधक राजर्षिने अल्पकालमें ही पहिलेसे बंधे कर्मोंको
१०७ भी महान तपके द्वारा नष्ट कर दिया था। राजर्षि वरांग यद्यपि शुभ शुक्ल ध्यानकी प्रगतिमें पूर्णरूपसे प्रवेश पा चुके थे, मानसिक तथा अन्य वृत्तियोंके पूर्ण निरोधको, सम्यक्-चारित्रकी सर्वांग विधिको आगमके अनुकूल रूपमें पूर्ण कर चुके थे तो भी उन महर्षिको मोक्ष पदकी प्राप्ति न हुई थी। इसका कारण तो स्पष्ट ही था; उनके आत्मांको शरीरमें बांध रखने लिए कुछ कर्म तब भी शेष रह गये थे।

१०८ तब अथक परिश्रमके द्वारा उन्होंने शेष परीषहों रूपी शत्रुओंको जीत लिया था तथा कषायों-रूपी समस्त दोषोंको विवेकके द्वारा धो डाला था फलतः उनकी आभ्यन्तर लेश्या परम शुक्ल लेश्या हो गयी थी। उस समय उनका ध्यान पंचपरमेष्ठीके स्मरण और आराधनामें लीन था इस अवस्थाको प्राप्त होते ही भगवान् वरांग

अयोगावस्थाकी ओर

१०९ महामुनि अपने उत्तम औदारिक शरीरको छोड़ कर पंचम गतिको प्रस्थान कर गये थे। वीरोंके

शरीरान्त

मुकुटमणि सम्राट वरांगने जिस उत्साह और लगनके साथ आनर्तपुरके विशाल साम्राज्यको छोड़ कर परम शुद्ध निर्ग्रन्थ दीक्षाको ग्रहण किया था और मुनि वरांग हो कर शुद्ध संयम तथा तपका आचरण किया था, उसी निरपेक्ष भाव तथा शुद्ध स्वाभाव प्राप्तिके साथ वे देव (ऊर्ध्व) लोकके मस्तक तुल्य तथा जीवलोककी अन्तिम सीमा भूत उस सर्वार्थसिद्धि विमानमे उत्पाद शय्यासे जाग कर विराज गये थे। जिसमें उत्पन्न होनेका तात्पर्य ही यह होता है कि अगले भवमें निर्वाण पद प्राप्त करेंगे।

राजर्षि वरांगके साथ जिन जिन अन्य राजाओंने दीक्षा ग्रहण कर के कठोर संयमकी आराधनामें सफलता प्राप्त करके राग द्वेष आदि कषायोंको जीत लिया था, वे मतिमान् राजर्षि भी सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र, घोर तप आदिके सफल प्रयोगोंके फल स्वरूप परम शुद्ध लेश्याओंको प्राप्त करके आयुकर्मकी समाप्ति होते ही देवलोक चले गये थे। ज्ञान ध्यान परायण उन राजर्षियोंमें से कितने ही मुनिवर सर्वार्थसिद्धिके पहिले स्थित अपराजित विमानमें प्रकट हुए थे। दूसरे कितने ही महर्षि वैजयन्त विमानमें उत्पन्न हुए थे। कुछ लोग ग्रैवेयकोंमें पहुंचे थे, अन्य लोगोंका पुण्य उन्हें आरण-अच्युतों कल्प तक ही ले जा सका था। ११० १११

अन्यमुनि समाधिमरण

अन्य यतिवर महेन्द्र कल्पमें ही देव हुए थे। मन, वचन, कायकी तन्मयतासे जिनेन्द्र पूजा करना जिनका स्वभाव था, प्रकृतिसे ही जिन्हे तत्वोंपर निर्दोष गाढ़ श्रद्धान होनेके कारण नैसर्गिक सम्यक्त्व था तथा शुद्ध सम्यक्दर्शनके साथ, साथ तप जन्य प्रभावके कारण जिनकी लेश्या विशुद्ध पीत, पद्म तथा शुक्ल हो गयीं थी वे संयमी मर कर लौकान्तिक देव हुए थे। ११२

इतरजन सद्गति

सम्राट वरांगकी पत्नियोंने भी अर्यिकाकी दीक्षा ग्रहण करके विपुल पुण्यराशिका संचय किया था। उनके राग आदि भाव शान्त हो गये थे। दया, इन्द्रिय दम, शान्ति आदि गुणोंने स्वयं ही उन्हें वरण किया था। उन्होंने पर्याप्त घोर तप किया था। जिसके प्रभावसे वे सब भी देवयोनिमें उत्पन्न हुई थीं। ११३

वरांग नामधारी उत्तमपुर तथा पीछे आनर्तपुरके नरपतिने राज्य अवस्थामें ही जो अचिन्तनीय सुख तथा दुख पाये थे तथा राज्य त्याग कर दीक्षा ली थी और श्रमण अवस्थामें उनके द्वारा, जो जो घोर सत्य तप किये गये थे उन सबका मैंने इस ग्रन्थमें बड़े संक्षेपसे वर्णन किया है। प्रथम सम्राट तथा पश्चात् महर्षि वरांग अन्तरंग वहिरंग लक्ष्मीके स्वयं-वृत वर थे, उनकी कीर्ति विशाल और सर्व व्यापिनी थी, उनके तेजका तो कहना ही क्या है, उनका विवेक और शक्ति भी अपार थी ऐसे राजर्षिके इस चरित्रको जो व्यक्ति उनकी भक्तिके साथ सुनता है, सुनाता है, पढता है अथवा मनन करता है वह निश्चियसे अनुपम तथा ध्रुवपद (मोक्ष) को प्रयाण करता है। ११४

उपसंहार

चारों वर्ग समन्वित, सरल शब्द,-अर्थ-रचनामय वरांगचरित नामक धर्मकथामें
सर्वार्थसिद्धि गमन नाम एकत्रिंगतितम सर्ग समाप्त।

इस महा काव्यमें सर्गोंकी समाप्ति होनेपर दी गई प्रशस्तिको भी मिलाकर पूरे ग्रन्थका प्रमाण तीन हजार, आठसौ, उन्नीस श्लोक (३८१९) है।

पारिभाषिक शब्दकोश

प्रथम सर्ग

पृ० १–अरिहन्त–मोहनीय, ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी तथा अन्तराय इन चार घातिया कर्मोंको नष्ट करके अनन्त दर्शन, ज्ञान, सुख और वीर्यसे युक्त आत्माको अरिहन्त कहते हैं। इनके ४६ गुण होते हैं—आठ प्रातिहार्य, चार अनन्त-चतुष्टय तथा ३४ अतिशय होते हैं।

केवल ज्ञान–तीनों लोकों और तीनों कालोंके समस्त द्रव्य तथा पर्यायोंको एक साथ जाननेमें समर्थ आत्माका क्षायिक गुण है।

रत्नत्रयी–मोक्षके मार्गभूत सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान और सम्यक्-चारित्र ही रत्नत्रयी है।

मोह–आत्माके सम्यक्त्व और चारित्र गुणको घातने वाली शक्तिको मोह कहते हैं। यह चौथा कर्म है। दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय इसके प्रधान भेद हैं। दर्शन मोहनीय वह है जो आत्मामें सत्य श्रद्धा (सम्यक्त्व) का उदय न होने दे। यह मिथ्यात्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और सम्यक्त्वके भेदसे तीन प्रकारका है। जो आत्माके चारित्रगुणका घात करे उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। कषाय तथा नो कषायके भेदसे यह दो प्रकारका है। प्रथमके अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन चार भेद हैं। इनमें भी प्रत्येकके क्रोध, मान, माया तथा लोभ चार भेद होते है, इस प्रकार कषाय मोहनीय १६ प्रकारका है। तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसक वेदके भेदसे नो कषाय मोहनीय ९ प्रकारका है। मोहनीय कर्मकी उत्कृष्ट स्थिति ७० कोड़ी कोड़ी सागर है और जघन्य अन्तर्मुहूर्त है। यह कर्मोंका राजा है।

क्षायिक–किसी कर्मके क्षयसे उदित होनेवाले गुणको क्षायिक भाव या गुण कहते हैं।

ऋद्धि–पूर्वजन्म (देव नारकियोंमें) या इसी जन्मके तपसे प्राप्त विशेष शक्तिको ऋद्धि कहते हैं। ऋद्धिके आठ प्रकार होते हैं। १. बुद्धिऋद्धि—अवधि, मनःपर्यय, केवलज्ञान, बीजबुद्धि, कोष्ठबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्न श्रोत्रता, रसना, स्पर्शन, चक्षु तथा श्रोत्र इन्द्रिय ज्ञानलब्धि, दर्श पूर्वित्व, अष्टांग निमित्त, प्रज्ञाश्रवणत्व, प्रत्येकबुद्धि तथा वादित्वके भेदसे १८ प्रकार की है। २. क्रियाऋद्धि—जंघा, तंतु, पुष्प, पत्र, श्रेणी, अग्निशिखा चारण तथा आकाशगामित्वके भेदसे ८ प्रकारकी है। ३. विक्रियाऋद्धि—अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व, अप्रतिघात, अन्तर्द्धान तथा कामरूपित्वके भेदसे ११ प्रकारकी है। ४. तप—उग्र, दीप्त, तप्त, महा, घोर, घोरपराक्रम तथा घोर ब्रह्मचर्यके भेदसे ७ प्रकारकी है। ५. बलऋद्धि—मन, वचन तथा कायके भेदसे ३ प्रकार की है। ६. औषधिऋद्धि—आमर्ष, क्ष्वेल, जल्ल, मल्ल, विट, सर्वौषधि, आस्यविष तथा दृष्टिविषके भेदसे ८ प्रकारकी है। इसे 'अगद-ऋद्धि' भी कहते हैं। ७. रस ऋद्धि—आस्यविष (मुख या वचनमें विष), दृष्टि विष, क्षीरस्रावी, मधुस्रावी, सर्पिस्रावी तथा अमृतस्रावीके भेदसे ६ प्रकार की है। ८. क्षेत्र ऋद्धि—अक्षीण महानस तथा अक्षीण महालयके भेदसे दो प्रकारकी है।

गणधर—मुनियोंके प्रधान तथा तीर्थंकरोंके उपदेशके प्रधान ग्रहीता। ये मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय ज्ञानधारी होते हैं। पुराणोंके अनुसार वर्तमान चौबीस तीर्थंकारोंके १४५३ गणधर हुए हैं। क्रमशः प्रत्येक तीर्थंकरके मुख्य गणधरके नाम वृषभसेन, सिंहसेन, चारुदत्त, वज्र, चमर, वज्रचमर, वलि, दत्तक, वैदभि, अनगार, कुन्थु, सुधर्स, मंदरार्य, अय, अरिष्टनेमि, चक्रायुध, स्वयंभू, कुन्थु, विशाख, मल्लि, सोमक, वरदत्त, स्वयंभू तथा गौतम (इन्द्रभूति) हैं।

लब्धि—आत्माकी योग्यताकी प्राप्तिको लब्धि कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं— १. क्षयोपशम—संज्ञी पञ्चेन्द्रित्व, विवेक बुद्धि की प्राप्ति तथा पापोदयके विनाशको कहते हैं। २. विशुद्धि—पापपरिहार और पुण्याचारको कहते है। ३. देशना—जिनवाणीके श्रवण प्रगाढ़ रुचि। ४. प्रायोग्य—कर्मस्थितिका अपकर्षण। ५. करण—प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि युक्त परिणामोंकी प्राप्ति। इसके अधःकरण, अपूर्वकरण तथा अनिवृत्तिकरण विशेष भेद हैं। इनके सिवा काल लब्धि, कर्मस्थिति काललब्धि तथा भव-काल-लब्धि तथा नौ क्षायिक और पाँच क्षायोपशमिक लब्धियां भी होती हैं।

मोक्ष—जैन दर्शनका सातवां तत्त्व, मिथ्या दर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग इन बन्धनके कारणोंके अभाव तथा पूर्वोपार्जित कर्मोंकी निर्जरा हो जानेसे ज्ञानावरणी आदि आठों कर्मोंके आत्यन्तिक विनाशको मोक्ष कहते हैं।

सम्यक्ज्ञान—सम्यक् दर्शनसे युक्त ज्ञान। जीव आदि पदार्थ जिस रूपमें हैं उसी रूपमें जानना। संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय दोषोंसे यह ज्ञान अछूता होता है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवल इसके भेद हैं।

दिव्य-ध्वनि—केवल ज्ञान होनेपर तीर्थङ्करोंके उपदेशकी भाषा। इसकी तुलना मेघ गर्जनासे की है। यह एक योजन तक सुन पड़ती है। यह देव, मनुष्य और पशुओं की भाषाका रूप लेकर समवसरणमें बैठे सब प्राणियोंका शंका समाधान तथा अज्ञान निराकरण करती है। 'अर्द्धमागधी' नामसे भी इसका उल्लेख मिलता है।

द्रव्य—गुण और पर्यायसे युक्त सत्को द्रव्य कहते हैं। सत् उसे कहते हैं जिसमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्य हों। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल छह द्रव्य हैं।

गुण—द्रव्यकी अन्वयी—सहभावी योग्यताओंको गुण कहते हैं अर्थात् जिनके कारण एक द्रव्य दूसरे द्रव्यसे अलग मालूम दे, वे गुण हैं। जो अस्तित्व, आदि गुण सब द्रव्योंमे पाये जाते हैं इन्हें सामान्य गुण कहते हैं। ज्ञानादि, रूपादि, विशेष गुण हैं।

पर्याय—गुणोंके विकारको अर्थात् जो द्रव्यमें आती जाती रहें उन्हें पर्याय कहते हैं। व्यञ्जन पर्याय और अर्थ पर्यायके भेदसे यह दो प्रकारकी होती है।

पदार्थ—सम्यक्-ज्ञानकी उत्पत्तिके प्रधान साधन अर्थोंको बतलानेवाले पदोंको पदार्थ कहते हैं। जीव आदि सात तत्त्व तथा पुण्य और पाप ९ पदार्थ हैं।

सम्यक् चारित्र—संसार चक्र समाप्त करनेके लिए उद्यत सम्यक् ज्ञानीकी उन सब क्रियाओंको सम्यक् चारित्र कहते हैं जिनसे कर्मोंका आना रुक जाय। अर्थात् हिंसा आदि बाह्य क्रियाओं तथा योग आदि आभ्यन्तर क्रियाओंके रुक जानेसे उत्पन्न आत्माकी शुद्धिको ही चारित्र कहते हैं। इसके स्वरूपाचरण, देश, सकल और यथाख्यात चार भेद हैं।

सुषमा—अवसर्पिणी युग-चक्रका दूसरा तथा उत्सर्पिणीका पाँचवा काल। इसकी स्थिति तीन कोड़ीकोडी सागर है। इसमें मध्यम भोगभूमि हरि तथा रम्यक् क्षेत्रोंके समान मनुष्य होते हैं।

क्षायोपशमिक—जीवकी वह स्थिति जब उदयमें आने वाले कर्मोंके सर्वघाती स्पर्द्धक विना फल दिये झरते (उदया भावी क्षय) हैं तथा सत्तामें रहने वाले कर्मोंके सर्वघाती स्पर्द्धक दबे रहते हैं। तथा देशघाती कर्मोंके स्पर्द्धक उदयमें हों। ऐसे भाव १८ होते हैं—मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यय ज्ञान, कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधि अज्ञान, चक्षु, अचक्षु तथा अवधि दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य लब्धियाँ, सम्यक्त्व, चारित्र और संयमासंयम।

तीर्थंकर—दर्शन विशुद्धि, आदि सोलह भावनाओंके कारण बँधे कर्मके उदयसे प्रादुर्भूत प्राणिमात्रका सर्वोपरि आध्यात्मिक नेता। इस जीवके गर्भ, जन्म, तप, केवल तथा मोक्ष कल्याणक इसकी लोकोत्तरताका ख्यापन करते हैं। इसमें जन्मसे ही मति, श्रुत और अवधि ज्ञान होते हैं। ऐसे महात्मा हमारे भरत क्षेत्रमें प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी कालमें २४, २४ होते हैं। विदेहोंमें सदैव तीर्थंकर होते हैं। वहाँ पर इनकी कमसे कम संख्या २० और अधिकसे अधिक १६० होती है। वहाँ पर पाँचों कल्याणक होना आवश्यक नहीं है। इस युगके प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ थे और अन्तिम श्री महावीर थे।

धर्म—गमन करनेके लिए उद्यत जीव तथा पुद्गलोंकी गतिके उदासीन निमित्तको धर्म द्रव्य कहते हैं। यह नित्य, अवस्थित, अरूपी तथा अखण्ड द्रव्य है। इसके असंख्यात प्रदेश होते हैं।

अधर्म—ठहरनेके लिए उद्यत जीव तथा पुद्गलोंकी स्थितिके उदासीन निमित्तको अधर्म द्रव्य कहते हैं। यह भी धर्म द्रव्यके समान है। ये दोनों द्रव्य लोकाकाश भरमें व्याप्त हैं।

आकाश—षड्द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य जो समस्त द्रव्योंको स्थान देता है। यह भी नित्य, अवस्थित, अरूपी, अखंड तथा निष्क्रिय द्रव्य है। इसके अनन्त प्रदेश होते हैं। इसके दो भेद हैं—१. लोकाकाश—जहाँ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म तथा काल द्रव्य पाये जांय। २. अलोकाकाश—लोकाकाशके अतिरिक्त द्रव्यविहीन आकाश।

काल—षड् द्रव्योंमेंसे एक द्रव्य जो जीव पुद्गलोंमें परिवर्तन क्रिया तथा छोटे-बड़ेपनेका व्यवहार कराता है। यह भी नित्य अवस्थित तथा अरूपी है। यह लोकाकाशके एक एक प्रदेशपर एक-एक कालाणु स्थित है। यह असंख्यात द्रव्य है। इसके सबसे छोटे परिमाण को समय कहते हैं। काल द्रव्यके समयोंका प्रमाण अनन्त है। समयसे प्रारम्भ करके आवलि, आदि इसके भेद होते हैं।

जीव—षड्द्रव्योंमें मुख्य द्रव्य। इसका लक्षण चेतना है अर्थात् जो सदा चैतन्य था, है और रहेगा। यह नित्य, अवस्थित तथा अरूपी है। व्यवहार दृष्टिसे जिसमें पाँच इन्द्रिय, तीन बल, आयु और श्वासोच्छ्वास ये दश प्राण पाये जांय वह जीव है। इसके संसारी और मुक्त रूपसे दो प्रधान भेद हैं। इन्द्रिय, आदिकी अपेक्षा संसारी जीवका विपुल विस्तार है (तत्त्वार्थसूत्र तथा टीका १—४ अध्याय)।

स्वर्ण पाषाण—वह पत्थर जिसमें सोना होता है। कहीं-कहीं पारस पत्थरके लिए भी इस शब्दका प्रयोग हुआ है।

पृ० २—दृष्टि—दर्शन को कहते हैं। जीव आदि तत्त्वोंके श्रद्धानको दर्शन कहते हैं। अतएव जैन आगममें दृष्टि श्रद्धाका पर्यायवाची है।

उपदेष्टा—उपदेशकको कहते हैं किन्तु सच्चे उपदेष्टा केवली भगवान हैं। अतः उपदेष्टा को विरागी, निर्दोष, कृतकृत्य, परमज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, आदि-मध्य-अन्त विहीन तथा पूर्वापर विरोध-विहीन होना चाहिये।

पृ० ३—श्रावक—सच्चे देवका पुजारी, सच्चे गुरुके उपदेशानुसार आचरण करनेवाला तथा सच्चे शास्त्रका श्रोता तथा अभ्यासी व्यक्ति श्रावक होता है। इसके पाक्षिक, नैष्टिक तथा साधक ये तीन भेद हैं। सप्त व्यसनका त्यागी और आठ मूलगुणोंका धारक पाक्षिक श्रावक है। निर्दोष रूपसे दर्शन प्रतिमा आदि चारित्रका पालक नैष्टिक होता है। तथा उक्त प्रकारसे व्रतोंको पालते हुए अन्तमें समाधिमरण पूर्वक प्राण छोड़ने वाला साधक होता है।

प्रमाण—सच्चे ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान तथा केवल ज्ञान सत्य ज्ञान होनेके कारण ही प्रमाण है। पदार्थका ज्ञान एक देश (पहलू) और सर्वदेश होता है। प्रमाण पदार्थका सर्वदेश सत्य ज्ञान है।

नय—पदार्थके आंशिक सत्य ज्ञानको नय कहते हैं। निश्चय और व्यवहारके भेदसे यह दो प्रकारका है। वास्तविकताको ग्रहण करनेवाला निश्चय-नय है। नय द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदसे भी दो प्रकारका है। द्रव्य अर्थात् सामान्यको ग्रहण करनेवाले द्रव्यार्थिक नयके १—नैगम, संग्रह और व्यवहार तीन भेद है। विशेषको ग्रहण करने वाले पर्यायार्थिक नयके ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत चार भेद है। निमित्त वश एक पदार्थको दूसरे रूप जाननेवाले व्यवहार नयके सद्भूत, असद्भूत और उपचरित ये तीन भेद हैं।

व्यसन—इस लोक परलोकमें हानिकर बुरी आदतका नाम व्यसन है। ये सात हैं—१—जूआ खेलना, २—मांस भोजन, ३—मदिरा पान, ४—वेश्या गमन, ५—शिकार खेलना, ६—चोरी तथा ७—परस्त्री सेवन। इन सातों कुकर्मोंके साधक कार्योंको उपव्यसन कहते हैं।

चक्रवर्ती—छह खण्ड पृथ्वीका विजेता, १४ रत्नों और नवनिधियोंका स्वामी सर्वोपरि राजा। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीमें भरत तथा ऐरावत क्षेत्रमें बारह बारह होते हैं। १६० विदेहोंमें अधिकसे अधिक १६० और कमसे कम २० होते हैं। इनकी सेनामें ८४ लाख हाथी ८४ लाख रथ तथा ११८ लाख घोड़े होते हैं। १ चक्र, २ असि, ३ छत्र, ४ दण्ड, ५ मणि, ६ चर्म, ७ काकिणी, ८ गृहपति, ९ सेनापति, १० हाथी, ११ घोड़ा, १२ शिल्पी, १३ स्त्री तथा १४ पुरोहित ये चौदह रत्न हैं। १ काल, २ महाकाल (अक्षय भोजन दाता), ३ पाण्डु, ४ माणवक, ५ शंख, ६ नैसर्प, ७ पद्म, ८ पिंगला तथा ९ रत्न ये नौ निधियाँ हैं। प्रत्येक चक्रवर्तीके स्त्री रत्न (पट्टरानी) के साथ-साथ ९६ हजार रानियाँ होती हैं। तथा बत्तीस हजार मुकुटधारी राजा उसे अपना अधिपति मानते हैं। इस कालमें १—भरत, २—सगर, ३—मघवा, ४—सनत्कुमार, ५—शान्तिनाथ,

६–कुन्थनाथ, ७–अरनाथ, ८—सुभौम, ९–महापद्म, १०–हरिसेन, ११–जय १२–ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुए हैं। भावी उत्सर्पिणी में १–भरत, २–दीर्घदन्त, ३–मुक्तदंत, ४–गूढ़दंत, ५–श्रीषेण, ६–श्रीभूति, ७–श्रीकान्त, ८–पद्म, ९–महापद्म, १०–चित्र वाहन, ११–विमल वाहन और १२–अरिष्टसेन चक्रवर्ती होंगे।

अहमिन्द्र–सोधर्म आदि सोलह स्वर्गोंके ऊपरके नौ अनुदिश, नौ ग्रैवेयक तथा पञ्च पञ्चोत्तार में होने वाले सब देव। स्थिति, प्रभाव, सुख, द्युति, आदिमें ये सब समान होते हैं। इनके देवियाँ नहीं होती हैं।

पृ० ४–अनन्तसुख–ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, मोहनीय तथा अन्तराय इन चार घातियाँ कर्मोंके क्षयसे १३ वें गुणस्थानमें प्रगट होनेवाले स्वाभाविक आनन्दको अनन्तसुख कहते हैं।

अनन्तवीर्य–वीर्यान्तराय कर्मके सर्वथा नाश हो जानेपर केवलीमें उदित होनेवाली आत्माकी अनन्त शक्तिको अनन्त वीर्य कहते हैं।

अनन्त दर्शन–दर्शनावरणी कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे केवलोमें उदित होनेवाला परिपूर्ण स्वाभाविक दर्शन।

ककुद्–बैल या साँड़के कन्धेके ऊपर उठा स्थान। कांदोल।

देवकुरू–विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतकी दक्षिण दिशामें उसके सौमनस तथा विद्युत्प्रभ गजदंतके बीचके धनुषाकार क्षेत्रका नाम है। यह उत्तम भोगभूमि है। यहाँके युगलियोंकी आयु तीन पल्य होती है।

उत्तरकुरू–विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतकी उत्तर दिशामें स्थित धनुषाकार क्षेत्र। दोनों गजदन्तोंके बीचका क्षेत्र इसकी लम्बाई (जीवा) है और इससे सुमेरु तक इसकी चौड़ाई (धनुष) है। यह भी उत्तम भोगभूमि है अर्थात् यहाँ पर भी सदैव सुषमा काल रहता है।

भोगभूमि–जहाँ पर असि, मसि, कृषि आदि कर्म बिना किये ही मनुष्य या पशु दश प्रकारके कल्प वृक्षोंसे इच्छित भोग-उपभोग पाते हैं और सुख सन्तोषमय जीवन बिताते हैं। उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे भोगभूमि तीन प्रकार की हैं। मुख्य रूपसे देवकुरू-उत्तरकुरू उत्तम भोगभूमि है। जो लोग उत्तम पात्रको दान देते है, वे यहाँ उत्पन्न होते हैं। इनकी आयु तीन पल्य होती है। तीन (आठवीं वार) दिनमें ये एक वेरके बराबर भोजन करते हैं। इनके शरीरकी ऊँचाई छह हजार धनुष होती है। शरीरका रंग सोनेके समान होता है। हरि तथा रम्यक क्षेत्र मध्यम भोगभूमि है। जो मध्यम पात्रको दान देते हैं वे यहाँ पैदा होते हैं। इनकी आयु दो पल्य होती है। ये दो दिन वाद अर्थात् छठी वार बहेड़ेके बराबर भोजन करते है। शरीरकी ऊँचाई ४ हजार धनुष होती है तथा रंग शंखके समान श्वेत होता है। हैमवत तथा हैरण्यवत् क्षेत्र जघन्य भोगभूमि है। जघन्य पात्रको दान देनेसे यहाँ जन्म होता है। इनकी आयु एक पल्य होती है। ये एक दिन वाद अर्थात् चौथी बार आंवले बराबर भोजन करते हैं। शरीरकी ऊँचाई दो हजार धनुष होती है और रंग नील कमलके समान होता है।

भोगभूमिकी पृथ्वी दर्पणके समान निर्मल होती है। इस पर सुगंधित दूब होती है। मधुर जलकी वावडियां होती हैं। यहाँ पर एक स्त्री तथा पुरुष साथ साथ (युगल) उत्पन्न होते हैं। इनके पैदा होते ही माता पिता क्रमशः जंभाई और छींक लेकर मर जाते हैं। अतः ये स्तन्य पान नहीं करते। और ऊपरको मुख किये पड़े रहते हैं तथा अंगूठा चूसते रहते हैं, इस प्रकार सात सप्ताह में ये दोनों युवक हो जाते हैं और पति-पत्नीकी तरह शेष जीवन बिताते हैं। सबके वज्र-वृषभ-नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। मृत्यु होने पर इनका शरीर बादलके समान लुप्त हो जाता है। इनमे जो सम्यक्दृष्टी होते हैं वे मर कर सौधर्म-ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होते हैं। तथा मिथ्या दृष्टि भवनत्रिक (भवनवासी व्यन्तर तथा ज्योतिषी देवों) में उत्पन्न होते हैं। भरत तथा ऐरावतोंमें सुषमा सुषमा-सुषमा तथा सुषमा-दुषमा कालों में क्रमशः उत्तम, मध्यम तथा जघन्य भोगभूमियां होती है।

किन्नर—देव योनिकी चार श्रेणी हैं। इनमें दूसरी श्रेणीके देव विविध देश-देशान्तरोंमें रहनेके कारण व्यन्तर कहलाते हैं। इन व्यन्तरोंके प्रथम भेद का नाम किन्नर है। वैदिक मान्यतामें इन्हें गायक देव बताया है। ऐसा लिखा है कि इनका मुख घोड़ेका होता है और, शरीर मनुष्यका होता है। कुबेरको इनका स्वामी बताया है।

पृ० ५—**नागकुमार**—प्रथम श्रेणीके देव भवन-वासियोंका दूसरा भेद। इनका चिन्ह सर्प होता है। वैदिक मान्यतामें इन्हें सर्पयोनि अर्थात् ऊपरसे मनुष्य और कमरके नीचे साँप सरीखा बताया है। इनके चौरासी लाख भवन होते है और प्रत्येक में एक जिन मन्दिर होता है।

पन्नग—सर्पका नाम है। शास्त्रोंमें भवनवासियोंके भेद नागकुमारों तथा व्यन्तरोंके तीसरे भेद महोरगोंके लिए भी इसका प्रयोग हुआ है।

गन्धर्व—व्यन्तर देवोंका चौथा प्रकार। १—हाहा, २—हूहू, ३—नारद, ४—तुंबुरू, ५—कदंब, ६—वासव, ७—महास्वर, ८—गीत, ९— रति तथा १०—रैवतके भेदसे ये दश प्रकारके होते हैं। वैदिक मान्यताके अनुसार ये गायक जातिके देव हैं।

सिद्ध—व्यन्तरोंकी उपभेद। वैदिक मान्यतामें भी इसे देवयोनियोंमें गिना है।

तुषित—लोकान्तिक देवोंका छठा भेद। ये ब्रह्मलोक स्वर्गके सबसे ऊपरके भागमें रहते हैं। यतः यहाँ से च्यय कर एक बार जन्म धारण करके मोक्ष चले जाते हैं अतः इन्हें लोकान्तिक कहते हैं, क्योंकि इनके लोक अर्थात् संसार भ्रमणका अन्त आ चुका है। ये सब स्वतन्त्र और समान होते हैं। इन्हें इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रीति नहीं होती अतः ये देवोंमें ऋषि माने जाते हैं। सब देव इनकी पूजा करते हैं। ये चौदह पूर्वके ज्ञाता होते हैं और जब तीर्थंकरको संसारसे विराग होता है तो ये उनको उपदेश देकर दीक्षाके अभिमुख करते हैं।

चारण—व्यन्तर देवोंका एक भेद। वैदिक मान्यतामें इन्हें देवोंका स्तुतिपाठक या गायक कहा है।

दन्तकेलि—हाथी मदोन्मत्त होकर अपने दांतोंसे पहाड़ों-पत्थरों-पेड़ोंको तोड़ देता है यही दन्तकेलि है। शृङ्गाररसमें दांतोंसे काटनेको भी दन्तकेलि कहते हैं।

उद्भिज—वनस्पति कायिक जीव, जो पृथ्वीको फोड़कर उगते हैं।

बलि—पूजा अथवा उपहार। वैदिक मान्यता में इसका मुख्य अर्थ पशु आदिका बलिदान होता है।

पृ० ६—**इन्द्रध्वज**—इन्द्रके द्वाराकी गयी पूजा। नन्दीश्वर पर्वमें प्रतिवर्ष आषाढ़, कार्त्तिक और फाल्गुनमासों के शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे आठ दिन पर्यन्त भव्य जीवों द्वारा जो पूजा की जाती है उसे अष्टाह्निक पूजा कहते हैं यही जब इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिकादिकके द्वारा की जाती है तो इसे इन्द्रध्वज मह कहते हैं।

पञ्चामृत—दूध, दही, घी, इक्षुरस तथा सर्वौषधि रसको पंचामृत कहा है। इन पाचोंसे तीर्थंकरकी मूर्तिका अभिषेक किया जाता है।

आगम—सर्वज्ञ वीतराग द्वारा उपदिष्ट, अकाट्य, पूर्वापर विरोध रहित, सब क्षेत्रों और कालोंमें सत्य तथा तत्त्वोंके उपदेशक शास्त्रको आगम कहते हैं।

वर्ण—व्यवसायके आधारपर किया गया मनुष्यका मुख्य वर्ग या जाति। भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंकी व्यवस्था की थी क्योंकि पठन-पाठन, यजन-याजन, आत्मविद्या होनेके कारण सैनिक, व्यवसायी और सेवक तीनोंके लिए अनिवार्य हैं। किन्तु भरत चक्रवर्तीने ब्राह्मण वर्णकी भी पृथक् रूपसे व्यवस्था इसलिए की थी कि कुछ लोग पठन-पाठन, यजन-याजनमें ही लीन रहें।

भोजवंश—पुराणोंमें पुरुवंश और कुरुवंशको प्रधान राज्यवंशोंमें गिनाया है। इसके सिवा गिनाये गये आठ राजवंशोंमें भोजवंशका भी प्राधान्य है। ऐसा ज्ञात होता है कि भोज परमार (ल० १०१०—५५ ई०) तथा प्रतीहार (ल० ८३६—९० ई०) के पहिले भी किसी प्रधान सुख्यात राजाका नाम भोज था जिसके कारण इस वंशको इतना प्राधान्य तथा लोकप्रियता मिली होगी।

पृ० ७. **आश्रम**—मानव जीवनके विभागोंका नाम आश्रम है। ये चार हैं १—ब्रह्मचारी २—गृहस्थ, ३—साधक (वानप्रस्थ) तथा ४—भिक्षु (संन्यास)। ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए विद्याभ्यास तथा मानव जीवनोपयोगी मानसिक तथा शारीरिक योग्यताओंके सम्पादनकी वयको ब्रह्मचर्य कहते हैं। सम्राट् खारवेलने २४ वर्षकी वय तक इसे पाला था। देवपूजा, गुरूपासनादि नित्य क्रियाओंका पालन करते हुए जो गृहस्थ धर्मका पालन करते हैं वे छठी प्रतिमा तक गृहस्थ ही रहते हैं। सातवींसे ग्यारहवीं प्रतिमा तकका पालन करनेवाले उदासीन व्यक्ति साधक कहलाते हैं। अन्तरंग बहिरंग परिग्रहके त्यागी दिगम्बर मुनि भिक्षु कहलाते हैं।

जाति—शब्दका प्रचलित अर्थ प्रत्येक वर्णकी परमार, प्रतिहार, अग्रवाल, ओसवाल, आदि जातियां होता है। किन्तु शास्त्रोंमें मनुष्यकी कुलीनताके लिए दो बातों की शुद्धि पर जोर दिया है वे है वंश और जाति। वंश शब्दका अर्थ पितृ-अन्वय अर्थात् पिताका-कुल किया है और जाति की व्याख्या जननीका कुल किया है। अर्थात् वह व्यक्ति कुलीन है जिसके माता तथा पिता दोनोंके कुल शुद्ध हों। इस पौराणिक व्याख्याके आधार पर जातिका अर्थ ननहाल या माताका वंश है।

द्वितीय सर्ग

पृ० ११. भूरि भूरि–भरपूर, या खूब, बारम्बार।

पृ० १२. अकृत्रिम बन्धु–स्वाभाविक हितू या मित्र। शास्त्रोंमें बताया है कि जिनके साथ सम्पत्तिका बंटवारा नहीं होता वे नाना, मामा, ससुर, साले वगैरह अकृत्रिम या स्वाभाविक बन्धु होते हैं। तथा दादा, चाचा, चचेरे भाई आदि जिनका पैत्रिक सम्पत्तिमें भाग हो सकता है ये सब स्वाभाविक शत्रु होते हैं। अकृत्रिम बन्धुका दूसरा अर्थ हित-कारक हितैषी भी होता है।

पृ० १३–आठ दिक्पाल–चार दिशाओं तथा विदिशाओंके नियामक देवोंको दिक्पाल कहते हैं। चारों दिशाओंके दिक्पालोंके नाम क्रमशः इन्द्र (सोम), यम, वरुण तथा कुबेर है। चारों विदिशाओंके अधिपतियोंके नाम अग्नि, नैऋत्य, वायव्य तथा ईशान हैं।

पृ० १८. दान–स्व-परके उपकारके लिए अपनी न्यायोपात्त सम्पत्तिके त्यागको दान कहते हैं। यह चार प्रकारका होता है १—औषधि दान, २—शास्त्र दान, ३—अभयदान तथा ४—आहार दान। दूसरे प्रकारसे भी चार भेद किये हैं वे निम्न प्रकार हैं— १—सर्वदान अथवा सर्वदत्ति अपनी समस्त न्यायोपात्त सम्पत्तिको किसी सत्कार्यमें लगाकर तथा पुत्रादिको उचित भाग देकर विरक्त होनेको कहते हैं। २—पात्रदत्ति रत्नत्रय धारी निर्ग्रन्थ मुनिको नवधा भक्ति पूर्वक आहार दान देना उत्तम पात्रदत्ति है। व्रती श्रावकोंको दान देना मध्यम पात्रदत्ति है तथा अविरत सम्यक् दृष्टिको देना जघन्य पात्रदत्ति है। ३—समदत्ति साधर्मी बहिन भाइयों की सहायता करनेको कहते हैं। ४—दयादत्ति, दीन-दुखी मनुष्य पशु आदिको दयासे औषधि आदि चार प्रकारका दान देना दयादत्ति है।

तप–पूर्वबद्ध कर्मोंको नष्ट करनेके लिए जो शरीर और मनको तपाया जाता है उसे तप कहते हैं। बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे तप दो प्रकारका है। इनके भी छह छह भेद हैं। बाह्य तपके भेद निम्न प्रकार हैं—१ रागके विनाश और ध्यान की सिद्धिके लिए खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय चारों प्रकारके भोजनके त्यागको अनशन कहते हैं। २—नींद तथा आलस्यको जीतनेके लिए जितनी भूख हो उससे कम भोजन करनेको अवमौदर्य कहते हैं। ३—आशा तथा लौल्यको जीतनेके लिए चर्याके समय एक, दो मोहल्ला या घरोंका नियम कर लेना वृत्तिपरिसंख्यान है। यदि मर्यादित क्षेत्रमें स-विधि आहार नहीं मिलता है तो मुनि भूखा ही लौट कर भी परम तुष्ट रहता है। ४—इन्द्रिय विजयके लिए मीठा, लवण, घी, दूध, आदि रसोंके त्यागको रसपरित्याग कहते हैं। ५—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय तथा ध्यानकी साधनाके लिए एकान्तमें शयन-आसन करना विविक्तशय्यासन हैं। ६—शरीरकी सुकुमारता तथा भोग-लिप्सा समाप्त करनेके लिए पर्वत शिखर, नदीतीर, वृक्षमूल आदिमें गर्मी, ठंड तथा वर्षामे आसन आदि लगाना कायक्लेश है। अन्तरंग तपोंका विवरण निम्न प्रकार है—१–प्रमाद वश हुए दोषोंका दण्ड लेकर शुद्धि करना प्रायश्चित्त है। २—पूज्य पुरुषों तथा शास्त्र आदि का आदर करना विनय है ३—अपने कायसे दूसरोंकी शरीर-सेवा करना वैयावृत्त्य है। ४—आलस्य त्याग कर शास्त्र स्वाध्याय करना तथा ज्ञान भावनाको भाना स्वाध्याय है।

५—पर पदार्थोंमें ममत्वके त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं। ६—सब चिन्ताओंसे मनको रोक कर आत्मा या धर्मके ही चिन्तवनमें लगा देना ध्यान है।

संयम—भली भांति शरीर तथा मनके नियमनको संयम कहते हैं। यह भी पांच प्रकार का है। १—अहिंसा, सत्य, आदि पांच व्रतोंका पालन, २—इर्या, भाषा, आदि पांच समितियोंका आचरण, ३—चारों प्रकारके क्रोध, लोभ, आदि कषायोंका निरोध, ४—तीनों योगोंका निरोध तथा ५—रसनादि पाँचों इन्द्रियोंकी जय।

शौच—क्षमा, मार्दव, आदि दश धर्मोंमें से चौथा धर्म। सर्वथा वर्द्धमान लोभके निग्रह को शौच कहते हैं।

मैत्री—दूसरे को दुःख न हो इस प्रकार की अभिलाषाको मैत्री कहते हैं।

क्षमा—दुष्ट लोगोंके द्वारा गाली दिये जाने, हँसी उड़ायी जाने, अवज्ञा किये जाने, पीटे जाने, शरीर पर चोट किये जाने आदि क्रोध उत्पादक परिस्थितियोंमें भी मनमें क्रोध, प्रतिशोध तथा मलीनता न आनेको क्षमा कहते हैं।

परिमित परिग्रह—बाह्य धन-धान्यादि तथा अन्तरंग रागादि भावोंके संरक्षण तथा संचय स्वरूप मनोवृत्तिको मूर्च्छा या परिग्रह कहते हैं। इनके जीवनोपयोगी अनिवार्य परिमाण को निश्चित करनेको परिमित परिग्रह कहते हैं। इसका 'इच्छा परिमाण' तथा 'परिग्रह परिमाण' नामों द्वारा भी उल्लेख शास्त्रों में है। संसारके समस्त त्याग तथा संयमोंकी सफलता इस व्रतके पालन पर ही निर्भर है, विशेष कर आजके युगमें जब कि मार्क्सवाद-साम्यवादके नाम पर मानवको अपनी आवश्यकताएं उसी प्रकार बढ़ानेका उपदेश दिया जा रहा है जिस प्रकार संसारके महान् पापी (असीम सम्पत्तिके स्वामी) व्यक्तियोंने बढ़ा रखी हैं।

पृ० १९—**द्रव्य हिंसा**—क्रोधादि कषाययुक्त आत्मा प्रमत्त होता है, ऐसा प्रमादी आत्मा अपने मन, वचन तथा काय योगोंके द्वारा यदि किसी जीवको इन्द्रिय, बल, आयु आदि दश प्राणों से वियुक्त करता कराता है तो द्रव्य हिंसा होती है। अर्थात् किसी जीवके प्राणोंको अलग करना द्रव्यहिंसा है। विशेषता यही है कि यदि आत्मामें प्रमादीपनेसे चेष्टा न होगी तो वह हिंसक नहीं होगा। क्योंकि इर्या समितिसे चलने वाले मुनिके पैरोंके नीचे भी आकर प्राणी मरते हैं किन्तु इस कारणसे मुनिके थोड़ा भी बन्ध नहीं होता। कारण; उसमें प्रमत्त योग नहीं हैं। दूसरी ओर असंयमी प्राणी है जिसे हिंसाका पाप लगता ही है चाहे जीव मरे या न मरे क्योंकि उसमें प्रमत्त योग है, क्योंकि प्रमादी आत्मा अपनी ही हिंसा करता है चाहे दूसरे प्राणी मरें या न मरें।

भावहिंसा—प्रमाद और योगके कारण किसी प्राणीके द्रव्य अथवा भाव प्राण लेनेके विचार हो जाना भावहिंसा है। अर्थात् किसीको मारे, या न मारे, लेकिन यदि भाव मारनेके हो गये तो मनुष्य हिंसाके पापको प्राप्त करता है। जैसे एक भी मछलीको जाल में न फंसाने वाला धीवर अथवा स्वयंभूरमण समुद्रमें पड़े पुष्कर मत्सके कानमें रहने वाला तन्दुल मत्स। भाव हिंसा का चमत्कार यह है कि मारे जाने वाले का बाल भी बाँका नहीं होता किन्तु मारने वाला सहज ही अपने परिणामोंकी हिंसा कर लेता है।

तृतीय सर्ग

पृ० २१—घातियाकर्म—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्ययज्ञानादि क्षायोपशमिक गुणों तथा अनन्त-दर्शन, ज्ञान, वीर्य, सुखादि क्षायिक गुणोंको रोकने वाले कर्मोंको घातिया कर्म कहते हैं। ये कर्म चार हैं १—ज्ञानावरणी, २—दर्शनावरणी, ३—माहेनीय तथा ४—आयु।

अतिक्रम—ग्रहीत यम अथवा नियमके विषयमें मनकी शुद्धिका न रहना अतिक्रम कहलाता है। यथा सत्याणुव्रत लेकर मनमें ऐसा सोचना कि कभी झूठ बोलूं तो क्या हानि है। दिग्व्रतके अतिचारोंमें ऊपर, नीचे अथवा तिरछे मर्यादाके लंघनको भी अतिक्रम बताया है।

अतिचार—अमितगति सूरिके मतसे त्यक्त विषयमें फिरसे प्रवर्तनको अतिचार कहते हैं। की हुई प्रतिज्ञाके आंशिक भंगको भी अतिचार कहते हैं। अथवा विवश होकर त्यक्त विषयमें प्रवृत्त होनेको भी अतिचार कहते हैं। किन्तु उक्त प्रकारके आचरण तभी तक अतिचार हैं जब तक व्रतके पालनेकी भावना बनी रहती है। व्रत पालनकी भावनाके न रहने पर ऐसे कर्म अनाचार ही हो जाते हैं।

पृ० २२ श्रेणी—आत्मविद्यामें साधुके चारित्रके विकासको श्रेणी नाम दिया है। दशम गुणस्थान वाला मुनि चारित्र माहेनीयकी २१ प्रकृतियोंका उपशम करके जब ग्यारहवें गुणस्थानमें जाता है तब उपशम श्रेणी होती है। तथा जब उक्त प्रकृतियोंका क्षय करके १२ वें गुणस्थानमें जाता है तब क्षपक श्रेणी होती है। सामाजिक संगठनमें श्रेणी शब्दका अर्थ एक प्रकारके व्यवसायियों अथवा एक प्रकारके आचार-विचारके लोगोंके समूहके लिए आया है। प्राचीन भारतमें इस प्रकारकी अनेक श्रेणियां थीं।

गण—अध्यात्म शास्त्रमें तीन मुनियों अथवा वृद्ध मुनियोंके समुदायको गण कहते हैं। इसीलिए भगवानके प्रधान शिष्य अथवा श्रोता गणधर कहे जाते थे। लोकमें गण सामाजिक इकाई थी। प्राचीन भारतमें राजतन्त्रादिके समान गणतन्त्र भी थे अर्थात् जनता या जन अथवा उनके प्रतिनिधियोंको गण कहते थे तथा उनके द्वारा संचालित शासनको गणतन्त्र कहते थे। गणका अर्थ गिनना होता है अर्थात् वह शासन व्यवस्था जिसमें सम्मतियोंको गिनकर बहुमतके आधार पर निश्चय किया जाय।

सत्पात्र—दान देने योग्य व्यक्तिको पात्र कहते हैं। यह सत्पात्र (सुपात्र), कुपात्र तथा अपात्रके भेदसे तीन प्रकारका है। जो सम्यक्दर्शनको प्राप्त कर चुके हैं वे सत्पात्र हैं। इनमें भी मुनि आर्यिका उत्तम हैं। श्रावक-श्राविका मध्यम तथा अविरत जघन्य हैं। कुपात्र वे हैं जिन्हें सम्यक्दर्शन तो नहीं हुआ है किन्तु जैन शास्त्रोंके अनुसार आचरण पालते हैं। तथा जिनमें न सम्यक्दर्शन है और न आचरण है वे अपात्र हैं। पात्रके दूसरे प्रकारसे पांच भेद भी किये हैं १—सामयिक, २—साधक, ३—समयद्योतक, ४—नैष्ठिक तथा ५—गृहस्थाचार्य।

आहारदान—भक्ष्य अन्नादिका भोजन देना आहार दान है। नवधा भक्ति, आदि

पूर्वक सुपात्रको देनेसे यह पात्र-आहार दान होता है तथा इतर जन साधारणको देनेसे करुणा-आहार दान होता है।

पृ० २३ षड्द्रव्य—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल तथा जीव छह द्रव्य हैं। गुणोंके समूहको द्रव्य कहते हैं।

पृ० २४ हिरण्यगर्भ—जैन मान्यतानुसार प्रत्येक तीर्थंकरके पाँच कल्याणक (महोत्सव) होते हैं। इनमें गर्भ कल्याणक पहिला है। तीर्थंकरके गर्भमें आते ही अतिशय (असाधारणता द्योतक विशेष घटनाएं) होने लगती हैं। उनमें एक यह भी है कि छह मास पहिलेसे ही सोनेकी वृष्टि होती है। फलतः प्रत्येक तीर्थंकर ऐसा व्यक्ति है जिसके गर्भमें आते ही पृथ्वी हिरण्य (सोने) मय हो जाती है।

ज्योतिषी देव—देवोंके प्रधान भेद चार हैं भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी। जिन देवोंके शरीर तथा विमानादि तेजपुञ्ज है उन्हें ज्योतिषी कहते हैं। इनके मुख्य भेद १—सूर्य, २—चन्द्र, ३—ग्रह, ४—नक्षत्र तथा ५—तारका हैं। पृथ्वीकी सतहसे ७९० योजन ऊपर जाने पर ज्योतिष्क लोक प्रारंभ होता है और ९०० योजन की ऊँचाई पर समाप्त होता है। ये सूर्य चन्द्रादि सुमेरु पर्वतकी प्रदक्षिणा करते हुए मनुष्य लोकके ऊपर घूमते हैं तथा इन्हींके द्वारा दिन, रात्रि, आदि समयका विभाग होता है। विशेषता यही है कि ये मनुष्यलोकके बाहरके आकाशमें स्थित हैं।

देश—जीव आदि तत्त्वोंके ज्ञानके प्रकारोंको बताते हुए यह भी कहा है कि अस्तित्व, भेद, क्षेत्र (वर्तमान निवास देश), त्रिकालवर्ती निवास, मुख्य तथा व्यवहार काल, भाव और तारतम्य की अपेक्षा इनका विचार करना चाहिये। अर्थात् विविध देशों और कालोंकी अपेक्षा समस्त पदार्थोंमें परिवर्तन-परिवर्द्धन होते हैं। फलतः जो एक देश और कालके लिए उपयोगी था वही सर्वत्र सर्वदा नहीं हो सकता।

क्षायिक—जो भावादि कर्मोंमें क्षयसे होते हैं उन्हें क्षायिक भाव, आदि कहते हैं। क्षायिक भाव सम्यक्त्व, चरित्र, दर्शन ज्ञान, दान, लाभ, भोग, उपभोग तथा वीर्यके भेदसे नौ प्रकारके हैं।

स्वर्ग—जैन भूगोलके अनुसार यह लोक तीन भागों और चार योनियोंमें बँटा है। देवयोनिके चौथे भेद अर्थात् कल्पवासी देव ऊर्ध्व लोकके जिस भागमें रहते हैं उसे स्वर्ग कहते हैं। तथा ये स्वर्ग १६ हैं। ये सोलह स्वर्ग भी १—सौधर्म-ऐशान, २—सनत्कुमार-माहेन्द्र, ३—ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर, ४—लान्तव-कापिष्ठ, ५—शुक्र-महाशुक्र, ६—शतार-सहस्रार, ७—आनत-प्राणत तथा ८—आरण-अच्युत-युगलोंमें बँटे हुए हैं।

इन्द्र—अन्य देवोंमें अप्राप्य अणिमा आदि गुणोंके कारण जो देवलोक में सबसे अधिक प्रतापी तथा कान्तिमान होते हैं उन्हें इन्द्र कहते हैं। ये देवोंके राजा होते हैं। उक्त सोलह स्वर्गोंमें प्रारम्भके चार स्वर्गोंमें ४ इन्द्र होते हैं। ब्रह्मसे लेकर सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गोंमें ४ तथा अन्तके चार स्वर्गोंमें ४, इस प्रकार कुल मिलाकर १२ इन्द्र होते हैं। उनके नाम निम्न प्रकार हैं—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र, ब्रह्म, लान्तव, शुक्र, शतार, आनत, प्राणवत, आरण तथा अच्युत। मध्यलोकके बीचमें सुमेरु पर्वत खड़ा है। पृथ्वीके ऊपर

उसकी ऊँचाई ९९ हजार योजन है। सुमेरुकी शिखरकी ऊँचाई चालीस योजन है। जहाँ सुमेरुकी शिखर समाप्त होती है उसके ऊपर एक बाल भर बढ़ते ही ऊर्ध्वलोक प्रारम्भ हो जाता है। अर्थात् यहींसे सुधर्म स्वर्ग प्रारम्भ हो जाता है।

नरक–सुमेरु पर्वतकी जड़ भूमिमें एक हजार योजन है। इसके नीचे अधोलोक प्रारम्भ होता है। यह सात पटलोंमें बँटा है जिनके नाम–१ रत्नप्रभा, २–शर्कराप्रभा, ३–बालुका-प्रभा, ४–पंकप्रभा, ५–धूमप्रभा, ६–तमःप्रभा तथा ७–महातमःप्रभा हैं। जो प्राणी बहुत-आरम्भ परिग्रह करते हैं वे मरकर यहाँ उत्पन्न होते हैं। इनके शरीरका वर्ण, भाव, शरीर, वेदना तथा विक्रिया अशुभ होते हैं। तथा ज्यों-ज्यों नीचे जाइये त्यों त्यों लेश्या आदिकी कुत्सितता बढ़ती ही जाती है। एक दूसरेको दुःख देते ही इनकी लम्बी जिन्दगी बीतती है।

तिर्यञ्च–देव नारकी तथा मनुष्योंके सिवा शेष संसारी जीवोंको तिरछे 'चलनेके कारण' तिर्यञ्च कहते हैं। अथवा इनमें कुटिलता होती है अतः इन्हें तिर्यञ्च कहते है। इनमें पशु-पक्षीसे लेकर एकेन्द्रिय वृक्षादि तक सम्मिलित हैं। देव आदिके समान इनका लोक अलग नहीं है क्योंकि ये समस्त लोकमें फैले पड़े हैं। इन्हें कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान नहीं होता। आहार मैथुनादि होने पर भी प्रभाव, सुख, द्युति लेश्या, आदि इनके निकृष्ट होते हैं। सामान्य रूपसे जिनमें माया अधिक होती है वे मर कर तिर्यञ्च होते हैं।

मनुष्य–नित्य मननशील, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विवेक धारी, प्रबल मनोबल विभूषित तथा अडिग उपयोगवान् प्राणी मनुष्य कहलाते हैं। ये सब पञ्चेन्द्रिय संज्ञी होते हैं। जम्बूद्वीप, घातकी खण्ड तथा पुष्करार्द्धमें ये पाये जाते हैं। इनके प्रधान भेद आर्य और म्लेच्छ हैं। जो आर्य खण्डमें उत्पन्न होते हैं वे आर्य कहलाते हैं तथा म्लेच्छ खण्डमें उत्पन्न लोग म्लेच्छ कहलाते है। ऊपर लिखे ढाई द्वीपोंमें लवण समुद्र तथा कालोदधि मिला देने पर मनुष्य लोक हो जाता है। यह मनुष्यलोक लोकके मध्यमे स्थित है तथा इसका व्यास ४५ लाख योजन है।

भवनवासी–चार देवयोनियोंमें प्रथम योनि। यतः ये भवनोंमे रहते हैं, व्यन्तर ज्योतिषियों-के समान इधर उधर घूमते नहीं हैं अतः इन्हें भवनवासी कहते हैं। इनके दश भेद हैं—असुर कुमार, विद्युतकु. सुपर्णकु. नागकु. अग्निकु. वातकु. स्तनितकु. उदधिकु., दपिकु. तथा दिक्कुमार। इन सबका वेष-भूषा, शस्त्र, यान-वाहन, क्रीड़ा, आदि कुमारोंके समान होते हैं अतः इन्हें कुमार कहते है। अधोलोककी प्रथम पृथ्वी रत्नप्रभाके पङ्क-बहुलभागमें असुरकुमार रहते हैं तथा खर भागमें शेष नागकुमार आदि नौ भवनवासी देवोंके विशाल भवन हैं। इनके इन्द्रोंकी संख्या ४० है। इनमें असुरकुमारोंकी उत्कृष्ट आयु सागर प्रमाण है, नागकुमारोंकी तीन पल्य है, सुपर्ण-कुमारो साढ़े तीन, द्वीपकुमारोंकी दो तथा शेष छह कुमारोंको आधा पल्य है। तथा जघन्य आयु दश सहस्र वर्ष है।

व्यन्तर–देवोंका दूसरा मुख्य भेद। विविध द्वीप देशोंमें रहनेके कारण इनको व्यन्तर देव कहते हैं। किन्नर, किंपुरुष, महोरग, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, भूत तथा पिशाचके भेदसे ये आठ प्रकारके हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपसे चलकर असंख्य द्वीप समुद्रोंको पार कर जानेके बाद इसी रत्नप्रभा पृथ्वीके खरभाग पर ७ प्रकारके व्यन्तरोंका तथा पङ्कबहुल भागमें राक्षसोंका मुख्य निवास है तथापि ये मध्य लोकमें यत्र-तत्र-सर्वत्र घूमते रहते हैं। इनमें १६ इन्द्र होते हैं। इनकी उत्कृष्ट आयु एक पल्यसे अधिक है तथा जघन्य आयु दस हजार वर्ष है।

पृ० २७–अंध-पंगु–शास्त्रोंमें चरित्रवान् श्रद्धावान् व्यक्तियोंकी तुलना क्रमशः अंध और पंगुसे की है। किसी स्थान पर अंधा और लंगड़ा अलग अलग रहते हों और यदि दैवात् उस स्थानमें आग लग जाय तो वे दोनों अलग होनेके कारण जल्द भस्म हो जाते हैं। किन्तु यदि दोनों एक साथ हों तो अंधा लंगड़ेको अपनी पीठ पर ले लेता है तथा लंगड़ा आँखोंसे देख सकनेके कारण उसे रास्ता बताता जाता है। फलतः दोनों बाहर निकल जाते हैं। यही हालत चरित्र और श्रद्धा (दर्शन) की है यदि ये दोनों मिल जांय तो मोक्ष होना अनिवार्य है। अन्यथा चरित्रहीन ज्ञान व्यर्थ है और ज्ञान हीन चरित्र भी विडम्बना है। जैसे कि देखता हुआ भी पंगु जलता है तथा दौड़ता हुआ भी अन्धा नष्ट होता है।

चतुर्थ सर्ग

पृ० २८–कृमि–इन्द्रियोंका वर्णन करते हुए बताया है कि पृथ्वी आदिके एक इन्द्री होती है। इसके आगे कृमिके एक अधिक स्पर्शन अर्थात् स्पर्शन और रसना इन्द्रिय होती है। अर्थात् यह कीडे तीन इन्द्रिय चींटीकी जातिसे नीची जातिके हैं। रेशमके कीड़ोंको भी कृमि कहा है।

सर्वार्थसिद्धि–सोलह स्वर्गोंके ऊपर नौ ग्रैवेयक और अनुदिश हैं। इनके ऊपर विजय आदि पंचोत्तरोंका पटल है। इस पञ्चोत्तर पटलके मध्यके विमानका नाम सर्वार्थसिद्धि है। यहां उत्पन्न होनेवाले अहमिन्द्र मर कर नियमसे मनुष्य भवमें जाते हैं और वहांसे मोक्षको प्राप्त करते हैं। इनकी आयु ३६ सागर होती है तथा शरीरकी ऊँचाई १ हाथ प्रमाण होती है।

ईश्वरेच्छा–वैदिक मतानुयायी ईश्वरको जगत्का कर्त्ता मानते हैं। किन्तु जैनमत अपने कर्मोंको ही अपना कर्त्ता मानता है। इस सहज तथ्यकी सिद्धिके लिए जब ईश्वरके जगत्कर्तृत्व में दोष दिखाये गये तो वैदिकोने ईश्वरकी इच्छाको संसारका कर्त्ता माना अर्थात् कर्म तो प्राणी ही करता है किन्तु ईश्वरकी इच्छासे करता है। लेकिन यदि ईश्वरमें इच्छा शेष है तो भी वह संसारियोंके समान रागद्वेषी हो जायगा परमात्मा या सिद्ध नहीं रहेगा।

मिथ्यादर्शन–चौथे कर्म मोहनीयके प्रथम भेद दर्शन मोहनीयका प्रथम भेद। इसके उदयसे जीव सर्वज्ञ प्रणीत मार्गसे विमुख होता है अर्थात् न जीवादि तत्त्वोंकी श्रद्धा करता है, और न उसे अपने हित-अहितकी पहिचान होती है। इसके दो भेद हैं १–नैसर्गिक या अग्रहीत जो अनादि कालसे चला आया है, २–ग्रहीत, जो दूसरोंको देखने या दूसरोंके उपदेशसे असत्य श्रद्धा हो गयी हो। ग्रहीत मिथ्यात्व भी १८० क्रियावाद, ८४ अक्रियावाद, ६७ अज्ञानवाद तथा ३२ विनयवादके भेदसे ३६३ प्रकारका होता है। मिथ्यादर्शनको १–एकान्त, २–विपरीत, ३–संशय, ४–वैनयिक तथा ५–अज्ञानके भेदसे भी पांच प्रकारका बताया है। यह कर्मबन्ध या संसारका प्रधान कारण है।

अविरति–पांच पापोंसे विरक्त न होनेको अथवा व्रतोंको न धारण करनेकी अवस्थाको अविरति कहते हैं। यह पृथ्वी, जल, तेज, वायु, वनस्पति तथा त्रस इन षट्कायों तथा स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र तथा मन इन षट्करणोंकी अविरतिके भेद से १२ प्रकारकी होती है।

प्रमाद–चारित्र मोहनीय कर्मके उदयके कारण आगमोक्त आवश्यकादि करनेमें असमर्थ

होनेके कारण उनका अन्यथा प्रतिपादन करना तथा मूर्खता, दुष्टता और आलस्यके कारण शास्त्रोक्त विधियोंकी अवहेला करना ही प्रमाद है। चार विकथा, चार कषाय, पांच इन्द्रियां, निन्दा तथा स्नेहके भेदसे प्रमाद १५ प्रकारका है। मुनिके लिए ५ समिति, ३ गुप्ति, ८ शुद्धि तथा १० धर्मोंका अनादर अथवा अन्यथा-करणसे प्रमादके अनेक भेद होते हैं।

कषाय—वड़ आदिके कषाय (दूध) के समान होनेके कारण क्रोधादिको कषाय कहते हैं। इन्हींके कारण आत्मा पर कर्म रज चिपकती है अथवा जो आत्माके गुणोंको नष्ट करते (कषंति, हिंसन्ति, घ्नन्ति) हैं उन्हें कषाय कहते हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान तथा संज्वलन क्रोध, मान, माया लोभके भेदसे कषाय १६ प्रकारकी हैं तथा हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री—पुं—नपुंसक वेदके भेदसे नोकषाय नौ प्रकारकी है। इस प्रकार कुल मिलाकर कषायके २५ भेद हैं।

योग—काय, वचन और मनकी हिलन-डुलनको योग कहते हैं। अथवा आत्माके प्रदेशोंकी सक्रियताका नाम योग है। फलतः कर्म अथवा नोकर्मोंको ग्रहण करने की आत्माकी शक्ति ही भाव-योग है। तथा इसके निमित्तसे होनेवाली काय, वचन और मनकी चेष्टाएं द्रव्य-योग। यतः काय, वचन और मनके निमित्तसे आत्मप्रदेशोंमें परिस्पन्द होता है अतः योग भी तीन प्रकारका है।

योग शब्दका प्रयोग ध्यानके लिए भी हुआ है। इसीलिए पण्डिताचार्य आशाधरजीने देश संयमीको समझाते हुए लिखा है कि प्रारब्धयोगी, घटमान-योगी तथा निष्पन्न-योगीके समान देश संयमी भी होता है। अर्थात् १—जिनकी ध्यानकी साधना प्रारम्भ हुई है वे प्रारब्ध योगी है, २—जिनकी साधना भले प्रकारसे बढ़ रही है वे घटमान योगी हैं और ३—जिनकी साधना पूर्ण हो गयी है वे निष्पन्न योगी हैं।

प्रकृतिबंध—योगोंके द्वारा कार्माण वर्गणाएं आत्मासे बंधती हैं। तथा वे ज्ञान, दर्शनको रोकना, सुख दुःखादिका अनुभव कराना आदि स्वभाव धारण करती हैं इसे ही प्रकृतिबंध कहते हैं। अर्थात् त्रियोगसे आकृष्ट और वद्ध कार्माण वर्गणाओंका ज्ञान-दर्शनावरणादि रूपसे वंटना प्रकृतिबन्ध है। इसके ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय आठ मुख्य भेद हैं। प्रभेद १४८ हैं। आयुकर्मके सिवा शेष सातकर्मोंका प्रकृतिबन्ध संसारी जीवके सदैव होता रहता है।

स्थितिबंध—प्रकृति या स्वभावसे स्खलित न होनेको स्थितिबन्ध या आयु कहते हैं। अर्थात् तीव्र मन्द या मध्यम कषायोंके कारण जितने समय तक कार्माण वर्गणाएं आत्मासे बन्धी रहें वह उनकी स्थिति (आयु) कहलायगी। आदिके तीन कर्मों (ज्ञान—दर्शनावरण तथा वेदनीय) ३० कोड़ाकोड़ि सागर, मोहनीय की ७० कोड़ाकोड़ि सागर, आयुकर्म की ३३ कोड़ाकोड़ि सागर तथा नाम, गोत्र, अन्तराय कर्मोंको २० कोड़ाकोड़ि सागर उत्कृष्ट स्थिति है। वेदनीयकी १२ मुहूर्त, नाम-गोत्रकी ८ मुहूर्त तथा शेष पांचों कर्मों की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है।

अनुभाग बंध—बन्धी कार्माण वर्गणाओंके रस या फलको अनुभाग कहते हैं। कषायों की तीव्रता, मन्दता, आदिके कारण कर्मभूत पुद्गलोंमें जो तीव्र या मन्द फल देनेका सामर्थ्य आता है उसे ही अनुभाग बन्ध कहते हैं।

प्रदेशबंध—बंधते हुए कर्म पुद्गलोंके परिमाण या प्रदेश संख्याको प्रदेशबन्ध कहते हैं। योगके कारण आकृष्ट तथा विविध प्रकृति रूप परिणत कर्म परमाणुओंका एक निश्चित मात्रामें आत्माके प्रदेशोंके साथ एक मेक हो जाना ही प्रदेश बन्ध है।

पृ० ३०—देशावधि—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादाओंके साथ रूपी पदार्थके प्रत्यक्ष ज्ञाता ज्ञानको अवधि ज्ञान कहते हैं। इसके दो भेद हैं १—भव प्रत्यय, जैसे देव, नारकियों तथा तीर्थकरोंका अवधि ज्ञान, २—क्षयोपशम-निमित्त अर्थात् सम्यक्दर्शन और तपके द्वारा पर्याप्त मनुष्य अथवा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यञ्चोंके होनेवाला अवधिज्ञान। इनमें प्रथम प्रकार का अवधिज्ञान देशावधि ही होता है और दूसरा देशावधि भी होता है। अर्थात् देश, द्रव्य, काल, भाव की मर्यादाओंके साथ रूपी पदार्थको देशरूपसे प्रत्यक्ष जाननें वाले ज्ञानको देशावधि कहते हैं। इसका विषय (ज्ञेय) थोड़ा होता है तथा यह छूट भी सकता है।

परमावधि—उपरि उक्त मर्यादाओंके साथ पदार्थको अधिकतर रूपसे जाननेवाले क्षयोपशम निमित्तक अवधिज्ञानको परमावधि कहते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की वृद्धि हानिकी अपेक्षा इसके असंख्यात भेद होते हैं। यह मध्यम अवधि ज्ञान है तथा इसके धारी तद्भव-मोक्षगामी होते हैं।

पृष्ठ ३१—नोकषाय—साधारण शक्ति युक्त कषायको नो (ईषत्) कषाय कहते हैं। यह हास्य, आदिके भेदसे नौ प्रकार की है।

पृ० ३३—शील—साधारणतया शील शब्दका प्रयोग पातिव्रत तथा पत्नीव्रत अथवा ब्रह्मचर्यके लिए हुआ है। किन्तु जैन दर्शनमें तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंके लिए भी सप्तशील संज्ञा दी है। दिग्विरति, देशविरति तथा अनर्थदण्डविरति ये तीन गुणव्रत हैं। सामयिक प्रोषधोपवास, उपभोग परिभोग-परिमाण तथा अतिथि-संविभाग ये चार शिक्षाव्रत हैं।

पृ० ३४—कवलाहार—कवल ग्रासको कहते हैं। महाव्रतीके लिए नियम है कि वह ग्रासोंमें आहार ले। तथा ऐसे ग्रासोंकी संख्या ३२ के ऊपर नहीं जाती। केवलीके चारों घातिया नष्ट हो जानेसे क्षुधादि नहीं रहते फलतः वे कवलाहार नहीं करते किन्तु श्वेताम्बर केवलीके भी कवलाहार मानते हैं।

स्याद्वाद—प्रत्येक वस्तु, अनेक धर्म युक्त है। यतः शब्दोंको क्रमशः ही कहा जा सकता है अतः किसी पदार्थके सब धर्मोंको युगपत् कहना अशक्य है। तथा एक शब्द द्वारा बताये गये धर्मको ही उस वस्तुका पूर्ण रूप समझ लेना भी भ्रान्ति है। अतएव किसी वस्तुके एक धर्म को कहते हुए उसके अन्य धर्मोंका संकेत करनेके लिए उस धर्मके पहिले "स्यात्" लगाया जाता है। इस स्यात्के व्यवहारको ही "स्याद्वाद" कहते हैं। इसके सात मुख्य भेद (भंग) हैं। १ स्याद्-अस्ति—अर्थात् स्व द्रव्य क्षेत्र काल, भाव की अपेक्षा प्रत्येक पदार्थ हैं।' २ स्याद् नास्ति—पर द्रव्य, आदि की अपेक्षा नहीं है। ३—स्याद्-अस्ति नास्ति, उक्त दोनों दृष्टियों से देखनेपर पदार्थ है भी और नहीं भी है। ४—स्यात्-अवक्तव्य—उक्त दोनों दृष्टियोंसे युगपत् देखने कहनेपर पदार्थ अवक्तव्य है ; कहा नहीं जा सकता है। ५—स्यादस्ति अवक्तव्य; क्योंकि उक्त दृष्टि होते हुए भी स्व द्रव्यादिकी अपेक्षा अवश्य है ६—स्यान्नास्ति अवक्तव्य—अवक्तव्य होते हुए भी पर द्रव्यादिकी अपेक्षा नहीं ही है ७—स्यादस्ति

नास्ति अवक्तव्य—क्योंकि युगपत् अनिर्वचनीय होते हुए भी अस्ति—नास्ति स्वरूप है ही। इन सातों दृष्टियोंसे पदार्थके नित्यत्वादि गुणोंका भी विचार होता है।

पृ० ३५—साकूत—अभिप्राय या संकेतको आकूत कहते हैं अतएव साकूतका अर्थ अभिप्राय युक्त है।

पृ० ३७—दुर्वर्ण—अशोभन रूप युक्त। अथवा नीच जातिका अथवा कुत्सित अक्षरों युक्त।

अयशःकीर्ति—नाम कर्मका प्रभेद। जिसके उदयसे संसारमें अपयश या प्रवाद हो उसे अयशःकीर्ति नाम-कर्म कहते हैं।

शुभ—नाम कर्म का भेद। इसके उदयसे शरीर आदि सुन्दर होते हैं।

सुस्वर—नामकर्मका भेद। इसके उदयसे प्राणीका कण्ठ मधुर-मनोहारी होता है।

दोषोद्घाटन—गोत्रकर्मके बन्धके कारणोंका विवेचन करते समय बताया है कि परनिन्दा, आत्म-प्रशंसा, सत्-गुणाच्छादन तथा असत् दोषोद्घाटन नीच गोत्रके कारण होते हैं। फलतः दूसरेके दोषोंका प्रचार करना अथवा दूसरेमें दोषोंकी कल्पना करना ही दोषोद्घाटन का तात्पर्य है।

पैशुन्य—दुर्जन या खलको पिशुन कहते हैं। पिशुनके भावको पैशुन्य अर्थात् दुर्जनता अथवा खलता कहते हैं। एककी बुराई दूसरे से करना तथा एक दूसरेकी गुप्त बातें बताना अथवा चुगलखोरी भी पैशुन्यका अर्थ है।

पृष्ठ ३८ बन्ध—कषाययुक्त आत्मा द्वारा कर्म होने योग्य पुद्गलोंके ग्रहणको बन्ध कहते हैं। यह बन्ध प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशके भेदसे चार प्रकारका है।

पुद्गल परमाणुओंके मिलकर स्कन्धरूप होनेको भी बन्ध कहते हैं। यह बन्ध परमाणुओं की स्निग्धता और रूक्षताके कारण होता है। एक गुण स्निग्धका एक या अनेक गुण स्निग्धरूक्ष से बन्ध नहीं होता। समान गुण होने पर समोंका बन्ध नहीं होता। विषम होने पर समान गुणोंका भी बन्ध होता। दो गुणोंके अन्तरवालोंका तो बन्ध होता ही है। बन्धमें जिसके गुण अधिक होते हैं वह अल्पगुणयुक्तको अपना सा बना लेता है। अहिंसा अणुव्रतके पहिले अतिचारको भी 'बन्ध' कहते हैं अर्थात् प्राणियोंसे विराधना होने पर उन्हें बन्धनमें डाल देना।

उदय—बंधे हुए कर्मकी स्थिति पूर्ण होने पर उसके फलको प्रकट होनेको उदय कहते हैं। अर्थात् स्थितिपूर्ण होने पर द्रव्य, क्षेत्र, आदिके निमित्तसे कर्मोंके फल देनेको उदय कहते हैं। ग्रहादि के प्रकट होनेको भी उदय कहते हैं। तथा किसी ग्रह विशेषका नाम भी है।

आबाधा—बन्ध होनेके बाद जब तक कर्म उदयमें न आवे उस अवस्थाको आबाधा कहते हैं। इसका काल उदय और उदीरणाके कारण विविध होता है क्योंकि उदय स्थिति पूर्ण होने पर ही होगा, किन्तु उदीरणा तो असमय में ही होती है। साधारण नियम सात कर्मों (आयुको छोड़ कर) के लिए यही है कि कोड़ाकोड़िकी स्थिति पर १०० वर्ष आबाधाकाल होगा। आयुकर्म बंधनेके बाद दूसरी गतिको जाने तक उदय में नहीं आता। इसकी उत्कृष्ट आबाधा एक कोडि पूर्वका तृतीयांश है तथा जघन्य आवलिका असंख्यातका भाग है। यह हुई उदयकी अपेक्षा, उदीरणाकी अपेक्षा सातों कर्मोंकी आबाधा एक आवलि है।

पञ्चम सर्ग

पृ० ३९ **आकाश**—षड् द्रव्यों में तीसरा द्रव्य है। जो जीव आदि पांचों द्रव्यों को अवकाश-ठहरनेका स्थान दे उसे आकाश कहते हैं। आकाश अमूर्तिक, अखण्ड, सर्वव्याप्त तथा स्व-आधार द्रव्य है। इसके दो भेद हैं—१ लोकाकाश तथा २ अलोकाकाश। जहां जीवादि पांच द्रव्य (लोक) पाये जांय वह लोकाकाश है। इसके सिवा शेष अलोकाकाश है। इसके प्रदेश अनन्त हैं। इसका कार्य अवगाह या रहनेका स्थान देना है, जैसा कि इसकी परिभाषासे स्पष्ट है।

लोक—जीव आदि षड्द्रव्यमय स्थानको लोक कहते हैं। अनन्त आकाशके मध्यमें वह पुरुषाकार खड़ा है। अर्थात् उत्तरसे दक्षिण लोक१४राजू ऊंचा है आधारपर पूर्वसे पश्चिम ७ राजू चौड़ा है। यह चौड़ाई घटते घटते ७ राजूकी ऊंचाई पर केवल १ राजू है। फिर बढ़ती हुई १०॥ राजूकी ऊंचाई पर ५ राजू है तथा शिर पर (१४ राजू की ऊंचाई पर) फिर १ राजू चौड़ाई है। इस लोक स्कन्धकी मोटाई सर्वत्र ७ राजू है। इस प्रकार सारे लोकका घनफल ३४५ घनराजू है। मोटे तौरसे ऊंचे मोढ़ा पर मृदङ्ग रखनेसे लोककी आकृति बन जाती है।

इस लोकका कोई कर्त्ता-धर्ता नहीं है। षड् द्रव्यों तथा विशेष कर जीव द्रव्यकी चेष्टाओंके कारण यह उन्नत अवनत होता चलता है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, चिन्ह, कषाय, भव, भाव, पर्यायकी अपेक्षासे इसका विवेचन किया जाता है।

राजु—जगत् श्रेणीके सातवें भागको राजु कहते हैं। लोकाकाश (१४ राजु) की प्रदेश मात्र चौड़ी तथा मोटी आधी (सात राजु) ऊंचाई को जगत् श्रेणी कहते हैं, इसके सातवें भागका नाम राजु (रज्जु) है। परमाणु सबसे सूक्ष्म स्थान-माप है। इसके बाद अवसन्नासन्न, आदि ६ माप बननेके बाद सरसों होता है। ८ सरसोंकी मोटाई १ यव (जौ) होता है। आठ जौकी मोटाई १ अंगुल होता है। ६ अंगुल (उत्सेधांगुल) की लम्बाईका १ पाद होता है। २ पादकी १ वितति (वालिश्त)। २ विततिका १ हाथ (हस्त)। २ हस्तका १ किष्कु (गज)। २ किष्कुका १ धनुष अथवा दण्ड होता है। २००० धनुषका १ क्रोश। ४ क्रोशका १ योजन। ५०० योजनका १ प्रमाण योजन। और असंख्यात प्रमाण योजना का १ राजु होता है। ७ राजुकी जगत् श्रेणी होती है।

घनोदधि—पूर्ण लोक तीन प्रकारके वायुमण्डलोंसे घिरा है। इनमें घनोदधि वातवलय पहिला है। घनोदधि वह वायु है जिसमें जलांश (नमी) रहता है। इसका रंग गायके मूत्रके समान है तथा लोक मूलसे लेकर १ योजनकी ऊंचाई तथा इसकी मोटाई २० हजार योजन है। इसके बाद ज्यों ज्यों ऊपर जाइये त्यों त्यों मोटाई घटती जाती है और सातवीं पृथ्वीके पास केवल ७ योजन रह जाती है। लोकमध्यमें केवल ५ राजु रह जाती है। इसके बाद बढ़ती हुई घनोदधि बात वलय की मोटाई ब्रम्ह स्वर्गके पास सात योजन है। फिर घटती है और ऊर्ध्वलोकके पास ५ योजन होती हुई लोकाग्रमें केवल दो कोश रह जाती है।

घन--लोकको घेरनेवाले दूसरे वायुमण्डलका नाम घन वातवलय है। यह वायुमण्डल ठोस है। इसका रंग मूंगके समान है। घनोदधि वात वलयके समान इसकी भी मोटाई क्रमशः २० हजार योजन, ५ योजन, ४ योजन तथा १ क्रोश मात्र है।

तनु--लोकको घेरनेवाले तीसरे वातवलयका नाम तनु वातवलय है। यह बहुत ही हल्की,वायु है। इसका रंग नाना प्रकारका है। घनोदधि वातवलयके समान इसकी भी मोटाई क्रमशः २० हजार योजन, ४ योजन, ३ योजन, ४ योजन, ३ योजन तथा कुछ कम १ क्रोश मात्र है। ये तीनों वातवलय एक प्रकारसे लोकके धारक हैं।

योजन--अनन्तानन्त परमाणुओंसे 'अवसन्नासन्न' स्कन्ध बनता है, ८ अवसन्नासन्नका १ सन्नासन्न, ८ सन्नासन्नका १ तट्रेणु, ८ तट्रेणुका १ त्रसरेणु, ८ त्रसरेणुका १ रथरेणु, ८ रथरेणुका १ वालाग्र (उत्तम भोगभूमिया मेढ़ेका), ८ वालाग्रका १ (मध्यमभोगभूमिया मेढ़ेका) वालाग्र, ८ (मध्य. भो.) वालग्रका १ (कर्मभूमिया मेढ़ेका) वालाग्र, ८ (कर्मभू०) वालाग्रकी १ लीक, ८ लीककी मोटाईकी १ सरसों, ८ सरसोंकी मोटाई का १ यव, ८ यवकी मोटाई का १ अंगुल, ६ अंगुलका १ पाद, २ पादकी १ वितति (वालिश्त), २ वितति का १ हस्त, २ हस्तका १ किष्कु, २ किष्कु का १ धनुप या दंड, २००० धनुपका १ क्रोश ४ क्रोशका १ योजन होता है। चारों गतियोंके जीवोंके शरीरों देवोंके नगर, मंदिर आदिका माप इसी योजन द्वारा है।

गव्यूति--दो क्रोशकी १ गव्यूति होती है। अथवा आधे योजनको गव्यूति कहते हैं।

क्रोश--५ नल्वका अर्थात् (४०० किष्कु × ५) २००० धनुपका १ क्रोश होता है।

पृ० ४१ **पटल**--छत या चंदोवेको पटल कहते हैं, किन्तु शास्त्रोंमें इसका प्रयोग स्तर या प्रदेश मात्र मोटाई युक्त लम्बे चौड़े विस्तारके लिए हुआ है।

पृ० ४१ **संस्थान**--शरीरका आकार निर्मापक कर्म। इसके मुख्य भेद छह हैं, १ समचतुष्क अर्थात् सुडौल आनुपातिक शरीर, २ न्यग्रोध परिमंडल--कमरके ऊपर भारी और नीचे हल्का शरीर, ३ स्वाति-कमरके नीचे वामीकी तरह भारी और धड़ हल्का, ४ कुब्जक-कुबड़ा, ५ वामन-अर्थात् बोना और ६ हुण्डक-बेडौल अष्टावक्र शरीर।

नपुंसक--मोहनीय कर्मके नोकषाय भेदका उपभेद है इसके उदय से जीव न पुरुष होता है और न स्त्री। ईटोंके आवेकी आगके समान उसकी रति-अग्नि अंदर ही अंदर सुलगती रहती है और परिणाम अत्यन्त कलुपित होते हैं।

विभंग अवधिज्ञान--अवधि ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्मोंके क्षयोपशमसे द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भावकी मर्यादा युक्त मिथ्यादृष्टि जीवोंके ज्ञानको विभंग (अवधि) ज्ञान कहते हैं। विभंग या उल्टा इसलिए होता है कि इसके द्वारा जाना गया रूपी पदार्थोंका स्वरूप सच्चे देव, गुरु और आगमके विपरीत होता है। तीव्र कायक्लेशके निमित्तसे उत्पन्न होनेके कारण तिर्यञ्च और मनुष्योंमें गुण-प्रत्यय होता है तथा देव-नारकियोंमें भव-प्रत्यय होता है।

पृ० ४५ **अन्तर्मुहूर्त**--कालद्रव्य के छोटेसे छोटे अंशका नाम 'समय' है। जघन्य युक्तासंख्यात समयकी १आवलि, संख्यात आवलिका १प्रतिविपलांश, ६०प्रति विपलांशका १ प्रति विपल, ६० प्रति विपलका १ विपल, ६० विपल (२४ सैकिण्ड) का १ पल या विनाड़ी, ६० पल (२४ मिनट) की १ घटिका या नाड़ी, २ घटिका (अथवा ४८ मिनट) की १ मुहूर्त। एक समय कम मुहूर्त का १ उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त होता है।

पृ० ४६ **असाता**--जिस कर्मके उदयसे जीवको आकुलता हो उसे वेदनीय कर्म कहते हैं, इसका दूसरा भेद असाता वेदनीय है। जिस कर्मके उदयसे दुःखकी वेदना हो उसे असाता (वेदनीय) कहते हैं।

सनत्कुमार--भवनवासी देवोंका पहिला प्रकार है।

पृ० ४७ **स्वयंभूरमण**--मध्य या तिर्यञ्च लोकमें असंख्यात द्वीप तथा समुद्र हैं। प्रथम तथा द्वितीय द्वीप जम्बु और धातुकीको लवण तथा कालोदधि समुद्र घेरे हैं। इसके बाद जो द्वीपका नाम है वही समुद्रका भी है। दूसरे १६ द्वीपोंमें अन्तका (अर्थात् ३२ वां द्वीप) स्वयंभूरमण है इसे घेरनेवाला अर्थात् ३२ वां समुद्र स्वयंभूरमण है। इसके पानीका स्वाद जलके ही समान है। इसमें भी जलचर तथा विकलत्रय जीव पाये जाते हैं। किनारेके पास ५०० योजन तथा बीचमें १००० योजन लम्बे मत्स्य पाये जाते हैं। इसकी गहरायी १००० योजन के लगभग है।

अपवर्त्य--भोगी जानेवाली आयुका घटना या उलटना। विष, वेदना, शस्त्र आदिके द्वारा मृत्युको अपवर्त्य कहते हैं।

षष्ठम सर्ग

पृ० ५२ **कुभोगभूमि**--लवण तथा कालोदधि समुद्रमे ९६ छोटे छोटे (अन्तर) द्वीप हैं। यही कुभोगभूमियां हैं। क्योंकि इनमे लम्बकर्ण, अश्वमुख, श्वानमुख युगलिये पैदा होते हैं। इनकी आयु १ कल्प होती है। ये मर कर देवगतिमें जाते हैं। सम्यक्त्व हीन केवल चारित्र धारी कुपात्रोंको दान देनेसे जीवों का कुभोगभूमिमें जन्म होता है।

पृ० ५३ **कर्मभूमि**--जिन क्षेत्रोंमें मोक्षके कारण धर्म (संयम) का पालन होता है तथा जहां असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प तथा विद्याके द्वारा आजीविका की जाती है उसे कर्मभूमि कहते हैं। ढाई द्वीपमे ५ भरत ५ ऐरावत तथा ५ विदेह मिलकर १५ कर्म भूमियां हैं। विदेहमें सदा चौथा काल रहता है और मोक्षमार्ग खुला रहता है। भरत ऐरावतमे परिवर्तन होता रहता है। और चौथे कालमें ही मोक्षमार्ग खुलता है, शेष कालोंमें बन्द रहता है।

पूर्वकोटि--८४ लाख वर्षका १ पूर्वाङ्ग तथा ८४ लाख पूर्वाङ्गका १ पूर्व होता है। करोड़ पूर्वको पूर्वकोटि शब्दसे कहा है।

अण्डज--प्राणियोंके जन्म तीन प्रकारसे होते हैं। दूसरे प्रकारका जन्म अर्थात् गर्भ जन्म जिनके होता है उनमें अण्डज जीव भी हैं। जो जीव गर्भसे अण्डे द्वारा उत्पन्न हो उन्हें अण्डज कहते हैं जैसे-कछुआ, मछली, पक्षी, आदि।

कुल-योनिसंख्या--साधारणतया 'कुल' शब्द वंशवाची है किन्तु शास्त्रमें इसका प्रयोग जीव के प्रकारों या वर्गोके लिए हुआ है। अर्थात् जितने प्रकारसे संसारी जीव जन्म लेते हैं उतने ही कुल होते हैं। उनका विशद निम्न प्रकार है--

पृथ्वी कायिक जीवोंके २२लाख कोटि, जलकायिकोके ७ला०को०, तेज कायिकोके ३ ला० को०, वायुका० ७ला०को०, वनस्पति कायिकोके २६ला०को०, द्वीन्द्रियोके ७ला०को०, त्रीन्द्रियोके ८ ला० को०, चतुरिन्द्रियोके ६ ला० को०, जलचर पंचेन्द्रियोके १२॥ ला०को०, पक्षियोके १२ला०को०, चौपायोंके १७ ला० को०, सरीसपोके ६ ला०को०, देवोके २६ ला० को०, नारकियोंके २५ ला० को०, मनुष्योके १२ ला० को० ।

योनि--जिस आधारमे जीव जन्म लेता है उसे योनि कहते हैं। इसके दो भेद हैं आकार योनि और गुण योनि। शंखावर्त, कूर्मोन्नत और वंशपत्रके भेदसे आकार योनि तीन प्रकारकी है। गुणयोनि भी सचित्त, शीत, संवृत, इनके उल्टे अचित्त उष्ण, विवृत तथा मिश्रित सचित्ता-चित्तादिके भेदसे नौ प्रकारकी है। इसके भेदोकी संख्या-नित्यनिगोद, इतरनिगोद, पृथ्वी, अप्, तेज तथा वायुकायिकोमे प्रत्येककी ७ ला० (४२ ला०) वनस्पतिकाय १० ला०, द्वि- त्रि- तथा चतुरिन्द्रियोमे प्रत्येककी २ ला० (६ लाख) नारकी, तिर्यञ्च तथा देवोमे प्रत्येककी ४ लाख (१२ लाख) तथा मनुष्यकी १४ लाख योनियां होती है। इन सब योनियोंको मिलाने पर समस्त योनि संख्या ८४ लाख होती है ।

विकलेन्द्रिय--एक इन्द्रियसे लेकर चतुरिन्द्रिय तकके जीव । अर्थात् वे जीव जिनके पांचो इन्द्रियां नही हैं ।

सप्तम सर्ग

पृ० ५५ **हैमवत-हैरण्यक**--जम्बू द्वीपके दूसरे तथा छठे क्षेत्र । ये दोनों जघन्य भोग-भूमि है ।

हरि-रम्यक--जम्बूद्वीपके तीसरे तथा पांचवें क्षेत्र । ये दोनों मध्यम भोग-भूमिया हैं ।

पृ० ५६ **ईति**--अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डी, चूहे, पक्षी तथा आक्रमण करनेवाले राजा या राष्ट्र आदि जनताके शत्रुओंको ईति कहते हैं ।

कल्पवृक्ष--इच्छानुसार पदार्थ देनेवाले वृक्ष हैं। ये वनस्पति कायिक न होकर पृथ्वी कायिक होते हैं। इनके निम्न दश प्रकार गिनाये हैं—१ मद्यांग—नाना प्रकारके पौष्टिक रस देते हैं। २ वादित्रांग—विविध प्रकारके बाजे इनसे प्राप्त होते हैं। ३भूषणांग—मनोहर भूषण देते हैं। ४ मालांग—नाना प्रकारके पुष्प मालादि देते हैं। ५ दीपांग—सब प्रकारके प्रकाश देते हैं। ६ ज्योतिरंग—समस्त क्षेत्रको कान्तिसे आलोकित करते हैं। ७ गृहांग—सुविधा सम्पन्न भवन देते हैं। ८ भोजनांग--सर्व प्रकारके स्वादु भोजन देते हैं। ९ भाजनांग—अनेक प्रकारके पात्र प्रदान करते हैं। १० वस्त्रांग—मनोहर वस्त्र देते हैं।

पृ० ५७ **वर प्रसंग**--पुष्पके प्रसाधनों (आभूषणो) के लिए आया है। अर्थात् जो वृक्ष चम्पक, मालती, पलास, जाति, कमल, केतकी, आदिक पांच प्रकारकी मालाओंको दें उन्हे वरप्रसंग कल्पवृक्ष कहते हैं ।

संयमी--पांचों इन्द्रियोको वशमे करनेवाला तथा षट् कार्योके जीवोंके रक्षकको कहते हैं।

पृ० ६० **निर्ग्रन्थ**--मुनियोंका चौथा भेद। डंडेसे पानीमें खींची गयी लकीरके समान जिनके कर्मोंका उदय स्पष्ट नहीं है तथा जिन्हें एक मुहूर्त बाद ही केवल ज्ञान दर्शन प्राप्त होनेवाले हैं ऐसे क्षीणमोह साधुको निर्ग्रन्थ कहते हैं। इसका साधारण अर्थ ग्रन्थ (परिग्रह) हीन साधु है।

पृ० ६१ **वर्द्धमानक**--साधारणतया शराब (पुरुबे प्याले) को वर्द्धमानक कहते हैं। यहां यह शुभ लक्षणोके प्रकरणमे आया है अतएव विशेष प्रकारके स्वस्तिकसे तात्पर्य है।

श्रीवत्स--तीर्थंकरों या विष्णुके वक्षस्थल पर होनेवाला रोमोंका पुष्पाकार चिन्ह। तीर्थंकरोंकी मूर्तियोंमें भी यह पुष्पाकार उठा हुआ बना रहता है।

पल्य--का शब्दार्थ गढ़ा या खत्ता है। इनका पारिभाषिक अर्थ वह परिमाण या संख्या है जो एक विशेष प्रकारके पल्य (खत्ते) द्वारा निश्चितकी जाती है यह (१) व्यवहार, (२) उद्धार तथा (३) अद्धाके भेदसे तीन प्रकारका है। वे निम्न प्रकार हैं—एक प्रमाण योजन (२००० कोश) व्यास तथा गहराई युक्त गढ़ा खोद कर उसमे उत्तम भोगभूमिया मेढेके वालाग्रोंको भर दे। इस गढ़ेमें जितने रोम आंय उनमेंसे प्रत्येकको सौ, सौ वर्षमें निकाले। इस प्रकार जितने समयमें वह गढ़ा खाली हो जाय उसे 'व्यवहार पल्योपमकाल' कहेंगे। इसके द्वारा केवल संख्या बतायी जाती है। व्यवहार पल्यके प्रत्येक रोमके उतने हिस्से करो जितने असंख्यात कोटि वर्षके समय होते हैं। इन रोम खण्डोंसे भरा गढ़ा उद्धार पल्य कहलायगा। तथा प्रति समय एक एक रोम खंड निकालने पर जितने समयमें यह गढ़ा खाली होगा उसे 'उद्धार पल्योपमकाल' कहेगे। इसके द्वारा द्वीप तथा समुद्र गिने जाते हैं। उद्धार पल्यके प्रत्येक रोम खंडके उतने टुकड़े करो जितने सौ वर्षमे समय होते हैं। इनसे जो गढ़ा भरा जायगा उसे अद्धा पल्य कहेगे। तथा प्रति समय एक एक रोमच्छेद निकालने पर जितने समयमे वह गढ़ा खाली होगा उसे 'अद्धा पल्योपमकाल' कहेंगे। इसके द्वारा कर्मोकी स्थिति आयु आदि गिनायी जाती है।

पृ० ७१ **देवलोक**--जहां पर भवनवासी, व्यन्तर, ज्यौतिषी तथा कल्पवासी देवोंका निवास है उस क्षेत्रको देवलोक कहते हैं। वह लोक रत्नप्रभा पृथ्वीके पंक बहुल भागसे प्रारम्भ होकर सर्वार्थसिद्धि या सिद्धिशिलाके नीचे तक फैला है। साधारणतया ऊर्ध्वलोक (सुमेरुकी शिखाके एक बाल ऊंचाईसे लेकर सिद्धशिलाके नीचे तक विस्तृत) को देवलोक कहते हैं।

नवम सर्ग

पृ० ७१ **वैमानिक**—जिनमें रहने पर अपनेको जीव विशेष भाग्यशाली माने उन्हें विमान कहते हैं। विमानमे रहनेवाले देव वैमानिक कहलाते हैं। वैमानिक देव दो प्रकारके हैं। १ कल्पोपन्न तथा २ कल्पातीत। सौधर्म आदि सोलह स्वर्गोमें इन्द्र, सामानिक आदि दश

भेदोंकी कल्पना है अतएव वे कल्प और वहां उत्पन्न देव कल्पोपन्न कहलातेहैं। इसके ऊपर ग्रैवेयकादिमे छोटे बड़ेके ज्ञापक इन्द्रादि भेद नहीं होते अतएव इन्हें कल्पातीत कहते है। सौधर्मादि—सोलह स्वर्ग कल्प हैं तथा नव ग्रैवेयक, नव अनुदिश तथा पञ्च पंचोत्तर कल्पातीत हैं।

वंशा—दूसरे नरककी भूमिका नाम है। इसकी मोटाई ३२००० योजन है। इसमें २१ पटल हैं। नारकियोके निवासके लिए इसमे २५ लाख विल हैं। वहां उत्पन्न होनेवाले नारकियोकी जघन्य आयु १ सागर होती है और उत्कृष्ट ३ सागर होती है।

पृ० ७१ **कल्प**—उन स्वर्गोको कहते हैं जिनके देवोंमें इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिश, आदि भेदोकी कल्पना है। सौधर्मसे लेकर अच्युत पर्यन्त सोलह कल्प हैं। इसके ऊपरके देवोंमे उक्त भेदोके द्वारा छोटे वड़ेकी कल्पना नहीं है अतएव वे स्वर्ग कल्पातीत कहलाते हैं।

पृ० ७२ **इन्द्रक**—स्वर्ग पटलोंके विमानोंकी व्यवस्थामे जो विमान मध्यमें होता है उसे 'इन्द्रक' कहते हैं। सोलह स्वर्गोमे ऐसे विमानोंकी संख्या ५२ है तथा नौ ग्रैवेयकके ९, नौ अनुदिशोंका १ और पांच पञ्चोत्तरोंका १ मिलाने पर स्वर्गोके समस्त इन्द्रक विमानोंकी संख्या ६३ होत. है।

श्रेणीवद्ध—दिशाओं और विदिशाओंमें पंक्ति रूपसे फैले विमानों या नरकके विलोको श्रेणीवद्ध कहते हैं।

प्रकीर्णक—श्रेणिवद्ध विमानो अथवा विलोंके अन्तराल मे फूलोकी तरह छितराये हुए विमानादिकोको प्रकीर्णक कहते हैं।

पृ० ७३ **अकृत्रिम**--जो मनुष्यके द्वारा न वनाया गया हो अर्थात् प्राकृतिक। पुराणोंमें वर्णन है कि आठ प्रकारके व्यन्तरों तथा पांच प्रकारके ज्योतिषी देवोंके स्थानोंमें अकृत्रिम जिनविम्व तथा जिन मन्दिर हैं। ऐसी निरवद्य मूर्तियोंकी संख्या ९२५५३२७६४८ है।

उपमान--तुलनाके वर्णनमे पदार्थ, सदृशपदार्थ, सदृशधर्म तथा सदृशता वाचक शब्द ये चार अंग होते हैं। इनमे सदृशपदार्थको उपमान कहते हैं। द्रव्यमानके दो भेद हैं संख्या मान तथा उपमा अथवा उपमान। पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर तथा घनलोकके भेदसे उपमान आठ प्रकारका है।

पृ० ७४ **गुणव्रत**--अहिंसा आदि पांच व्रतोको गुणित (वढ़ाने) करनेवाले व्रतोंको गुण-व्रत कहते हैं। दिग्, देश तथा अनर्थदण्ड-विरतिके भेदसे ये तीन प्रकारके हैं।

शिक्षाव्रत—महाव्रतोंकी शिक्षा देनेवाले व्रतोंको शिक्षाव्रत कहते हैं सामायिक, प्रोषधोपवास, अतिथि संविभाग तथा भोगोपभोग परिमाण के भेदसे वे चार प्रकारके हैं।

अष्टदोष—सम्यक् दर्शनके शंका, आकांक्षा, विचिकित्सा, मूढ़ता, अपकर्षण, चांचल्य, ईर्ष्या तथा निन्दा दोषोंको अष्टदोष कहते हैं।

तप—आत्माके शुद्ध स्वरूप को लाने (तपाने) के लिए अथवा कर्मोके क्षयके लिए किये गये प्रशस्त प्रयत्नको तप कहते हैं। वाह्य तथा अन्तरंगके भेदसे यह दो प्रकारका है। इनमें भी प्रत्येकके छह छह भेद हैं।

समिति—सावधानी पूर्वक उठने-वैठने वोलने आदि आचरण नियमोको समिति कहते हैं। ईर्या,भाषा, एषणा, आदान-निक्षेप तथा उत्सर्गके भेदसे यह पांच प्रकारकी है।

पृ० ७५ **गुप्ति**—आत्म नियंत्रणको गुप्ति कहते हैं। इसके तीन भेद हैं—मनोगुप्ति, वचन गुप्ति तथा कायगुप्ति।

पृ० ७६ **विक्रिया**—जिसके द्वारा शरीरको विविध रूपोंमें बदला जा सके उस सामर्थ्यको विक्रिया कहते हैं। यह दो प्रकारसे होती है अपने मूल शरीरको ही विविध रूपसे परिणत करना अर्थात् अपृथक् विक्रिया और मूल शरीरको तदवस्थ रखते हुए विविध रूप धारण करना अर्थात् पृथक् विक्रिया।

सागर—उपमा मानके दूसरे भेदका नाम सागर है। क्योंकि समुद्रकी उपमा देकर इसमें प्रमाण बताया जाता है। सागर प्रमाणसे चौगुने लवणसागर धन एक षष्ठ (लवण सागर $\times 4 + \frac{1}{6}$) इष्ट है। पल्यके समान सागर भी व्यवहार, उद्धार तथा अद्धाके भेदसे तीन प्रकारका है। व्यवहार पल्यके प्रमाणमें दश कोड़ाकोडि (करोड़ गुणित करोड) का गुणा करने पर व्यवहार सागरका प्रमाण आयगा। इसी प्रकार उद्धार सागर तथा अद्धा सागरको समझना चाहिये।

पृ० ७७ **अतीन्द्रिय**—संसारमें इन्द्रियोंके द्वारा ही अनुभव होता है, किन्तु इन्द्रियां कर्म जन्य हैं। फलतः जब कर्मोंका नाश करके मोक्षको यह जीव प्राप्त करता है तो वह सहज अर्थात् इन्द्रिय निरपेक्ष (अतीन्द्रिय) ज्ञानादिका सागर हो जाता है।

दशम सर्ग

पृ० ७८ **व्यतिरेक**—अभाव रूप व्याप्तिको व्यतिरेक कहते हैं। अर्थात् जिसके न होने पर जो न हो जैसे 'धर्मके न होने पर शान्ति न होना'।

लेश्या—आत्माको कर्मोंसे लिप्त करने वाली मन, वचन कायकी प्रवृत्तियों तथा तदनुसारी शरीरके रंगको लेश्या कहते हैं। कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म तथा शुक्लके भेदसे यह छह प्रकारकी है। पूर्व तीन अशुभ हैं और उत्तर तीन शुभ मानी जाती हैं।

पृ० ७९ **पाषण्ड**—वर्तमानमें इसका प्रयोग बाह्य आचरणके-दिखावेके लिए होता है, अर्थात् दिखावटी या झूठा धर्माचरण इसका तात्पर्य है। किन्तु प्राचीन आर्ष ग्रन्थों तथा अशोकके शिलालेखोंमें भी इसका प्रयोग है। प्रकरण तथा परिस्थितियोंका ख्याल करने पर ऐसा लगता है कि उस समय 'पाषण्ड' शब्दसे साधु, मत या साधना-मार्ग समझा जाता था।

द्वादशांग—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—१ अक्षरात्मक २ अनक्षरात्मक। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान भी (१) अंग प्रविष्ट तथा (२) अंगबाह्यके भेदसे दो प्रकारका है। अङ्ग प्रविष्ट श्रुतज्ञान बारह भेदोंमें विभाजित है—१ आचारांग-मुनिधर्मके मूलगुणों तथा उत्तर

गुणोंका वर्णन। २   ंग—आगमके अध्ययन, प्रज्ञापन कल्पाकल्प, व्यवहारधर्म तथा स्व-पर समयका विवेचन। ३ स्थानाङ्ग—नय दृष्टिसे द्रव्योंके समस्त स्थान विकल्पोंका वर्णन। ४ समवायाङ्ग—द्रव्य, क्षेत्र, काल भावकी अपेक्षासे द्रव्योकी समतादिका विवेचन। ५ व्याख्या प्रज्ञप्ति—अस्ति-नास्ति, एकानेक, नित्या-नित्या साठ हजार प्रश्नोंकी दृष्टिसे जीव विवेचन। ६ ज्ञातृ धर्म कथांग—धर्मके सिद्धान्तोको समझनेमे सहायक कथाओंका संचय। ७ उपासकाध्ययन—श्रावकाचारका विवेचन। ८ अन्तः कृद्दशांग-प्रत्येक तीर्थंकालके उपसर्ग जेता दश मुनियोंका वर्णन। ९ अनुत्तरौपापादिक दशांग-प्रत्येक तीर्थ कालमें घोर तप करके पंचोत्तरोंमे जानेवाले दश मुनियोका वर्णन। १०प्रश्न व्याकरण—जीवन मरण, जय पराजयादिकी जिज्ञासा रूप प्रश्नोंका उत्तर दाता निमित्त शास्त्र। ११ विपाक सूत्र—कर्मोंके फलादिका विवेचन। १२ दृष्टिवाद—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिकाका विवेचन।

चौदह पूर्व—बारहवें अंगका चौथा भेद पूर्वगत है, यह चौदह प्रकारका है—१ उत्पाद—द्रव्योंके उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यादिका विशद विवेचन। २ आग्रायणी—अस्तिकाय, द्रव्य, तत्व, पदार्थ तथा नयोका निरूपण। ३ वीर्यानुवाद—द्रव्यादिकी सामर्थ्यका वर्णन। ४ अस्तिनास्ति प्रवाद—प्रत्येक द्रव्यका स्याद्वादमय चित्रण। ५ ज्ञान प्रवाद—पांचों ज्ञानों तथा तीनो कुज्ञानोके स्वरूप, भेद, विपय तथा फलादिका निरूपण। ६ सत्यप्रवाद—अक्षर, भाषा शास्त्र। ७ आत्मप्रवाद—जीव तत्वका सांगोपांग सर्व दृष्टिसे निरूपण। ८ कर्मप्रवाद—वन्ध, उदय, सत्ता, गुनस्थानादिकी अपेक्षासे कर्मोंका विवेचन। ९ प्रत्याख्यान—त्याग शास्त्र। १० विद्यानुवाद—सात सौ अल्प तथा पांच सौ महा विद्याओंकी सिद्धि अनुष्ठानादिका विवेचन। ११ कल्याणवाद—त्रेसठ शलाका पुरुपोंके जन्म, जीवन, तपस्या तथा चन्द्र सूर्यादिके शुभाशुभका विवेचन। १२ प्राणवाद—आयुर्वेद शास्त्र। १३ क्रिया विशाल—ललित कलाओं, स्त्री लक्षण, गर्भाधानादि सम्यक्दर्शनादि तथा वन्दनादि क्रियाओका निरूपण। १४ त्रिलोक विन्दुसार—तीनो लोकोका स्वरूप, गणित तथा मोक्षका विवेचन।

ध्यान—एक विषय पर चित्तको लगा देना ध्यान है। आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्लके भेदसे वह चार प्रकारका है। इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग, रोग तथा किसी आकांक्षा को लेकर दुखमय होना आर्त-ध्यान है। हिंसा, भूठ, चोरी तथा परिग्रहकी कल्पनामें मस्त रहना रौद्र-ध्यान है। आगम, लोक कल्याण, कर्म विपाक तथा लोक संस्थानके विचारमें तन्मय हो जाना धर्म-ध्यान है। उत्तम संहनन धारीका शुद्ध आत्म स्वभावमे लीन हो जाना शुक्ल-ध्यान है। पृथक्त्व वितर्क, एकत्व वितर्क, सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाति तथा व्युपरत क्रिया-निवर्ति ये चार अवस्थाएं शुक्ल ध्यानकी होती हैं।

अनशन—बाह्य तपका प्रथम भेद है। संयमकी प्राप्ति, काम विजय, कर्म क्षय तथा ध्यान सिद्धिके लिए फलाशा छोड़ कर किया गया उपवास ही अनशन है।

अवमौदर्य--संयमकी साधना, निद्रा निवारण, स्वाध्याय ध्यानादिकी प्रगतिके लिए भूखसे कम खाना अवमौदर्य नामका दूसरा बाह्य तप है। साधारणतया मुनिको ३२ ग्रास भोजन करना चाहिये फलतः अवमौदर्यके पालकको ३२ ग्राससे भी कम खाना चाहिये।

वृत्तिपरिसंख्यान—चर्याको जाते समय विशेप प्रतिज्ञाएं करना तथा उनके पूर्ण होने पर ही आहार लेना अन्यथा निराहार रह जाना ही वृत्ति परिसंख्यान नामका तीसरा बाह्य तप है।

रसपरित्याग—इन्द्रियोंकी दुर्दमता मिटानेके लिए, निद्रा विजय एवं स्वाध्यायमें स्थिरताके लिए घी, आदि गरिष्ट रसोंके त्यागको रसपरित्याग कहते हैं।

विविक्त शय्यासन—ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय तथा ध्यानकी सिद्धिके लिए ऐसे एकान्त स्थान आदिमे सोना बैठना जिससे किसी प्राणीको कष्ट न हो उसे 'विविक्त शय्यासन' कहते हैं।

कायक्लेश—शरीर तथा दुखोंसे मुक्ति, सुखोंमें उदासीनता, शास्त्र ज्ञान, प्रभावना, आदिके लिए धूप, वृक्षमूल आदिमें बैठना, खुलेमें सोना, विविध आसन लगा कर ध्यान करना कायक्लेश है।

पृ० ७६ **प्रायश्चित्त**—आभ्यन्तर तपका प्रथम प्रकार। प्रमाद तथा दोषोंके परिमार्जनके लिए कृत शुभाचरणको प्रायश्चित्त कहते हैं।

विनय—द्वितीय आभ्यन्तर तप। पूज्योंमें आदर, सादर ज्ञानाभ्यास निशंक, सम्यक्त्व पालन तथा आल्हादके साथ चरित्र पालनको विनय कहते हैं।

वैयावृत्य—तृतीय अंतरङ्ग तप। आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष्य, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु तथा मनोज्ञ साधुओंकी शरीर अथवा अन्य द्रव्यसे सेवा करना वैयावृत्य है।

स्वाध्याय—चौथा अंतरंग तप। आलस्य त्याग कर ज्ञान की प्राप्तिके लिए पढ़ना, पूंछना, चिन्तवन, शब्दार्थ घोकना तथा धर्मोपदेश करना स्वाध्याय है।

व्युत्सर्ग—पञ्चम अन्तरङ्ग तप। आत्मा तथा आत्मीय बाह्य अभ्यन्तर परिग्रहका त्याग व्युत्सर्ग है।

ध्यान—षष्ठ अंतरङ्ग तप। चित्तकी चञ्चलताके त्यागको ध्यान कहते हैं।

शल्य—शरीरमें चुभी कील या फांसकी तरह जो चुभे उसे शल्य कहते हैं। माया, मिथ्यात्व तथा निदानके भेदसे तीन प्रकारकी है।

पृ० ८० **अष्टकर्म**—राग, द्वेष, आदि परिणामोंके कारण जीवसे बंधने वाले पुद्गल स्कंधोंको कर्म कहते हैं। यह ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, गोत्र, नाम तथा अन्तरायके भेदसे आठ प्रकारका है। इन आठोंकी ही अष्टकर्म संज्ञा है।

समुद्घात—आवास शरीरको बिना छोड़े ही आत्माके प्रदेशोंका बाहर फैल जाना तथा फिर उसीमें समा जाना समुद्घात है। वेदना, कषाय, विक्रिया, मरण, तेज तथा कैवल्य के कारण ऐसा होता है।

प्रत्येक बुद्ध—अपनी योग्यताके कारण दूसरोंके उपदेश आदिके विना ही जो दीक्षा लें तथा कैवल्य प्राप्ति करें उन्हें प्रत्येक बुद्ध कहते हैं।

बोधितबुद्ध—जो दूसरोंके उपदेशादि निमित्तसे दीक्षित हों तथा कैवल्य प्राप्ति करें उनकी संज्ञा बोधित-बुद्ध है।

पृ० ८१ **अंतरंग परिग्रह**—मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुंवेद तथा नपुंसकवेद यह १४ प्रकारका अंतरङ्ग (आध्यात्मिक) परिग्रह है।

बहिरंग परिग्रह—क्षेत्र, गृह, सुवर्ण, रूप्य, पशु, धन, धान्य, दासी, दास, वस्त्र ..ा पात्र ये दश प्रकारका बाह्य परिग्रह है।

पौद्गलिक—गुणोंकी हीनता और अधिकताके कारण जो मिलें और अलग हों उन्हें पुद्गल कहते हैं। पुद्गल, जड़ या अचेतनके कार्यादिको पौद्गलिक कहते हैं।

उत्सेध—शरीरकी ऊंचाई, गहराई, बांध आदि का नाम है।

रूपी—कृष्ण, नील, पीत, शुक्ल तथा रक्त ये पांच रूप हैं। ये या इनमेंसे कोई जिसमे पाया जाय उसे रूपी पदार्थ कहते हैं। जिन शासनमें जिसमे रूप होगा उसमें स्पर्श, रस तथा गन्ध अवश्य होंगे। अर्थात् वह पौद्गलिक ही होगा।

पृ० ८२ **अवगाहन**—आयुकर्मके क्षयसे प्रगट होने वाला सिद्धोंका वह गुण जिसके कारण वे दूसरे सिद्धोंको भी अपनेमें स्थान दे सकते हैं।

अगुरुलघुत्व—गोत्र कर्मके विनाशसे उदित होने वाला सिद्ध परमेष्ठीका गुण। अर्थात् सिद्धोंमे छोटे-बड़े, पर-अपर आदि कल्पना नहीं रह जाती है।

अनुमान—परोक्ष प्रमाणका चतुर्थ भेद। साधनसे साध्यके ज्ञानको अनुमान कहते हैं।

तर्क—परोक्ष प्रमाणका तृतीयभेद। अविनाभाव सम्बन्ध या व्याप्तिके ज्ञानको तर्क कहते हैं यथा-जहां भ्रष्टाचार है वहा कुशासन है।

पृ० ८४ **गृहस्थाचार**—*चरित्र मोहनीयके कारण जिसकी घरमे रहनेकी भावना समाप्त* नहीं हुई उसे गृहस्थ या गृही कहते हैं। न्यायसे धन कमाना, गुणियों तथा गुरुओंकी सेवा करना हित-मित भाषी होना धर्म-अर्थ-काम का समन्वय करना, अच्छे स्थान मकानमे सुलक्षणा पत्नीके साथ रहना, लज्जाशील होना, अहार विहार ठीक करना। सज्जनोका सहवास रखना, विचारक, कृतज्ञ इन्द्रिय जेता होना। धर्म रसिक, दयालु और पाप भीरु होना साधारण गृहस्थाचार है। सात व्यसनका परित्याग और अष्टमूल गुणका स्थूल पालन करने पर गृही पाक्षिक श्रावक कहलाता है। पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतोंका पालन ही गृहस्था (श्रावका) चार है। इसके पालकको नैष्ठिक कहते हैं। ऐसा श्रावक मरण समय आने पर जब समाधि मरण करता है तो वह साधक श्रावक कहलाता है।

एकादशम सर्ग

पृ० ८५ **मिथ्यात्व**—विपरीत दृष्टिको मिथ्यात्व कहते हैं। इसके कारण जीव अदेव, अतत्त्व, अधर्म आदिको देव, तत्त्व तथा धर्म मानता है।

सम्यक्त्व—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं।

मूढ—कोशके अनुसार अज्ञ, मूर्ख आदिको मूढ कहते हैं, किन्तु जैन शासनमें इसका पारिभाषिक अर्थ भी है–जो व्यक्ति सागर स्नान, पत्थरका ढेर करना, पर्वतसे गिरना तथा आगीमें कूंदने आदिको धर्म समझता है वह 'लोकमूढ़' है। किसी वरकी इच्छासे रागी द्वेषी देवताओंका पूजक देवमूढ़ है। आरम्भी, परिग्रही, संसारी मूर्ख साधुओं का पुजारी गुरुमूढ़ है।

वैनयिक—समस्त देवों तथा धर्मोंमें श्रद्धालुता रखनेको वैनयिक मिथ्यात्व कहते हैं।

व्युद्ग्राहित—परिग्रही देवोंको निर्ग्रन्थ कहना, केवलीको कवलाहारी बताना, आदि भ्रान्त मान्यताएं व्युद्ग्राहित मिथ्यात्व है।

पृ० ८६ **पुद्गल परिवर्तन**—द्रव्य परिवर्तनका ही दूसरा नाम है। द्रव्यपरिवर्तना नोकर्म-द्रव्य तथा कर्म द्रव्य परिवर्तनके भेदसे दो प्रकारकी है। किसी जीवने औदारिकादि तीन शरीर, आहारादि छह पर्याप्तिके योग्य स्निग्ध रूक्ष, वर्ण गन्धादि युक्त किन्हीं पुद्गलोंको तीव्र-मन्द-मध्यम भावसे जैसे ग्रहण किया, उन्हें दूसरे आदि क्षणोंमें वैसेका वैसा खिरा दिया। इसके बाद अनन्तों वार अग्रहीत पुद्गलोंको ग्रहण किया और छोड़ा, मिश्रों (ग्रहीताग्रहीत) को अनन्तों वार ग्रहण किया छोड़ा और इस बीचमे ग्रहीतोको भी अनन्तों बार ग्रहण किया छोड़ा, इस प्रक्रममें जितने समय बाद वही जीव उन्हीं पूर्व ग्रहीत पुद्गल परमाणुओंको पुनः उसी तरह ग्रहण करता है, इस कालको नोकर्म परिवर्तन कहते हैं। कोई जीव आठों कर्मोंके पुद्गलोंको ग्रहण करता है और एक समय अधिक आवलि बिता कर दूसरे आदि क्षणोंमें उन्हें खिरा देता है, नोकर्म परिवर्तनमें दत्त प्रक्रियाको पूर्ण करके फिर जितने समय बाद वही पुद्गल उसी जीवके उसी प्रकार कर्म बनें, इस कालको द्रव्य परिवर्तन कहते हैं। इन दोनों परिवर्तनोके समयके जोड़को पुद्गल परिवर्तन कहते हैं।

पृ० ८७ **वेदक-सम्यक्दृष्टि**—वेदक अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शनका धारक जीव वेदक सम्यक्दृष्टी कहलाता है। अनन्तानुबंधी क्रोध, आदि चार कषायोंके उपशम, मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्वके क्षय अथवा उपशम तथा सम्यक्त्व मोहनीयके उदय होनेसे जो तत्वार्थका श्रद्धान होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यतः इस अवस्थामें सम्यक्त्व प्रकृतिका वेदन होता है अतएव इसे वेदक सम्यक्त्व भी कहते हैं। इसमे चल, मलिन और अगाढ़ दोष होते हैं।

पृ० ८८ **महाव्रत**—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील तथा परिग्रहके सर्वथा त्यागको पंच महाव्रत कहते हैं। इन्हें निग्रन्थ साधु पाल सकते हैं।

समिति—सावधान आचरणको समिति कहते हैं। इसके १ ईर्या–दिनके प्रकाशमें चार हाथ आगे देख कर प्राशुक स्थान पर चलना, २ भाषा–हित, मित एवं प्रिय वचन बोलना, ३ एषणा–शुद्ध भोजन पान, ४ आदान निक्षेप–देखकर, सावधानीसे वस्तु उठाना तथा रखना तथा ५ उत्सर्ग–जीव रहित स्थान पर मलमूत्र छोड़ना ये पांच भेद हैं।

परीषह—रत्नत्रयके मार्गकी साधनामें उपस्थित तथा सहे गये कष्टको परीषह कहते हैं। इसके २२ भेद है–१ क्षुधा, २ तृषा, ३ शीत, ४ उष्ण, ५ दंशमशक (डांस

मच्छर), ६ नग्नता, ७ अरति, ८ स्त्री अथवा पुरुष, ९ चर्या, १० निषद्या (आसन), ११ शय्या, १२ आक्रोश (गाली, निन्दादि), १३ वध, १४ याचना १५ अलाभ, १६ रोग, १७ तृणस्पर्श, १८ मल (शरीरका संस्कार न करना), १९ सत्कार पुरस्कार (अभाव) २० प्रज्ञा (ज्ञानमद) २१ अज्ञान (जन्य तिरस्कार खेद) तथा २२ अदर्शन (सम्यक् दर्शन न होना)।

अणुव्रत—हिंसा, आदि पांच पापोका आंशिक अर्थात् स्थूल त्याग अणुव्रत कहलाता है। इनका श्रावकको पालन करना चाहिये।

पृ० ८९ **शम**—किसी भाव या पदार्थको शान्त कर देना शम है।

दम—किसी भाव अथवा क्रियाको बलपूर्वक रोक देना दम है।

त्याग—किसी भाव या क्रियाको संकल्प पूर्वक छोड़ देना त्याग है।

पृ० ९० **उपस्थान**—किसी क्रिया या आचरणके दूषित अथवा खंडित अर्थात् छूट जाने पर उसके पुनः प्रारम्भको उपस्थान कहते हैं।

पृ० ९३ **अन्वय**—वंशको अन्वय कहते हैं। आज अज्ञान वश यही अन्वय जाति हो गये हैं जैसा कि पंडिताचार्य आशाधरजीकी प्रशस्तिसे स्पष्ट है, व्याघ्रेरवालान्वया' 'व्याघ्रेरवाल वर वंश' आदि पद घोषित करते हैं। किन्तु संकीर्णता वश बघेरवाल आदि वंश ही आज जाति बन गये हैं।

छिद्र—रन्ध्र सूराख तथा दूषण अथवा दुर्बलताको कहते हैं।

पृ० १०३ **अनित्य**—बारह भावनाओंमें से प्रथम भावना। संसारके प्रत्येक पदार्थकी अनित्यताका सोचना अनित्य भावना।

अशरण—संसारमें कोई भी जीव या वस्तु दूसरे जीव या वस्तुको शरण नहीं दे सकता फलतः मानसिक भावों तथा बाह्य स्वजन तथा पदार्थोंकी दासता छोड़ना यही अशरण भावना है।

एकत्व—यह प्राणी अकेला ही आता है, अपने आप ही अपने सुख-दुखको जुटाता है कोई दूसरा संग साथी नहीं, इत्यादि विचार ही एकत्व भावना है।

पृ० १०४ **वस्तु स्वभाव**—प्रत्येक वस्तुके असाधारण लक्षणको स्वभाव कहते हैं। जैसे जीवका चेतना, अग्निका दाहकत्व, आदि। जिन शासनमें वस्तु स्वभाव ही सच्चा धर्म है।

वात्सल्य—प्राणिमात्रके प्रति बिना किसी बनावटके सद्भाव रखना तथा यथायोग्य व्यवहार करना वात्सल्य है। साधर्मियोंके प्रति इसमें विशिष्टता रहती है।

आप्त—भूख, प्यास आदि अठारह दोषोंका विजेता, जन्म, जरा आतङ्क, भय, ताप, राग, द्वेष तथा मोहसे हीन महापुरुष ही आप्त होता है क्योंकि वह संसारकी वञ्चनासे बचाता है।

पृ० १०५ **सम्यक्त्वके आठ दोष**—यद्यपि सम्यक् दर्शनमें ५० दोष आ सकते हैं किन्तु निम्न आठ प्रधान है क्योंकि इनके विनाश होने पर ही दर्शनके आठो अंग प्रकट होते हैं। वे दोष निम्न प्रकार हैं—१ शंका, २ आकांक्षा, ३ विचिकित्सा (शारीरिक विकारके कारण

घृणा), ४ मूढ़दृष्टि (कुमार्गमें रुचि आदि), ५ अनुपगूहन (निन्दा करना, दोषोंको प्रकट करना), ६ अस्थितीकरण (धर्मसे गिरा देना), ७ अवात्सल्य (साधर्मीसे इर्ष्या द्वेष) तथा ८ अप्रभावना (धर्मको कूपमण्डूक करना)। इनमें आठ मद, षड़ायतन, सप्तव्यसन, तीन शल्य, सात भय, छह अभक्ष्य तथा पांच अतिचार जोड़ देनेसे सम्यक्‌दर्शनके ५० दोष हो जाते हैं।

पृ० ११६ **अष्टादश श्रेणी**—जिन शासनमे प्रत्येक राजाको अठारह श्रेणियों का स्वामी कहा है। वे निम्न प्रकार हैं—१ सेनापति, २ गणकपति (ज्योतिषी) ३ वणिकपति, ४ दण्डपति, ५ मन्त्री, ६ महत्तर (कुलवृद्ध), ७ तलवर (नगर रक्षकादि), ८-११ चारों वर्ण, १२-१५ हस्ति, अश्व, रथ, पदाति मय चतुर्विध सेना, १६ पुरोहित, १७ अमात्य तथा, १८ महामात्य।

पृ० १२२ **निश्चय नय**—वस्तुके केवल शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको निश्चय नय कहते हैं। यह ज्ञान पदार्थके वास्तविक निजी स्वभावको जानता है इसी लिए यह सत्य है। जैसे जीवको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख वीर्यादि मय तथा कर्म मल रहित जानना।

पञ्चदशम सर्ग

पृ० १३२ **अष्ट द्रव्य**—जिनेन्द्र पूजनकी निम्न आठ प्रकारकी सामग्री १-जल, २-चन्दन, ३-अक्षत, ४-पुष्प, ५-नैवेद्य, ६-दीप, ७-धूप तथा ८-फल।

द्रव्य पूजा—आठ प्रकारकी सामग्रीसे भगवान् वीतरागकी पूजा करना। इसमें संभव है कि पूजक जलादि चढ़ाते समय जन्म जरा मृत्यु, संसारताप, क्षय, कामदेव, क्षुधा, अज्ञान, अष्टकर्म तथा संसारके विनाशको कायेन वाचा चाहता रहे पर मनको न सम्हाल सके। प्रधानतया यह सामग्रीसे पूजा होती है।

भाव पूजा—आठ विध सामग्रीके विना ही जब पूजक उक्त आठों उत्पातोंके विनाशकी मनसा कामना करता है तथा वचनसे पाठ भी पढ़ता जाता है। फलतः विना सामग्रीकी पूजाको भावपूजा कहते है।

चार आहार—पेट खाली होने, भोजन देखने अथवा भोज्यकी स्मृतिसे उत्पन्न होनेवाली आहार संज्ञा मोटे तौरसे चार प्रकारके आहारसे शान्त होती है। १ खाद्य-वे वस्तुएं जो दातोंसे चबायी जांय, २ लेह्य-वे वस्तुएं जिन्हें जिह्वासे चाटा जाय, ३-पेय वे तरल पदार्थ जिन्हें पिया जाय तथा ४-स्वाद्य वे पदार्थ जिन्हें केवल स्वाद बनानेके लिए थोड़ी मात्रामे खाया जाता है जैसे इलायची, किमाम आदि।

पृ० १३४ **निर्यापकाचार्य**—क्षपक मुनि या साधक गृहस्थकी वैयावृत्यमें लीन साधुओंको निर्यापक कहते हैं। धर्म प्रेम, दृढ़ता, संसारभय, धैर्य, इंगितज्ञान, त्यागमार्गका ज्ञान, निश्चलता तथा हेयोपादेय विवेकके साथ स्व-पर वा समीचीन ज्ञान इनकी विशेपताएं हैं। इस प्रकारके ४८ उत्कृष्ट मुनि, मुनिके समाधि मरणके समय होने चाहिए। इनको नियत करनेवाले मुनिवरकी संज्ञा निर्यापकाचार्य होती है।

नन्दीश्वर द्वीप—आठवां महाद्वीप है। यतः इसके स्वामी नन्दि तथा नन्दिप्रभ व्यन्तर देव हैं अतः इसे नन्दीश्वर द्वीप कहते हैं। इसका व्यास १६३८४००००० योजन है। इसको चारों दिशाओंमे ८४००० योजन ऊँचे काले पर्वत हैं जिन्हे अञ्जनगिरि नामसे पुकारते हैं। इन पर्वतोंकी चारों दिशाओंमे १ लाख योजन लम्बी-चौड़ी बावड़ी (झीलें) हैं। प्रत्येक बावड़ीके बीचमे १०००० यो० ऊँचे अतिश्वेत पर्वत हैं जिनकी दधिमुख संज्ञा पड़ गयी है। प्रत्येक झीलकी बाहरी बाजूमें एक एक हजार योजन ऊँचे लाल रंगके दो दो पर्वत हैं, इनकी पौराणिक संज्ञा रतिकर है इन ५२पर्वतोंके ऊपर ५२ मन्दिर हैं जहाँ पर सौधर्मादि इन्द्र देवों सहित जाकर कार्त्तिक, फाल्गुन और आषाढ़के अन्तिम आठ दिनोमे पूजा करते हैं।

अष्टशुद्धि—१ भाव, २ काय, ३ विनय, ४ ईर्यापथ, ५ भिक्षा, ६ प्रतिष्ठापना, ७ शयनासन तथा ८ वाक्य, इन आठोंकी शुद्धिको शुद्धि आदि अष्टगुण कहते हैं।

षोडषम सर्ग

पृ० १३६ **षड्बल**—बल शब्दके गन्ध, रूप, रस, स्थैर्य, स्थौल्य तथा सैन्यादि अर्थ होने पर हैं भी शारीरिक शक्ति, और सैना इन दोनो अर्थोमे इसका अधिक प्रयोग हुआ है। जैसाकि कालिदासने लिखा है कि १-मौल सेना (स्थायी सेना), २-भृत्या (नयी सेना), ३-मित्रोकी सेना, ४-श्रेणीके प्रधानोंकी सेना, ५-शत्रुओंसे छीनी सेना तथा ६-आटविकों (जंगलियो) की सेना। छह प्रकारकी सेना ले कर रघुने दिग्विजयके लिए प्रस्थान किया था। इसके सिवा १-हस्ति, २ अश्व, ३ रथ, ४ पदाति, ५ नौ तथा ६ विमानोके भेदोमें भी इसका प्रयोग हुआ है।

पृ० १३७ **सामादि**—दण्ड व्यवस्था मोटे तौरसे चार प्रकारकी है—१ साम, २ दाम, ३ दंड तथा ४ भेद।

पृ० १४२ **यनासनादि**—राजनीतिको षाड्गुण्य नीति कहा है। अर्थात् इसमें १-सन्धि, २-विग्रह, ३-यान, ४-आसन, ५-द्वैध तथा ६-आश्रय नीतिका प्रयोग होता है। विजेय या विजिगीषुके साथ मैत्रीका नाम संधि है। सदल बल विरोधको विग्रह कहते हैं। शत्रुके विरुद्ध प्रस्थानकी संज्ञा यान है। कुछ समय तक चुप बैठनेको आसन कहते हैं। दुर्बल प्रबलके बीचमें चलने वाले वाचनिक समर्पणको द्वैधी भाव कहते हैं। घेरा डाल देनेका नाम आश्रय है।

पृ० १७४ **विद्याधर**—साधित, कुल तथा जाति इन तीनों प्रकारकी विद्याओंके धारकोंको विद्याधर कहते हैं। जो विद्याएं अनुष्ठान करके सिद्धकी जाती हैं उनको साधित श्रेणीमे रखते हैं। जो पिता या पिताके वंशसे मिलें उनको कुल विद्या कहते हैं। माता या माताके वंशसे मिलने वाली विद्याओंको जाति विद्याओंमे गिनते हैं। ये विद्याधर विजयार्ध पर्वतके दक्षिणी तथा उत्तरी ढालों (श्रेणियों) पर रहते हैं। सदैव इज्या, दत्ति, वार्ता, स्वाध्याय, संयम तथा तप इन छह कर्मोमें लवलीन रहते हैं।

पृ० १७७ **शीलव्रत**—शील शब्दका अर्थ स्वभाव तथा ब्रम्ह है। यह ब्रम्हचर्यका पर्यायवाची होने पर भी पतिव्रतके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। पुरुषके लिए स्वदार संतोष और स्त्रीके शील व्रतकी व्यवस्था है। चार शिक्षाव्रत और तीन गुणव्रतोंको भी सप्तशील कहा है।

पृ० २०३ **अनागार धर्म**—गृह त्यागीको अनागार कहते हैं। फलतः मुनिके धर्मको ही अनागार धर्म कहते हैं।

सांकल्पी त्रस हिंसा—अभिसंधि पूर्वक त्रसोंका प्राण लेना संकल्पी-त्रस- हिंसा है। गृहस्थ आरम्भ तथा विरोधीकी हिंसासे नहीं बच सकता है किन्तु उसके परिणाम अपना कार्य करने तथा आत्म रक्षाके ही रहते हैं। वह ऐसा संकल्प नहीं करता कि मैं हल चला करत्रसोंको मारूं। अथवा सब शत्रुओंको मारूं। फलतः संकल्प पूर्वक प्राण लेना ही महा पाप है।

पृ० २०४ **भरत**—भगवान ऋषभदेवके दो पत्नी थीं। एकसे केवल बाहुबलि उत्पन्न हुए थे और दूसरीसे भरत आदि ९८ पुत्र तथा ब्राम्ही सुंदरी दो कन्याएं हुई थीं। १०१ बहिन भाइयोंमें भरत ही सबसे बड़े थे अतएव भगवान्के दीक्षा ले कर बन चले जाने पर भरत जी ही अयोध्याके राजा हुए थे। इन्होंने छहों खण्डोंकी विजय की थी। और बहुत लम्बे समय तक राज्य किया था इस अवसर्पिणी युगके ये सबसे बड़े चक्रवर्ती थे। अन्तमें इन्हें वैराग्य हुआ, जिन दीक्षा ली और अन्तर्मुहूर्तमें कैवल्य प्राप्त करके मोक्ष गये।

कृत्रिमाकृत्रिम बिम्ब—ऐसी मान्यता है कि नन्दीश्वर द्वीपादिमें कुछ ऐसे देवालय तथा प्रतिमा हैं जिन्हें किसीने नहीं बनवाया है। पर्वत, नदी, आदिके समान प्रकृतिने ही उनका निर्माण किया है। पौरुषेय और अपौरषेय मूर्तियोंको ही कृत्रिम-अकृत्रिम बिम्ब शब्दसे कहा है।

पृ० २०७ **गर्भगृहादि**—प्रत्येक जिनालयके आठ भाग होते थे ऐसा वास्तु शास्त्र भी कहता है तथा खजुराहा आदिके प्राचीन भग्नावशेष देखनेसे इसकी पुष्टि भी होती है १ गर्भगृह—देवालयके मध्यका वह भाग जिसमें मूर्तियां विराजमान की जाती हैं। २ प्रेक्षागृह—गर्भगृहसे लगा हुआ वह भाग जहांसे लोग दर्शन करते हैं। ३ बलिगृह—जहां पर पूजनकी सामग्री तयार की जाती है तथा जहां पर हवनादि होते हैं। ४ अभिषेक गृह—जहां पर पञ्चामृतसे देवताका स्नपन होता है। ५ स्वाध्याय गृह— जहां पर लोग शास्त्रोंको पढ़ते हैं। ६ सभा गृह—जहां पर सभाएं होती हैं मण्डप। ७ संगीत गृह—जहां पर संगीत नृत्यादि होता है। ८ पट्ट गृह—जहां पर चित्रादिकी प्रदर्शिनी होती है। अथवा जहां पर पूजनादिके वस्त्रादि संचित रहते हैं।

पृ० २०९ **जिनमह**—मह शब्दका प्रयोग पूजाके लिए हुआ है अतः जिनमहका अर्थ साधारणतया जिन पूजा है इसीलिए पंडिताचार्य आशाधरजीने घरसे लायी सामग्री द्वारा पूजा, अपनी सम्पत्तिसे मन्दिरादि बनाना, भक्तिपूर्वक धर्मायतनको मकान, गाय, आदि लगाना, तीनों समय अपने घरमें भगवानकी अर्चा करना तथा व्रतियोंको दान देनेको नित्यमह कहा है। इसके नन्दीश्वर पूजा, इन्द्रध्वज, सर्वतोभद्र, चतुर्मुख, महामह, कल्पद्रुम मह आदि अनेक भेद हैं।

किमिच्छिक दान—पंडिताचार्यके मतसे जो महापूजा चक्रवर्तीके द्वारा की जाती है उसका एक अंग किमिच्छिक दान भी होता है। अर्थात् उपस्थित याचकसे पूंछते हैं 'क्या चाहते हो ?' वह जो कहता है उसे वही दिया जाता है इस प्रकार दान देकर विश्वकी आशा पूर्ण करते हुए चक्रवर्ती कल्पद्रुम-मह करता है।

नन्दिमुख—पूजाकी प्रारम्भिक विधिको कहते हैं। मंगल पाठ अथवा नाटकका प्रथम अंग।

नैवेद्य—पूजाकी पांचवी सामग्री। भोज्य सामग्री जिसे क्षुधारोगकी समाप्तिकी कामनासे जिनदेवको चढ़ाते हैं।

अर्घ्य—जल, आदि आठों द्रव्योंकी सम्मिलित वलिको करते हैं।

पृ० २१२ **उपमानिका**—मिट्टीके मंगल कलश तथा अन्त-स्तुति।

पृ० २१४ **अष्ट मंगल द्रव्य**—छत्र, ध्वजा, कलश, चमर, आसन (ठोना), झारी, दर्पण, तथा व्यजन ये आठो पूज्यता ज्ञापक बाह्य चिन्ह अष्ट मंगलद्रव्य कहलाते हैं।

स्नपन—जिन विम्बको स्नान कराना।

निवेश—गाढ कल्पना अथवा स्थापना।

पृ० २१५ **युद्धवीर**—संग्राममें दक्ष यथा बाहुबलि, भरत आदि।

धर्मवीर—धार्मिक कार्योंमे अग्रणी, सब कुछकी वाजी लगा कर अहिंसा, दया, आदिके पालक।

पृ० २१६ **प्रदक्षिणा**—जिन मन्दिर, जिन विम्ब आदि आराध्योंके वांयेसे दांये ओर चलते चलते चक्कर लगाना ये तीन होती हैं।

वैसान्दुर—पूजनके समय धूप आदि जलानेके लिए लायी गयी अग्नि।

वीजाक्षर—ओं, ह्रां, ह्रीं, ह्रूं आदि अक्षर जो मन्त्रके संक्षिप्त रूप समझे जाते हैं इनके जाप का बड़ा माहात्म्य है।

पृ० २१७ **स्वस्तियज्ञ**—पूजाका अन्तिम भाग जिसमे देश, राज्य, नगर, शासक आदिकी मंगल कामना होती है। यह वास्तवमे स्वस्ति पाठ होता है। कल्याण, रोग, मरी, आदिकी शान्तिके लिए होने वाले यागादिको भी स्वस्ति यज्ञ कहते हैं।

अष्टांग नमस्कार—मस्तक, पीठ, उदर, नितम्ब, दोनों पैर तथा दोनों हाथ झुका कर प्रणाम करना।

शेषिका—पूजाकी समाप्ति पर सविनय स्थापनाके पुष्प धूप दहनका धूम्र तथा दीपक शिखा आदिकी नति करना।

महामह—मुकुट बद्ध मण्डलेश्वरादिके द्वारा जो विशेष पूजा की जाती है उसे महामह कहते हैं। पण्डिताचार्यके मतसे अष्टान्हिक पूजासे विशिष्ट होनेके कारण इसे महामह संज्ञा दी है।

पृ० २१८ **धर्मचक्र**—कैवल्य प्राप्तिके बाद तीर्थंकरोके लिए इन्द्र समवशरण रचना करते थे। इस समवशरणके सामने विशेष आकार प्रकारकी ध्वजा चलती थी जिसकी संज्ञा धर्मचक्र थी। वास्तवमे चक्रका तात्पर्य होता है सब दिशाओंमें व्याप्ति फलतः सर्वत्र धर्मके प्रचारको ही धर्मचक्र प्रवर्तन कहते हैं।

सुस्वर—शरीर निर्मापक 'नामकर्म' का भेद। जिसके उदयसे मधुर मोहक स्वर हो उसे सुस्वर कहते हैं।

गृहस्थाचार्य—धर्म तथा आचार शास्त्रका ज्ञाता तथा चरित्रवान् सद्गृहस्थ। यह श्रावकों की समस्त क्रियाओंको जानते हैं और करा सकते हैं। अपने अध्ययन, विवेक और चरित्रके कारण गृहस्थोंके वास्तविक नेता होते हैं।

पृ० २१९ **पट्टक**—वर्तमान पट्टा इसीका अपभ्रंश है। धर्म, अर्थ तथा कामके विशेष उत्सवोंके समय विशेष आकार-प्रकारके पट्टक बांधे जाते थे जिन्हें देखकर ही धारकके कार्यादिका ज्ञान हो जाता था।

सर्ग १४

पृ० २२३ **नियम**—कुछ कालके लिए धारण की गयी प्रतिज्ञाको नियम कहते हैं।

यम—जीवन पर्यन्तके लिए की गयी त्यागादिकी प्रतिज्ञाको यम कहते हैं।

पृ० २२४ **नय**—तत्त्वके एक अंशी ज्ञान को नय कहते हैं।

दैव—भाग्य अर्थमें प्रयुक्त होता है। वैदिक लोग तथा इतर धर्मानुयायी दैव अथवा ईश्वर कृत होनेके कारण इसे दैव शब्दसे कहते हैं। किन्तु वास्तविकता ऐसी नहीं है। जीवके विधायक दैव तथा पुरुषार्थ दोनों ही; अपने कर्मोंसे प्राप्त जीवकी शक्तियां हैं। अन्तर केवल इतना है कि ज्ञात अथवा एक जन्मके कार्योंको पुरुषार्थ कहते हैं। अज्ञात अथवा जन्मांतरसे बद्ध (पुरुषार्थ) कर्मोंको दैव संज्ञा दी है।

पृ० २२५ **ग्रह**—ज्योतिपी देवोंका प्रथम भेद। सूर्य-चन्द्रमा आदि।

जगदीश्वर—कुछ वैदिक दर्शनोंमें तथा खाष्ट, इस्लाम, आदि धर्मोंके अनुयायी मानते हैं कि कोइ सर्व शक्तिमान् इस जगतका स्वामी है वही इसके उत्पाद, स्थिति और विनाशका कर्त्ता है।

नियति—संसारकी प्रत्येक हलचल निश्चित है फलतः इसे करने वाली कोई शक्ति है जिसे नियति कहते है। ये ईश्वरकी जगह नियतिको मानते हैं। जिनेन्द्र प्रभुके समान यह भी यह नही सोच सकते हैं कि प्रत्येक प्राणीके अपने कर्म ही उसके निर्माता आदि हैं।

सांख्य—भले प्रकारसे जानने, समझनेको सांख्य कहते हैं फलतः जिस दर्शनमें संख्या (विवेक ख्याति) की प्रधानता है उसे सांख्य दर्शन कहते हैं।

पुरुष—साक्षात् चैतन्य स्वरूप सृष्टिके साक्षी मात्र तत्त्वको पुरुष कहते हैं। यह स्वभावतः कैवल्य संपन्न है। यह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्व व्यापक है। अर्थात् यह विशेष, विपयी, अकर्त्ता है। पुरुष अनेक हैं।

प्रकृति—स्थूल तथा सूक्ष्म जगतकी उत्पादिका, जड़ तथा एक शक्तिको प्रकृति कहते है। यह संसार भरका कारण होते हुए भी कोई इसका कारण नही होता है। इसे अव्यक्त, प्रधान आदि शब्दो द्वारा भी कहा है। सत्व-रज-तम गुणोकी साम्यावस्था ही प्रकृति है। यह अकारण, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, लिंग-अवयव-विवेक-चैतन्य हीन सामान्य, स्वतंत्र तथा प्रसव धर्मिणी है।

महत्—पुरुषके समीप आने पर प्रकृतिमे विकार होता है इस प्रकृतिके प्रथम परिणमनको महत् अथवा बुद्धि कहते हैं यही सृष्टिका वीज है।

अहंकार—महत्से अहंकार उत्पन्न होता है। अर्थात् मै कर्त्ता-धर्ता आदि हूं यह भावना ही सांख्य दर्शनका अहंकार है यह त्रिगुणके कारण प्रधान रूपसे तीन प्रकारका होता है।

पृ० २३३ **कौशिक**—कुशिक राजाके अति तप करने पर इन्द्र ही पुत्र रूपसे उनके उत्पन्न हुए थे। ये पुत्र कौशिक बड़े तपस्वी और सिद्ध थे। ये विश्वामित्र नामसे भी ख्यात हैं।

काश्यप—वैशेषिक दर्शनके प्रणेता कणाद मुनि। इस नामके एक और भी ब्राह्मण ऋषि हुए हैं, जो विष विद्यामे पारंगत थे। महाभारतके अनुसार इन्होंने परीक्षितको फिरसे जीवित किया था।

गौतम—न्याय दर्शनके प्रवर्तक गौतम ऋषि तथा इनके वंशज। भरद्वाज मुनिका भी गौतम नाम था। एक स्मृतिकार तथा महात्मा बुद्धके लिए भी गौतम शब्दका प्रयोग हुआ है।

कौण्डिन्य—कुण्डिन मुनिके पुत्र। इन्हें शिवके कोपसे विष्णुने बचाया था। गौतम बुद्धके प्रधान, वयोवृद्ध शिष्यका नाम भी कौण्डिन्य था।

माण्डव्य—वैदिक ऋषि। वाल्यावस्थाके अपराधके कारण यमराजने न्हें शूली पर चढ़वा दिया था। इस पर ऋषिने यमको शाप दिया था तथा वे पाण्डुके यहां दासीसे उत्पन्न हुए थे।

वशिष्ठ—सुप्रसिद्ध वैदिक ऋषि। यज्ञस्थलमे उर्वशीको देख कर मित्र और वरुणका चित्त चञ्चल हुआ तथा इनका जन्म हुआ। इन्हे इंद्रने घूस रूपसे ब्राह्मणत्व दिया था। इनकी और विश्वामित्रकी प्रतिद्वंदिता वैदिक साहित्यमे भरी पड़ी है।

अत्रि—ब्रह्माकी चक्षुसे उत्पन्न वैदिक ऋषि। कर्दम ऋषिकी पुत्री अनुसूया इनकी पत्नी थीं। सप्तर्षियोके सिवा दश प्रजापतियोमे भी अत्रिकी गिनती है। इन्होने भी ऋग्वेदके अनेक मन्त्रोकी रचना की थी।

कुत्स—प्रायश्चित्त शास्त्रके प्रणेता ऋषि। इनका धर्म आपस्तम्भ धर्म नामसे ख्यात है तथा गृह्य-कल्प-धर्म सूत्रादिमे वर्णित है।

अंगिरस—ब्रह्माके द्वितीय पुत्र। इनकी पत्नी शुभ थी। पुत्र बृहस्पति थे तथा इनके छह कन्याएं हुई थी। इन्होने ऐसा तप किया था कि इनके तेजसे पूर्ण विश्व व्याप्त हो गया था।

गर्ग—बृहस्पतिके वंशज वितथ ऋषिके पुत्र। शिवकी आराधना करके इन्होंने चौंसठ अंग ज्योतिष आदिका परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था।

मुद्गल—वैदिक ऋषि। इन्होंने गोत्रों को प्रारम्भ किया था। इनकी पत्नीका नाम इन्द्रसेना था। एक उपनिषद् का भी नाम है।

कात्यायन—अत्यन्त प्राचीन वैदिक ऋषि। इन्होंने धर्मशास्त्रोंकी भी रचना की है। ये दो हुए हैं गोभिलपुत्र कात्यायन तथा वररुचि (सोमदत्त पुत्र) कात्यायन। प्रथमने अनेक सूत्र ग्रन्थों की रचना की है जो वैदिक धर्मकी मूलभित्ति है। द्वितीयको पाणिनी सूत्रका वार्त्तिककार कहते हैं।

भृगु—ब्रह्माके अग्निमें हुत वीर्यसे उत्पन्न ऋषि थे। दश प्रजापतियों और सप्तर्षियोंमें से एक हैं इनका वंश वारुण या भार्गव था जिसमें परशुरामजी उत्पन्न हुए थे।

पृ० २३५ **सत्रि**—अनेक यज्ञोंके कर्ता विशेष ऋषि।

मधुपिंगल—लिंगपुराणमे वर्णित मुनिका नाम।

सुलसा—नागमाता, जिन्होंने हनूमानजीके मार्गमें मायारूप धारण कर बाधा डाली थी। एक राक्षसी तथा अप्सरा भी इस नामकी हुई हैं।

अक्रूर—ये श्वफल्क और गान्दिनीदेवीके पुत्र यादव थे। यह कृष्णजीके काका लगते थे। इनके पास शतधन्वाका स्यमन्तक मणि था जो समस्त रोग, मरी, दुर्भिक्षादिको नष्ट कर देता था।

पृ० २३६ **देवानांप्रिय**—सम्राट अशोककी उपाधि। वैदिक विद्वानोंने धार्मिक विद्वेषके कारण मूर्खको व्यङ्ग्यरूपसे देवानांप्रिय कहना प्रारम्भ किया था।

पृ० २३८ **कृष्णद्वीपायन**—पराशर मुनि एक दिन जमुना किनारे आये तो मल्लाहकी लड़की बापके न होनेसे उन्हें उस पार ले जाने लगी। बीच नदीमे मुनि लड़की पर आसक्त हुए और इस प्रकार जमुनाके द्वीप पर एक सन्तति उत्पन्न हुई जो अपने ज्ञानबलके कारण वेदव्यास, कृष्णद्वीपायन नामसे ख्यात हुए।

कमठ—एक विशेष दैत्यका नाम है। इस नामके एक ऋषि भी हुए हैं। यहां ऋषिसे ही तात्पर्य है।

कठ—वेदकी कठ शाखाके प्रवर्तक मुनिका नाम। महाभाष्यके अनुसार ये वैशम्पायनके शिष्य थे। कठकी वेद शाखा वर्तमानमे अनुपलब्ध है।

द्रोणाचार्य—भारद्वाजके पुत्र कौरव-पाण्डवोंके अस्त्र शिक्षक तथा महाभारतके निर्णायक पात्र।

पृ० २३९ **कार्त्तिकेय**—शिवके वीर्यसे पार्वतीके पुत्र (अग्नि तथा शरवन द्वारा) इन्होंने तारकासुरादि का बध किया था। इनका निवास शरवन अथवा हिमालय पर था। आज भी कमायूं में इनका कार्तिकेय पुर है।

कुमारी—सीता पार्वतीका नाम। परीक्षितके लड़के भीमसेनकी पत्नीका भी कुमारी नाम था। भारत का दक्षिणी भाग। पृथ्वी का मध्यभाग।

पुष्कर—इस शब्द के चालीस अर्थों मे से यहां तीर्थ अभीष्ट है। वर्तमान मे यह अजमेरके पास है। पुराणोके अनुसार इसमे उत्तम, मध्यम तथा जघन्य तीन पुष्कर (तालाव) हैं। इसमे नहाने से विशेप पुण्य होता है।

पृ० २४१ **असत्से सत् आदि**—गधेके सीग से वंध्या का लड़का असत्से असत्का निदर्शन है। आकाश कुसुमसे पेठाकी कल्पना असत्से सत्का उदाहरण है। जपाकुसुमसे गधेके सींगका प्रादुर्भाव मानना सत्से असत् है। मिट्टीसे घड़ा सत्से सत्का उदाहरण है।

पृ० २४२ **उपादान**—जो कारण स्वयमेव कार्यका रूप धारण करे वह उपादान कारण कहलाता है। यथा घड़ेके लिए मिट्टी।

भाव—जीवके औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक तथा पारिणामिक भाव होते हैं।

उत्पाद—नूतन पर्यायका भाव या प्रादुर्भाव ही उत्पाद है।

व्यय—एक पर्यायका अभाव या नाश ही व्यय या मरण है।

शुम्भ-निशुम्भ—ये दानव प्रह्लादके पुत्र गवेष्ठीके पुत्र थे। वामनपुराणमें लिखा है कि कश्यपके दनु नामक स्त्री थी उसके गर्भसे दो पुत्र पैदा हुए। जिनमे छोटेका नाम निशुम्भ और वड़ेका नाम शुम्भ था। इन्होने संसारको ही नहीं स्वर्गको भी जीत लिया था। अवमानित त्रस्त देवताओने महामायाकी आराधना की। इन्होने सुन्दरतम रमणी का रूप धर दोनो भाइयोमे लड़ाई करायी और वे मारे गये थे।

तिलोत्तमा—स्वर्गकी वेश्या। वैदिक आम्नायमे लिखा है कि सव रत्नोमे से तिल-तिल लेकर ब्रम्हाने इसे बनाया था। यह ऐसी सुंदरी थी कि इसे देखनेके लिए योगस्थ महादेवने भी चार मुख वनाये थे। जब देवताओको सुंद-उपसुंदको जीतना असम्भव हो गया तो उन्होंने इसे उनके सामने भेजा और वे इस पर मोहित हो आपसमे ही लड़ मरे थे।

बलि—प्रह्लादके पुत्र विरोचनका पुत्र था। इसने यज्ञ करके जिस याचकने जो मांगा वही दान दिया था। इसकी सत्य निष्ठाकी परीक्षा करने विष्णुजी वामन बनकर आये थे और इससे तीन पग जमीन मांगी थी। इसके गुरु शुक्राचार्य इस याचनाके रहस्यको समझ गये और वलिसे कहा कि वह अपना वचन वापस ले ले। पर वलिने दान पूर्ण न होनेसे नरकवासके दण्डकी चिन्ता न की और अपने वचन पर दृढ़ रहा। अन्तमे विष्णुजी ने ही उसे वरदान दिया और वह इस समय 'सुतल' लोकमे विराज-मान है।

हयग्रीव—असुर दितिका पुत्र। सरस्वती नदीके किनारे इसने महामायाको प्रसन्न करनेके लिए हजार वर्ष तक घोर तप किया। वे प्रसन्न होकर वर देने आयीं तो इसने अजेयत्व अमरत्व मांगा। यतः प्रत्येक जातका मरण अवश्यंभावी है अतः उन्होंने इसे इससे (हयग्रीवसे) ही मृत्युका वर दिया। इससे आतंकित त्रस्त देवता विष्णुके पास गये और उन्होने हयग्रीव रूप धारण कर इसे मारा था।

अनु—महाराज ययातिके पुत्र थे। इनसे ही म्लेच्छ वंशका प्रारम्भ हुआ था।

मुचुकुंद—ये मन्धाताके पुत्र थे। इन्होंने देवताओंकी सहायता करनेके लिए असुरोंसे युद्ध किये थे। तथा कालयवन ऐसे दुर्दान्त दैत्यको मारा था।

गौतमपत्नी--इनका नाम अहिल्या था। यतः ये अपने पतिके शिष्य इन्द्रसे भ्रष्ट हो गयी थी अतः उन्होंने शाप देकर इन्हें पाषाण कर दिया था। बादमे श्रीरामचन्द्र-जीके पाद स्पर्शसे अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुई थीं।

कार्तिकेय प्रेमिका—अनेक पुराणोने इन्हे ब्रम्हचारी लिखा है। पर यह ठीक नहीं। इन्होने विवाह किया था। इनकी प्रेयसीका नाम षष्ठी देवी था।

पृ० २४३ **शून्यवाद**—बौद्ध दर्शनकी एक शाखा। साधारणतया ब्राम्हण दार्शनिकोंने शून्यका अर्थ असत् लेकर ही इस मान्यताकी विवेचना की है। किन्तु माध्यमिक आचार्योके ग्रन्थोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि उन्होंने 'शून्य' का प्रयोग 'अवक्तव्य' के लिए किया है। वस्तुके जाननेकी (१) अस्ति, (२) नास्ति, (३) उभय तथा (४) अनुमय ये चार दृष्टियां हैं। यतः इन चारोंसे अनिर्वचनीय परम तत्त्व नहीं कहा जा सकता, अतएव वे उसे शून्य कहते हैं।

इन्द्रियाश्व—धर्मशास्त्र तथा उपनिषदोमें पांचों इन्द्रियों और मनका रूपक इस शरीरको रथ, पांचों इन्द्रियोंको दुर्दम घोड़े और मनको सारथी कह कर खींचा है।

आठमद—ज्ञान, लोकपूजा, कुल (पितृकुल) जाति (माताका कुल), बल, ऋद्धि,, तप तथा शरीर इन आठोको लेकर अहंकार भी आठ प्रकारका होता है।

लेश्या—क्रोध आदि कषायोमय मन, वचन तथा कायकी चेष्टाओको भाव लेश्या कहते है। और शरीरके पीले,लाल,श्वेत आदि रंगोको द्रव्य लेश्या कहते है।

अतिशय—अद्भुत विशिष्ट बात अथवा चमत्कारको अतिशय कहते हैं। तीर्थंकरोंके ३४ अतिशय होते हैं। जन्मते ही मल, मूत्र, पसीना-राहित्य, आदि दश अतिशय होते है। कैवल्य प्राप्ति पर सुभिक्ष आदि दश होते हैं तथा १४ देवता करते हैं।

अष्टादश दोष—१-भूख २-प्यास ३-भय ४-द्वेष ५-राग ६-मोह ७-चिन्ता ८-जरा ९-रोग १०-मृत्यु ११-स्वेद १२-खेद १३-मद १४-रति १५-आश्रय १६-जन्म १७-निद्रा तथा १८-विषाद ये अठारह दोष है।

सर्ग ३६

पृ० २४६ **द्रव्य**—गुण और पर्यायोंके समूहको द्रव्य कहते हैं। ये द्रव्य जीव, पुद्गल, (अजीव) धर्म, अधर्म, आकाश और कालके भेदसे छह प्रकार के हैं।

गुण—समस्त द्रव्यमे सब अवस्थाओंमें रहनेवाली योग्यताओंको गुण कहते हैं।

पर्याय—गुणके परिणामनको पर्याय कहते हैं।

अस्तिकाय—बहु प्रदेशी द्रव्यको अस्तिकाय कहते हैं। कालके अतिरिक्त सब द्रव्य अस्तिकाय हैं।

दर्शनोपयोग—जीवके श्रद्धानरूप परिणमनको दर्शनोपयोग कहते है। यह (१) चक्षु (२) अचक्षु (३) अवधि और (४) केवल के भेदसे चार प्रकारका होता है।

ज्ञानोपयोग—जीवके ज्ञानरूप परिणमनको ज्ञानोपयोग कहते है। मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, केवल, कुमति, कुश्रुत तथा कुअवधिके भेदसे यह आठ प्रकारका होता है।

दिव्यध्वनि—कैवल्य प्राप्तिके वाद तीर्थंकरोके उपदेशकी अलौकिक भाषा तथा भाषण शैलीका नाम है। इसका अपना रूप तो नही कहा जा सकता है पर इसकी विशेषता यही है कि यह विविध भाषा भाषियोको ही नही, अपितु पशु, पक्षियोको भी अपनी बोलीके रूपमें सुन पड़ती है। समवशरणमे उपस्थित सब प्राणी इसे समझते है। यह एक योजन तक सुन पड़ती है। इसे निरक्षरी भाषा भी कहा है। अर्द्ध मागधी भी इसकी संज्ञा है।

पृ० २४७ **पुद्गल**—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण युक्त द्रव्यको पुद्गल कहते हैं। परमाणु और स्कन्धके भेदसे यह दो प्रकारका है।

पृ० २४८ **कार्माण वर्गणा**—जो पुद्गल कार्माण (कर्म मय) शरीर रूप धारण करें उन्हे कार्माण वर्गणा कहते हैं। कर्मोकी फल देनेकी शक्तिके अविभाज्य अंशको अविभाग प्रतिच्छेद कहते है। समान अविभाग प्रतिच्छेदो युक्त प्रत्येक कर्म परमाणुको वर्ग कहते हैं और वर्गोके समूहको वर्गणा अर्थात् कर्म परमाणु समूह कहते हैं।

पृ० १४९ **प्रदेश**—एक परमाणु द्वारा रोके जाने वाले आकाशके भागको प्रदेश कहते है।

असंख्यात—लौकिक अंक गणनाके अतिरिक्त शास्त्रोमे-लोकोत्तर अंक गणना वतायी है। इसके मुख्य भेद (१) संख्यात (२) असंख्यात तथा (३) अनन्त हैं। संख्यात भी तीन प्रकारका है १-जघन्य संख्यात यथा २ (१ नही क्योकि इसका वर्ग, घन, आदि एक ही रहेगा)। २- मध्यम संख्यात यथा ३से उत्कृष्ट संख्यात पर्यन्त और ३-उत्कृष्ट संख्यात, यथा जघन्य परीतासंख्यात पर्यन्त। अर्थात् उत्कृष्ट संख्यातमें एक जोड़ देने पर असंख्यात आता है।

असंख्यात भी परीत, युक्त तथा असंख्यातासंख्यातके भेदसे ३ प्रकारका है। इन तीनोमेंसे प्रत्येकके जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट भेद होनेसे यह ९ प्रकारका है। जघन्य परीता संख्यातको निकालनेके लिए अनवस्था, शलाका, प्रतिशलाका कुण्डोका सहारा लेना पड़ता है। ये कुंड १ लाख महायोजन व्यास और एक सहस्र महायोजन गहराई युक्त वृत्त कुण्ड होते हैं। प्रथम अनवस्था कुण्डको सरसोसे ऐसा भरना पड़ता है कि ऊपर ढेरी भी लग जाती है। इस ढेरीमेंसे एक दाना सरसों ले कर शलाका कुण्डमें डालिये और शेष दानोको एक द्वीप पर एकके हिसावसे डालते जाइये। जहां जाकर सब दाने खाली हो जांय उतने वड़े व्यास तथा एक हजार महायोजन गहराईका दूसरा अनवस्था कुण्ड वनाकर इसे ऊपर ढेरी लगाकर सरसोसे भरिये। इसमेंसे एक दाना शलाका कुण्डमें डालकर वाकी दानोंको आगेके द्वीपो पर डालते जाइये। जिस द्वीप पर जाकर दाने खाली हो जाय उतने महान व्यास तथा १ हजार योजन गहराई वाला तीसरा

अनवस्था कुण्ड बनाकर ऊपर ढेरी लगाकर सरसोंसे भरिये। इसमेंसे भी एक दाना शलाका कुण्डमें डालिये और शेष पहिलेके समान आगेके द्वीपों पर एक एक करके डालिये। यह प्रक्रिया तब तक चालू रहेगी जब तक उत्तरोत्तर वर्द्धमान प्रत्येक अनवस्था कुण्डोंमेंसे केवल एकएक दाना डालनेसे शलाका प्रति शलाका, और महाशलाका तीनों कुण्ड भर जांयगे और अन्तमें जो महा-महा-अनवस्था कुण्ड होगा उसमें ढेरी लगाकर भरे जितने सरसों आंयगे वह संख्या जघन्य परीतासंख्यातकी होगी।

जघन्य परीतासंख्यातसे एक अधिकसे लेकर उत्कृष्ट परीतासंख्यातसे १ कम पर्यन्त मध्यम परीता संख्यात है। उत्कृष्ट परीतासंख्यात जघन्य युक्तासंख्यातसे एक कम है। जघन्य परीता संख्यातकी संख्या पर जघन्य परीतासंख्यातकी संख्या प्रमाण बल देने पर जघन्य युक्तासंख्यातकी संख्या आवेगी। इससे एक अधिकसे लेकर उत्कृष्ट युक्ता संख्यात (जो कि जघन्य संख्यातासंख्यातसे एक कम प्रमाण है) १ कम पर्यन्त मध्यम युक्तासंख्यात है।

जघन्य युक्तासंख्यातका वर्ग करने पर जघन्य संख्यातासंख्यातका प्रमाण निकलता है। मध्यम और उत्कृष्ट पहिलोंके समान हैं।

अनन्त—यह भी परीत, युक्त तथा अनन्तके भेदसे तीन प्रकारका है और तीनोंमें प्रत्येकके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद होनेसे ९ भेद होते है—

जघन्य असंख्यातासंख्यात पर जघन्य असंख्यातासंख्यातका ही बल देने पर उत्तरोत्तर इन संख्याओंका उतनी बार बल देते जांय जितनी जघन्य असंख्यातासंख्यातकी संख्या है। इस प्रकार शलाका त्रय निष्ठापनसे जो अन्तिम राशि प्राप्त हो उसमें धर्म आदि छः प्रकारके द्रव्योंकी प्रदेश संख्या जोड़ें। इन सातों राशियोंके जोड़का पुनः शलाका त्रय निष्ठापनसे जो अन्तिम राशि प्राप्त हो उसमें २० कोडाकोडि सागरोपम प्रमाण कल्पकालकी समय-संख्या आदि ४ संख्याएं जोड़ें। इन पांचों राशियोंके जोड़का फिर पूर्व विधिसे शलाका त्रय निष्ठापन करें। तब जघन्य परीतानन्तका प्रमाण आयगा। मध्यम उत्कृष्ट परीतानन्त, जघन्य मध्यम तथा उत्कृष्ट युक्तानन्त तथा जघन्य, मध्यम अनन्तानन्तकी प्रक्रिया मध्यम परीतासंख्याताादिके समान है। उत्कृष्ट अनन्तानन्तके लिए जघन्य अनन्तानन्तकी संख्याका शलाकात्रय निष्ठापन करने पर सिद्धराशि आदिके छह प्रमाण जोड़े जाते हैं। फिर इन सातोंके योगका शलाका त्रय निष्ठापन होता है। इसमें धर्म, अधर्म द्रव्यके अगुरु लघु गुणके अनन्तानन्त अविभागी प्रतिच्छेद जोड़े जाते हैं और तीनों राशियोंके योगका शलाकात्रय निष्ठापन होता है। जो राशि आती है उसे केवलज्ञानकी शक्तिके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्यासे घटानेपर जो शेष आवे उसे ही जोड़ने पर उत्कृष्ट अनन्तानन्तका प्रमाण आता है। अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तानन्त प्रमाण ही केवलज्ञानकी शक्तिके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी संख्या है।

नित्य—जो जिसका असाधारण स्वरूप है उसी रूपसे रहना ही नित्यता है। मोटे तौरसे कह सकते हैं जैसा पहिले देखा था वैसा ही पुनः पुनः देखने पर भी ज्ञात होना नित्यता है।

पृ० २५० **नैगमादि नय**—१-निमित्त रूपसे प्रारब्ध अपरिपूर्ण पदार्थके संकल्पको ग्रहण करना नैगम नय है। २-एक वर्गके पदार्थोंको विना भेदभाव किये समूह रूपसे ग्रहण करना संग्रह नय है। ३-समूहरूपसे ज्ञात पदार्थोंमें विशेष भेद करना व्यवहार नयका

कार्य है जैसे व्यवस्थापकोमे विधान तथा वृद्ध सभाका भेद करना। ४–केवल वर्तमान पर्यायको ग्रहण करना ऋजुसूत्र नय है। ५–लिग-कारक-वचन-कालादिके भेदसे पदार्थको ग्रहण करना शब्द नय है यथा दारा-भार्या-कलत्र एक स्त्रीके वाचक हैं। ६–लिगादिका भेद न होने पर भी तत्तत् पर्याय रूपसे पदार्थमे भेद करना समभिरूढ़ नय है यथा इन्द्र-शक्र-पुरन्दरादि। ७–तत्तत् क्रियाके कर्त्ताको ही तत्तत् शब्दोसे कहना एवंभूत नय है यथा पथ प्रदर्शन करते समय ही नेहरूको नेता कहना।

निक्षेप— मूल पदार्थ होने पर प्रयोजन वश नामादि रूपसे अन्य पदार्थमें स्थापना करना निक्षेप है। नाम, स्थापना, द्रव्य और भावकी अपेक्षा यह चार प्रकारका होता है। १–सज्ञा विशेषके लक्षण हीन पदार्थको वह संज्ञा देना नाम निक्षेप है यथा झूठे हिंसक स्वार्थी व्यक्तिको कांग्रेसी कहना। २–तदाकार अथवा अतदाकार पदार्थको पदार्थ विशेष रूप मानना यथा भद्दी मूर्तिको पार्श्वनाथ मानना। ३–आगे आनेवाली योग्यताके आधार पर वर्तमानमे व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है, यथा जयप्रकाशनारायणको भारतका भावी प्रधानमन्त्री कहना। ४–जिस पर्याय युक्त व्यक्ति हो उसीरूपसे उसे मानना भाव निक्षेप है जैसे जवाहरलाल नेहरूको प्रधानमन्त्री मानना।

पृ० २५२ **ईश्वरेच्छा**—नैयायिक जगत्कार्य, आयोजन, घृति, पद, आदिके कारण ईश्वरको सिद्ध करता है। तथा समवायि, असमवायि और निमित्त कारणके समान ईश्वरकी इच्छाको ही सृष्टिका उत्पादक, स्थापक और विनाशक मानता है।

पृ० २५३ **एकान्तवाद**—पदार्थको नित्य ही, क्षणिक ही, माया ही आदि रूपसे एकाकार मानना ही एकान्तवाद है क्योकि प्रत्येक पदार्थ अनेक धर्मयुक्त होनेसे अनेकान्तवाद रूप है।

पृ० २५७ **प्रथमानुयोग**—बारहवें अंग दृष्टिवादका तृतीय भेद। संयम ज्ञान कैवल्य आदि मय पवित्र जीवनियोंके साहित्यको प्रथमानुयोग कहते हैं। त्रेसठ शलाका पुरुषोके जीवनादि कथा साहित्य द्वारा सहज ही तत्व ज्ञान करा देता है।

उत्सर्पिणी—जिस-युग चक्रमे समस्त पदार्थ आदि वर्द्धमान हों उसे उत्सर्पिणी कहते हैं इसके उल्टे अर्थात् जिसमे सब बातें हीयमान हो उसे अवसर्पिणी कहते हैं। जैसे वर्तमान समय।

आवलि—जघन्य युक्ता संख्यात प्रमाण समयोको आवलि कहते हैं।

पृ० ६५६ **सुषमा**—प्रत्येक उत्-अव-सर्पिणी कालके छह भेद होते है १–सुषमा-सुषमा (चार सागर कोटाकोटि) २–सुषमा (तीन सा० को०) ३–सुषमदुःषमा (दो सा० को०) ४–दुःखमासुषमा (४२००० वर्ष कम एक सा० को०) ५–दुःषमा (२१ हजार वर्ष अभी चल रहा है) ६–दुःषमादुःषमा (२१ हजार वर्ष)।

पृ० २६७ **मनु**—तीर्थंकरोके पहिले प्रजाका मार्ग दर्शन करनेवाले महापुरुषोंको कुलकर या मनु कहते हैं। ये प्रत्येक अवसर्पिणी चक्रके तीसरे कालके अन्तमे तथा उत्सर्पिणी चक्रके दूसरे काल (दुःषमा) के अन्तमे होते हैं। इस चक्रके सुषमादुःषमाके अन्तमे प्रतिश्रुति, सन्मति, क्षेमंकर, क्षेमंधर, सीमंकर, सीमंधर, विमल, चक्षुष्मान, यशस्वी, अभिचन्द्र, चन्द्राभ, मरुदेव, प्रसेनजित, नाभिराजादि हुए थे।

पृ० २६५ **षोडश भावना**—आस्रव-बन्ध प्रकरणमें जहां विविध गतियोंके बन्धके कारण गिनाये हैं वहां पर तीर्थंकरत्वके सविशेष पद होनेके कारण उसके बन्धके कारणभूत सोलह भावनाएं गिनायीं हैं। वे निम्न प्रकार हैं—१–रत्नत्रय स्वरूप वीतराग धर्ममें रुचि दर्शन-विशुद्धि है। २–शास्त्र गुरु आदिमें आदर बुद्धि विनयसम्पन्नता है। ३–अहिंसादि व्रत तथा शीलोंका निर्दोष पालन शीलव्रतेष्वनतिचार है। ४–स्व तत्त्व जीवादिके ज्ञानमें लवलीनता अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग है। ५–संसारके दुखोंसे भय संवेग है। ६–यथा सामर्थ्य दान शक्तितस्त्याग है। ७–जैनधर्मानुसार विना कोर कसरके शरीर क्लेश सहना तप है। ८–उपसर्ग उपस्थित होने पर उसे सहना समाधि है। ९–गुणियों पर दुःख आने पर उसको दूर करना वैयावृत्य है। १०–१३–अर्हत्-आचार्य-उपाध्याय-शास्त्रमें विशुद्ध मनसे अनुराग-भक्ति है। १४–षड् आवश्यकोंका समयसे पालन आवश्यकपरिहाणि है। १५–ज्ञान, तपस्या तथा जिनपूजादि द्वारा धर्मका प्रचार प्रभावना है। १६–साधर्मी पर सहज निस्वार्थ प्रेम प्रवचन-वात्सल्य है।

पृ० २६७ **श्रावस्ती**—इस नामका प्राचीन जनपद। इसकी राजधानीका नाम भी श्रावस्ती था। यह तीसरे तीर्थंकर शंभवनाथका जन्म स्थान था। वर्तमानमें गौंडा जिलेमें शेठ-महेट नामसे ख्यात ग्राम है। वैदिक पुराण और बौद्ध जातकोंमें जैन पुराणोंके समान श्रावस्तीका इतिहास तथा महिमा भरी पड़ी है। राजा सुहिराल (सुहृदध्वज) इसके अन्तिम जैन राजा थे।

काकन्दीपुर—प्राचीन देश तथा उसकी राजधानी।

भद्रपुर—प्राचीन नगर।

कम्पिलापुरी—प्राचीन नगर। वर्तमान उत्तरप्रदेशके फरुखाबाद मण्डलकी कायमगंज तहसीलका कंपिल ग्राम। महाभारत में भी इसका नाम आया है।

रत्नपुर—प्राचीन नगर। वर्तमान मध्यप्रदेशका एक ग्राम। यहां हैहय वंशी राजा राज करते थे।

मिथिलापुरी—प्राचीन विदेह जनपदकी राजधानी। रामायण, महाभारत तथा जैन बौद्ध साहित्य मिथिलाके उद्धरणोंसे भरे पड़े हैं। इन उद्धरणोंके आधार पर प्राचीन मिथिलापुरीके स्थानका निर्णय सुसंभव नहीं है। वर्तमान मुजफ्फरपुर मण्डलके सीतामढी ग्रामसे १२–१४ मील दूर स्थित जनकपुर ही प्राचीन मिथिलापुरीका शेष प्रतीत होता है। इस समय यह नेपालकी तराई तथा नैपाल राज्यमें है।

पृ० २६८ **सम्मेदाचल**—विहार प्रदेशके हजारीवाग मण्डलमें स्थित श्री पार्श्वनाथ पर्वतका पौराणिक प्राचीन नाम। यह जैनियोंके श्री ऋषभदेव वासुपूज्य, नैमिनाथ तथा महावीरके सिवा शेष २० तीर्थंकरोंकी निर्वाण भूमि होनेसे जैनियोंका सबसे बड़ा सिद्ध क्षेत्र है।

पृ० २७३ **चौदह रत्न**—प्रत्येक चक्रवर्तीके पास १४ रत्न (सर्व श्रेष्ठ पदार्थ) होते हैं। इनमें १–गृहपति २–सेनापति ३–शिल्पी ४–पुरोहित ५–स्त्री ६–हाथी तथा ७–घोड़ा ये सात चेतन होते हैं। तथा ८–चक्र ९–असि १०–छत्र ११–दण्ड १२–मणि (प्रकाश कारक) १३–चर्म (इसके द्वारा जलमें थल वत् गमन होता है) तथा १४–कांकणी (रत्नकी लेखनी)। प्रथम सातों चेतन रत्न विजयार्द्धसे लाये जाते हैं। चक्र, असि, छत्र तथा दण्ड आयुध-

शालामें प्रकट होते हैं तथा मणि, चर्म और कांकिणी हिमवन पर्वतके पद्म ह्रदमें निवास करनेवाली श्री देवीके मन्दिरसे आते हैं।

नव निधि—प्रत्येक चक्रवर्तिके पास नौ प्रकारकी निधियां (कोश) होती हैं— १–छहो ऋतुओंकी वस्तु दायक को कालनिधि कहते हैं। २–जितने चाहे लोगोंको भोजन दाता महाकाल निधि होती है। ३–अन्न भण्डारका नाम पाण्डुनिधि है। ४–शस्त्रों के अक्षय भण्डारका नाम माणवक निधि है। ५–वादित्रोके भण्डारको शंख निधि नाम दिया है। ६–भवन आदि व्यवस्थापक नैसर्प निधि है। ७–वस्त्रोके अक्षय भण्डारका नाम पद्म निधि है। ८–आभूषणादि साज सज्जा दायक पिंगल निधि है। तथा ९–रत्नादि संपत्तिका भण्डार कर्त्ता रत्न निधि है।

पृ० २७७ **सुमेरु**—अत्यन्त ऊंचा पर्वत है। जम्बू द्वीपके केन्द्रमे एक धातुकी खंड तथा पुष्कराद्र्धके पूर्व पश्चिम केन्द्रोमें एक एक अर्थात् मनुष्य लोकमे पांच मेरु हैं। इनके नाम क्रमशः सुदर्शन, विजय, अचल, मन्दिर और विद्युन्माली हैं। प्रथम सुदर्शन मेरु १००० योजन भूमिमें ९९००० पथ्वीसे ऊपर होता है तथा ४० योजनकी चोटी होती है। यह मूलमें १० सहस्र तथा भूमिके ऊपर १ सहस्र योजन मोटा है। इस पर नीचे भद्रसाल वन होता है। ५०० यो० की चढ़ाई पर नंदन वन, ६२५०० यो० ऊपर जाकर सौमनस और ३६००० यो० ऊपर जाकर पांडुक वन है। शेष चारों सुमेरु ८४००० यो० ऊँचे हैं अतः इनमें तीसरा सौमनस वन ५५५०० की ऊँचाई पर तथा पांडुक वन २८००० यो० की ऊंचाई पर है। प्रत्येक वनमे चारों दिशाओं में ४ अकृत्रिम जिनमंदिर हैं। इन पर्वतों पर ६१००० यो० की ऊंचाई तक ही मणि पाये जाते हैं। इसके ऊपर इनका रंग सोने ऐसा है।

पृ० २७९ **सामानिक**—वे देव जो शासन तथा प्रभुताके सिवा सब बातों में इन्द्रके समान होते हैं।

त्रायस्त्रिंश—मंत्री, पुरोहित, आदि के समान देव।

पृ० २८४ **परीषह**—सब प्रकारसे सहना परीषह है। कर्म निर्जरा के लिए ये सहे जाते हैं। भूख, प्यास, शीत, उष्ण, दंश-मशक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, बध, याञ्चा, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान तथा अदर्शन ये २२ परीषह हैं।

पृ० २८८ **मागध**—भरत ऐरावत क्षेत्रोंके समुद्र तथा सीता सीतोदा नदीके जलमे स्थित दीपोंका नाम है। भरत क्षेत्रके दक्षिणी किनारेसे संख्यात योजनकी दूरी पर यह स्थित है। इसका स्वामी मागध देव है।

पृ० २९५ **आर्यिका**—उदिष्टत्याग प्रतिमाकी धारिणी स्त्रीको आर्यिका कहते हैं। द्रव्य स्त्रीके त्यागकी यह चरम सीमा है। यह सफेद साड़ी पहिनती है, पीछी कमण्डल धारण करती हैं। बैठ कर आहार करती हैं। सदैव शास्त्र स्वाध्याय तथा संयममें रत रहती हैं।

गुणस्थान—मोह और योगके निमित्तसे आत्माके गुण सम्यक-दर्शन ज्ञान चारित्र के कम-बढ पनेके अनुसार होनेवाली अवस्थाओंको गुणस्थान कहते हैं।

गुप्ति—जिसके द्वारा संसारमें फंसानेवाली बातोंसे आत्माका रक्षण हो उसे गुप्ति कहते हैं। मन-वचन-काय गुप्तिके भेदोंसे यह तीन प्रकारकी है।

धर्म—जो इष्ट स्थान पर रखे या ले जाय उसे धर्म कहते हैं। उत्कृष्ट क्षमा, मार्दव आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य तथा ब्रम्हचर्यके भेदसे दश प्रकारका है।

पृ० २९६ **चौदह मार्गणा**—जिन विशेष गुणोंके आधारसे जीवोंका विवेचन, ज्ञान तथा शोध की जाय उनको मार्गणा कहते हैं। गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञित्व तथा आहारके भेदसे यह चौदह प्रकारकी है।

अष्ट अनुयोग—पुलाकादि मुनियों का जिन विशेषताओं के आधार पर विवेचन होता है उन्हें अनुयोग कहते हैं। संयम, श्रुत प्रतिसेवना, तीर्थ, लिंग, लेश्या, उपपाद, तथा स्थान के भेद से यह आठ प्रकार का होता हैं।

आस्रव—शुभ अशुभ कर्मों के आने के लिए द्वार भूत काय, वचन और मन की क्रियाएं आस्रव हैं।

संवर—आस्रव भूत योगों का निरोध ही संवर है।

निर्जरा—अंशिक रूप से कर्मों के क्षय को निर्जरा कहते हैं।

श्रमण—जो शत्रु-मित्र, सुख-दुख, आदर-निरादर, लोष्ठ-काञ्चन, आदिमें समभाव रखते हैं वे महाव्रती साधु श्रमण कहलाते हैं।

पृ० २९७ **शल्य**—शरीरमें कील के समान मनमें चुभने वाले कर्मोंके उदयसे होने वाले विकार ही शल्य हैं। माया, निदान और मिथ्यात्व के भेद से यह तीन प्रकार की है।

आचार्य—साधुओं को दीक्षा तथा शिक्षा दे कर जो व्रतों का आचरण करांय उन्हें आचार्य कहते हैं। १२ तप, १० धर्म, ५ आचार, ६ आवश्यक तथा ३ गुप्ति का पालन; आचार्य परमेष्ठी के ये ३६ गुण हैं।

उपाध्याय—जिसके पास जाकर मोक्षमार्गके साधक शास्त्रों का अध्ययन किया जाता है उन्हें उपाध्याय कहते हैं। ११ अंग तथा चौदह पूर्वों का ज्ञान ये २५ उपाध्याय परमेष्ठी के गुण हैं।

चतुर्विध संघ—ऋषि, मुनी, यति तथा अनागर इन चार प्रकार के साधुओं के समूहको संघ कहते हैं।

आतप—अथवा आतापन योग का तात्पर्य है कि ग्रीष्म ऋतु में धूपमें खड़े हो कर बैठ कर ध्यान करना।

पृ० ३०० **साधु**—बहुत समय से दीक्षित मुनिको साधु कहते हैं। ५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियों का पूर्ण निरोध, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, भूमि शयन, वस्त्र त्याग, केशलौञ्च, एकाशन, खड़े आहार तथा दंत-धावन त्याग ये २८ साधु परमेष्ठी के गुण हैं।

पृ० ३०१ **आवश्यक**—मुनियों के लिए प्रतिदिन अनिवार्य रूप से कारणीय कार्यों को आवश्यक कहते हैं। ये छह हैं—१सामायिक, २ वंदना, ३स्तुति, ४ प्रतिक्रमण (कृत दोषो के लिए पश्चाताप) ५ प्रत्याख्यान तथा ६ कायोत्सर्ग।

पृ० ३१२ **सल्लेखना**—उपसर्ग, दुर्भिक्ष, असाध्य रोग अथवा मृत्युके आने पर भली भांति काय तथा कषाय की शुद्धि को सल्लेखना कहते हैं। उक्त प्रकार से मृत्यु के संयोग उपस्थित होने पर गृहस्थ तथा मुनि दोनों ही धार्मिक विधिपूर्वक शरीरको छोड़ते हैं। समाधि रण करने वाला व्यक्ति आहार पानादि यथा सुविधा घटाता जाता है अथवा सर्वथा छोड़ देता है। सबसे क्षमा याचना करता है तथा सबको क्षमा देता भी है। उसका पूरा समय ध्यान तथा तत्त्व चर्चामें ही बीतता है। १–जीने या २–मरनेकी इच्छा करने ३–मित्रो से मोह करने ४–भुक्त सुखोंकी स्मृति ५–अगले भवके लिए कामना करनेसे सल्लेखना मे दोष लगता है।

प्रायोपगमन—ऐसी सल्लेखना जिसमें व्यक्ति न स्वयं अपनी चिकित्सा करता है न दूसरे को करने देता है, ध्यानमें ही स्थिर रहता है और शरीर को भी स्थिर रखता है।

आराधना—आत्यन्तिकी भक्ति अथवा सेवा को अराधना कहते हैं। सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तपकी आराधनाके भेदसे यह चार प्रकार की होती है।

पृ० ३१३ **अनायतन**—धर्माचरण को शिथिल करने वाले निमित्तों को अनायतन कहते हैं। कुदेव, कुगुरु, कुशास्त्र तथा इन तीनों के भक्त ये छह अनायतन होते हैं।